खण्ड- 8

महीप सिंह रचनावली

संपादक

अनिल कुमार

महीप सिंह रचनावली

(धर्म-इतिहास)

खण्ड - 8

संपादक
अनिल कुमार

नमन प्रकाशन
नई दिल्ली -110002

क्या लिखूँ?

जीवन में बहुत कुछ लिखा। पीछे मुड़कर देखता हूं तो दूर मीलों तक हरे भरे खेत दिखाई देते हैं। लगता है कि उन्हीं में से निकलता हुआ यहां तक पहुँचा है। चारों ओर नजर दौड़ाकर देखता हूं तो लगता है कि अभी भी बहुत हरियाली है जिसमें मैं वर्षों तक विचर सकता हूं, किन्तु कितने वर्षों तक?

जो कुछ भी लिखा, उसके प्रति सार्थकता बोध से प्रेरित होकर लिखा। इसलिए लिखा कि उसके प्रति वड़ी अंतरंगता से यह अनुभव किया कि यह मुझे लिखना चाहिए। ऐसा कुछ नहीं लिखा जो मुझे नहीं लिखना चाहिए था। यह अवश्य है कि ऐसा बहुत कुछ है जो मुझे लिखना चाहिए था, किन्तु नहीं लिख सका। इसकी कसक वर्षों से अंदर ही अंदर मुझे चूहे की भांति कुतरती रही है और आज भी कुतर रही है। उपन्यास लेखन को ही लें। पहला उपन्यास वर्षों तक अंदर पलता रहा। 1974-75 में जापान के एक विश्वविद्यालय में एक रिसर्च प्रोजेक्ट 'समकालीन भारतीय साहित्य में सामाजिक परिवर्तन' पर कार्य कर रहा था। अपने शोध कार्य के साथ-साथ उपन्यास पूरा किया - 'यह भी नहीं'। फिर प्रारम्भ किया, 'अभी शेष है'। प्रारम्भ करने और पूरा करने के मध्य का अंतराल है बीस वर्ष। 'अभी शेष है' की त्रयी के लेखन का दूसरा चरण मंथरगति लिए हुए है।

यह सब कुछ बड़ी खीझ पैदा करता है। नए वर्ष का कैलेण्डर झटपट अपने पन्नों को पलटता हुआ कब दिसम्बर की तारीखों पर आ टिकता है, पता ही नहीं लगता। जीवनावधि का एक और वर्ष देखते देखते समुद्र तट की मुट्ठी भरी बालू की तरह हाथ की उंगलियों में से नीचे झर जाता है।

कहानियां तो ढेर सारी जीं किन्तु लिखीं बहुत कम। पचास वर्ष में सवा सौ के आसपास। वर्ष में तीन का औसत भी नहीं।

दूरदर्शन के लिए कुछ सीरियल लिखे- लोक-लोक की बात, रिश्ते, गदर की गूंज, 'सच तां पर जाणिए' (पंजाबी)। एक निर्माता ने महाराजा रणजीत सिंह पर एक मेगा

सीरियल की योजना सामने रखी। उसका विचार था कि इसे कम से कम 100 कड़ियों का बनाया जाए। ऐसे सीरियल में मेरी रुचि भी बहुत थी। मैंने प्रारम्भिक 10 एपीसोड लिख भी लिए, किन्तु निर्माता के सम्मुख कुछ आर्थिक संकट आ गए। योजना अधर में लटक गई। इसी प्रकार पंजाब सरकार द्वारा गठित आनन्दपुर साहिब फाउण्डेशन ने प्रसिद्ध फिल्मकार और महाभारत जैसे प्रख्यात सीरियल के निर्माता बी. आर. चोपड़ा से सम्पर्क करके सिख इतिहास पर एक धारावाहिक बनाने की योजना बनाई। उसकी पटकथा लिखने का दायित्व मुझे सौंपा गया। उस धारावाहिक की भी मैंने आठ कड़ियां लिख लीं। पंजाब की सरकार बदल गई (2002)। योजना ठप हो गई।

पत्र-पत्रिकाओं के लिए लेख लिखने का कार्य निरन्तर चलता रहा है। पंजाब में 1949-50 से भाषा विवाद उभरना प्रारम्भ हुआ। अविभाजित पंजाब की सरकारी भाषा उर्दू थी। विभाजन के पश्चात यह प्रश्न सामने आया कि उर्दू का स्थान किस भाषा को ग्रहण करना है। पंजाब में पंजाबी भाषा सदा उपेक्षित रही। वहां सभी लोग पंजाबी बोलते अवश्य थे, किन्तु कामकाज और व्यवहार में आते ही रास्ते अलग-अलग हो जाते थे। उन्नीसवीं शती के अंत में आर्य समाज के बढ़ते प्रभाव के कारण संभ्रांत हिन्दू परिवारों में हिन्दी का प्रचलन हुआ। पंजाबी से सिखों का धार्मिक लगाव था। गुरुओं के समय से ही गुरुवाणी गुरुमुखी लिपि में ही लिखी जाती रही है। उनका आग्रह यह था कि पंजाबी धरती की भाषा है और धार्मिक विभिन्नताओं के बावजूद यहां का जन-जन इसी भाषा में बातचीत करता है। इसकी समृद्ध साहित्यिक परम्परा है। सिख गुरुओं के प्रभामंडल के अतिरिक्त मुसलमान सूफी शायरों ने अपनी रचनाओं द्वारा इसमें महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इसलिए स्वाभाविक रूप से उसे पंजाब की राजभाषा होने का गौरव मिलना चाहिए।

उस समय मैं कानपुर के डी. ए. वी. कालेज का छात्र था। पंजाब में उभरे भाषा विवाद और उस कारण हिन्दुओं-सिखों में निरन्तर बढ़ती हुई खाई के कारण मैं बहुत उद्विग्न महसूस करता था। मेरी मान्यता थी कि राष्ट्रीय स्तर पर हिन्दी इस सम्पूर्ण देश की भाषा है। यह बहुभाषी देश है और विभिन्न राज्यों की भाषाओं को अपने-अपने क्षेत्र में वही स्थान प्राप्त होना चाहिए जो राष्ट्रीय स्तर पर हिन्दी के लिए अपेक्षित है। पंजाब में पंजाबी को उसका उचित स्थान प्राप्त हो, मैं इस बात का भी पूरा समर्थक था।

1950 में मैंने 'पांचजन्य' साप्ताहिक में पंजाब की भाषा समस्या पर एक लम्बा लेख लिखा जो पांच किस्तों में प्रकाशित हुआ। उसके बाद मैं इस विषय पर निरंतर लिखता रहा। पंजाब में यह मानसिकता बन गई थी कि हिन्दी हिन्दुओं की भाषा है और पंजाबी सिखों की। मैंने अपने लेखों में सदा ही यह आशंका व्यक्त की थी कि पंजाब का भाषा विवाद दोनों समुदायों के मध्य ऐसी खाई उत्पन्न कर देगा, जिसे पाटना बहुत दूभर हो जाएगा। ऐसा ही हुआ। पंजाब में आंतक की ऐसी भयंकर लहर उठी कि उसने वहां के जनजीवन को पूरी तरह आच्छादित कर लिया। हत्याओं के उस दौर में गहरे पारिवारिक और सामाजिक संबंध दरकने लगे। कुछ वर्षो में प्रदेश जिस दौर से गुजरा उसमें पच्चीस हजार से अधिक लोगों ने अपने प्राण गंवा दिए।

इस दौर में मैंने निरन्तर लिखा— हिन्दी में भी और पंजाबी में भी। सरकार की नीतियों की भी आलोचना की और आतंकवादियों के अमानवीय कार्यों की भी। आंतकवादियों द्वारा संत हरचंद सिंह लोंगोवाल की हत्या के पश्चात, सरकार को मेरी सुरक्षा की चिंता अनुभव हुई। मुझे एक सिक्योरिटी गार्ड दिया गया और मेरे घर पर सिक्योरिटी गारद बिठा दी गई।

मेरा ऐसा लेखन कुछ दशकों में फैला हुआ है। यह मेरे सर्जनात्मक लेखन का भाग नहीं था। यूं कहूं कि यह सब कुछ मैंने अपने सर्जनात्मक लेखन के मूल्य पर लिखा। मुझे इसका अहसास है, किन्तु यह सोचता हूं कि यह लिखना भी मेरा दायित्व था। आन्तरिक रूप से मुझ पर इसका दबाव भी था- मैं न लिखता तो कौन लिखता?

गत कुछ वर्ष से मैं 'दैनिक जागरण' के लिए प्रति गुरुवार को एक स्तम्भ लिखता हूं। दलित समस्याओं पर, पाकिस्तान पर, इस्लामी आंतकवाद पर, धार्मिक कट्टरता और कठमुल्लावाद पर, अकाली और गुरुद्वारा राजनीति पर, असमानतामूलक समाज की विद्रूपताओं पर तथा अन्य अनेक विषयों पर। इन लेखों की संख्या भी 400 पहुंच गई है। ऐसे लेखों के कारण मुझे बहुत ख्यांति मिली है और मुझे कथाकार की अपेक्षा पत्रकार के रूप में अधिक पहचाना जाने लगा है। यह करक भी कम चुभने वाली नहीं है।

संचेतना की चर्चा किए बिना बात अधूरी रह जाएगी। 1965 में 'आधार' का सचेतन कहानी विशेषांक प्रकाशित होने के पश्चात सचेतन कहानी की चर्चा प्रारम्भ हो चुकी थी। इस बात को अधिक पुष्ट करने और चर्चा को व्यापक मंच देने के लिए मित्रों में विचार-विमर्श हुआ कि एक त्रैमासिक पत्रिका प्रारम्भ की जाए। ऐसी पत्रिकाओं का आर्थिक पक्ष कभी साहित्यिक पत्रिकाओं की जड़ें गहरी नहीं होने देता। इस कारण सहयोगी लेखक मित्रों में सिर फुटव्वल भी हो जाती है।

मैंने अपने मित्रों से कहा कि संचेतना के लिए सहयोग सभी का, किन्तु इसके आर्थिक पक्ष को केवल मैं वहन करूंगा। दूसरे अंक के संपादकीय में मैंने यह भी स्पष्ट कर दिया कि इस पत्रिका की जीवनविधि का हम कोई दावा नहीं कर रहे हैं। बिना किसी दावे के संचेतना अपने जीवन के चार दशक पूरे कर रही है।

मुझे इसमें कोई संदेह नहीं है कि संचेतना ने इस अवधि में बड़ी सार्थक भूमिका निभाई है। हमने कभी इस मंच को छोटे दायरे में नहीं घेरा, किन्तु यह भी सच है कि मित्र लेखक/ लेखिकाओं को यह अपनी पत्रिका लगे, इससे हमने उन्हें कभी विरत भी नहीं किया। हमने यह प्रयास भी किया कि संचेतना साहित्यिक चिंताओं के साथ उन चिंताओं की ओर भी ध्यान दे जो साहित्य की परिधि में चाहे न आती हों किन्तु उनके सरोकार लेखक-मानस से जुड़े हुए हों।

संचेतना को लेकर एक एडवेंचर भी किया गया था। 1985 में इसे समसामयिक विषयों की मासिक पत्रिका बनाने का दुस्साहस कर डाला। पांच वर्ष तक मासिक बनाए रखकर हमने यह अनुभव कर लिया कि सचमुच बड़ा दुस्साहस था। तीन वर्ष तक स्थगित रखने के पश्चात डॉ. (सुश्री) कमलेश सचदेव और डॉ. गुरचरण सिंह के सहयोग से पुनः

इसका त्रैमासिक प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इस बात को भी आज तेरह वर्ष होने को आए हैं।

और क्या लिखूँ?

चाहता हूं कि 'अभी शेष है' की त्रयी शीघ्र पूरी हो जाए। यह भी चाहता हूं कि अनेक अनुभवों, संघातों और मोड़ों से भरी अपनी आत्मकथा भी लिख लूं। दो-तीन उपन्यास और कुछ कहानियां भी लिखना चाहता हूं। किन्तु-

नर चाहत कछु अउर,
अउरै की अउरै भई,
चितवन रहिओ ठगउर,
नानक फासी गल परी।।

दस खण्डों में अपनी रचनावली देखकर लगता है करक, संतोष, आनन्द और आने वाले कुछ वर्ष जीवनकक्ष के चार कोनों में खड़े मुँह बिरा रहे हैं। इनमें से किसी को भी देखने का साहस मुझमें नहीं है।

रचनावली का काम कुछ वर्ष और लटका रहता, यदि प्रिय अनिल कुमार ने पीछे पड़कर मुझसे उसकी सामग्री इकट्ठी न करवा ली होती। इस आयोजन में उन्होंने जितना श्रम किया है, मैं उसका साक्षी हूँ।

नमन प्रकाशन के श्री नितिन गर्ग ने जिस गति से इस रचना के प्रकाशन को संभव बनाया है उसके सामने मेरी कृतज्ञता छोटी पड़ती है।

एच-108, शिवाजी पार्क,
नई दिल्ली-110026

महीप सिंह

सम्पादक की ओर से

1960 के बाद हिन्दी कहानी में एक नया आन्दोलन प्रारम्भ हुआ-सचेतन कहानी। इसके अगुआ थे डॉ. महीप सिंह। डॉ. महीप सिंह का मानना है कि "सचेतन कहानी सक्रिय भाषा बोध की कहानी है, वह जिन्दगी की स्वीकृति की कहानी है। पश्चिम की भौंडी नकल और ओढ़ी हुई मानसिकता से प्रेरित होकर जिन्दगी की व्यर्थता, नितान्त अकेलेपन और बनावटी घुटन का प्रदर्शन नहीं करती।" सचेतन कहानी आयातित शिल्प पद्धति पर आधारित होकर भी भारतीय कथा परिवेश में अपनी मौलिक पहचान बनाए हुए है। निराशा, अकेलेपन, विसंगति, ऊब, उदासी, कुण्ठा, शोषण, अन्याय आदि के खिलाफ चेतना का आन्दोलन है जो संघर्ष का मार्ग प्रदर्शित करती है और जीवन में आस्था जगाती है।

डॉ. महीप सिंह ने आधार पत्रिका के सचेतन कहानी विशेषांक में लिखा है कि सचेतनता एक दृष्टि है जिसमें जीवन जिया जाता है और जाना भी जाता है। इसमें भविष्य की सम्भावनाओं का स्वर है। आत्म सजगता और व्यक्ति के अपराजेय संघर्ष क्षमता में सचेतनता एक आस्था है। कहें कि इस कहानी में सृजन की सम्भावना, आशामय भविष्य की कल्पना, संघर्षशीलता और आत्मविश्वास का भाव व्यक्त हुआ है।

डॉ. महीप सिंह जब मैट्रिक (1948) में थे तब से ही लिखना शुरू कर दिया था। प्रारम्भ में इन्होंने छोटी-छोटी ऐतिहासिक कहानियां लिखनी शुरू कीं जो उस समय की पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई थीं, पर लेख लिखने प्रारम्भ किये 1949-50 में, जब सच्चर फार्मूला नाम से पंजाब (उस समय उसे पूर्वी पंजाब कहा जाता था) में भाषा संबंधी नयी नीति लागू की गयी और पंजाब में आर्य समाज के नेतृत्व में उसका व्यापक विरोध शुरू हुआ। उन दिनों (1950 में) पंजाब की भाषा समस्या पर इन्होंने अनेक लेख लिखे। सही ढंग से कहानियां लिखना डॉ. महीप सिंह ने 1956 से शुरू किया।

प्रथम कहानी 'मैडम' (1956) से लेकर 'निगति' (2006) तक कहानीकार के रूप में अप्रतिम ख्याति प्राप्त किये डॉ. महीप सिंह को पचास वर्ष हो चुके हैं या कह सकते हैं कि महीप सिंह का कहानीकार 50 वर्ष का जीवन पूर्ण कर चुका है।

डॉ. महीप सिंह के माता-पिता देश के विभाजन से काफी पहले पश्चिमी पंजाब के जिला गुजरात के एक गांव सराय आलमगीर से उत्तर प्रदेश के उन्नाव जिले में आकर बस गये। उन्नाव में ही जन्म होने के कारण इनकी सम्पूर्ण शिक्षा कानपुर में हिन्दी माध्यम से हुई। मातृभाषा पंजाबी से प्रेम होने के कारण घर पर ही इन्होंने इसे पढ़ना-लिखना सीखा और पूरी तरह से इसका अध्ययन मनन किया ताकि सूक्ष्म भावों की कलात्मक अभिव्यक्ति सहज हो सके। इसी कारण महीप जी पंजाबी में भी उसी सहजता से लिखते हैं जिस सहजता से हिन्दी में। इनके परिवार में लेखन का कोई वातावरण नहीं था और इनके बच्चों में भी लेखन के प्रति कोई रुचि नहीं है, हां इनकी धर्मपत्नी का भरपूर सहयोग इन्हें मिलता रहा है।

डॉ. महीप सिंह के अब तक 'सुबह के फूल' (1959) 'उजाले के उल्लू' (1964), 'घिराव' (1968), 'कुछ और कितना' (1973), 'मेरी प्रिय कहानियां' (1974), 'भीड़ से घिरे चहरे (1977), 'कितने संबंध, (1979),' 'इक्यावन कहानियां, (1980),' 'महीप सिंह की चर्चित कहानियां, (1994), 'धूप की उंगलियों के निशान' (1993), 'सहमे हुए' (1998), महीप सिंह की समग्र कहानियां, (तीन खण्ड) (2000), 'दिल्ली कहां है' (2002), तथा ऐसा ही है, (2002) कहानी संग्रह प्रकाशित हुए हैं।

डॉ. महीप सिंह के साहित्यक लेखन की शुरुआत सन् 1956 में जिन कहानियों से हुई थी, वे कहानियां 'मैडम' और 'उलझन' अच्छी और मुकम्मिल कहानियां हैं। 'मैडम' में अगर सबके द्वारा बुरी समझी जाने वाली और चौतरफा अफवाहों से घिरी एक औरत के भीतरी दर्द और उजाड़ को समझने की संवेदनशील और ईमानदार कोशिश है तो 'उलझन' दाम्पत्य सम्बन्ध के तनाव को लेकर लिखी गई कहानी है। ये दोनों ही कहानियां स्त्री मन के दर्द को सहानुभूति से समझने की कोशिश ही नहीं करतीं बल्कि उसकी उलझनों को भी खोलकर देखना चाहती हैं। यह चीज महीप जी की पूरी कथा यात्रा में स्थायी टेक की तरह है। अगर यह कहा जाए कि इनकी आधी से अधिक कहानियां या तो स्त्री पर लिखी गई हैं या स्त्री की उपस्थिति वहां प्रमुख रूप से नजर आती है तो अतिशयोक्ति नहीं होगी।

डॉ. महीप सिंह की प्रारम्भिक दौर की कहानियों में 'शास्त्री जी', 'लिफ्ट' 'सुबह के फूल', 'एक हंसी की बात' और 'पड़ोसी' जैसी कुछ अच्छी और अलग तरह की कहानियां भी हैं जिनकी अधिक चर्चा नहीं हुई। 'शास्त्रीजी' रामलीला में परसुरामी करने वाले शास्त्री जी और नौटंकी की एक बाई के संबंधों की ऐसी निश्छल और उदात्त कहानी है जिसे भुला पाना कठिन है। ऐसे ही 'लिफ्ट' एक अपाहिज की यादगार कहानी है। एक पैर वाला यह अपाहिज चिलचिलाती धूप में अपनी साइकिल के कैरियर पर संभ्रान्त कथानायक को बिठाकर किस तरह उसको मंजिल तक पहुंचाता है, यह पाठक को संवेदना से भर देता है। इसी प्रकार 'सुबह के फूल', 'एक हंसी की बात' और 'पड़ोसी' ऐसी कहानियां हैं जो छोटे-छोटे और विरल किस्म के अनुभवों से युक्त होने के साथ ही पाठक को अलग और विलक्षण चरित्रों से मिलवाती हैं।

दूसरे दौर में महीप जी की सातवें-आठवें दशक की कहानियां शामिल की जा सकती हैं। इस दौर में उन्होंने 'पानी और पुल' और 'कील' जैसी सशक्त कहानियां रचीं, जिनके जोड़ की कहानियां ढूंढ़ पाना कठिन है और इन कहानियों ने इन्हें खासी प्रतिष्ठा दिलाई।

गांव से बिछुड़ने का दर्द भाइया जी को मरते दम तक सालता रहा और इनकी आखिरी इच्छा भी यही रही कि मरने के बाद इनकी अस्थियां जेहलम में ही प्रवाहित की जाएं। यह दर्द केवल भाइया जी का ही नहीं है उन सभी का है जिन्हें अपने वतन से बेवतन होना पड़ा। आदमी कहीं का कहीं क्यों न पहुंच जाए परन्तु उस जगह को कभी नहीं भूल सकता जहां उसने अपना बचपन गुजारा होता है। जिस मिट्टी में खेल-खेलकर बच्चा बड़ा होता है उसे भूला भी कैसे सकता है। भाइया जी पचहत्तर पार कर चुके हैं और घर परिवार में सभी अपने-अपने काम में व्यस्त हैं, किसी के पास इतना वक्त नहीं होता कि भाइया जी के पास फुरसत से बैठे। दूसरा यह कि भाइया जी जब भी बात करते हैं तो अपने बचपन के दिनों में पहुंच जाते हैं, जिसे सभी कई बार सुन चुके हैं और इनके किस्से को सुन सुनकर बोरियत महसूस करते हैं।

भाइया जी का सारा जीवन संघर्ष में ही गुजरा। शादी के तुरंत बाद ही भाइया जी को बड़े भाई लाभ सिंह ने अलग कर दिया। इनके हिस्से में कुछ बर्तन, कुछ कपड़े, टूटी फूटी हवेली का एक हिस्सा और कुछ रुपए ही आए। साइकिल की मरम्मत का काम शुरू कर जीवन की गाड़ी को आगे बढ़ाना शुरू किया। काम आगे बढ़ा परन्तु इन्हें अपना मुल्क पाकिस्तान छोड़कर भारत आना पड़ा। यहां आकर इन्होंने दिल्ली में अपना घर बसा लिया। बच्चे बड़े होने लगे और सभी का काम धंधा बढ़ने लगा। भाइया जी मन में बेटी की चाह लेकर जीते रहे परन्तु इनके अपनी कोई बेटी नहीं हुई। बेटी की चाह पूरी हुई तो बेटे बलवंत की बेटी मनजीत के रूप में। समय के साथ-साथ भाइया जी की उम्र ढलने लगी और ये 75 पार कर गए। बच्चे सयाने होने लगे। मनजीत कालेज जाने लगी और वहां उसकी एक लड़के से दोस्ती हो जाती है जो उसे मन ही मन चाहता है। मनजीत भी उसे चाहती है परन्तु रोजगार न होने के कारण दोनों का विवाह नहीं हो पाता।

'अभी शेष है' में कथानक केवल एक ही परिवार या एक ही समस्या के इर्द गिर्द नहीं घूमता। मनजीत और सुनंदा के माध्यम से नारी से जुड़ी समस्याओं को उठाया गया है। कालेज आते-जाते समय बस में मनजीत की कमलजीत से मुलाकात होती है और यह मुलाकात धीरे-धीरे प्रेम में परिणत हो जाती है। इनका प्रेम विवाह के बंधन में नहीं बंध पाता और मनजीत का विवाह लखनऊ के मनमोहन से तय होता है जो पढ़ा-लिखा और काबिल तो है परन्तु शक्ल-सूरत में मनजीत के लायक नहीं। मनमोहन नौकरी अमेरिका में करता है और मनजीत को भी विवाह के बाद अमेरिका में ही जाना पड़ता है मनमोहन कॉम्पलेक्स का शिकार हो जाता है। यहां तक कि उसे मनजीत का सजना-संवरना भी अच्छा नहीं लगता। इसी समय में अमेरिका का वियतनाम के साथ युद्ध छिड़ जाता है। वहां की राजनीति को लेकर वह अनजाने में अमेरिका के खिलाफ कुछ टिप्पणी कर बैठता है और उसके मन में डर बैठ जाता है जिसके चलते वह मानसिक रोग का शिकार हो जाता है। उसका कई जगह इलाज भी कराया जाता है परन्तु कोई परिणाम नहीं निकलता।

दूसरी तरफ सुनंदा है! उसके माता-पिता का एक दुर्घटना में देहांत हो जाता है। सुनंदा का भाई और पति अमेरिका में ही रहते हैं। शुरू में सुनंदा का पति उसके पत्रों का भी जवाब देता है परन्तु धीरे-धीरे उसकी उपेक्षा शुरू कर देता है। सुनंदा जब इसकी वजह खोजती है

लोकप्रियता का सहज अहसास इसी से हो जाता कि अब तक सात भाषाओं अंग्रेजी, पंजाबी, मलयालम, मराठी, गुजराती, उड़िया और कन्नड़ में भी इसके अनुवाद छप चुके हैं। सन 2005 में हिन्दी में इसका चौथा संस्करण प्रकाशित हुआ।

महानगरीय जीवन की आधुनिकता से प्रभावित उलझे जटिल संबंधों के भीतर टूटती, पनाह खोजती बेपनाह जिंदगी का जितना यथार्थ अंकन इस उपन्यास में हुआ है वैसा कम ही उपन्यासों में हो पाता है।

'यह भी नहीं' में बम्बई के प्रमुखतः मध्यवर्गीय और प्रसंगतः उच्च और निम्नवर्गीय जीवन का चित्रण किया गया है। मध्यवर्ग का भी वह तबका जो देश के विभिन्न भागों से आकर धीरे-धीरे बम्बई का होने लगता है। ये अधिकतर आजीविका की तलाश में आते हैं और कभी-कभी अपनी यौन स्वच्छंदता को प्रश्नहीनता का वातावरण देते हैं। यह भाग बम्बई का बहुत बड़ा भाग है और इनकी समस्याओं का महीप सिंह ने सूक्ष्म और वैविध्य सम्पन्न चित्रण किया है। बम्बई में पहुंचने वाले युवक-युवतियों को बम्बई कुंठाएं देती है क्योंकि किसी की नजर होटल मैग्नेटों की ओर है किसी की सिनेमा के थैलीशाहों की ओर तो किसी की सेठों की ओर और बाकी की कमी बम्बई का मायाजाल पूरी कर देता है जिसके परिणामस्वरूप कुंठाएं उत्पन्न होना स्वाभाविक है। इस उपन्यास में लेखक ने सांकेतिक दृष्टि से बम्बई की जिंदगी का केन्द्रीय स्पंदन ध्वनित करने में सफलता प्राप्त की है।

'यह भी नहीं' में समस्याओं से मुंह चुराने की बजाय आगे बढ़कर उन सभी समस्याओं को लिया गया है जो समसामयिक यथार्थ के कटु अंग हैं। स्त्री-पुरुष की समस्याएं अनन्त हैं फिर भी उनके कुछ प्रमुख रूप उपन्यास में आ गए हैं जो मोटे तौर पर पुराने विश्वासों और नई मान्यताओं के बीच संघर्ष की समस्याएं हैं। तनावपूर्ण संबंधों वाले पति-पत्नी के बीच पुत्र के पालन और विकास की समस्या का सूक्ष्म चित्रण पाठक को झकझोर जाता है। शिक्षित कन्या के विवाह की समस्या भी बहुत गहरे रंगों में चित्रित हुई है। भ्रष्ट प्रबंधक और चापलूस तथा बेईमान प्रिंसिपल के बीच की साठ-गांठ से उत्पन्न होने वाली शिक्षा संस्थाओं में स्वतन्त्रता और योग्यता के हनन की समस्या भी चित्रित हुई है। भाषा की समस्या विद्यालय की पत्रिका से लेकर राजनीतिक वातावरण की समस्या के रूप में चित्रित हुई है। इसी प्रकार सेठों द्वारा राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था को कमजोर करने वाली टैक्स चोरी और उसे कानूनी सुरक्षा देने के लिए बिचौलियों द्वारा टैक्स अधिकारियों को घूस देने की समस्या रेलवे प्रशासन से लेकर आम प्रशासन तक भ्रष्टाचार की समस्या, अनेक प्रकार से उभर कर सामने आती है। प्रादेशिकता को राजनीतिक रंग देकर मुंबई आमची आहे का नारा लगाकर बंद का आयोजन और तत्संबंधी तोड़-फोड़ की समस्या बम्बई में मकानों की भीषण समस्या, बाजारू फिल्मों के निर्माण और उससे जनता को मूर्ख बनाने की समस्या, क्लबों और होटलों की कृत्रिम एवं भ्रष्ट जिंदगी की समस्या और पश्चिम की भोंडी नकल और अन्त में पिछले दो तीन दशकों में उत्पन्न बुद्धिजीवियों के लिए चुनौती स्वरूप उत्पन्न होने वाले भगवानों की समस्या उपन्यास की महत्वपूर्ण विवृतियाँ हैं।

घटनाओं की ही भांति भाषा के प्रयोगों में भी विशेषता है। शुद्ध कथा भाषा-सीधी

सहज, बिम्बों, प्रतीकों और अप्रस्तुतों की औपचारिकता एव रहित भावात्मकता की उलझनों से रहित, जीवन के इर्द गिर्द की स्तरीय व्यावहारिक भाषा को सहज साहित्यिक संस्कार प्रदान कर कृति में प्रयोग किया गया है। कथाकार भावुकता के साथ दार्शनिकता और कुण्ठा आदि की रहस्याच्छादित मनोवैज्ञानिक परतों के अंकन से भी बचता गया है।

'यह भी नहीं' में डॉ. महीप सिंह ने अधिकांश कहानी परम्परागत शिल्प का उपयोग करते हुए कही है। बीच-बीच में पूर्व दीप्ति, फैण्टेसी, स्वप्न आदि का भी उपयोग किया गया है। उपन्यास सुगठित न होकर विखरावपूर्ण है। जिस लक्ष्य को लेकर उपन्यासकार चला है उसकी दृष्टि से यह दोष नहीं है। अगर पूरे बम्बई महानगर का चित्र खड़ा करना है तो उपन्यास में बिखराव आएगा ही। इस बिखराव के बावजूद उपन्यास बेहद पठनीय है।

लगभग 29 वर्ष के लम्बे अन्तराल के बाद डॉ. महीप सिंह जी का नया उपन्यास 'अभी शेष है' आया। इस उपन्यास का समय 1970 के आसपास का है और उपन्यास की सीमा देश में 1975 में की गयी आपातकाल की घोषणा तक है। आजादी तो 1947 में मिल गयी परन्तु देश की जनता ने इतिहास से कुछ भी सबक नहीं लिया। आज भी देश में जब चाहे दंगे भड़क उठते हैं। चाहे वह उग्रवाद के नाम पर हो, मन्दिर-मस्जिद के नाम पर या मजहबी जुनून के नाम पर गोधरा काण्ड। आज तक भारत में जितने भी फसाद हुए हैं उनमें 1947 में हुए दंगों की मिसाल पूरे विश्व में नहीं मिलती। कल तक जो एक साथ रहते थे, साथ उठते वैठते थे, एक दूसरे के सुख-दुख में शरीक होते थे अचानक ही एक दूसरे के खून के प्यासे हो गये। सबकी अक्ल पर परदे पड़ गये, सोचने समझने की शक्ति ही खत्म हो गयी। जो नफरत के बीज उस समय बोये गये थे वे आज भी यों ही बोये जा रहे हैं। जहाँ तक आम आदमी की बात है वह इन सब चीजों से आजिज आ चुका है। आम आदमी तो शान्ति के साथ जीना चाहता है। देश का बंटवारा हुआ तो बहुतों को भारत छोड़कर पाकिस्तान जाना पड़ा और बहुतों को पाकिस्तान छोड़कर भारत आना पड़ा। सबके दिल में अपनी जन्मभूमि को छोड़ने की कसक थी । कोई भी बेवतन नहीं होना चाहता था परन्तु देश के नेताओं के आगे किसी की नहीं चली। जिसका नतीजा था पाकिस्तान का जन्म।

अंग्रेजों ने जाते-जाते देश को दो टुकड़ों में बांट दिया पर दिलों को नहीं बांट पाये। लाखों लोगों को अपना घर छोड़कर शरणार्थी का जीवन व्यतीत करना पड़ा। भाइया जी भी उन्हीं में से एक थे जो भारत में आकर बस तो गए परन्तु दिल से कभी भी अपने मुल्क को नहीं भुला पाए। उनकी यादों में, बातचीत में हमेशा वहां का जिक्र होता। कोई भी बात हो उनके बचपन से ही शुरू होती और पाकिस्तान की गलियों में घूमती रहती। एक जगह भाइया जी कहते हैं, 'हुकूमतें बदलती रहती हैं। राज भाग कभी किसी के सिर पर, कभी किसी के सिर पर, पर आम लोग तो अपने घरों में ही बसते हैं। हुकूमतों का बनना और बिगड़ना फसलों की भांति है, बोई सींची और फिर काट ली। मन किया तो गेहूँ बो दिए, मन किया तो बाजरा या मकई बो दी। आम जनता तो धरती की भाँति होती है वह अपनी जगह से नहीं हिलती।' सच ही है कि हुकूमतें तो बदलती रहती हैं, पर आम आदमी तो वही रहते हैं। आम जनता धरती की तरह ही होती है उसे ही सब कुछ सहना पड़ता है और 1947 से लेकर अब तक जितने भी दंगे हुए उसमें जो कुछ भी सहा वह आम आदमी ने ही सहा।

व्यक्ति जब अपने सीमित परिवेश से आगे बढ़ता या ऊपर उठता है तो उसको राजनीति और धर्म जैसे उन प्रभावशाली तत्वों से सामना करना पड़ता है जो उसके दैनिक जीवन का महत्वपूर्ण अंग तो नहीं हैं किन्तु समय-समय पर इतने प्रभावशाली हो जाते हैं कि शेष समाज से संबंध कायम करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। भारतवासियों के जीवन में भारत विभाजन अथवा स्वतन्त्रता प्राप्ति की वेला में इन तत्वों का प्रभाव शिद्दत के साथ उभरकर आया जब धर्म और राजनीति के घालमेल ने सामान्य जनों के दिलों के बंटवारे कर दिए। सदियों से साथ-साथ रहने वाले प्यार भरे दिलों को अलग-अलग कर दिया। भारत विभाजन की रेखा कागज पर खिंची, भूमि पर उतरी और लोगों के दिलों को चीरती हुई निकल गई। 'पानी और पुल' में लेखक ने इन भावनाओं को बहुत ही मार्मिक ढंग से चित्रित किया है। कहानी में एक सिख परिवार धार्मिक स्थानों की यात्रा के सिलसिले में भारत से पाकिस्तान गया है। गाड़ी उस गांव से गुजरती है जहां से उजड़कर यह परिवार भारत आया है। रेलवे स्टेशन पर गाड़ी आधी रात को रुकती है तो भी उस गांव के मुसलमान लोग अपने बिछुड़े हुए पड़ोसी के परिवार से अत्यन्त गर्मजोशी से मिलते हैं। उपहार देते हैं और वापिस उस गांव में आकर बसने का अनुरोध करते हैं। लेखक को लगता है पत्थर और लोहे के बने पुल के नीचे जेहलम नदी का स्वच्छ और निर्मल पानी है जो दिलों को मिलाता है। यह कहानी धर्म और राजनीति से ऊपर उठकर मानवीय सम्बन्धों की व्याख्या करती है। इसी प्रकार की दूसरी कहानी है 'सहमे हुए'। यह कहानी आजाद भारत के नागरिकों में पनप रही धार्मिक मानसिकता की कहानी है जिसके चलते परस्पर अविश्वास और आशंका का वातावरण इतना अधिक घनीभूत अंधकार उगल रहा है कि अक्सर साम्प्रदायिक दंगे हो जाते हैं। एक ही कार्यालय में कार्य कर रहे हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई, हरिजन साथ-साथ रहकर भी दूर-दूर हैं क्योंकि राजनीति और धर्म उन्हें मिलने नहीं देते। साम्प्रदायिक झगड़ों के विषय में लेखक की अत्यन्त सटीक टिप्पणी है- झगड़ों के बीज हमारी पृष्ठभूमि में पता नहीं कब किसने क्यों बो दिए। उस बोई हुई फसल को हम कब से काट रहे हैं, काटते चले जा रहे हैं, काटते चले जाएंगे। मनुष्य अवश्य लड़ेगा। वह अकेले-अकेले लड़ता है तो लोग उसे झगड़ालू, गुंडा और बदमाश कहते हैं । वह झुण्ड बनाकर लड़ता है तो देशभक्त, धर्मवीर और गाजी कहलाता है। उसे सम्मानित किया जाता है। आखिर मनुष्य यह सम्मान क्यों न ले। यह पूरी स्थति का खुलासा है क्योंकि पांचों मित्र शिक्षित हैं इसलिए बिना किसी कड़वाहट के तर्क के आधार पर स्थितियों का विश्लेषण कर सकते हैं। इसीलिए साम्प्रदायिक दंगों के पीछे एक तर्क यह भी है कि सारी लड़ाई ताकत और दौलत की लड़ाई है।

आदमी सत्ता हथियाना चाहता है इससे उसका अहम् संतुष्ट होता है। सत्ता के पीछे-पीछे दौलत आती है। अब इस लड़ाई को चाहे देश के नाम पर लड़ो, चाहे धर्म के नाम पर, चाहे किसी चमकदार वाद के नाम पर। स्थिति निरपेक्ष होकर तर्क देने वाले चारों धर्मों के ये मित्र जब साम्प्रदायिक दंगों में फंसे एक शहर के प्लेटफार्म पर खड़ी रेलगाड़ी के कैबिन में घिर जाते हैं तो सहम जाते हैं। कैबिन चारों तरफ से बंद है फिर भी ऐसा लग रहा है जैसे बाहर बेहिसाब शोर फैला हुआ है। पसीने से तरबतर और सहमे हुए आठ हाथ आपस में

तो उसके पैरों तले जमीन खिसक जाती है। उसके पति ने वहीं किसी दूसरी महिला से विवाह कर लिया, न तो उसे तलाक देना ही जरूरी समझा और न ही बताना कि उसके साथ यह सब क्यों किया जा रहा है। इस आघात को सुनंदा जैसे-तैसे झेल लेती है और खुद को व्यस्त रखने के लिए स्वतंत्र पत्रकार का व्यवसाय अपना लेती है। क्या व्यस्तता से ही किसी समस्या का समाधान किया जा सकता है? पति-पत्नी के संबंधों में कुछ वैयक्तीकरण और नितांत निजी संबंध भी होते हैं जिनकी पूर्ति वे आपस में बिना किसी औपचारिकता के करते रहते हैं परन्तु जब संबंध विच्छेद की नौबत आ जाती है तो नारी के सामने इस प्रकार की समस्या आती है कि वह इसकी पूर्ति कहाँ करें? ऐसे में क्लैमर वीकली के सम्पादक आनंद से उसका परिचय होता है। लेखों के माध्यम से हुआ परिचय धीरे-धीरे बिस्तर तक पहुच जाता है। जब इन संबंधों का पता आनंद की पत्नी कोमल को चलता है तो वह भी काफी परेशान होती है। वह इस समस्या का समाधान सोच समझ कर निकालती है और सुनंदा को समझाती है जिसे सुनंदा मान भी लेती है।

नसरीन और अशरफ दोनों मुस्लिम समुदाय से हैं। दोनों ही एक दूसरे को चाहते हैं और पति-पत्नी के रूप में जीवन व्यतीत करना चाहते हैं परन्तु शिया सुन्नी की दीवार इनके बीच आ जाती है। इस कारण इनके माता-पिता इस रिश्ते के लिए तैयार नहीं होते। ऐसे में ये दोनों आनंद साहब की शरण में आकर अपनी समस्या से इन्हें अवगत कराते हैं और चाहते हैं कि कोर्ट मैरिज में आनंद साहब इनकी सहायता करें।

भाइया जी के बेटे बलवंत की टायर सोल की फैक्टरी है। एक मजदूर की वजह से एक दिन फैक्टरी में आग लग जाती है और उस मजदूर की मौत हो जाती है। ऐसे में यूनियन नेताओं को अपनी रोटी सेंकने का मौका मिल जाता है। यूनियन लीडर अपने स्वार्थों को साधते हैं। आनंद साहब समझौता करा देते हैं, मजदूर के परिवार को मिलता है थोड़ा सा मुआवजा और घर भरता है यूनियन लीडर चड़ती राम का।

कृति में सिख राजनीति और गुरुद्वारा कमेटियों पर कब्जा जमाने की होड़ और धांधलियों का भी खुलकर बखान किया गया है। 1971 के भारत-पाक युद्ध में पाक को पराजित करना और पाक युद्धबंदियों का रेडियो से अपने परिवारों को अपनी कुशलता का संदेश देना भाव-विह्वल करने के साथ ही 1971 के युद्ध की याद ताजा कर देता है।

1974 का छात्र आंदोलन, 1975 का आपातकाल पढ़कर ऐसा लगता है जैसे सभी पुरानी बातें एक-एक कर आंखों के सामने आ रही हैं। 1975 के आपातकाल में सरकार विरोधियों को अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ा। सरकार विरोधी बहुत दिनों तक तो अपने घर ही नहीं जा पाए थे। जहां भी उन्हें छिपने की जगह मिलती वहीं वे शरण लेते थे। पुलिस चुन-चुन कर इन्हें जेलों में भर रही थी। प्रेस को भी सेंसर कर दिया गया। बिना सरकारी अधिकारी को दिखाए कोई भी लेख या प्रतिक्रिया नहीं छप सकती थी और जो भी ऐसा कुछ छापने की कोशिश करता उसे रातोंरात उठाकर जेल में डाल दिया जाता था। आनंद के साथ भी ऐसा ही हुआ। पुलिस उसे जानती थी परन्तु ऊपर के आदेश के सामने विवश थी। आज अखबार छोटा हो या बड़ा, उसे सरकारी विज्ञापनों के लिए कई प्रकार के

हथकंडे अपनाने पड़ते हैं, सरकारी अधिकारियों की चापलूसी करनी पड़ती है तब जाकर कहीं अखबार चल पाता है। 'अभी शेष है' में लेखक ने मनजीत, सुनंदा, कोमल के माध्यम से नारी मन की व्यथा का गहराइयों से वर्णन किया है तो नसरीन-अशरफ के माध्यम से शिया-सुन्नी समस्या का, सतवंत के माध्यम से डेरे के संत की यौन पिपासा का, सोहन सिंह, संत निधान सिंह, संत बीर सिंह के माध्यम से डेरों और सिख राजनीति का स्पष्ट और बेबाक बखान है। उपन्यास की समाप्ति पर पाठकों के मन में जिज्ञासा रह जाती है कि आनंद का क्या हुआ। सुनंदा और कोमल जब साथ-साथ रहने लगीं तो उनका जीवन कैसा रहा। नसरीन अशरफ का जीवन कैसा चल रहा है। मनमोहन वापस मनजीत के पास आता है या नहीं आदि जहां पाठक के मस्तिष्क पर छाप छोड़ती हैं वहीं इन पात्रों के विषय में आगे की जानकारी चाहने की इच्छा भी।

हिन्दी साहित्य के गम्भीर अध्येता के रूप में डॉ. महीप सिंह ने यह महसूस किया कि न तो दार्शनिक चिंतन के क्षेत्र में और न ही साहित्य के क्षेत्र में सिख साहित्य का मूल्यांकन हो पाया है। ऐसे वर्णन तो पाये जाते हैं जिनमें गुरु नानक देव को सामान्य संत के रूप में देखा गया है और गुरु गोबिन्द सिंह को महान योद्धा के रूप में चित्रित किया गया है परन्तु 'दशम ग्रंथ' में गुरु गोबिन्द सिंह की रचनाओं के अध्ययन, सम्पादन और प्रकाशन आदि की ओर उपेक्षा का दृष्टिकोण ही अपनाया है। यह उपेक्षा मात्र दशम ग्रंथ तक ही सीमित नहीं थी, लगभग सम्पूर्ण सिख साहित्य और गुरु ग्रंथ साहब भी इसका शिकार रहा। डॉ. महीप सिंह ने 1954 में डी. ए. वी. कालेज कानपुर से हिन्दी साहित्य में एम. ए. करने के पश्चात गुरु गोबिन्द सिंह के काव्य को अपने शोध कार्य के लिए चुना और 1963 में आगरा विश्वविद्यालय से पी-एच. डी की डिग्री प्राप्त की। डॉ. महीप सिंह ने गुरु गोबिन्द सिंह के सम्पूर्ण काव्य के मंथन के पश्चात समकालीन वीर काव्य का गहन एवं विस्तृत अध्ययन एवं मूल्यांकन करने के बाद आश्चर्यजनक तथ्य विद्वानों के सामने प्रस्तुत किए।

डॉ. महीप सिंह ने गुरु ग्रंथ और दशम ग्रंथ के आधार पर यह सिद्ध किया कि अपने जीवन और साहित्य के बल पर भारतीय जनता की मनोवृत्ति को गुरु गोबिन्द सिंह ने बदला और यह बदलाव ऐसा आया कि कातरता, आत्मविश्वासहीनता की भावनाओं को त्याग कर 'सिंह' रूप में एक-एक व्यक्ति 'सवा लाख' से लड़ने मरने के लिए तैयार हो गया। गुरु गोबिन्द सिंह ने युद्ध कौशल ही नहीं दिया, साथ ही साथ एक विशिष्ट युद्ध दर्शन भी पैदा किया। डॉ. महीप सिंह के शोध के बाद विद्वानों का ध्यान सिख साहित्य की ओर गया और खासतौर पर पिछले चालीस सालों में कई महत्वपूर्ण रचनाएं प्रकाश में आईं।

सिख जगत में बेशक डॉ. महीप सिंह को उनके शोध और समालोचना 'गुरु गोबिन्द सिंह और उनकी हिन्दी कविता' के साथ जोड़कर जाना जाता है, परन्तु इनकी एक अन्य कृति 'आदिग्रंथ में संगृहीत संत कवि' के. के. बिड़ला फाउण्डेशन द्वारा प्राप्त शोध वृत्ति के लिए लिखी गई और भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित हुई। यह पुनः सिद्ध करती है कि डॉ. महीप सिंह कहानीकार, उपन्यासकार, अखबारों के स्तम्भकार, निबंधकार, धारावाहिकों के लेखक आदि होने के साथ-साथ गुरुवाणी के चिंतक, व्याख्याकार और गम्भीर पाठक भी हैं

जो अभी तक गुरुवाणी से सम्बन्धित अनसुलझे प्रश्नों का उत्तर खोजने में लगे हैं। इस विषय में महीप सिंह अपने विचार व्यक्त करते हुए बताते हैं कि मेरी दृष्टि में अध्यात्म अंतर की खोज है, स्वयं की पहचान है और लेखक होने के नाते इसमें मेरी गहरी जिज्ञासा है। गुरुवाणी से मेरा सम्बन्ध बचपन से है। उसका मैंने अध्ययन किया। उसने मुझे बहुत प्रभावित किया।

'आदि ग्रंथ में संगृहीत संत कवि' के उपरान्त डॉ. महीप सिंह की 'गुरु नानक से गुरु ग्रंथ साहिब तक' प्रकाशित हुई। यह पुस्तक भारत सरकार के प्रकाशन विभाग के आग्रह पर लिखी गई। इसमें गुरु ग्रंथ साहिब की वाणियों के आधार पर सिख जीवन दर्शन और गुरु गोविन्द सिंह के युद्ध दर्शन पर प्रकाश डाला गया है। सिख धर्म का आन्दोलन मात्र भक्ति आन्दोलन नहीं था, वह सामाजिक-आर्थिक और वैचारिक क्रांति का आन्दोलन था। इससे तत्कालीन मुगल साम्राज्य भी चिंतित हुआ और उसका दखल भी दिनोंदिन बढ़ता गया। परिणामस्वरूप इस भक्तिपरक सामााजिक आंदोलन को शक्ति की आवश्यकता महसूस हुई। अतः सत्ता के साथ टकराव में इस अनोखे भक्ति आन्दोलन ने शक्ति को भी अपनी जीवन शैली में रूपांतरित कर.लिया यानी 'मीरी और पीरी' की विचारध ारा के साथ जीने वाला 'संत सिपाही'।

सिख इतिहास की गुरु ग्रंथ साहिब के सम्पादन के बाद सबसे क्रांतिकारी घटना थी आनन्दपुर में 30 मार्च 1699 को गुरु गोबिन्द सिंह द्वारा बुलाया गया सिखों का विशाल सम्मेलन और वैशाखी के दिन 'पाहुल संस्कार' द्वारा 'खालसा' पंथ की स्थापना और शस्त्रधारी पंज प्यारों का नया स्वरूप। इससे राजाओं, नवाबों और सूबेदारों से लेकर दिल्ली के तख्त तक को खतरे की घंटियां सुनाई देने लगीं। यह सिख विचारधारा की ऐतिहासिक परिणति थी। इससे युद्धों का और मुगल सल्तनत के लिए विनाश का इतिहास लिखा जाना था। सिख विचारधारा में युद्ध दर्शन और योद्धाओं के उत्थान का समय शुरू होना था। दलित जातियों में साहस शौर्य और आत्मसम्मान की सोच का विकास होना था। अंततः पूरा इतिहास ही करवट बदलने की तैयारी कर रहा था। इस काल खण्ड का पूरा ऐतिहासिक ब्योरा 'सिख विचारधारा गुरु नानक से गुरु ग्रंथ साहिब तक' में अंकित है।

डॉ. महीप सिंह कहानीकार के रूप में विख्यात हैं परन्तु उन्होंने समय-समय पर व्यंग्य भी लिखे हैं, जो 'एक नए भगवान का जन्म' तथा 'एक गुण्डे का समय बोध' संग्रहों में संकलित हैं। इनके व्यंग्य देश की राजनीति में व्याप्त विसंगतियों पर प्रहार करते हैं। सन् 1985-90 के दौरान देश की राजनीति में नैतिक मूल्यों का पतन, वंशवाद, गुंडागर्दी, भ्रष्टाचार, धार्मिक भावनाओं का राजनीतिक इस्तेमाल जैसे अनेक मुद्दे छाए हुए थे। लेखक ने इन सभी को अपने व्यंग्य का निशाना बनाया है। महीप जी ने समाज के अंतर्विरोधों और विसंगतियों को अत्यन्त धारदार भाषा में व्यक्त करते हुए व्यंग्य साहित्य में अपना विशिष्ट योगदान दिया है।

डॉ. महीप सिंह द्वारा समय-समय पर लिखे निबंध ''कुछ सोचा : कुछ समझा' में संकलित हैं। इनके अब तक प्राप्त निबंधों और लेखों की संख्या लगभग चार सौ है। इन

निबंधों को यहां राजनीति, साहित्य, धर्म, इतिहास, समाज आदि शीर्षकों के अंतर्गत प्रस्तुत किया जा रहा है।

डॉ. महीप सिंह के आधी सदी से ज्यादा के लेखन को दस खण्डों में प्रस्तुत किया गया है।

खण्ड एक- कहानी

खण्ड दो - कहानी

खण्ड तीन -उपन्यास

खण्ड चार - साक्षात्कार, व्यंग्य और रूपक

खण्ड पांच - शोध

खण्ड छः -आदिग्रंथ में संगृहीत सन्त कवि, सिख विचारधाराः गुरु नानक से गुरु ग्रंथ साहिब तक तथा अन्य जीवनियां

खण्ड सात - साहित्यिक लेख

खण्ड आठ - धर्म और इतिहास से संबंधित लेख

खण्ड नौ - सामाजिक लेख

खण्ड दस - राजनीतिक लेख

महीप सिंह रचनावली की सामग्री खोजते समय अनेक ऐसे दुर्लभ लेख भी प्राप्त हुए जिनकी उम्मीद स्वयं लेखक को भी नहीं थी। साथ ही कुछ चीजें खोजने पर भी नहीं मिलीं। सामग्री की खोज में डॉ. साहिब ने पूरा सहयोग किया। अप्रत्यक्ष रूप से कई और मित्रों का भी सहयोग प्राप्त होता रहा, जिनके प्रति मैं हृदय से आभारी हूं।

संपादक
अनिल कुमार

एच-3/72, विकास पुरी
नयी दिल्ली-110018
(मो. 09810226748)

अनुक्रम

धर्म

1. सिख धर्म की भारतीय संस्कृति को देन 1
2. तीन सौ वर्ष पूर्व 'खालसा' का सृजन करने वाले गुरु गोबिंद सिंह का मानवतावादी दृष्टिकोण 34
3. गुरु तेग़बहादुर : साधक, कवि और हुतात्मा 44
4. जुलूस क्यों निकाले जाते हैं 49
5. भक्ति भी उपभोक्ता संस्कृति की चपेट में 53
6. धर्म, धार्मिकता और धर्मनिरपेक्षता 59
7. झूठ के अंधेरे में बुल्लेशाह के बोल 64
8. हुक्मनामों के लिए एक निश्चित नीति होनी चाहिए 68
9. गुरु गोबिंद सिंह के सपनों का समाज 73
10. बुद्ध ने कहा था—स्वयं आत्मदीय बनो 79
11. कबीर : सूरा सो पहचानिए 82
12. धर्मान्तरण क्यों होता है 87
13. दरिद्रनारायण या समृद्धि नारायण 91
14. भगवान की मुक्ति कैसे हो 95
15. राम-नाम की व्याप्ति 100
16. कैसे जले दीप से दीप 104
17. उन्होंने सामाजिक न्याय की लड़ाई लड़ी थी 108
18. रमजान, रोजे और ईद-उल-फितर 113

19. क्या भगवान को गुस्सा आता है 117
20. खूब फल-फूल रहा है धर्म का व्यवसाय 121
21. सह-अस्तित्व की भावना के प्रतीक थे बाबा शेख फरीद 125
22. गुरुकुल : खालसा की परिकल्पना 129
23. बैसाखी फिर आ गई 135
24. संकीर्णता के दौर में गुरु अर्जुन देव की सीख 139
25. संत नामदेव ने भी झेला था जातिवाद का दंश 143
26. शाश्वत नहीं हैं संहिताएं 146
27. कितने सच हैं ज्योतिषियों के दावे 150
28. संत रविदास : एक सुख-राज्य का स्वप्न 155
29. त्याग और बलिदान की महत्ता 159
30. गुरु गोबिंद सिंह ने युद्ध का दर्शन विकसित किया था 164
31. होली जब होला बन गई 171
32. स्वामी विवेकानन्द का हिन्दुत्व 175
33. अंधविश्वासों से मुक्ति के लिए तर्कशील लहर 179
34. धर्म स्थानों के प्रबंध के लिए विकल्प की तलाश होनी चाहिए 183
35. किस प्रकार हो धार्मिक स्थानों का प्रबंध 187
36. यह संघर्ष वैचारिक है 190
37. पाँच सदी बाद भी सार्थक सन्देश 195
38. कितना प्रसार है ज्योतिष के धन्धे का 200
39. जनजागरण के प्रेरक थे गुरु गोबिन्द सिंह 204
40. कट्टरता से कोई धर्म बड़ा नहीं बनता 209
41. नानकशाही कलैण्डर ने सिखों को बांट दिया है 214
42. गुरु नानक ने बगदाद यात्रा की थी 218
43. तल्हण की घटना ने सिख मर्यादाओं को झकझोर दिया 222
44. सहजधारी भी सिख समाज का अभिन्न अंग 226
45. गुरुद्वारों की मर्यादाओं में एकरूपता लाने के लिए अखिल भारतीय गुरुद्वारा कानून आवश्यक है 229
46. नंद बाबा का दुःख किसी से कम नहीं था 233
47. सत् संतोष और विचार का ग्रंथ 237
48. अकाल तख्त से जारी हुक्मनामों को चुनौती 241
49. गुरु नानक ने गाई बाबरवाणी 245
50. करुणा की प्रतिमूर्ति थे ईसा मसीह 249
51. कार सेवा एक भावना है 253

52. उत्साह और उमंग का वैशाख 257
53. बहुत विरल था संत कबीर का व्यक्तित्व 260
54. सेवा के पुंज थे गुरु अंगद 265
55. गुरु ग्रंथ साहिब का अद्भुत स्वरूप 268
56. आस्था में अर्थ की भूमिका 271
57. अहमदिया आंदोलन : अन्तर्व्यथा 274
58. धर्मचार्य कानून से बाहर नहीं 278
59. दशम ग्रंथ में रामकथा 281
60. क्या धर्म में आस्था के लिए चमत्कार आवश्यक है? 284
61. बड़ी श्रद्धा से स्मरण किया जाता है शेख फरीद को 288
62. सर्वधर्म समभाव की अनूठी पहल 292
63. युद्ध दर्शन के नायक 295
64. विभिन्न धर्मों के मध्य अन्तर-संवाद अच्छा रुझान है 298
65. देह शिवा वर मोहि इहै सुभ कर मन ते कबहूं न टरौं। 302
66. भक्त को भी भजन से पहले भोजन चाहिए 305
67. बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न थे–गुरु अर्जुन देव 310
68. कबीर और सामाजिक न्याय की अवधारणा 318
69. गुरुद्वारा चुनाव : विकल्प की तलाश करनी चाहिए 323
70. हिन्दुत्व के लिए दिशा निर्देश स्वामी विवेकानंद से लेना चाहिए 327

इतिहास

71. युद्ध का भी एक दर्शन होता है 333
72. भारत अस्त्र-शस्त्र की दृष्टि से सदा उदासीन रहा है 337
73. नो मोर हिरोशिमा : और हिरोशिमा नहीं 343
74. इस देश में एक समरस समाज कैसे उभरेगा? 349
75. महाराजा रणजीत सिंह व्यक्ति और शासक 354
76. विकृत इतिहास की पक्षधरता 361
77. गुरु गोबिन्द सिंह के ऐतिहासिक पत्र 366
78. कैसे थे आज़ादी के ये तीन दीवाने 371
79. ऐसे थे महाराजा रणजीत सिंह 377
80. वामपंथी इतिहासकारों की इतिहास दृष्टि 382
81. इतिहास लेखन में भी एक दृष्टि होती है 386

82. वह था एक अभागा महाराजा 390
83. एक भगत पूरन सिंह की जरूरत है 395
84. आज़ादी के दीवाने थे कूका विद्रोही 400
85. लम्बा इतिहास है वंदेमातरम् का 404
86. वीर सावरकर को लेकर यह विवाद क्यों? 409
87. क्या कहानी थी कामा गाटा मारू की 413
88. गुरु हरिगोबिन्द सिंह और समर्थ रामदास के मिलन से समान भाव-भूमि बनी 417
89. भारत छोड़ो आंदोलन : इतिहास का पुनरावलोकन 421
90. मास्टर तारा सिंह : एक समर्पित जीवन 426
91. गांधी जी और भगत सिंह : साम्य और वैषम्य का अद्‌भुत संयोग 430
92. एक पूरी संस्था थे पांडुरंग शास्त्री आठवले 434
93. क्या गांधी जी ने गुरु गोबिन्द सिंह को पथभ्रष्ट देशभक्त कहा था? 438
94. चीन में बौद्ध स्मृतियां फिर से सजीव हो गई हैं 442
95. अद्‌भुत बलिदानी की परम्परा थी मोहियाल ब्राह्मणों की 446
96. संकट के दिनों में गुरु गोबिन्द सिंह के मुसलमान मित्रों की सौजन्यता 450
97. राष्ट्रगान में सिंध शब्द पर विवाद 455
98. इतिहास पुरुष थे ले. ज. जगजीत सिंह अरोड़ा 459
99. मानवता का शत्रु हिटलर 463
100. अत्याचारी पश्चात्ताप की अग्नि में जलते हैं 467
101. यह कैसा इतिहास लेखन है 472
102. भारतीयता के अद्‌भुत महानायक 476
103. प्राण देकर अमर हो गए गणेश शंकर विद्यार्थी 479
104. आस्था के प्रतीकों की प्रतीक्षा 482
105. शौर्य की अद्‌भुत गाथा 485
106. 1857 की स्मृतियों से गहरे जुड़े थे मौलवी अहमदउल्ला शाह 487
107. भगत सिंह का स्मरण करते हुए 491

सिख धर्म की भारतीय संस्कृति को देन

भारतीय संस्कृति की विकासमान धारा में इस देश के विभिन्न धर्मों, मतों, संप्रदायों, जातियों का अपना महत्वपूर्ण योगदान है। इस योगदान में वे विचारधाराएं और विश्वास तो सम्मिलित हैं ही जिनका जन्म इस देश की धरती पर हुआ, साथ ही उनका योगदान भी कम महत्व का नहीं है जो इस देश में चाहे शरणार्थी बनकर आये हों अथवा आक्रमणकारी बनकर।

भारत के सांस्कृतिक जीवन को सिखों का योगदान अनेक दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आज इस देश में सिखों की जनसंख्या सम्पूर्ण देश की जनसंख्या का लगभग दो प्रतिशत है, परन्तु जीवन के सभी क्षेत्रों (विशेषरूप से सेना, कृषि, व्यापार, खेल-कूद, विदेश-गमन आदि) में उनका योगदान उनकी जनसंख्या के औसत से कई गुना अधिक है।

भारत में उत्पन्न हुए धर्मों में, जिन्होंने इस देश के वैदिक–सनातन हिन्दू धर्म से पृथक अपने अस्तित्व की घोषणा की और उसे एक निश्चित स्वरूप में ढाला है, सिख धर्म आज कदाचित सबसे अधिक सचेत, सक्रिय और विकासशील धर्म है। किसी भी धर्म की पृथक पहचान के लिए जिन विशिष्ट तत्वों की आवश्यकता होती है, वे सभी तत्व सिखों के गत पांच शताब्दियों की अवधि में निरन्तर विकसित होते रहे हैं और आज तक निश्चित स्वरूप प्राप्त कर चुके हैं। गुरु नानक (1469-1538) इस धर्म के प्रवर्तक हैं, अन्य नौ गुरुओं गुरु अंगद (1504-1552), गुरु अमरदास (1479-1574), गुरु रामदास (1534-1581), गुरु अर्जुन देव (1563-1606), गुरु हरगोबिन्द (1595-1644), गुरु हरिराय (1631-1661), गुरु हरिकृष्ण (1656-1664), गुरु तेगबहादुर (1662-1675), और गुरु गोबिन्द सिंह (1666-1708), की अविच्छिन्न परम्परा द्वारा यह धर्ममत अपने

स्वरूप को निरन्तर विकसित करता रहा। इस धर्म का अपना धर्म ग्रंथ है, अपने तीर्थ स्थान हैं, अपनी पौराणिकता है, अपना इतिहास है और अपना साहित्य है।

'गुरु ग्रंथ साहिब' सिखों का मुख्य धार्मिक ग्रंथ है, परन्तु वह सिखों के साथ अन्य असंख्य लोगों का पूज्य ग्रंथ है जो ग्रहीत अर्थों में सिख नहीं हैं। पंजाव और सिंध की बहुत वड़ी जनसंख्या के अतिरिक्त देश के विभिन्न भागों में बंसे हुए अगणित नानक पंथियों, उदासियों राम रायियों, राधास्वामियों तथा अनेक संप्रदायों के मध्य भी वह समावृत है। इतना होते हुए भी गुरु ग्रंथ साहब में क्या है, इसका परिचय अधिक लोगों को नहीं है। सामान्यतः यही समझा जाता है कि यह सिखों का धर्मग्रंथ है और इसमें सिख गुरुओं की वाणियां संग्रहित हैं। इसलिए गुरु ग्रंथ साहब का संक्षिप्त परिचय यहां उपयुक्त रहेगा।

गुरु ग्रंथ साहब लगभग 1400 पृष्ठों का एक विशाल ग्रंथ है। पांचवे गुरु, गुरु अर्जुन देव ने सन् 1604 ई. में इसका संपादन कार्य पूर्ण किया था। गुरु ग्रंथ साहब में इनकी रचनाएं संग्रहित हैं—

सिख गुरु

1. गुरु नानक, 2. गुरु अंगद देव, 3. गुरु अमर दास, 4. गुरु राम दास, 5. गुरु अर्जुन देव, 6. गुरु तेग़बहादुर। इस ग्रंथ में गुरु तेगबहादुर की वाणी बाद में गुरु गोबिंद सिंह ने सम्मिलित की थी।

भक्तगण

1. शेख फरीद, 2. जयदेव, 3. त्रिलोचन, 4. नामदेव, 5. सदना, 6. वेणी, 7. रामानंद, 8. कवीर, 9. रविदास, 10. पीपा, 11. सैणा, 12. घन्ना, 13. भीखन, 14. परमानंद, 15. सूरदास।

भट्ट तथा अन्य कवि

1. मरदाना, 2. सुंदरदास, 3. बलवंत, 3. सत्ता, 5. कलसहार, 6. जालप, 7. कीरत, 8. भरवा, 9. पल्ल भल्ल, 10. गर्यद, 11. मथुरा, 12. बल्ल, 13. हरिवंश, 14. नल्ल।

गुरु ग्रंथ साहब में अधिकांश वाणी सिख-गुरुओं की है परन्तु शेख फरीद, कवीर, रविदास, नामदेव आदि संतों-भक्तों की रचनाओं का बहुत बड़ा अंश इसमें संग्रहित किया गया है।

अनेक पक्षों से यह ग्रंथ संसार का द्वितीय एवं अनोखा धर्म ग्रंथ है। इसमें 35 रचनाकारों की वाणियां संग्रहित हैं। कुछ एक प्राचीन प्रतियों में मीरा का भी एक-आध पद है। इस ग्रंथ में हिन्दू भी हैं और मुसलमान भी, उच्च वर्ण के संत भी हैं और कथित

नीच वर्ग के भी। बारहवीं शती के शेख फरीद (जन्म, 1173 ई.) की लगभग 5 शताब्दियों की परिधि में फैले गुरुओं, संतों, सूफियों और भाटों की रचनाएं इस ग्रंथ में हैं। तत्कालीन भारत के अनेक धर्मों-जातियों का ही प्रतिनिधित्व इस ग्रंथ में नहीं हुआ, अपितु अनेक प्रांतों का भी हुआ। जयदेव बंगाल के थे तो नामदेव, त्रिलोचन और परमानंद महाराष्ट्र के थे, सदना सिंध के थे, धन्ना राजस्थान के, सेन मध्य प्रदेश के, रामानंद, कबीर, रविदास, भीखन उत्तर प्रदेश के, शेख फरीद पश्चिमी पंजाब के तथा अन्य गुरु केंद्रीय पंजाब के थे।

गुरु ग्रंथ साहिब में संग्रहित सभी सिख गुरुओं ने अपनी रचनाओं में नानक कवि नाम का ही उपयोग किया है। इससे प्रायः भ्रम भी पैदा होता है। पद के अंत में नानक नाम देखकर यह अनुमान सहज ही लगा लिया जाता है कि यह रचना प्रथम गुरु नानक की है। हिन्दी साहित्य के अनेक ग्रंथों में अन्य गुरुओं की रचनाओं को गुरु नानक के नाम से उद्धृत किया गया है, उसके पीछे भी यही भ्रम काम करता है।

गुरु ग्रंथ साहिब के संपादक गुरु अर्जुन ने इस बात का ध्यान रखा और प्रत्येक नानक की रचना के साथ पहला एक, दो, तीन, चार, पांच, नौवां शीर्षक लगा दिया। उदाहरण के लिए गुरु ग्रंथ साहिब में प्रत्येक शब्द का प्रारम्भ इस प्रकार होता है–

सिरी रागु महला 1
माझ महला 4
गउड़ी महला 5

इसका अर्थ है यह 'शब्द' सिरी राग में निबद है और इसके रचयिता प्रथम नानक हैं। इसी तरह यह पद 'माझ' राग में है और इसके रचयिता चौथे नानक (गुरु रामदास हैं) या यह पद 'गउड़ी राग' में है और वह पांचवें नानक (गुरु अर्जुन) द्वारा रचित है।

गुरु ग्रंथ साहिब का विषय

गुरु ग्रंथ साहिब का स्वरूप प्रबंधात्मक नहीं है। यद्यपि इसमें संकलित कुछ रचनाएं प्रबंध स्वरूप की हैं। परम सन्त की स्तुति में आडम्बर और अहंकार रहित विशुद्ध प्रेम विह्वल भाव से गाये हुए भजनों का संग्रह इस ग्रंथ में है। इसमें ज्ञान, कर्म और भक्ति का अद्भुत समन्वय है। मनुष्य को मिथ्याडम्बरों, पाखंडों, अवनतिमूलक अंधविश्वासों, ऊंच-नीच के मनुष्यकृत भेदों से ऊपर उठाकर उसमें प्रेम, समता, बन्धुता और परमेश्वर में अनन्य प्रीति उत्पन्न कर चिरन्तन आनंद की अनुमति उत्पन्न कराना ही इस ग्रंथ का मूल विषय है। सत्य, संतोष और विचार इन तीनों वस्तुओं का मानो एक पात्र में एकत्रिकरण हुआ है, जिन्हें परमेश्वर के अभूत नाम रूपी रस में गूंथा गया है। इसका आस्वाद करने वाले जिज्ञासु का कल्याण निश्चित है। पांचवें गुरु अर्जुन ने इस भाव

को इस तरह व्यक्त किया है—

थाल विचि तिनि वसतु पाईओ, सत् संतोख वीचारो।।
अमृत नामु ठाकुर का पाईयो, जिसका सभसु अधारो।।
जे को खावे जे को भुंचै तिसका होइ उधारो।।
एह वसतु तजी नह जाई नित-नित रखु उरिधारो।।
तम संसार चरन लगि तरीऐ सभु नानक ब्रह्म पसारो।।

परमात्मा की परिकल्पना

गुरु नानक तथा अन्य गुरु ईश्वर के निर्गुण-निराकार रूप के उपासक थे। वे अवतारवाद के समर्थक नहीं थे, उसे अजन्मा और अयोनि मानते थे, परन्तु निर्गुण का अर्थ गुणहीन न होकर गुणातीत है, इसी प्रकार निराकार का अर्थ आकारहीनता के साथ ही साथ आकायतीत होना भी है। गुरुओं के लिए परममत्ता निर्गुण भी है, सगुण भी है अर्थात् उभय स्वरूप है। वह दोनों से परे है। गुरु नानक ने 'सिध गोसटि' (सिद्ध गोष्ठी) में कहा कि उसी परमसत्ता ने अव्यक्त निर्गुण से सगुण रूप को उत्पन्न किया।

अविगतो निरमाइसु उपजै
निरगुण से सरगुण थीआ।।

गुरु अमरदास ने कहा कि परमात्मा स्वयं ही निर्गुण स्वरूप है और स्वयं ही सगुण स्वरूप है। जो इस तथ्य को पहचानता है, वही वास्तविक पंडित है—

निरगुण सरगुण आपे सोई।
सतु पझाणै सो पंडित होई।।

गुरु अर्जुन की अनेक उक्तियों में इसी तथ्य की पुष्टि की गई है—

तूं निरगुन तूं सरगुन
x x x x x
निरंकार आकार आपि निरगुन सरगुन एक है
x x x x x
निरगुनु आपि सरगुन भी ओही।
कला धारि जिनि सगली मोही।।

गुरु नानक ने अपनी सुप्रसिद्ध रचना 'जपुजी' के प्रारंभ में निम्न मूलमंत्र के द्वारा

परमात्मा की परिकल्पना स्पष्ट की है–

ओंकार, सतिनामु करता पुरखु निरभउ निरवैर
अकाल मूरति अजूनी सैभं गुर प्रसादि।

(वह एक है, उसका नाम सत्य है, वह सृष्टि का कर्ता है, वह सभी में व्याप्त है, वह भय मुक्त, वह शत्रुता रहित है, वह काल रहित है, वह अजन्मा है, स्वयं प्रकाशित है और गुरु की कृपा से उसका साक्षात्कार किया जाता है।)

गुरुवाणी में सर्वत्र परमात्मा के सर्व व्यापक सर्व पोषक और सर्व रक्षक स्वरूप का वर्णन किया गया है–

चारि कुंट चउदह भवन सगल विआपत राम

(गउड़ी म. 50)

सो अंतर सो बाहरि अनंत
घटि घटि बिआपि रहिआ भगवंत

(गउड़ी म. 5)

वह सर्वशक्तिमान है, करण-करण समर्थ है–
करण-कारण समरथ प्रभ जो करे सो होई,
खिन महि थापि उथापदा तिस बिन नहि कोई।।

(वार जैतसरी म. 5)

जिस प्रकार वनस्पति में अग्नि और दूध में घी व्याप्त है उसी तरह परमेश्वर की ज्योति ऊंच-नीच सभी में पसरी हुई है–

सगल बनसपत महि वैसंतरु सगल दूध महि घीआ।
ऊंच नीच महि जोत समाणी घटि घटि माधउ जीआ।।

(सोरठ म. 5)

सृष्टि रचना

गुरुवाणी में परमात्मा को ही सृष्टि का कर्ता और कारण माना गया है। परमात्मा के अस्तित्व से ही सृष्टि दृश्य रूप में प्रकट हुई–

आपीन्है आपु साजिओ आपीन्है रचिओ नाउ

(वार आसा म)

गुरु अमरदास ने लिखा है कि परमात्मा स्वयं ही सृष्टि का कारण और कर्ता है।

वही सृष्टि की रचना करता है और फिर स्वयं उसे देखता है। परमात्मा सभी में व्याप्त है, फिर भी अलक्ष्य है–

आपे कारण करता करे सृष्टि देखे आपि उपाई।
सभ एको इकु बरतदा, अलखू न लखिआ जाई

(सिरी रागु म. 3)

गुरुमत का सिद्धान्त है कि सृष्टि की उत्पत्ति 'हुक्म' से होती है। गुरु नानक ने कहा है कि प्रत्येक वस्तु उसी के भीतर है, उसके बाहर कुछ भी नहीं। उस 'हुक्म' को यदि कोई भली-भांति समझ सके, तो फिर उसे अपने को भिन्न सिद्ध करने वाले, अहंकार का बोध नहीं होता–

हुकमै अंदरि सभु को बाहरि हुकम न कोई।।
नानक हुकमै जे बुझै, त हउ मै कहै न कोई।।

(जपुजी)

इसलिए परमात्मा के 'हुकम' से ही सभी आकार निर्मित होते हैं। उस 'हुकम' का वर्णन भी नहीं किया जा सकता। उसके 'हुकम' से जीव उत्पन्न होते हैं और उसी 'हुकम' से उन्हें मान-सम्मान प्राप्त होता है–

हुकमी होवनि आकार हुकमु न कहिआ जाई।
हुकमी होवनि जीअ हुकमी मिलै वडिआई।।

(जपुजी)

अर्थात् इन सभी प्रकार की आकार-सृष्टि उस एक परमात्मा के 'हुकम' से होती है। उसके 'हुकम' के संबंध में कोई कुछ नहीं कह सकता। 'हुकम' से जीवों को अस्तित्व प्राप्त होता है, 'हुकम' से ही उन्हें बड़ाई (जीवन की सार्थकता) प्राप्त होती है।

गुरु अर्जुन देव ने इसी भाव की पुष्टि करते हुए कहा है–

हुकमे धारि अधर रहावै।
हुकमे उपजे हुकमि समार्व।

(सुखमनी)

अर्थात् परमात्मा ने सम्पूर्ण सृष्टि को अपनी आज्ञा में धारण किया और फिर बिना किसी (दृश्य) आधार के उसे टिका रखा है। सब कुछ उसी के 'हुकम' से उत्पन्न होता है और अंत में उसी के 'हुकम' में समा जाता है।

परमात्मा के 'हुकम' से ही सृष्टि का निर्माण होता है और वह स्वयं इस संपूर्ण दृश्य-अदृश्य सृष्टि में पसरा हुआ है। गुरु अर्जुन देव सम्पूर्ण सृष्टि को परमात्मा का

ही स्वरूप मानते हैं–

तूं पेड़ साख तेरी फूली। तू सूखमु होआ असथूली।।
तूं जलनिधि तूं फेनू बुदबुदा तुधु बिनु अवरुना न भालीऐ जीउ।।9।।
तूं सुतु मंणीए तूं है।। तूं गंठी सिरि तूं है।
आदि मधि अंति प्रभु सोई अवरु न कोई दिखालिऐ जीउ।।2।।

अर्थात् तू (परमात्मा) पेड़ है तेरी सृष्टि रूपी पुष्पित शाखाएं भी तुझी से हैं। तू सूक्ष्म है जो सृष्टि के रूप में स्थूल रूप धारण किये हुए है। तू ही समुद्र है, तू ही उसका फेन और वुलवुला है। तुम्हारे अतिरिक्त और किसी की मुझे तलाश नहीं है। तू ही सूत है और तू ही माला की गुरिया है, तू ही माला की गांठ है और तू ही सुमेरू है। हे प्रभु, सृष्टि के आदि, मध्य और अंत में तू ही व्याप्त है, मुझे कोई और दिखायी ही नहीं देता।

सृष्टि रचना एक रहस्य है। इस रहस्य को प्रभु ही जानता है। गुरु अर्जुन देव के शव्दों में–

नानक करते की जानै करता रचना

(सुखमनी)

गुरु नानक ने 'जपुजी' में अपनी जिज्ञासा व्यक्त करते हुए कहा–''सृष्टि की रचना किस समय, किस वक्त, किस तिथि को, किस वार, किस ऋतु, महीने में हुई? पंडितों को उस समय का ज्ञान नहीं, जिससे वे पुराणों में उसका उल्लेख कर सकते, काजियों को उस वक़्त का पता नहीं, इसलिए कुरान में भी इस संवंध में कुछ नहीं लिखा है। योगी भी सृष्टि रचना की तिथि और वार को नहीं जानते, अन्य किसी को भी इस रचना की ऋतु और मास का पता नहीं। जिस कर्ता (परमेश्वर) ने इस सृष्टि की रचना की है, वही इसे जानता है।

कवणु सु वेला वखत कवण थिति कवगु वारु।
कवणि सि सती माहु कवणु जितु होआ आकारु।।
वेल न पाईआ पंडती जि होवे लेखु पुराणु।
वखतु न पाइओ कादीआ जि लिखनि लेखु कुराणु।।
थिति वारु ना जोगी जाणै सति माहु ना कोई।
जा करता सिरठी कउ साने आपे जाणै सोई।।2।।

गुरु ग्रंथ साहिब में स्थान-स्थान पर कहा गया है कि जिस परमात्मा से सृष्टि की उत्पत्ति होती है, अंत में उसी में सब कुछ विलीन होता है–

जिस ते उपजै तिसते बिनसै घटि घटि सचु भरपूरि।

आपे मेलि मिलावही साचै महलि हदूरि।।

सृष्टि की अनन्तता के संबंध में आज के वैज्ञानिक अनुसंधानों ने अपना मत प्रकट किया है। गुरु ग्रंथ साहिब में इस अनन्तता की चर्चा अनेक स्थानों पर की गई है। 'जपुजी' में गुरु नानक कहते हैं–

असंख नाव असंख थाव।
अगम अगंम अलंख लोअ।।
x x x x x
पाताला पाताल लख आगासा आगास

ब्रह्म को सत्य और उसकी रचना को मिथ्या मानने पर बहुत-सा आग्रह इस देश में किया गया है। अद्वैत वेदान्त में इन प्रश्नों पर बार-बार विचार हुआ है कि माया भ्रम है, मिथ्या है या सत् है? यह ब्रह्म से भिन्न है या अभिन्न। यह मानते हुए भी कि माया ईश्वर की शक्ति है जिसके माध्यम से ईश्वर अनंत रूपात्मक जगत की सृष्टि करता है, वेदान्तियों ने माया और जगत का निरन्तर तिरस्कार किया और बार-बार इसे मिथ्या कहा। इसका परिणाम यह भी हुआ कि मिथ्या संसार के दायित्वों के प्रति भी लोग उदासीन होने लगे और प्रत्यक्ष जीवन और जगत के प्रति निरासक्ति का भाव बढ़ने लगा जो इस देश की अनेक व्याधियों का कारण बना।

गुरु ग्रंथ साहब में जगत को मिथ्या नहीं माना गया और न ही इसे भ्रम कहा गया है। परमात्मा सच है और उसकी रचना भी सच है–

सचे तेरे खंड सचै ब्रह्मंड।
सचे तेरे लोअ सचे आकार।।
सचे तेरे करणे सरब विचार।

(वार आसा महला, पृष्ठ 463)

आसा दी वार में गुरु नानक ने स्पष्ट कहा है कि यह संसार सच्चे (परमात्मा) की कोठरी है और इसमें सच्चे (परमात्मा) का निवास है–

इहु जगु सचै की है कोठड़ी
सचे का विचि वासु।।

परन्तु गुरु ग्रंथ साहिब में ऐसी उक्तियों की भी कमी नहीं जहां संसार को स्वप्न 1. जल के बुदबुदे के समान, 2. जल के फेन सदृश, 3. मृगतृष्णा की तरह, 4. बालू की दीवार के समान या 5. विष के समुद्र की तरह माना गया है।

1. सकल जगत है जैसे सुपना
विनसत लगत न वार (गु. ग्रं. सा. पृष्ठ 533)

2. जैसे सुपना रैनिका तैसा संसारा (गु. ग्रं. सा. पृष्ठ 808)
3. जैसे जल ते बुदबुदा उपजै बिन सै नीत।
   जागु रचना तैसे रची कहु नानक सुन मीत (गु. ग्रं. सा. पृष्ठ 1363)
4. जिउ जल ऊपरि फेनु बुदबुदा तैसा बहु संसारा।
   जिसते होआ तिसहि समाणा चूंकि गइआ संसारा।। (गु. ग्रं. सा. पृष्ठ 1258)
5. मृग तृसना जिउ झूठो,
   इहु जग देखि तासि उठि धावै।। (गु. ग्रं. सा. पृष्ठ 219)
6. सगल जगतु है जैसे सुपना बिनसत लगत न बार।
   बारु भीत बनाई रचि पचि रहत नहीं दिन चारि।। (गु. ग्रं. सा. पृष्ठ 633)
7. मन पिआरिआ जीउ मित्रा बिखु सागरु संसारे। (गु. ग्रं. सा. पृष्ठ 79)

परन्तु यह किसी प्रकार का अन्तर्विरोध नहीं है। सिख गुरुओं ने इस संसार को कर्मभूमि माना है। वह कर्म करते हुए, सांसारिक दायित्वों का पालन करते हुए आसक्ति में निरासक्त जीवन जीने के हामी हैं। गुरु नानक का कथन है–

जैसे जल महि कमलु निरालम मुरगाई नैसाणे
सुरति सबदि भव सागर तरीऐ नानक नामु वखाणे।। (गु. ग्रं. सा. पृष्ठ 968)

यह संसार कर्मभूमि के रूप में, परमेश्वर की आत्म-सृष्टि के रूप में सच है, परन्तु जो लोग इस संसार के भोगों को ही अंतिम सच मान बैठते हैं, उनके लिए भोगयुक्त संसार की असारता की बात स्थान-स्थान पर कही गई है।

माया

वह शक्ति जो व्यक्ति को संसार में अपने अस्तित्व की सार्थक दिशा से भटका कर पथ-भ्रष्ट करती है, माया है। भारतीय दर्शन प्रणालियों में माया पर बहुत विचार किया गया है। शंकराचार्य के दर्शन में माया और अविद्या को समानार्थक माना गया है और उसकी दो शक्तियों का वर्णन किया गया है–प्रथम, आवरण शक्ति जिसके द्वारा माया ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को आच्छादित कर देती है, द्वितीय विक्षेप शक्ति जिसके द्वारा माया अद्वैत ब्रह्म के स्थान पर नाना रूपात्मक जगत को उत्पन्न करती है। शंकर के बाद के वेदांती माया को ब्रह्म की भावात्मक (Positive) शक्ति मानते हैं तथा अविद्या को अभावात्मक (Negative) शक्ति के रूप में मानते हैं परन्तु माया के स्वरूप को लेकर स्वयं वेदांतियों में अनेक मतभेद रहे हैं।

गुरु ग्रंथ साहिब में माया का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार नहीं किया गया। उसे परमात्मा के 'हुकम' से उत्पन्न माना गया है–

निरंकारि आकारु उपाइआ

माइया तोहु हुकमि बणइआ।

अर्थात् उस निराकार सत्ता ने ही दृश्यमान आकार स्वरूप की रचना की है। उसके 'हुकम' से ही माया-मोह की रचना हुई है।

गुरु नानक ने एक स्थान पर लिखा है—

''वह निरंजन (माया से रहित प्रभु) आप ही आप है और उसी ने अपने आपको सृष्टि के रूप में उत्पन्न किया है। उसने स्वयं जगत रूपी खेल की रचना की है। उस प्रभु ने ही सत, रज, तम, त्रिगुणों की रचना की और माया-मोह की वृद्धि की—

आपे आप निरंजना जिनि आपु उपाइआ।
आपे खेलु रचाइओनु सभु जगतु सवाइआ।।
त्रैगुण आपि सिरजिअनु माइआ मोह वधाइआ।

(गु. ग्रं. सा. पृष्ठ 1237)

यह ठीक है कि माया की रचना भी प्रभु द्वारा हुई क्योंकि वह तो सर्व रचनाशील हैं परन्तु माया के बंधन से उबर कर प्रभु सानिध्य मिल सकता है। इसी पद की अगली दो पंक्तियों में गुरु नानक कहते हैं—

गुर परसादी उबरे जिन भाणा भाइआ।
नानक सचु वरतदा सभ सचि समाइआ।।

(गु. ग्रं. सा. पृष्ठ 1237)

जो गुरु के प्रसाद से परमात्मा की इच्छा को समझने में समर्थ हो गए, वे उबर गये। परमात्मा रूपी सच सभी में समाहित है और सर्वत्र घटित है।

माया की असीम शक्ति को सभी मानते हैं। वह भटका देती है, हम में दुविधा उत्पन्न कर देती है, पर यदि सही मार्गदर्शक (गुरु) मिल जाए तो दुविधा मिट जाती है और मुक्ति का द्वार खुल जाता है—

बिनु गुर मुकति न पाईए।
ना दुबिधा माइआ जाइ।।

हउमै

(अहंकार)

माया के विविध रूपों में—काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार इन पांच शक्तियों की हमारे देश के धार्मिक परिवेश में बहुत चर्चा हुई है। गुरु ग्रंथ साहिब में भी कहा गया है कि इन पांच दूतों ने सारे संसार को अपने मोहपाश में जकड़ रखा है—

पंच दूत मुहहि संसारा

(गु. ग्रं. सा. पृष्ठ 113)

गुरु ग्रंथ साहिब में अनेक स्थानों पर इन पंच-विकारों की चर्चा हुई है, परन्तु 'हउमै' (अहंकार) की चर्चा सबसे अधिक हुई है। अन्य विकार (काम, क्रोध, लोभ, और मोह) संभवतः इतने आयामी नहीं हैं, जितना अहंकार है। इस बहुआयामी विकार को गुरुओं ने परमपद की प्राप्ति में सबसे बड़ी बाधा माना है।

गुरुओं ने अहंकार के लिए 'हउमै' शब्द का प्रयोग किया है। जहां 'हउमै' है वहां सत्य का साक्षात्कार नहीं हो सकता। 'नाम' सत्य से साक्षात्कार का प्रतीक है, परन्तु 'हउमै' से उसका विरोध है, दोनों एक साथ नहीं रह सकते–

हउमै नावै नालि विरोध है
दुई ना बसहि इक ठाइ

(गु. ग्रं. सा. पृष्ठ 560)

संत कबीर ने कहा है–
जब मैं था तब हरि नहीं जब हरि है मैं नाहि।
प्रेम गली अति सांकरी, यामें दो न समाहि।।

परमात्मा हमारे ही अंदर है परन्तु वह दिखाई नहीं देता क्योंकि हउमै का पर्दा बीच में पड़ा हुआ है। हउमै के कारण ही माया-मोह से वशीभूत हो सारा जगत अज्ञान की निद्रा में सो रहा है। बताइए इस भ्रम की निवृति कैसे हो। परमात्मा और जीव एक ही साथ एक ही घर में रहते हैं, परन्तु दोनों परस्पर न मिलते हैं, न वातें करते हैं, एक वस्तु (नाम) के विना पाचों ज्ञानेन्द्रियां दुखी हैं और वह वस्तु अगोचर स्थान में है–

अंतरि अलखु न जाई लखिआ विचि पड़दा हउमै पाई
माइआ मोहि सभे जगु सोइआ इहु भरमु कहहु किउ जाई।
एका संगति इकतु गृहि बसते, मिलि बात न करते भाई।
एक बस्तु विनु पंच दुहेले ओह बसतु अगोचर ठाई। (गु. ग्रं. सा. पृष्ठ 205)

गुरु रामदास कहते हैं कि स्त्री रूपी जीवात्मा और पुरुष रूपी परमात्मा साथ-साथ रहते हैं, परन्तु नारी अपने पति से मिल नहीं पाती क्योंकि हउमै की कठिन भीत दोनों के बीच खड़ी हुई है–

धन पिउ का इक ही संगि वासा
विचि हउमै भीति करारी।।

(गु. ग्रं. सा. पृष्ठ 1263)

गुरुओं ने बार-बार कहा है कि हउमै एक बहुत बड़ा रोग है–

हउमै बड़ा रोग है, भाइ दूजै करम कमाई।

(गु. ग्रं. सा. पृष्ठ 586)

हउमै बड़ा रोगु है मरि जमै आवै जाइ।

(गु. ग्रं. सा. पृष्ठ 592)

हउमै रोगी सभु जगत बिआपिआ।

(गु. ग्रं. सा. पृ. 735)

तनि कउ जनम मरण दुखु भारी।
नानक हउमै रोग बुरे।

(गु. ग्रं. सा. पृ. 1153)

हउमै दीरघु रोगु है दारु भी इसु माहि ।

(गु. ग्रं. सा. पृ. 466)

हउमै बहुआयामी रोग है। व्यक्ति अनेक प्रकार के अहंकार रूपों में ग्रसित हो जाता है अथवा ग्रसित हो जाने की संभावना बराबर बनी रहती है। यह अंहकार अपनी साधना का हो सकता है, विद्या का हो सकता है, तर्क बुद्धि का हो सकता है, जाति का हो सकता है, धन-सम्पत्ति का हो सकता है, परिवार का हो सकता है, रूप और यौवन का हो सकता है हमारे देश में विद्या का अहंकार बहुत व्यापक रहा है। पढ़ना और फिर वाद-विवाद द्वारा अपने पांडित्य का प्रदर्शन करना भारतीय विद्वानों का विशिष्ट गुण रहा है। गुरु अमरदास ने एक स्थान पर कहा है—

पंडित पड़ि पड़ि वादु वखाणहि
बिनु गुर भरमि भुलाने।

पुड़ित लोग पढ़-पढ़ कर वाद-विवाद में पड़े रहते हैं। गुरु के अभाव में अपने पांडित्य के भ्रम में सत्य को भूले हुए हैं।

गुरु नानक पांडित्य के अहंकारियों के लिए कहते हैं—

पड़ीए जेती आरजा पड़ी अहि जेते सास।।
नानक लैखै इक गल होरु हउमै झखणा झाख।।

चाहे सम्पूर्ण आयु पढ़ा जाए चाहे अपनी हर सांस से पढ़ा जाए, परन्तु यदि एक बात (सत्य की समझ) उत्पन्न नहीं हुई तो शेष अहंकार की सिर खपाई के अतिरिक्त कुछ नहीं।

इसलिए गुरुवाणी में कहा गया कि ब्राह्मण (या पंडित) वह है जो ब्रह्म को पहचानता है, जो दिन रात हरिनाम में रहता है, सतगुरु के निर्देश में चलता है, सच और संयम को अर्जित करता है। ऐसा ब्राह्मण अहंकार रूपी रोग से मुक्त हो जाता है—

ब्रह्मु बिदै सो ब्राह्मण कहीऐ जि
अनदिनु हरि लिव लाए।
सतिगुर पूछै सचु संजमु कमावै
हउमै रोगु तिसु जाए।।

(गु. ग्रं. सा. पृ. 512)

जाति के अहंकार का गुरुवाणी में स्थान-स्थान पर निषेध किया गया है—
जाति का गरबु न करीअहि कोई
ब्रह्मु बिंदे सो ब्राह्मण होई।।
जाति का गरबु न करि मूरख गंवारा।
इसु गरब ते चलहि बहुत विकारा।।

धन-सम्पत्ति और रूप-यौवन सम्वन्धी अहंकार की चर्चा करते हुए गुरुवाणी में कहा गया है कि राज-पाट, गृह शोभा, रूप, जवानी, धन-दौलत, हाथी-घोड़े आदि सबकी प्राप्ति का अभिमान यहीं रह जाएगा, आगे किसी काम नहीं आएगा—

राज तिलक जोवन गृह शोभा रूपवंतु जोआनी।
बहुत दरबु हसती अरु घोड़े लाख लाख बैआनी।।
आगै दरगहि कामि न आवै छोड़ि जलै अभिमानी।।

गुरु नानक कहते हैं— राज, माल, रूप, जाति और यौवन ये पांच बड़े शक्तिशाली ठग हैं। इन ठगों ने सम्पूर्ण संसार को ठग लिया है, इन्होंने किसी की लाज नहीं रखी—

राजु मालु रूपु जाति जोबनु पजै ठग।
एनी ठगीं जगु ठगिआ किनै न रखी लज।

(गु. ग्रं. सा. पृ. 1288)

गुरु अर्जुन देव ने अपनी रचना "सुखमनी" में कहा है कि जिनके अंदर राज्य का अभिमान है वह नरक का कुत्ता होता है, जिसे अपने यौवन का अभिमान है वह व्यक्ति विष्ठा का कीड़ा होता है। जिसे अपने कर्मों पर अभिमान है वह अनके योनियों में भ्रमण करता हुआ बार-बार जन्मता है और मरता है, जिसे अपने धन या भूमि का गर्व है, वह मूर्ख अंधा और अज्ञानी है। धन प्राप्त करके जो अभिमान करता है। वह तिनके की तरह है, उसके साथ कुछ भी नहीं जाता। जिसे अपनी फौज या अपने आदमियों का बहुत अभिमान है, उसका पल भर में विनाश हो जाता है, जिसे अपने बलवान होने का गर्व है, वह क्षण मात्र में खाक हो जाता है जो अपने अहंकार के सामने किसी को

कुछ नहीं समझता, उसे धर्मराज के हाथों दुर्गति प्राप्त होती है। गुरु की कृपा से जिसका अभिमान नष्ट हो जाता है, वही व्यक्ति परमात्मा के द्वार पर स्वीकार किया जाता है।

जिसके अंतरि राज अभिमानु
सो नरक पाती होवत सुआन।।
जो जानै में जोबन वंतु।
सो होवत बिसटा का जंतु।।
आपस कउ करमवंत कहावै।
जनभिमरै बहु जोनि भ्रमावै।।
धन भूमि का जो करै गुमानु।
सो मूरख अंधा अगिआनु।।
करि किरपा जिस कै हिरदै गरीबी बसावै।।
नानक ईहा मुकतु आगै सुखु पावै।।
धनवंता होई करि गरबावै।
तृण समानि कछु संगि न जावै।
बहु लसकर मानुख ऊपर करे आस।
पल भीतर ताका होइ बिनास।।

(पृष्ठ 22 पर)

वास्तविकता तो यह है कि अंहकारी मूल बात को समझ नहीं सकता, उसे अपने आप की समझ भी नहीं होती और वह सदैव भ्रमित रहता है–

मूलु न बूझै आपुन सूझै भरमि विआपी अहंमनी

जब तक हमारा मन हउमै और अहंकार की लहरों में हिचकोले खा रहा है, तब तक "सबद" का स्वाद नहीं आ सकता और न ही परमात्मा के नाम के साथ प्यार उत्पन्न हो सकता है। 2.

संत कबीर ने एक स्थान पर कहा है कि मोक्ष का द्वार बहुत संकरा है राई के दाने से भी छोटा है। इस मार्ग से मेरा स्थूल मन किस प्रकार निकल सकेगा। 3.

गुरु अमरदास ने इसी संदर्भ में अपना मत व्यक्त करते हुए कहा कि मोक्ष का द्वार बहुत छोटा है, इसमें से कोई बिरला ही निकल सकता है। अहंकार के कारण मन स्थूल हो गया है, इसलिए वह इतनी तंग राह से कैसे जा सकता है, परन्तु इस मन की स्थूलता का उपाय भी है। सतगुरु के मिलने से अहंकार चला जाता है, उसमें सत्य की ज्योति प्रकाशित हो जाती है। ऐसा जीव सदैव मुक्त है। सहज ढंग से वह मुक्ति द्वार में प्रवेश पा सकता है–

नानक मुकति दुआरा अति नीका नाना होइ सु जाइ।
हउमै मनु असथूलु है किकरि विचुदे जाइ।

सतिगुर मिलिऐ हउमै गई जोति रही सम आई।
इहु जीउ सदा मुकतु है सहजे रहिआ समाइ।

हउमै से बचने का उपाय है? गुरुवाणी कहती है कि अहंकार को दूर करने और सच की पहचान ही पहली आवश्यकता है"सद्गुरु" की प्राप्ति की—

नानक सतगुरि मिलीऐ हउमै गई,
ता सचु बसिआ मन आइ।
सच कमावै सचि रहे, सचे सेवि समाइ।

(गु. ग्रं. सा. पृ. 360)

सही मार्गदर्शक के मिलते ही अहंकार से मुक्ति की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। गुरु अर्जुन देव स्वयं इस प्रश्न को उभारते हैं—हे संतो, कोई ऐसा उपाय बताओ कि जिससे हउमै और गर्व का निवारण हो सके।

संतहु इहा बतावहु कारी, जितु हउमै गरब निवारी।।

(गु. ग्रं. सा. पृ. 616)

वे स्वयं ही प्रश्न का उत्तर देते हैं। अहंकार के नाश के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति सर्वत्र परमात्मा के अस्तित्व का अनुभव करे, अपने आपको सबकी धूल समझने की विनीत दृष्टि का विकास करे, प्रभु को सदा अपने निकट समझे, सभी रोगों की औषधि—"नाम" निर्मल जल अमृत की गुरु के द्वार से प्राप्त करे।

सरव भूत पारब्रह्मु करि मानिआ होवा' सगल रे नारी।
पेखिओ प्रभु जीउ अपुने सगै चूकै भीति भ्रमारी।।
अउखधु नाम निरमल जल अमृतु पाइऐ गुरु दुआरी।
कहु नानक जिसु मसतमि लिखिआ तिसु गुर मिलि गुर मिलि रोग विदारी।।

(गु. ग्रं. सा. पृ. 616-17)

गुरुवाणी कहती है कि बिना "शब्द" के न तो भ्रम नष्ट होता है, न व्यक्ति के मन से अहंकार दूर होता है—

बिनु सबदै भरमु न चूकहै ना विचहु हउमै जाइ।

(गु. ग्रं. सा. पृ. 67)

इसलिए अंहकार को मारने के लिए और माया के भ्रम से मुक्त होने के लिए "शब्द" का सहारा लेना आवश्यक है—

सबदे हउमै मारीऐ माइया का भ्रमु जाह ।।

(गु. ग्रं. सा. पृ. 67)

इस अहंकार के नाश होने से विचार की प्राप्ति होती है, सच का आधार प्राप्त होता है और ईश्वर में मन पूरी तरह रम जाता है।

हउमै गरब गवाईएं पाईएं वीचारु।।
साहिब सिउ मनु मानिआ दे साचु आधारु।।

(गु. ग्रं. सा. पृ. 421)

अहंकार नष्ट होते ही व्यक्ति की मति में स्थिरता आ जाती है और उसे शाश्वत शांति की प्राप्ति होती है–

तिसु जन संाति सदा मति निहचल।
जिसका अभिमानु गवाए।।

(गु. ग्रं. सा. पृ. 492)

जीव और ब्रह्म की अभेदता के सिद्धान्त को गुरुवाणी में पूरी तरह स्वीकार किया गया है–

हरि हरिजन दुई एक हैं बिंब विचार कछु नाहिं।।
जल ते ऊपजे तरगं जिउं' जल ही बिखै समाइ।।

जैसे ज़ल की तरंग ज़ल से निकल ज़ल में ही समा जाती है, वैसे ही जीव परब्रह्म से उपजता है और उसी में समा जाता है।

गुरु नानक कहते हैं कि सभी प्राणियों में एक परमात्मा की ज्योति ही व्याप्त है। उसी के प्रकाश से सब कुछ प्रकाशित हो रहा है–

सभ महि जोति जोति है सोई।।
तिसदै चानणि सभ महि चाननु होइ।।

परन्तु इस अभेदत्व की पहचान जीव क्यों नहीं कर पाता? जीव और ब्रह्म के बीच माया और अहंकार का पर्दा पड़ा हुआ है। गुरु की प्राप्ति से भ्रम की निवृति होती है। अहंभाव नष्ट होते ही व्यक्ति का ''स्व'' बृहतर ''स्व'' में विलीन हो जाता है और जीव तथा परमात्मा एक रूप, एक रंग हो जाते हैं–

हम किछु नाहीं एकै ओही। आगै पीछै एकौ सोई।।
नानक गुरि खोए भ्रम भंगा। हम ओह मिलि होवें इक रंगा।।

(गु. ग्रं. सा. पृ. 391)

अभेदत्व की स्थिति में जीव और परमात्मा एक रूप हो जाते हैं। हरि और हरिजन में कोई अंतर नहीं रहता। गुरु तेगबहादुर कहते हैं–

जो प्रानी निसिदिन भजे रूप राम तिह जानु
हरि जनि हरि अंतरु नहीं नानक सांची मानु।।

जिह घटि सिमरनु राम को सो नरु मुकता जानु।।
तिह नर हरि अंतरु नहीं नानक साची मानु।।

(गु. ग्रं. सा. पृ. 1428)

गु रु

गुरुवाणी "गुरु" के मुख से निःसृत वाणी है। गुरु और वाणी अनुपूरक हैं, एक रूप हैं और अभेद हैं, इसलिए गुरुवाणी और वाणी गुरु है। कहा भी गया है –

वाणी गुरु गुरु है वाणी विचि बाणी अमृत सारे।
गुरुवाणी कहै सेवकु जनुमानै परतखि गुरु निसतारे

ज्ञान प्राप्ति के लिए गुरु की अनिवार्यता और महत्ता पर सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में बहुत कुछ कहा गया है। मध्ययुगीन संतों की वाणी में गुरु को गोबिंद के समान कहा गया है और कहीं कहीं तो गुरु को गोविंद की अपेक्षा इसलिए प्राथमिकता दी गयी है क्योंकि गुरु की कृपा से गोबिंद की अनुभूति होती है।

गुरु गोबिंद तौ एक हैं दूजा यहु आकार।
आपा भेट जीवत मरै, तौ पावै करतार।।

(संत कबीर)

गुरु गोबिंद दोनों खड़े काके लागो पांइ।
बलिहारी उन गुरन को जिन गोविंद दिया बताइ।।

(संत कबीर)

परन्तु एक धर्ममत के रूप में सिखों में गुरु की जितनी महत्ता और प्रतिष्ठा है उतनी शायद ही कहीं हो। दस गुरुओं के पश्चात पांचवे गुरु, गुरु अर्जुन देव द्वारा संपादित "ग्रंथ" को "गुरु" पद पर आसीन कर देने का जो कार्य गुरु गोविंद सिंह ने किया उससे भी इस गुरु–संस्था की महत्ता पुष्ट होती है।

सिख समाज में "गुरु" शब्द का आज वह स्थान है जो प्राचीन धर्म-साहित्य में "अवतार" शब्द का है। गुरुमत में गुरु शब्द उस सतपुरुष के लिए व्यवहृत हुआ है जो अकाल पुरुष प्रेरित हो और विशिष्ट कार्य को सम्पन्न करने के लिए संसार में आया

हो। गुरु नानक देव एक ऐसी की विभूति थे। अन्य नौ सिख गुरुओं के लिए तो उनके पूर्व गुरु थे और गुरु नानक देव आदि गुरु थे, परन्तु गुरु नानक का गुरु कौन था? गुरु नानक देव ने कहा है कि मेरा गुरु तो स्वयं अपरंपार पारब्रह्म परमेश्वर है–

तत्तु निरंजनु जोति सबाई सोंह भेदु न कोई जीउ।
अपरंपार पारब्रह्मु परमेसरु नानक गुर मिलिआ सोई जिउ।।

(गु. ग्रं. सा. पृ. 599)

गुरुवाणी में ऐसे अनेक संकेत हैं जहां पारब्रह्म परमेश्वर ही गुरु है। गुरु अर्जुन देव ने भी लिखा है कि मेरा गुरु तो पारब्रह्म परमेश्वर है, उसी का हृदय में ध्यान रखना चाहिए–

गुरु मेरा पारब्रह्मु परमेसुरु।।
ताका हिरदै धरि मन धिआनु।।

(गु. ग्रं. सा. पृ. 827)

इसी प्रसंग में वे कहते हैं कि गुरु और परमेश्वर को एक ही रूप में जानो। उसे जो अच्छा लगता है, वही स्वीकार होता है–

गुरु परमेसुरु एको जाणु
जो तिसु भावै सो परवाणु।

(गु. ग्रं. सा. पृ. 864)

एक अन्य स्थान पर गुरु अर्जुन देव कहते हैं–पारब्रह्म परमेश्वर, सतगुरु ने सभी जीव जन्तुओं को अपने वश में कर रखा है–

पारब्रह्म परमेसुर सतिगुर बसि कीने जिनि सगले जंत

(गु. ग्रं. सा. पृ. 827)

परन्तु ऐसे गुरु की खोज कैसे हो जो परमेश्वर समकक्ष या उससे एक रूप हो। गुरु अमरदास कहते हैं कि–

ए मन ऐसा सतिगुरु खोजि लहु।
जितु सेविऐ जनम मरण दुखु जाइ
कूड़े की पालि विचहु निकलैं,
सचु वसै मनि आइ।।

(गु. ग्रं. सा. पृ. 591)

(रे मन, ऐसा सद्गुरु खोज ली, जिसकी सेवा में जनम मरण का दुख चला जाए,

वीच से झूठ का पर्दा हट जाए और मन में सच आकर बस जाए।)

गुरु नानक कहते हैं कि गुरु उसे बनाओ जो हृदय में सच्चाई को दृढ़ कराता है, अकथनीय परमात्मा का कथन करता है, शब्द ब्रह्म से मिलाप कराता है।

सो गुरु करउ जि साचु हडावै।।
अकथु कथावै सवद मिलावै।।

(गु. ग्रं. सा. पृ. 686)

गुरु राम दास कहते हैं कि जिसे मिलने से मन में आनन्द उत्पन्न हो उसे सतगुरु कहना चाहिए। ऐसे व्यक्ति से मिलने पर मन की दुविधा नष्ट हो जाती है और हरि सानिध्य का परमपद प्राप्त होता है।

जिसु मिलिऐ मनि होइ आनंदु सो सतिगुरु कहीऐ।।
मन की दुविधा विनसि जाइ हरि परम पद लहीऐ।।

(गु. ग्रं. सा. पृ. 168)

गुरु अर्जुन कहते हैं कि यदि ऐसा गुरु मिल जाए तो मनुष्य जीवन की सम्पूर्ण युक्ति की पूर्ति हो जाती है। हंसते-खेलते, पहनते खाते हुए—अर्थात् सभी प्रकार के सांसारिक दायित्वों का पालन करते हुए मनुष्य की मुक्ति हो जाती है।—

नानक सतिगुररे भेटिऐ पूरी होवै जुगति
हंसदिआ, खेलदिआं, पैनदिआं, खांवदिआ
विचे होवै मुकति।।

(गु. ग्रं. सा. पृ. 522)

परन्तु ऐसा गुरु भी तो ईश्वर की कृपा से ही मिलता है। गुरुवाणी में स्थान-स्थान पर कहा गया है कि परमात्मा की अलौकिक कृपा से ही सद्गुरु की प्राप्ति होती है—

पूरै भागि सतिगुरु पाईए।
जे हरि प्रभु बखस करेइ।।

(पृष्ठ 851)

नदरि करै ता गुरु मिलाए

(पृष्ठ 1054)

आपा दइआ करे प्रभु दाता सतिगुरु पुरखु मिलाए

(पृष्ठ 773)

गुरुवाणी में स्थान-स्थान पर पाखंडी गुरुओं और नेताओं (आगुओं) से सतर्क

रहने का भी निर्देश है। गुरु की इतनी महत्ता देखकर अनेक ढोंगी व्यक्ति अपने आपको "गुरु" घोषित करने लगते हैं। वे स्वयं तो डूबते ही हैं अपने अनुयायियों को भी डूबो देते हैं।

गुरु नानक कहते हैं—जिस व्यक्ति में कुछ है नहीं, वह क्या उपदेश देगा, क्या दिखाएगा जिसके क्रिया-कर्म, बोलचाल, गंदगी से भरे हुए हैं ऐसा गुरु स्वयं तो कुछ समझता नहीं पर लोगों को समझाता घूमता है। जो स्वयं अंधा है, वह औरों को क्या रास्ता दिखाता है। ऐसा व्यक्ति सभी को डूबो देता है। आगे चलकर उसके मुंह पर मार पड़ती है। तब उसकी वास्तविकता प्रकट होती है।

जा हउ नाही ता किआ आखा किहु नाही किआ होआ।
कीता करण कहिआ कथना भरिआ मरि मरि धोवां।
आपि न बुझा लोक बुझाई ऐसा आगू होवां।।
नानक अंधा होइ कै दसे राहै समसु मुहाए साथै।।
अगै गइआ मुहे मुहि पाहि सु ऐसा आगू जापै।।

(गु. ग्रं. सा. पृ.140)

एक अन्य स्थान पर गुरु नानक कहते हैं—जिसका गुरु अंधा है उसके चेले को कहीं स्थान नहीं मिलता। बिना सद्गुर के नाम की प्राप्ति नहीं होती और बिना नाम के स्वाद कैसा? ऐसे व्यक्ति को संसार में आकर उसी तरह पछताना पड़ता है जैसे सूने घर में जाकर कौवे को पछताना पड़ता है।

गुरु जिना का अंधुला चेले नाही ठाउ।।
बिनु सतिगुरु नाउ न पाईऐ बिनु नावै किआ सुआउ।।
आइ गइआ पछुताव जिउ सुगै घरि काउ।।

(गु. ग्रं. सा. पृ. 58)

दृष्टिहीन, स्वार्थी और पाखंडी नेता या गुरु किस प्रकार अपने अनुयायियों को पथभ्रष्ट करते हैं। इस संबंध में गुरुवाणी में अनेक बार चर्चा की गई है। सही और सुयोग्य मार्गदर्शक का नेतृत्व जनता को सर्वतामुखी प्रगति की ओर ले जाता है, परन्तु पाखंडी और स्वार्थी नेता अपनी ओछी मति के कारण जनता को पथभ्रष्ट करते रहते हैं। गुरु नानक के शब्दों में—यदि आगू (गुरु) स्वयं दृष्टिहीन हो तो उसका अनुयायी किस तरह मार्ग की पहचान कर सकेगा? ऐसा नेता तो अपनी ओछी मति से स्वयं लुट रहा है भला वह किस प्रकार सही राह की पहचान कर सकेगा?

अंधा आगू जे थीऐ किउ पाधरु जाणै।
आपि मुसे मति होछीऐ किउ राहु पछाणै।।

(गु. ग्रं. सा. पृ. 767)

इसीलिए गुरु राम दास कहते हैं–
बिबेकु गुरु गुरु समदरसी
तिसु मिलीऐ संक उतारे

(गु. ग्रं. सा. पृ. 981)

(विवेकवान और समदर्शी गुरु से भेंट होने पर ही शंकाओं की निवृत्ति हो सकती है)

सामान्यतः हमारे देश की आध्यात्मिक साधना और भक्ति साहित्य अत्यन्त एकांगी है। उसमें व्यक्ति के कल्याण और उसके मोक्ष की कामना तो की गई है, परन्तु संपूर्ण साधना और भक्ति को सामाजिक संदर्भों से बहुत कम जोड़ा गया है। हमारे देश का हर जिज्ञासु अपने (जीव के) दुख की चिंता से आतुर है और ऐसे मार्ग की तलाश में है जो उसे इस भौतिक संसार की पीड़ाओं, बंधनों और व्याधियों से छुटकारा दिलाकर निर्विकल्प समाधि में मग्न कर दे। अपनी मुक्ति के लिए इस देश का साधक भगवद् भक्ति करता है, साधना करता है, सन्यास ग्रहण करता है और फिर कठोरतम तपस्याओं में अपने आपको निमग्न करता है। उसकी समस्त क्रियाओं का उद्देश्य उसकी अपनी मुक्ति है। अपने आस-पास फैले विशाल जन-समूह में उसकी इतनी ही रुचि है कि वह समूह उसकी साधना के मार्ग में सहायक बने और इस समाज को उसका एक ही उपदेश है कि जैसे वह अपनी मोक्ष-साधना में रत है वैसे ही उस समाज का हर व्यक्ति (अलग-अलग) अपने कल्याण का उपाय करे।

गुरुवाणी का संदेश इस देश की इस परम्परागत मान्यता में कुछ अन्य तत्वों पर विशेष रूप से आग्रह करता है जो गुरुवाणी के संदेश को वैयक्तिक कल्याण-कामना की परिधि से निकाल कर बृहतर सामाजिक कल्याण और सामाजिक सरोकार से जोड़ देते हैं। इस संदर्भ में तीन विशिष्ट तत्वों की संक्षिप्त चर्चा समीचीन होगी। ये तत्व हैं–संगत, सेवा और उद्यम।

संगत

'संगत' शब्द का सिख-परिवेश में महत्वपूर्ण स्थान है। संगत शब्द में ही सामाजिकता की ध्वनि है और गुरुवाणी बार-बार इस बात पर आग्रह करती है 'संगत' के बिना व्यक्ति का कल्याण नहीं है–

मेरे माधउ जी,
सत संगति मिले सो तरिआ।
गुरु प्रसादि परम ...
सूके कासटु हरि...

... ग्रं. सा. पृ. 495)

(हे मेरे माध, उसी का कल्याण होगा जिसे सत् संगत प्राप्त हो/गुरु के प्रसाद से उसे परम पद मिलता है जैसे सूखी लकड़ी हरी हो जाए)

गुरु रामदास कहते हैं—हरि का विश्वास ही सत् संगत में है। संगत में मिलकर ही तुम हरिगुण से परिचित हो सकते हो।

सत संगति महि हरि हरि वसिआ
मिलि संगति हरि गुन जान।।

गुरु अर्जुन देव कहते हैं—बहुत खोज-बीन के बाद मैंने सर्वत्र यही सुना कि साधु-संगति के बिना किसी का कल्याण नहीं होता।

खोजत खोजत सुनी इह सोइ,
साध संगति बिनु तरिआ न कोई

(गु. ग्रं. सा. पृ. 373)

गुरु अर्जुन यह भी कहते हैं कि जब से मुझे साधु-संगत मिली है तब से दूसरों से प्राप्त पीड़ा का बोध जाता रहा है। अब मेरा न तो कोई शत्रु है, न ही मेरे लिए कोई बेगाना है। सभी के साथ मेरा आत्मीय संबंध है।

बिसरि गई सभ ताति पराई।
जब ते साध संगति मोहि पाई।।
ना को बैरी नहीं बेगाना
सगल संगि हम कउ बनि आई।।

(गु. ग्रं. सा. पृ. 1299)

गुरु रामदास का कथन है कि संगति में हरि-प्रभु का निवास है।
विचि संगति हरि प्रभु बसै जीउ

(गु. ग्रं. सा.)

हमारे देश के साधना और भक्ति मार्ग अत्यन्त एकाकी रहे हैं। हर घर का अपना मंदिर, अपना देवता, अपनी पूजा पद्धति और अपनी आकांक्षाएं। इसका परिणाम यह हुआ कि हमारे देश में सामाजिक-संबंध और उन्हें दृढ़ करने के लिए सामाजिक-मंचों का सदा अभाव रहा।

इस्लाम में मस्जिद में आने और सहधर्मियों के साथ मिलकर नमाज पढ़ने का विशेष महत्व है। इस पद्धति ने इस्लाम के सामाजिक-संगठन को बड़ा बल दिया। गुरुमत में इस सामाजिक मिलन और सामूहिक पूजा पद्धति के महत्व को समझा गया। गुरु-सिख के लिए गुरुवाणी का पाठ करना ही आवश्यक नहीं माना गया बल्कि उसका संगत में

आना और एक पंगत में बैठकर भोजन करना भी आवश्यक माना गया। भाई गुरदास ने अनेक स्थानों पर गुरसिख का चलकर गुरुद्वारे पहुंचना और साधु-संगत में जाकर बैठने के महत्व पर प्रकाश डाला है–

गुरुमुख पैर सकारथे,
गुरमुख मारग चाल चलंदे।
गुरुदुआरे जान चल
साध संगत चल जाइ वंहदै

(वारां भाई गुरदास)

गुर सिख भलके उठके अमृत वेले सर नावंदा।
गुरु के बचन उचार के धरमसाल दी सुरत करंदा।।
साध संगत विच जाइकै गुरबाणी दे प्रीत सुणंदा।।

(वारां भाई गुरु दास)

सेवा

सामाजिक बोध और सामाजिक सरोकार का दूसरा महत्वपूर्ण पहलू सेवा है। भारत की परम्परागत समाज-पद्धति में सेवा का कार्य एक वर्ग या वर्ण विशेष को सौंप दिया गया और सामाजिक जीवन में उन्हें सबसे नीची स्थिति दी गई। परिणाम यह हुआ कि समाज का अधिकांश वर्ग परजीवी हो गया, वह अपने छोटे-छोटे कार्यों के लिए उस वर्ग विशेष पर निर्भर करने लगा, दूसरे के लिए कुछ करना तो दूर अपना काम करना भी व्यक्ति को अपमानजनक लगने लगा। सेवा के द्वारा सामाजिक जीवन में जो सौहार्द आत्मीयता, विनम्रता और एकात्मता का भाव पैदा होता है, हमारा समाज उससे पूरी तरह वंचित हो गया है।

सामाजिक जीवन को जो स्थिति उस समय सर्वाधिक दूषित कर रही थी, वह थी सेवावृत्ति से जुड़ी हुई सामाजिक स्तर की नीचता की अनुभूति। सेवा-कार्य निम्न कोटि का कार्य है, नीची जातियों के लोगों का कार्य है–यह दंभ समाज में एक वर्ग में व्याप्त था। गुरु नानक ने यह अनुभव किया कि सेवावृति को सामान्य स्थिति तक लाने की पहली शर्त है, नीची समझी जाने वाली जातियों से गहरी सम्पृक्ति। उन्होंने अपने आप को उन कथित नीच जातियों से जोड़ लिया और घोषणा कर दी कि–नीची जातियों में भी नीची जातियां हैं और उनमें भी जो नीची हैं, मैं उनके संग-साथ हूं, मुझे अपने को बड़ा समझने वालों से कुछ लेना-देना नहीं है क्योंकि मैं मानता हूं कि जहां नीचों को

संभाला जाता है, परमात्मा की कृपा दृष्टि भी वहीं पड़ती है—

नीचा अंदरि नीच जाति नीची हू अति नीचु।
नानकु तिनकै संगि साथि बड़िआ सिउ किया रीस
जिथै नीच संभाली अनि तिथै नदरि तेरी बख्शीस

(गु. ग्रं. सा. पृ. 15)

इस प्रकार समाज के सेवा कार्य में रत नीच समझी जाने वाली जातियों से अपना संबंध जोड़कर गुरु नानक तथा अन्य गुरुओं ने सेवा कार्य पर भरपूर जोर दिया। गुरु नानक ने कहा—ईश्वर के घर में उन्हीं को स्थान प्राप्त होता है जो दुनिया में सेवा अर्जित करते हैं।

विचि दुनीआ सेव कमाइऐ।
दा दरगाह बैसणु पाईऐ।।

(गु. ग्रं. सा. पृ. 26)

गुरु अर्जुन देव ने 'सुखमनी' में लिखा है कि जो भी व्यक्ति चारों पदार्थों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) की कामना करता है उसे साधु-जनों की सेवा करनी चाहिए।

चार पदारथ जो को मागै
साध जना की सेवा लागै।।

(गु. ग्रं. सा. पृ. 266)

एक अन्य स्थान पर गुरु अर्जुन देव कहते हैं प्रातःकाल से ही मैं जन (साधु व्यक्तियों) की चरण सेवा में लग जाऊं। रात-दिन उनका दर्शन प्राप्त करूं। अपना तन-मन अर्पण करके मैं जन सेवा करूं और अपनी जिह्वा से हरि गुण गाऊं।

प्रातःकाल लागउ जन चरनी निसबासुरु दरसु पावउ।
तनु मनु अरपि करउ जन सेवा रसना हरि गुण गावउ।

(गु. ग्रं. सा. पृ. 566)

गुरु अर्जुन देव तो यहां तक कहते हैं कि मैं साधु-जनों की चरण धूलि को अपने मुख और मस्तक पर लगाकर काम-क्रोध के विष को जला दूं। अपने को मैं नीच मानूं और मन में अपने को नीच मानने का सुख धारण करूं।

साधु धूरि लाई मसतकि काम क्रोध बिखु जारउ।।
सभ ते नीच आतम करि मानउ मन महि इहु सुखु धारउ।।

(गु. ग्रं. सा. पृ. 531)

उद्यम

गुरुवाणी में उद्यम पर विशेष महत्व दिया जाना, इस देश के सामाजिक परिवेश की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। संसार को नश्वर, अनित्य और मिथ्या मानने पर इस देश में दार्शनिकों, साधकों और भक्तों ने इतना बल दिया कि सांसारिक कार्यों के प्रति अरुचि और उपेक्षा सामान्य-जन में नैतिक-मूल्य का स्थान पा गई। संसार से विरक्त होना, सन्यास ग्रहण करना और प्रभु प्राप्ति के प्रयत्नों की ओट में अकर्मण्य, निष्क्रिय और परजीवी जीवन व्यतीत करना इस देश में सामाजिक प्रतिष्ठा का अधिकारी हो गया। एक समय इस देश में ऐसा आया कि सामाजिक दृष्टि से पूरी तरह अनुपयोगी योगियों, सन्यासियों, भिक्षुओं की विशाल जनसंख्या अलख निरंजन या सीता राम और राधेश्याम कहती हुई सम्पूर्ण देश में घूम-घूमकर ''मोह-माया ग्रस्त गृहस्थियों'' को संसार की असारता का उपदेश देकर उनका कल्याण करने का दंभ करती हुई उन्हीं पर आश्रित हो गई। ऐसे ही लोगों की लंबी कतार देखकर संभवतः गोस्वामी तुलसीदास ने कहा होगा—

नार मुई घर संपत नासी।।
मूड़ मुड़ाए भए संन्यासी।।

गुरुवाणी ने सबसे पहले तो इसी बात का खंडन किया यह दृश्यमान संसार मिथ्या है, इसलिए त्याज्य है। गुरु अमरदास ने कहा कि यह विश्व-संसार जो तुम देखते हो यह मिथ्या नहीं है। यह तो हरि का रूप है। हरि अपने व्यक्त रूप में यहां दृश्यमान है।[4] इसलिए संसार से भागकर अकर्मण्य जीवन बिताने की आवश्यकता नहीं है। गुरुवाणी में इसीलिए गृहस्थ-धर्म को श्रेष्ठ धर्म माना गया है। गुरु नानक ने कहा है व्यक्ति घर में रहकर भी इसी प्रकार निर्लिप्त रह सकता है जैसे कमल जल में रहकर जल से निर्लिप्त हो जाता है।[5]

गुरु अमरदास कहते हैं—हे मन, तुम घर में रहकर माया से अछूते रहो। गुरमुख वह है जो घर में रहकर सच और संयम की करनी करता है।[6]

गुरु गोबिंद सिंह कहते हैं—रे मन, ऐसा संन्यास धारण करो कि अपने घर को ही वन समझो और निर्लिप्ता अपने मन में ही उत्पन्न करो।[7]

गुरु नानक कहते हैं कि सद्‌गुरु का इतना बड़प्पन कि मुझे पुत्र कलत्र के मध्य ही गति प्राप्त हो गई।[8]

इसीलिए गुरु नानक ने कहा कि जो व्यक्ति स्वयं परिश्रम करके कुछ धन अर्जित करता है और फिर उसमें से धार्मिक-सामाजिक कार्यों के लिए देता है, वही सही मार्ग को पहचानता है।[9]

गुरु रामदास ने स्पष्ट रूप से कहा है कि जो अपने आपको गुरु का सिख कहता है वह प्रातः उठकर हरिनाम जपता है और फिर जीवन यापन के लिए उद्यम करता है। वह समय-समय पर अमृतसर में स्नान करता है।[10]

गुरु अर्जुन कहते हैं—उद्यम करने से मन शीतल होता है। हरि मार्ग पर चलने का सम्पूर्ण भ्रम नष्ट हो जाता है[11]

गुरु अर्जुन देव ने व्यक्ति के सम्मुख एक जीवनादर्श प्रस्तुत किया—तुम उद्यम करते हुए जीओ, कमाते हुए सुख प्राप्त करो, ध्यान करते हुए प्रभु से मिलो। तुम्हारी सारी चिंताएं दूर हो जाएंगी।[12]

युग बोध

गुरु ग्रंथ साहिब धर्म ग्रंथ है। उसमें व्यक्ति की मुक्ति की कामना, मार्ग और उपलब्धि की दिशा पर भी विचार है और निर्देश भी, परन्तु गुरुवाणी का विचार और निर्देश अध्यात्मा और परलोक की समस्याओं और सरोकार तक ही सीमित नहीं है। गुरुवाणी अपने समय के समाज और व्यक्ति के इहलौकिक यथार्थ से अपने आप को जोड़ती है और अपने विचार तथा निर्देश की परिधि में उसे भरसक समेटती है। इसीलिए गुरुवाणी में ऐसी उक्तियों की कमी नहीं है जो तत्कालीन व्यक्ति के विसंगत चरित्र, सामाजिक मूल्यों के पतन सत्ताधारी व्यक्ति या व्यक्तियों की निरंकुशता, समाज के नेताओं की भ्रष्टता और अयोग्यता तथा ऐसी स्थिति में सामान्य-जन के विनम्र का बड़ा सटीक चित्रण करती है।

राजनीतिक पराधीनता के उस युग में गुरु नानक संभवतः पहले भारतीय संत कवि थे जिन्होंने कहा था—यह समय धुरी के समान है, राजे कसाई के समान हो गये हैं, धर्म पंख लगाकर उड़ गया है। चारों तरफ झूठ की अमावस्या छाई हुई है, सत्य का चंद्रमा कहीं दिखाई नहीं देता। पता नहीं वह कहां उदय हुआ है। मैं (जीवात्मा) पथ ढूंढ-ढूंढकर व्याकुल हो गया हूं, अंधेरे में कहीं राह नहीं सूझता।[13]

अपने समय के अत्याचारी शासकों के संबंध में बड़ी आक्रोश भरी वाणी में उन्होंने कहा—इस समय राजागण व्याध्र के समान हिंसक हैं, उनके अधिकारी कुत्तों के समान लालची हैं ये लोग निरीह जनता को बिना किसी कारण पीड़ित करते रहते हैं। इनके नौकर-चाकर अपने पैरों के नाखूनों से लोगों को जख्मी करते रहते हैं और उनका लहू कुत्तों की तरह चाट जाते हैं जहां इनके कर्मों की परख होगी, वहां इनकी नाक काट ली जाएगी।[14]

अपने समय के राजाओं तथा राजकर्मचारियों द्वारा निरीह जनता पर किए जाने वाले अत्याचारों पर तीव्र रोष व्यक्त करने वाले गुरु नानक ने मुगल आक्रान्ता बाबर के आक्रमण को अपनी आंखों से देखा था मुगल सैनिकों की लूटमार और मारकाट से इस देश की जनता की जो दुर्दशा हुई, गुरु नानक ने उसका मार्मिक वर्णन अपनी वाणी में किया—"जिन स्त्रियों के सिर में सुंदर पट्टियां शोभित होती थीं, जिनकी मांग में सिंदूर भरा हुआ था, आक्रमणकारियों ने उनके केश काट डाले और उन्हें धूल में इस तरह घसीटा कि उनके गले तक धूल भर गई। जो महलों में निवास करती थीं, अब उन्हें

बाहर बैठने की भी जगह नहीं मिलती। विवाहित स्त्रियां अपने पतियों के पास सुशोभित थीं। वे पालकियों में बैठकर आई थीं। उन पर लोग जल-न्योछावर करते थे, बहुमूल्य पंखे आस-पास झूलते थे उन पर लाखों रुपए की वर्षा होती थी। वे मेवे खाती थीं, सेजों पर रमण करती थीं। अब उनके गले की मोतियों की माला टूट गई है और उसके स्थान पर आक्रमणकारियों ने रस्सियां डाल दी हैं। धन और यौवन ने उन्हें अपने रंग में रंग रखा था अब ये दोनों ही उनके बैरी हो गए हैं। सिपाहियों को आज्ञा मिली और वे उनकी इज्जत लूटकर चलते बने।[15]

ऐसी करुणाजनक स्थिति में गुरु नानक ने परमेश्वर के प्रति ही अपनी शिकायत व्यक्त करते हुए कहा—हे परमात्मा, बाबर ने खुरासान पर आक्रमण किया, परन्तु तुमने उसकी रक्षा कर ली और हिंदुस्तान को उसके आक्रमण से आतंकित कर दिया। तुम स्वयं इस स्थिति को उत्पन्न करते हो, परन्तु अपने को दोष न देने के लिए तुमने मुगलों को यमदूत बनाकर इस देश पर आक्रमण करा दिया। चारों ओर इतनी मारकाट हुई कि लोग त्राहि-त्राहि कर रहे हैं। क्या तुम्हारे मन में इन निरीह जनों के प्रति जरा भी दर्द नहीं उत्पन्न हो रहा है? हे कर्ता, तुम तो सभी प्राणियों के समान रूप से रक्षक होने का दावा करते हो यदि एक शक्तिशाली दूसरे शक्तिशाली को मारे तो मन में रोष नहीं होता परन्तु यदि शक्तिशाली सिंह निरपराध पशुओं के झुंड पर आक्रमण कर दे तो उनके स्वामी को कुछ तो पुरुषार्थ दिखाना चाहिए।[16]

अपने देश पर विदेशियों द्वारा हुए अत्याचारों से विक्षुब्ध होकर ईश्वर के प्रति ऐसी ताड़ना भरी शिकायत सारे भक्ति-साहित्य में निश्चय ही अद्वितीय है और अनुपम भी, परन्तु गुरु नानक उन लोगों को भी क्षमा नहीं करते जिनकी चरित्रहीनता, अकर्मण्यता और ऐश परस्ती के कारण इस देश की ऐसी दुर्दशा हुई—

रतन विगाड़ि विगोए कुती।
मुइआ सार न काई। (गु. ग्रं. सा. पृ. 360)

"इन कुत्तों ने रत्न के समान इस सुंदर देश को बिगाड़कर नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। इनके मरने के बाद इन्हें कौन पूछेगा?"

सामाजिक जीवन की विद्रूपता पर अनेक उक्तियां गुरुवाणी में स्थान-स्थान पर प्राप्त होती हैं। एक स्थान पर गुरु नानक कहते हैं—"आजकल लोग कुत्ते के मुंह वाले हो गए हैं, उनका खाद्य पदार्थ मनुष्य का मांस है अर्थात् कुत्तों के समान लालची हो गए हैं और रिश्वत तथा बेईमानी का पैसा खाते हैं। वे झूठ बोल-बोल कर भौंकते हैं, धर्म-संबंधी विचार समाप्त हो चुके हैं। इनके जीवन काल में इनकी इज्जत नहीं, मरने पर तो इनका बुरा होता ही है।[18]

योगियों सन्यासियों का हाल यह है कि बाहर तो भस्म का लेप करते हैं किन्तु अन्दर अंधेरा रहता है। वेकिंथा झोली आदि धारण करके बाहर से अनेक वेश बनवाते

हैं, परन्तु अहंकार और दुर्बुद्धि से भरे हुए हैं—

बाहर भसम लेपन करे अंतरि गुबारी।
खिंथा झोली बहु भेख करे दुरमति अहंकारी। (गु. ग्रं. सा. पृ. 1248)

पाखंडी की दशा यह है कि हर साधु-सन्यासी अपने आपको त्रिकालदर्शी घोषित कर रहा है। वह संसार को ठगने के निमित्त आंख बंद करता है, नाक पकड़ता है। अंगूठे और अंगुलियों से नाक पकड़कर यह दम्भ करता है कि मुझे तीनों लोकों का ज्ञान है, परन्तु ऐसे लोग अपने पीछे रखी वस्तु को भी देख नहीं सकते। यह कैसा पद्मासन है—

अखी त मीटहि नाक पकड़हि ठगण कउ संसारु।।
आंट सेती नाकु पकड़हि सूझते तिनि लोअ।
मगर पाछै कछु न सूझै एहु पदमु अलोअ। (गु. ग्रं. सा. पृ. 662)

धार्मिक नेताओं की भ्रष्टता का चित्रण करते हुए गुरु नानक ने कहा—काजी झूठ बोल कर हराम की कमाई खाता है, ब्राह्मण जीवों को दुख देकर तीर्थों में स्नान करता घूमता है, योगी अंधा है। उसे युक्ति का पता नहीं। समाज के तीनों पथ-प्रदर्शक स्वयं अज्ञान के उजाड़ में पड़े हुए हैं—

कादी कूडु बोलि भलु खाह।
ब्राह्मणु नावै जीवा घाइ।।
जोगी जुगति न जाणै अंधु।
तीनों ओजाड़े का बंधु।। (गु. ग्रं. सा. पृ. 662)

जब समाज के मूल्य विघटित होने लगें, धर्म के नाम पर पाखंड का बोलबाला हो, सामाजिक जीवन ऊंच-नीच में बंटकर अनाचार से ग्रसित हो जाए समाज के नेता भ्रष्ट और स्वार्थी हो जाएं, शासक वर्ग निरकुंश होकर जनता का शोषण करने लगे तो स्वाभाविक है कि समाज का व्यक्ति अनेक प्रकार की विसंगतियों और विरोधाभासों का शिकार हो जाएगा। मुगल शासन के एक हिन्दू कर्मचारी को फटकारते हुए गुरु नानक ने कहा, तुम गऊ, ब्राह्मण पर लगाते हो और गोबर का सहारा लेकर अपना उद्धार करना चाहते हो धोती, तिलक और माला धारण करते हो और धान म्लेच्छों का खाते हो। घर के अंदर पूजा करते हो और बाहर शासकों को प्रसन्न करने के लिए कुरान पढ़ते हो। यह सब पाखंड तुम छोड़ क्यों नहीं देते?[18]

अपने समय के हाकिमों की कटु आलोचना करते हुए गुरु नानक ने कहा—ये लोग हैं मनुष्य भक्षी, पर पढ़ते हैं नमाज। उनके हिन्दू कर्मचारी गले में जनेऊ पहनते हैं, पर निरीह जनता पर छुरी चलाते हैं। उन हिंदुओं के घर जाकर ब्राह्मण पूजा करते

हैं और अधर्म से कमाए गए धन का वे स्वाद चखते हैं। यह सब झूठी पूंजी है, झूठा व्यापार है, झूठ बोल कर ये लोग अपने आहार की व्यवस्था करते हैं। शर्म और धर्म का डेरा दूर हो गया है और सभी स्थानों पर झूठ व्याप गया है।[19]

गुरुवाणी का संपूर्ण आग्रह 'सच' की पहचान पर है, परन्तु जब चारों और झूठ का पसारा हो और झूठ को ही सच बनाकर पेश किया जा रहा है, उस समय सच की पहचान करने वाला ग्राहक विरला ही होगा गुरु के शब्द की सहायता से व्यक्ति सच की पहचान कर सकता है–

साचे का गाहक विरला को जाणु।
गुर कै सबदि आपु पछाणु।। (गु. ग्रं. सा. पृ. 664)

परन्तु हृदय की सच्चाई के बिना सच कैसे प्राप्त होगा। इसके लिए शरीर से झूठ की मैल उतारनी पड़ेगी।[20]

गुरु नानक आग्रह करते हैं कि जिनके पास सच है उसके पास सभी दुखों की दवा है। सच उनके अंदर के सभी पाप धोकर बाहर निकाल देता है।[21]

इसके साथ ही गुरु नानक यह भी कहते हैं कि सच मात्र एक अवधारणा ही नहीं है, बल्कि उसे जीवन में चरितार्थ भी होना चाहिए। सच-सच पुकारने या कहने से जीवन में सच नहीं आता। वह आता है सच को नित्य प्रति के जीवन में उतारने से, उसे अपने आचरण में ढालने से। इसलिए गुरवाणी का कथन है कि संसार में सभी कुछ सच से नीचे हैं, परन्तु सच-आचरण, सच से भी ऊपर है–

सचहु ओरै सभु को
उपरि सचु अवारु (गु. ग्रं. सा. पृ. 62)

सच की पहचान कर पाने वाला व्यक्ति केवल अपनी ही मुक्ति का उपाय नहीं खोजता वह औरों को भी मुक्ति का मार्ग दिखाता है। वह हरि का नाम जपता है और दूसरों को भी मुक्ति का मार्ग दिखाने के सामाजिक बांध के कारण ही उसे हरि से सुख की प्राप्ति होती है।[22]

सिख गुरुओं के विचारों और उनके द्वारा प्रदर्शित मार्ग की भारतीय जीवन और संस्कृति पर गहरी छाप है आधुनिक भारत के निर्माण में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। देश की स्वतंत्रता के लिए लड़े गए संग्राम में अपनी आहुति देने वाले शहीदों में सिखों की गिनती उनकी जनसंख्या के अनुपात से कई गुना अधिक है। करतार सिंह सराभा, भगत सिंह, उधम सिंह जैसे शहीदों के नाम तो संपूर्ण भारत में सम्मान के साथ लिए ही नहीं जाते, बल्कि किसी भी युवा आंदोलन के प्रेरणा स्रोत बनकर उभरते रहते हैं। यहां यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि इस देश में बलिदानी परम्परा का प्रारम्भ ही सिखों से होता है–त्याग, तप, संयम, परदुख कातरता, वीरता, शरणागत की

रक्षा आदि के अनेक उदाहरण हमें भारतीय इतिहास में मिल जायेंगे, परन्तु क्या इस देश में बलिदान (शहादत) की भी कोई परम्परा है? एक महान उद्देश्य को सम्मुख रखकर किसी ऐसे आदर्श के लिए जिसका संबंध बृहत्तर मानवीय हित चिंता से हो, व्यक्ति हंसते-हंसते मृत्यु का वरण कर ले क्या ऐसे उदाहरण अपने इतिहास में हैं? महाभारत में एक कथा है कि किस प्रकार एक निर्धन ब्राह्मण परिवार ने एक भूखे अतिथि की प्राण-रक्षा के लिए अपना संपूर्ण भोजन उसे दे दिया और स्वयं काल का ग्रास बन गया। दानवीर कर्ण ने अपने जीवन की सुरक्षा की चिंता न करते हुए अपने कवच और कुंडल दान कर दिए। ऐसे अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं, परन्तु ये सभी उदाहरण त्याग के हैं या बलिदान के। मैं समझता हूं कि त्याग और बलिदान में एक मौलिक अंतर है। त्याग व्यक्तिनिष्ठ होता है और बलिदान समाजनिष्ठ, त्याग स्वधर्म, स्वकर्तव्य, स्वसुख के लिए किया जाता है, बलिदान जनहित के किसी ऐसे उद्देश्य या लक्ष्य को सम्मुख रखकर किया जाता है जिसमें व्यक्ति की अपेक्षा समाज की भूमिका महत्तर हो उठती है। इस दृष्टि से भारतीय परंपराओं का विश्लेषण करने पर दिखाई देता है कि हमारे देश में त्याग की परंपराएं तो हैं, परन्तु बलिदान की नहीं है। वस्तुतः बलिदान शब्द भी उस भाव को व्यक्त करने के लिए उपयुक्त नहीं है जिस अर्थ में शहादत (अरबी) और मारूटर्डस (अंग्रेजी) शब्दों का प्रयोग होता है। हमारे प्राचीन साहित्य में बलिदान शब्द का प्रयोग सदैव देवता को प्रसन्न करने के लिए दी गई पशु बलि के लिए ही किया गया। हमारे देश में व्यक्ति अपने मोक्ष, अपने कर्तव्य अपने (वैयक्तिक) धर्म की सिद्धि के लिए बड़े से बड़े त्याग करता रहा है परन्तु किसी सामूहिक, सामाजिक आदर्श की रक्षा के लिए अपने जीवन की बाजी लगा बैठा हो, उपाधि छोड़कर ऐसा कोई उदाहरण मुझे याद नहीं आता।

यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि इस देश में बलिदान (यदि इस शब्द को शहादत का पर्याय मान लिया जाए) की परम्परा की सही शुरुआत गुरु अर्जुन देव के बलिदान (सन् 1606) से होती है। अपनी आत्मकथा 'तुजके जहांगीर' में जहांगीर ने जब यह लिखा कि गुरु अर्जुन द्वारा किए जा रहे कार्यों को बंद करने तथा उन्हें अपने धर्म में दीक्षित करने के लिए मैंने मुरतजा ख़ान से कहा कि उन्हें यातना दी जाए और न मानने पर मार डाला जाए तो इस शब्द से शहादत की पुष्टि कर दी। गुरु अर्जुन की शहादत के लगभग सत्तर वर्ष बाद नौवें गुरु-गुरु तेगबहादुर की शहादत ने इस परम्परा को पुष्ट किया। यह परम्परा आने वाले वर्षों में कल्पनातीत ढंग से विकसित हुई। हंसते-हंसते अपने शरीर का अंग-अंग कटवाने वाले अगणित सिख शहीदों का ऐसा उज्ज्वल इतिहास है जो आने वाली पीढ़ियों के लिए शाश्वत् प्रेरणा-स्रोत है।

कर्मठता, सक्रियता और आशावादिता और स्वाभिमान किसी भी सिख के निजी गुण हैं। 'चढ़दी कला' और 'सर्बत दा भला'' सिखों के आदर्श जीवन सूत्र हैं। एक सूत्र उन्हें सदैव आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है और दूसरा उनकी दृष्टि को सदैव लोकाभिमुख

रखता है।

अन्याय के प्रतिरोध की दृष्टि से सिख दृष्टिकोण बहुत स्पष्ट है। इस दृष्टि से गुरु गोबिंद सिंह का एक फारसी कथन ही उनका आदर्श है—

चु कार अज हमह हीलते दर गुजश्त।।
हलालस्त बुरदन व शमशीर दस्त।।

जब नीति के सभी साधन असफल हो जाएं, तब हाथ में तलवार उठा लेना उचित है।

संदर्भ

1. गु. ग्रं. सा. पृष्ठ 1186
2. जिचरु इहु मन लहरी विचि है हउमै बहुतु अहंकारु।
   सबदे सादु न आवई, नाभि न लगै पिआरु।।

   (गु. ग्रं. सा. पृष्ठ 1257)
3. कबीर मुकति दुआरा संकुसा राई दसएं भाइ।
   मनु तउ मैगलु होइ रहिउ निकसो किउ है जाइ।।

   (पृष्ठ 12 से)

   सभ ते आप जानै बलवंतु।
   खिन महि होइ जाइ भसमंतु।।
   किसै न बदै आपि अहंकारी ।
   धरम राइ सितु करे खुआरी।
   गुर प्रसादि जा का मिटै अभिमानु।।
   सो जनु नानक दरगाह परवानु।।

   (गु. ग्रं. सा. पृष्ठ 278)
4. एहु बिसु संसारु तुम देखदे।
   एहु हरि का रूप है हरि रूप नदरी आइआ।। (गु. ग्रं. सा. पृ. 922)
5. विचे गृहि सदा रहै उदासी
   जिउ कमलु रहै विचि पाणी है (गु. ग्रं. सा.)
6. मन रे गृह ही माहि उदासु
   सच संजमु करणी सो करे गुरमुखि होइ परगासु (गु. ग्रं. सा. पृ. 26)

7. रे मन ऐसो करि सन्यासा।।
बन से सदन सभै कर समझहु मन ही माहि उदासा।। (दशम ग्रंथ)

8. सतिगुर की ऐसी वडिआई
पुत्र कलत्र विचे गति पाई। (गु. ग्रं. सा. पृ. 661)

9. घाल खाई किछु हथहु देइ
नानक राह पछाणै सेइ।। (गु. ग्रं. सा. पृ. 1245)

10. गुर सतिगुर का जो सिखु अखाए।
सु भलके उठि हरिनाम धिआवै।;
उदमु करे भलके परभाती।
इसनानु करे अमृतसर नावै।। (गु. ग्रं. सा. पृ. 305)

11. उदम करत मनु निरकुल होआ।
हरि मारगि चलत भ्रम सगला खोइआ।। (गु. ग्रं. सा. पृ. 99)

12. उदमु करेदिआ जीउ तूं कमावदिआ सुख भुंचु।।
धिआइदिआ तुं प्रभु मिलु नानक उतरी चिंत।। (गु. ग्रं. सा. पृ. 522)

13. कलि काती, राजे कासाई धरमु पंखु करि उडरिआ।
कूडु अमावस सचु चंद्रमा दीसै नाहीं कह चड़िआ।।
हउ भालि विकुंनी होई। आधेरै राहु न कोई।। (गु. ग्रं. सा. पृ. 145)

14. राजे सींह कुमद्दम कुत्ते। जाइ जगाइन बैठे सुते।।
चाकर नहंदा पाइन्हि घाउ। रितु पितु कुतिहो चटि जाहु।।
जिथै जीआं होसी सार। नकीं वढी लाइत बार।। (गु. ग्रं. सा. पृ. 1288)

15. जिन सिरि सोहनि पटीआ मांगी पाइ संधूर।
से सिर काती मुंनीअन्हि गल विचि आवे धूड़ि।।
महला अंदरि हांदीआ हुणि बहणि न मिलन्ह हदूरि।।

जदहु सीआ वीआहीआ लाड़े सोहनि पासि।।
हीडोली चढ़ि आईआ दंद खंड कीते रासि।।
उपरहु पाणी वारीऐ झले झिमकनि पासि।।
इकु लखु लहन्हि बहिठीआ लखु लहन्हि खड़ीआ।।
गरी छुहारे खांदीआ मजिन्हि से जड़ीआ।।
तिन्ह गलि सिलका पाईआ तुटन्हि मोत सरीआ।।
धनु जोबनु दुइ वैरी होए जिन्ही रखे रंगु लाइ।।
दूता नो करमाइआ लै चले पति गवाइ।। (गु. ग्रं. सा. पृ. 417)

16. खुरासान खसमाना कीआ हिंदुसतानु डराइआ।
आभे देसु न देई करता जमु करि मुगलु चड़ाइआ।।
एती मार मार पई करलाणै तैं की दरदु न आइआ।।
करता तूं सभना का सोइ।

जे सकता सकते कउ मारे ता मनि रोसु न होई।
सकता सीहु मारे पै वगै खसमै सा पुरसाई। (गु. ग्रं. सा. पृ. 360)

17. कलि होई कुते मुही खाजु होआ मुरदारु।
कुडू बोलि-बोलि भडकणा चूका धरम बीचारु।।
जिन जीवंदिआ पति नहीं मुइआ मंदी सोइ।।
लिखिआ हौवै नानका करता करे सु होइ'' (गु. ग्रं. सा. पृ. 1248)

18. गऊ बिराहमण कउ करु लावहु गोबरि तरणिन जाई।
धोती टिका तै जपमाली धानु मलेछां खाई।।
अंतरि पूजा पड़हि कतेबा संजमु तुरका भाई।।
छोड़ी ले पाखंडा।। नाम लहिए जाहि तरेदा।। (गु. ग्रं. सा. पृ. 471)

19. मानस खाणे करहि निवाज। छुरी वगाइनि तिन गलि ताग।।
तिन धरि ब्राह्मण पूरहि नाद। उना भि आवहि ओई साद।।
कूडी रासि कूड़ा वापारु। कुडू बोलि करहि आहारु।।
सरम धरम का डेरा दूरी नानक कुडू रहिआ भरपूरिं। (गु. ग्रं. सा. पृ. 471)

20. सचु ता परु जाणीऐ जारिदै सचा होइ।।
कुड़ की मलु उतरै तनु करे हछा धोइ (गु. ग्रं. सा. पृ. 468)

21. सचु सभना होइ दारु पाप कढै धोइ।।
नानक बखाणै बैनती जिन सचु पलै होइ।। (गु. ग्रं. सा. पृ. 468)

22. आपि मुकतु अवरा व मुकतु करावै।।
हरि नामु जपै हरि ते सुखु पावै।। (गु. ग्रं. सा. पृ. 664)

300 वर्ष पूर्व 'खालसा' का सृजन करने वाले गुरु गोबिंद सिंह का मानवतावादी दृष्टिकोण

क्या संत होना और साथ ही सिपाही या योद्धा होना किसी विरोधाभास को व्यक्त करता है? भारत के प्राचीन इतिहास में दोनों प्रकार की परंपराएं मिलती हैं, परशुराम और द्रोणाचार्य आदि कुछ ऐसे चरित्र हैं, जिन्हें उस युग का 'संत सिपाही' कहा जा सकता है और ऐसे उदाहरणों की भी कमी नहीं, जब ब्रह्म तेजवाले संत क्षात्र तेजवाले योद्धा से मिलकर अन्याय का प्रतिकार करते थे। रामायण युगीन विश्वामित्र और राम से लेकर ऐतिहासिक काल के चाणक्य और चंद्रगुप्त तथा समर्थ गुरु रामदास और शिवाजी के उदाहरण इस तथ्य की पुष्टि करते हैं।

परंतु ईसा पूर्व की तीन-चार शती से लेकर आज तक संत, महात्मा या संन्यासी के रूप में जिस व्यक्ति की कल्पना निरंतर विकसित होती रही है, वह पूरी तरह अहिंसक, युद्ध-कार्य से विरत, शांत स्वभाव तो है ही, इसी के साथ योद्धा या सिपाही कर्म को हीन कार्य भी मानने वाला है। मध्ययुगीन भक्ति आंदोलन द्वारा पुष्ट वैष्णव आचार-विचार ने हिंसा, रक्तपात और युद्ध का पूरी तरह निषेध किया। इसलिए एक वैष्णव संत हो सकता है, सिपाही नहीं हो सकता।

पंजाब में गुरु नानक देव से जिस परंपरा का सूत्रपात होता है, वह अपने चरित्र में भक्ति आंदोलन की सहवर्ती होकर भी अपने स्वभाव और तेवर में वैष्णव नहीं है। गुरुवाणी में अनेक स्थानों पर अभ्यांतर युद्ध के लिए जिन उपमानों और रूपकों का प्रयोग किया गया है, ये प्रत्यक्ष रणभूमि के युद्ध का चित्र प्रस्तुत करते हैं। गुरु नानक की यह उक्ति–

'जे तउ प्रेम खेलण का चाउ
सिरु धरि तली गली मेरी आउ
इतु मारगि पैर धरीजै
सिर दीजै काणि न कीजे।'

का संपूर्ण बिंब विधान इस बात की पुष्टि करता है। गुरु ग्रंथ साहिब में संग्रहित संत कबीर की ये पंक्तियां भी मानसिकता के जुझारू तेवर को व्यक्त करती हैं–

'सूरा जो पहचानिए जो लड़े दीन के हेत
पुरजा-पुरजा कट मरे तबहुं न छाड़ै खेत,

सिख आंदोलन में जीवन में युद्धरत होने, संघर्ष करने, न्याय की रक्षा के लिए प्राण देने की भावना को प्रारंभ से ही प्रतिष्ठा और सम्मान प्राप्त हुआ। गुरु नानक देव ने कहा है कि अपने हक के लिए मरने वाले शूरवीर का मरण ईश्वर के दरबार में पूरी तरह स्वीकृत होता है–

'मरणु मुणसा सूरिया हक है
जो होइ मराने परवाणों
सूरे सेई आगे आखीअहि
दरगह पावहि माणो।

(रागु वड़हंसु–अलाहणीआ)

गुरु अर्जुन देव अपनी रचना में कहते हैं–जो शूर है वही मुक्ति पाता है। जो इस संसार में युद्ध से भागता है, वह आवागमन के चक्कर में पड़ा रहता है।

जो सूरा तिस ही होइ मरणा
जो भागे तिसु जोनी फिरणा।

(रागु मारु)

इसमें संदेह नहीं कि गुरुवाणी में आई ये पंक्तियां अधिकांशतः मनुष्य के अंतजगित के युद्ध से संबंध रखती हैं, जिसमें साधक क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार जैसी प्रवृत्ति से युद्ध करता है। गुरु अमरदास ने कहा है–

नानक सो सूरा वरिआम
जिन विचहु दुस्ट अहंकरण मारिआ।

(सिरी रागु)

परंतु बाह्य जगत में शूरवीरता और सैनिक कर्म की आवश्यकता उस समय अनुभव

होती है, जब मानवीय प्रतिष्ठा संकट में पड़ जाती है। कुछ आक्रामक और शोषक शक्तियां अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए व्यापक मानव समाज का शोषण करती हैं, उसे अपमानित करती हैं और उनका जीवन, नरकवत् बना देती हैं, गुरु नानक ने अपने समय के समाज को जो आक्रांताओं और शोषकों के हाथों अपमानित होकर अपना जीवन व्यतीत कर रहा था, झकझोरकर कहा था—अपना सम्मान खोकर जीना और जीवित रहने के लिए कुछ भी खाना-पीना सब हराम—

जे जीवै पति लथी जाइ,
सभु हरामु जेता किछु खाइ।

(रागु मारु)

युद्ध, हत्या, रक्तपात नकारात्मक मूल्य हैं। मानवीय यात्रा का हर पड़ाव प्रयत्न करता है कि मनुष्य को इन नकारात्मक मूल्यों से निकालकर उसे शांति, प्रेम, सद्भाव जैसे सकारात्मक मूल्यों की ओर प्रेरित किया जा सके। किंतु जिस ढंग की संसार-रचना है, जिस प्रकार की व्यवस्था में मनुष्य जीता जा रहा है, जिस प्रकार के मनोविचार और प्रवृत्तियां मनुष्य पर हावी होकर उसे अनेक प्रकार के गर्हित कार्य करने के लिए उद्दीप्त करती हैं, उसमें मानव समाज का अधिसंख्य वर्ग पीड़ित होता है और संपूर्ण मानवीयता संकट में पड़ जाती है। इस मानवीयता की रक्षा के लिए सिख परंपरा में अभ्यांतर जगत की युद्ध भावना को बाह्य जगत तक ले जाना आवश्यक और अनिवार्य समझा गया; गुरु हरगोबिंद का दो तलवारें धारण करना इस विस्तार की खुली घोषणा थी—एक तलवार आंतरिक युद्ध (पीरी) का प्रतिनिधित्व करती थी और दूसरा बाह्य जगत (मीरी) के संघर्षों का। दोनों एक-दूसरे की विरोधी नहीं, पूरक बनीं।

इसी मानवीयता की रक्षा में गुरु गोबिंद सिंह का 'संत सिपाही' रूप चरितार्थ होता है।

मानवीयता की पहली शर्त मनुष्य की गरिमा की रक्षा करना है। मनुष्य को छोटा बनाकर कोई धर्म, कोई दर्शन, कोई विचारधारा बड़ी नहीं बन सकती। मनुष्य उसका सर्वपक्षीय विकास और उस विकास के लिए सामाजिक जीवन में अनुकूल वातावरण का निर्माण, ये उस गरिमा को स्थिर रखने, पुष्ट करने और उसकी अभिवृद्धि करने के सहायक तत्व हैं।

अज्ञान, अंधविश्वास और शोषण के विरुद्ध मानवीय चेतना, वैचारिक जागरूकता और सामाजिक समता की बातें हमारे परिवेश में बहुत आधुनिक-सी लगती हैं, परंतु तीन सौ वर्ष गुरु गोबिंद सिंह ने इन बातों की जिस तरह प्रतिष्ठा की और बहुत मुखर और आग्रहशील होकर इन मूल्यों पर जितना बल दिया, वह आश्चर्य में डालने वाली बात है। सन् 1699 की बैसाखी के दिन उन्होंने देश के विभिन्न भागों से आए हुए अपने शिष्यों को आनंदपुर में एक नया रूप दिया—'खालसा' गुरु नानक द्वारा संस्थापित

सिख-परंपरा उस समय तक लगभग दो सौ वर्ष पुरानी हो चुकी थी। इस परंपरा ने अपने व्यापक प्रभाव क्षेत्र में धार्मिक और सामाजिक समतामूलक नए मूल्यों के विकास के साथ ही राजनीतिक और आर्थिक चेतना भी उत्पन्न की थी। इस प्रयास में उन्हें धर्म, धार्मिक ठेकेदारों, सामाजिक अगुआवों और राजनीतिक सत्ताधारियों का निरंतर विरोध सहना पड़ा था। यह विरोध अपनी चरम स्थिति पर तब पहुंचा, जब पांचवें गुरु, गुरु अर्जुन को सन् 1606 में जहांगीर की आज्ञा से और नौवें गुरु, गुरु तेग़बहादुर को सन् 1675 में औरंगजेब की आज्ञा से शहीद किया गया।

गुरु गोबिंद सिंह जी ने तब अनुभव किया कि उनके अनुयायियों को मात्र 'सिख' ही नहीं रहना है, 'सिंह' भी बनना है। इन सिखों को 'गुरु का खालसा' (गुरु के अपने विशेष) बनना है। इन्हें अत्याचार और अन्याय का प्रतिरोध ही नहीं करना है, अपितु मानवीय मूल्यों की रक्षा भी करनी है। और इन मूल्यों में सर्वप्रथम और सर्वप्रमुख मूल्य है मानवीय समता का मूल्य, जिसके अभाव में मानवीय गरिमा सुरक्षित नहीं रह सकती।

गुरु गोबिंद सिंह ने सन् 1699 की बैसाखी के दिन अपनी अद्‌भुत परीक्षा पद्धति से पांच शिष्यों का चयन किया। ये थे दयाराम, धर्म दास, मोहकम चंद, हिम्मत राय और साहब चंद। ये सभी अलग-अलग स्थानों और अलग-अलग जातियों के लोग थे। दयाराम लाहौर का खत्री था, धर्म दास दिल्ली के पास का जाट था, मोहकम चंद द्वारका (गुजरात) का धोबी था, हिम्मत राय जगन्नाथ पुरी (ओड़िशा) का कहार था और साहब चंद बीदर (कर्नाटक) का नाई था। गुरु गोबिंद सिंह ने इन्हें लोहे के कढ़ाव में, लौह अस्त्रों से स्पंदित 'अमृत' पिलाया, जिसमें गुरु-पत्नी ने थोड़े से बताशे डाल दिए थे कि ये सभी लौह पुरुष तो हों ही, साथ ही मिष्टभाषी भी हों। इस 'अमृत' को पीने के बाद ये सभी प्रादेशिक विभिन्नताओं और जातिगत असमताओं से ऊपर उठकर नई मानवता की समतल भूमि पर आकर दया सिंह, धर्म सिंह, मोहकम सिंह, हिम्मत सिंह और साहब सिंह में रूपांतरित होकर 'पंज प्यारे' बन गए थे।

पर अभी एक गड़बड़ थी। स्वयं गुरु गोबिंद सिंह अभी तक 'गोबिंद राय' थे। नई व्यवस्था में उन्हें अपने आपको भी दीक्षित करना था, परंतु उन्हें कौन दीक्षित करे? यहीं उन्होंने अपने समता-सिद्धांत को नई व्यावहारिक परिणति दी। 'पंज प्यारे' उन्हें दीक्षित करेंगे, गुरु अपने ही शिष्यों के सम्मुख अंजुलि बनाकर झुक गया। 'पंज प्यारों' ने उन्हें उसी तरह 'अमृत' पिलाया जैसे उन्होंने स्वयं गुरु के हाथों पिया था। वे भी गोबिंद राय से गोबिंद सिंह बन गए—स्वयं ही गुरु और स्वयं ही चेले।

गुरु गोबिंद सिंह ने देखा था, एक प्रभावशाली धार्मिक नेता कुछ ही समय में अपने अनुयायियों द्वारा 'भगवान' बना दिया जाता है। वह स्वयं इस स्थिति को सहर्ष स्वीकार कर लेता है और अपने तथा अपने अनुयायियों के बीच आकाश और धरती का भेद पैदा कर देता है। आकाश का काम है ऊपर से वर्षा करना, धरती का कर्तव्य है नीचे से ग्रहण करना। एक दाता, दूसरा याचक। गुरु गोबिंद सिंह ने कहा—यह स्थिति

ईश्वर और जीव के बीच तो हो सकती, मनुष्य-मनुष्य के बीच नहीं। मनुष्य की चरम उपलब्धि उसके मनुष्य बनने में है, भगवान बनने में नहीं। गुरु गोबिंद सिंह आज होते, तो देखते कि मनुष्य को भगवान बनाने का चकमा देकर कितने लोग स्वयं भगवान बन गए हैं और मनुष्य को निरंतर छोटा बनाते जा रहे हैं।

परंतु ऐसा लगता है कि श्रद्धातिरेक में आकर कुछ लोगों ने गुरु गोबिंद सिंह को भगवान कहना शुरू कर दिया होगा। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा—'मैं भगवान नहीं हूं। जो मुझे भगवान कहेगा, वह नरक का भागी होगा। मैं तो तुम्हारी ही तरह परमेश्वर का एक सेवक हूं और उसी के निर्देशानुसार कुछ काम करने आया हूं'—

जो हमको परमेसर उचरि हैं,
ते सब नरक कुंड महि परिहैं।
मो को दास तवन का जानो,
या मैं भेद न रंच पछानो।
मैं हों परम पुरुष को दासा,
देखन आयो जगत तमासा।
जो प्रभु जगति कहा सौ कहिहौं,
मृत्यु लोक ते मौन न रहिहौं,

परमेश्वरत्व के पद के महालोभ से अपने आपको विरत कर मात्र मनुष्य होने की ऐसी साहसिक घोषणा निश्चित ही अद्वितीय है।

जो मानवता का मसीहा हो, वह मनुष्य और मनुष्य में भेदभाव को किसी भी स्तर पर भला क्यों स्वीकार करेगा? उनके 'पंज प्यारों' में चार ऐसे थे, जिन्हें इस देश की रूढ़ समाज व्यवस्था 'शूद्र' कह कर 'नीची श्रेणी' का व्यक्ति घोषित कर रही थी। गुरु गोबिंद सिंह की खुली हुई बांहों में सभी सिमट रहे थे। उनमें ऊंची कही जाने वाली जातियों के लोग भी थे, परंतु उनकी ओर वे लोग अधिक गति और संख्या में आ रहे थे, जिन्हें सदियों से 'नीच' कहा जा सकता था। 'ऊंची' जाति के लोगों को आप हमारे बराबर का स्थान दे रहे हैं। ब्राह्मणों ने कहा—विद्या के दाता तो हम हैं। क्षत्रियों ने कहा—आप युद्धों में हमारे सहयोग से विजय प्राप्त करेंगे—वैश्यों ने कहा—आपका घर तो हमारे द्वारा दिए हुए धन से ही भरेगा। ये नीची जातियों के लोग भला आपको क्या देंगे?

गुरु गोबिंद सिंह उस समय तक अनेक युद्धों में विजयी हो चुके थे, बहुत-सी शिक्षा प्राप्त कर चुके थे और धन-धान्य की उन्हें कमी नहीं थी। उन्होंने बड़ी विनम्रता से कहा—जिन्हें आप नीच कह रहे हैं, मैंने सभी युद्ध इन्हीं की कृपा से जीते हैं। मेरे सभी संकट इन्हीं की कृपा से टलते हैं, इन्हीं की कृपा से मेरा लूटा हुआ घर फिर से

भर जाता है, मेरी विद्या इन्हीं की कृपा का प्रसाद है, मेरे शत्रु इन्हीं की कृपा से पराभूत होते हैं। मैं जो कुछ भी हूं, इन्हीं की कृपा से हूं, नहीं तो मेरे जैसे करोड़ों इस संसार में हैं। कौन पूछता है उन्हें—

जुद्ध जिते इनही के प्रसादि
इनही के प्रसादि तु दान करे
अघ औघ टरैं इनहीं के प्रसादि
इनही की कृपा पुन धाम भरे
इनही के प्रसादि सु बिद्धिआ लई
इनही की कृपा सभ शत्रु भरे
इनही की कृपा से सजे हम हैं
नहीं मो सौं गरीब करोर परे।

यह कौन-सा जनतांत्रिक बोध था, जो उनसे इस प्रकार मानवीय गरिमा को समुन्नत करा रहा था? यश और सम्मान व्यक्ति को सुविधाजीवी बनाते हैं और सुविधाजीवी अपनी सुविधाओं को सुरक्षित रखने के लिए हर गलत-सही समझौते करता है। गुरु गोबिंद सिंह ने अपने मूल्यों की रक्षा के लिए अपना सब कुछ होम कर दिया। माता-पिता, चारों पुत्रों, अनेक निकट संबंधियों तथा अंत में अपने प्राणों का भी उत्सर्ग कर दिया। घर-बार छूट गया, संगी-साथी छूट गए, राजाओं को भी प्रलोभित करने वाला वैभव भी नष्ट हो गया। एक स्थिति तो ऐसी आई जब माछीवाड़े के जंगल में नंगे पैर चलना पड़ा और आक के पत्ते खाकर उदराग्नि शांत करनी पड़ी परंतु एक ही बात सदैव सामने रही—मैं अपने इन पददलित, पीड़ित, उपेक्षित और पराजित बंधुओं के लिए ही हूं। मेरा घर तन, मन, धन सब कुछ इन्हीं का हैं। उन्हीं के शब्दों में—

सेव करी इनही की भावत
और की सेव सुहात न जी को
दान दियो इनही को भलो
अरु आन को दान न लागत नीको
आगे फलै इनही को दियो।
जग में जसु और दियो सब फीकों
मो गृह, मो तन, ते मन, ते सिर
लौं धन है, सब ही इनही कौ।

गुरु गोबिंद सिंह ने बहुत से युद्ध किए थे—पहाड़ी राजपूत राजाओं से भी और मुगल सेनाओं से भी। आदर्शों की रक्षा और मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए व्यक्ति को अपनों-परायों से अनेक स्तरों पर संघर्षरत होना पड़ता है। उन्हें भी होना पड़ा परंतु

सारे संघर्ष और झंझावातों के मध्य एक क्षण के लिए भी उन्होंने अपनी मूल्य-दृष्टि को दिग्भ्रमित नहीं होने दिया। व्यवहार के स्तर पर पीर बुदूशाह जैसे मुसलमान फकीर अपने पुत्रों और अनुयायियों सहित उनके साथ कंधे-से-कंधे मिलाकर शत्रुओं से लड़ा। सिद्धांत के स्तर पर वे लगातार इस बात का आग्रह करते रहे कि दृश्यमान जगत के विभिन्न विभेदों के मध्य एक अभेद्य शक्ति का निवास है। सब कुछ उसी से उत्पन्न होकर, अंत में उसी में समाहित हो जाता है–

जैसे एक आग ते कनूका कोट आग उठे
निआरे निआरे हुई के फेरि आग में मिलांहिगे
जैसे एक धूर ते अनेक धूर परत हैं
धूर के कनूगा फेर धूर ही समांहिगे
जैसे एक नद ते तरंग कोट उपजत है
पानि के तरंग सबै पानि ही कहाहिंगे
तैसे बिस्व रूप से अभूत भूत प्रकट होइ
ता ही ते उपज सबै ता ही मैं समाहिंगे।

(अकाल स्तुति)

यदि यह मानवीय सृष्टि उस एक विश्व रूप से भी उत्पन्न हुई है, तो फिर भेद कैसा? संसार में मानवीय भेदभाव को कभी धर्म, कभी देश, कभी संपन्नता-विपन्नता आदि अनेक आधारों पर पाला-पोसा जाता रहा है परंतु ये सभी आधार गलत हैं। सच्चाई तो यह है कि मनुष्य तो एक ही है, विभिन्न प्रभावों के कारण कुछ लोग मंदिर में जाते हैं, कुछ मसजिदों में, कुछ लोग एक प्रकार का जीवन जीते हैं, कुछ दूसरे प्रकार का–

देहरा मसीत सोई पूजा औ निवाज ओई
मानस सभे एक पै अनेक को भ्रमाउ है
देवता अदेव जच्छ गंधर्व तुरक हिंदू
निआरे निआरे देसन के भेस को प्रभाउ है
एकै नैन एकै कान, एकै देख एकै बान
खाक बाद आतश औ आब को रलाउ है
अल्लह अभेषु सोई, पुरान और कुरान ओई
एक ही सरूप सबै एक ही बनाउ है।

(अकाल स्तुति)

दिखनेवाला संपूर्ण मानवीय अंतर जलवायु, परिवेश और वातावरण की उपज है, उसमें मूलभूत अंतर कुछ भी नहीं है। यह बड़ी आधुनिक-सी लगने वाली दृष्टि लगती

है, परंतु इस बात को गुरु गोबिंद सिंह ने तीन शताब्दी पूर्व कहा ही नहीं था, उसे अपने जीवन कार्यों में घटित करके दिखाया भी था। मुंडा संन्यासी होने या योगी बनने से, ब्रह्मचारी या यति बनने से, हिंदू या तुर्क होने से मानवीय स्वरूप तो नहीं बदल जाता। उन्होंने कहा—मैं इन सभी में एक मनुष्य को ही पहचानता हूं। उनके अंदर एक ही ज्योति का निवास है, इसलिए भूल कर भी मैं किसी अन्य भेद को स्वीकार नहीं करता—

कोऊ भयो मुंडिया संन्यासी, कोऊ जोगी भयो
कोऊ ब्रह्मचारी कोऊ जाति अनुमानबो
हिंदू तुरक कोऊ रफजी इमाम शाफी
मानस की जात सबै एकै पहचानबो
करता करीम सोई राजक रहीम ओई
दूसरो न भेद कोई मूल भ्रम मानबो
एक ही की सेव, सभ ही कौ गुरुदेव एक
एक ही सरूप सबै एकै जोत जानबो।

(अकाल स्तुति)

वैसे मानवीय समता की बात करना, मानवीय मूल्यों की व्यवस्था करना और उन्हें प्रचारित करना कोई अनोखी बात नहीं है। मानवीय इतिहास की सुदीर्घ धरती पर ऐसे सिद्धांतों का पोषण करने वाले चरणचिह्नों का अभाव नहीं, परंतु गुरु गोबिंद सिंह के संदर्भ में यह स्थिति अधिक, आकर्षक और अनोखी है। वे एक संप्रदाय के धर्म-गुरु थे, संत थे, इसके साथ ही तत्कालीन अन्यायी शासन के विरुद्ध उभरते हुए जनांदोलन के नेता थे, युद्ध भूमि की नीति सामान्य जीवन की नीति से कुछ भिन्न होती है, इसी तरह युद्धरस के नीति शास्त्र सामान्य व्यक्ति के नीति शास्त्र से कुछ भिन्न दिखाई देता है। सामान्य जीवन में किसी व्यक्ति की हत्या अनैतिक भी है और भयंकर अपराध भी, परंतु युद्ध भूमि में शत्रुपक्ष के सैनिकों की हत्या वीरता और प्रशंसा अर्जित करती है।

गुरु गोबिंद सिंह सैनिक ही नहीं थे, सेनापति भी थे। ऐसी स्थिति में शत्रुओं को पराभूत करने, स्वपक्ष का नैतिक बल ऊपर उठाने के लिए, शत्रुपक्ष को हीन दिखाने की प्रवृत्ति स्वाभाविक है। यहीं पर जागृत विवेक की आवश्यकता अनुभव होती है, जो यह बता सके कि युद्ध भूमि में शत्रु दिखने वाला व्यक्ति भी संदर्भ बदलते ही मनुष्य मात्र दिखाई देता है और हमारे स्नेह का अधिकार बन जाता है। एक सैनिक के रूप में गुरु गोबिंद सिंह ने ईश्वर से अपने पक्ष की विजय और शत्रु पक्ष के पराजय की कामना की है—

हमारी करो हाथ दे रच्छा
पूरन होइ चित्त की इच्छा।

हमरे दुस्ट सभै तुम घावहु
आप हाथ दे मोहि बचावहु।

हूजो सदा हमरे पच्छा
श्री असिधुज जू करियहु रच्छा।

परंतु स्वपक्ष की विजय और शत्रुपक्ष की पराजय की कामना उनके अंदर के सैनिक की कामना है। ऐसी स्थिति में भी उनका शत्रु पक्ष किसी विशेष जाति, धर्म का वर्ग में सीमित नहीं है। शत्रु पक्ष उनके लिए उन अन्यायियों का वर्ग है, जो अपने स्वार्थों, संकीर्णताओं और शोषण के लिए सामान्य जन को पीड़ित कर रहा था। ऐसे पीड़ित और पराधीन जन की सम्मान रक्षा के लिए गुरु गोबिंद सिंह को तलवार उठानी पड़ी थी, औरंगजेब को लिखे फारसी पत्र 'जफरनामा' में उन्होंने लिखा था कि औरंगजेब नाम तुम्हें शोभा नहीं देता, क्योंकि राज सिंहासन को शोभायमान करने वालों के लिए दगा-फरेब उचित नहीं है। तुम्हारे हाथ की माला एक धोखा है, क्योंकि तुम माला के मनकों के दाना और धागे को जाल बनाकर 'निरपराध' व्यक्तियों को फंसा लेते हों। तुमने पिता की मिट्टी दुष्कृत्यों द्वारा अपने भाई के लहू से गूंधी है और उससे अपने नश्वर राज्य के महल की नींव रखी है।

इसी प्रसंग में उन्होंने लिखा था—

चूंकार अज हमह हीलते दर गुजश्त
हलाल अस्त बुरदंग बशमशीर दस्त।

जब शांति के सभी उपाय असफल हो जाएं, तो तलवार का सहारा लेना सभी दृष्टियों से उचित है।

गुरु गोबिंद सिंह ने तलवार उठाई और उसके कारणों का विश्लेषण भी किया—

हम इह काज जगत मो आए
धरम हेत गुरुदेव पठाए
जहां तहां तुम बिधारो
दुस्ट दोखियन पकरि पछारो
याही काज धरा हम जनमे
समझ लेहु साधु सब मनमे
धरम चलावन संत उबारन
दुस्ट सभन की मूल उपारन।

धर्म की रक्षा, संतों का उद्धार और दुष्टों का विनाश उनके संपूर्ण जीवन का

समन्वित आधार बन गया था।

अन्याय का प्रतिरोध करने के लिए लोगों में जिस शक्ति, संचार की आवश्यकता थी, उसके लिए गुरु गोबिंद सिंह ने अपने पूर्ववर्ती गुरुओं की भक्ति पद्धति में वीर रूपकों को प्रमुखता दी। संपूर्ण भक्ति काव्य में परमात्मा के सृष्टि-निर्माता और पालनकर्ता के रूप की प्रधानता है परंतु उसका एक रूप और भी है—विनाश करने या संहार करने वाला रूप। गुरु नानक ने परमेश्वर के इस रूप की ओर संकेत किया था—

असुर संधारण रामु हमारा।

(रागु मारु)

गुरु गोविंद सिंह ने अपने साहित्य में परमेश्वर के निर्माण एवं पोषण गुणों के साथ ही उसके विनाशकारी रूप का बड़े मनोयोग से चित्रण किया है। अनेक स्थानों पर वे कहते हैं कि जिस 'काल-पुरुष' ने बड़े-बड़े देवताओं, दैत्यों, सम्राटों को क्षण भर में समाप्त कर दिया, उसके सम्मुख कोई टिक सके, ऐसी किसमें शक्ति है।

गुरु गोविंद सिंह का संपूर्ण व्यक्तित्व और उनका साहित्य उनके संत होने, उनके सिपाही होने और उनके संत-सिपाही होने का साक्ष्य भरता है। ब्रह्म तेज और क्षात्र तेज का संयोग प्रदर्शित करने वाले कुछ उदाहरण भारतीय इतिहास में मिल जाएंगे, परंतु गुरु गोविंद सिंह जैसा व्यक्ति जिसमें ब्रह्म तेज, क्षात्र तेज के साथ ही अद्भुत कवित्व शक्ति का भी संयोग है, विश्व साहित्य में सचमुच और अद्वितीय है।

(प्रभात खबर, 14-4-99)

गुरु तेगबहादुर :
साधक, कवि और हुतात्मा

सिख गुरुओं की परम्परा में नौवें गुरु गुरु तेगबहादुर का महत्व अनेक दृष्टियों से विशिष्ट है। वे एक समर्पित भक्त थे, योद्धा थे, कवि थे, दार्शनिक थे और उसके साथ ही एक महान हुतात्मा थे। धार्मिक स्वतंत्रता, मानवीय गरिमा तथा व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा के लिए, अन्याय और अत्याचार का विरोध करते हुए उन्होंने लगभग तीन सौ वर्ष पहले भारत की राजधानी दिल्ली में अपना बलिदान दिया था। उनके पुत्र, गुरु गोबिन्द सिंह ने सम्पूर्ण सिख आन्दोलन को एक नया रूप दिया था। जो इतिहास में 'खालसा' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

गुरु तेगबहादुर के जीवन-दर्शन को उनकी वाणी के माध्यम से भली प्रकार समझा जा सकता है। गुरु ग्रंथ साहब में गुरु तेगबहादुर के 59 पद और 57 श्लोक संग्रहीत हैं।

गुरु तेगबहादुर की वाणी का रचना-पक्ष दो स्थितियों को समानान्तर ढंग से हमारे सामने रखना है। एक स्थिति है संसार और सांसारिकता की, जिस में धन-सम्पत्ति है, पत्नी और पुत्र हैं, मोह, काम क्रोध और अंहकार आदि मानसिक प्रवृतियां हैं। इस पक्ष का एक सामूहिक नाम है ''माया''। दूसरी स्थिति परमात्मा की है, जिस में सांसारिकता से हटने, उससे उबरने, उससे मुक्त होने और परम सत्ता से जुड़ने का बारम्बार आग्रह है। इस पक्ष को ''नाम'' कहा गया है।

मानवीय संकट क्या है? संसार के सभी सम्बन्ध, सभी सुख, सभी आनन्दमयी वस्तुएं मनुष्य के लिए हैं। मनुष्य साध्य हैं, ये सभी चीजें साधन हैं। ये चीजे मनुष्य को व्यापक बनाती हैं, उसे पूर्णता प्रदान करती हैं और उसके जीवन को सार्थक बनाती

हैं, परन्तु होता क्या है। मनुष्य सम्बन्धों, सुखों और सुविधाओं का इतना दास बन जाता है कि ये सभी चीजें उसके लिए न होकर, वह इन चीजों के लिए हो जाता है। परिणाम यह होता है कि व्यापकता के स्थान पर उसके हाथ, लघुता आती है, पूर्णता के स्थान पर वह कटे-छटे अधूरेपन का शिकार हो जाता है और सार्थकता से बहुत दूर होकर जीवन की निरर्थकता के बोझ को ढोने लगता है। उसके सामने कोई बड़ा आदर्श नहीं रहता। सुख की खोज में कुत्ता बना हुआ वह द्वार-द्वार डोलता फिरता है और यदि कुछ पा जाए तो कंचन, कामिनी, छोटे-मोटे मान-अवमान, सुख-दुख, हर्ष-शोक, स्तुति-निंदा में घिर कर ही रह जाता है। गुरु तेगबहादुर मनुष्य को अपनी वाणी द्वारा इन दोनों स्थितियों का साक्षात्कार कराते हैं और फिर माया से उबकर ''नाम'' के साथ जुड़ने की प्रेरणा देते हैं। उनके समय का समाज अपने बृहतर जीवन आदर्श को भूलकर कंचन और कामिनी की आराधना में डूबा हुआ था। व्यक्ति की ऐसी मानसिकता को विजित करते हुए उन्होंने कहा—

कहउ कहा अपनी अधमाई।
उरझिओं कनक कामनी के रस नह कीरति प्रभु गाई।
जग झूठे कउ साधु जानि कै ता सिउ रुचि उपजाई।।
दीन-बंधु सिमरियों नहीं कवहू होतु जु संगि सहाई।।
मगन रहिओं माया में निस दिन छुटी न मन की काई।।
कह नानक अब नाहि अनत गति बिनु हर की सरनाई।।

गुरु तेगबहादुर व्यक्ति को उसके मोह की छोटी सी सीमाओं से निकाल कर ईश्वर नाम के धरातल पर जाना चाहते थे, जहां से वह अपने आपको अपने समाज को, अपने परिवेश को देख सके। व्यक्ति को वे जिस ईश्वर से जोड़ना चाहते थे, वह इससे कहीं दूर का ईश्वर नहीं था। वह तो उसी के अंदर बसा हुआ सत्य था जिसे वह अपनी संकुचित मोह-दृष्टि से भुला बैठा था। इसलिए ऐसे ईश्वर की तलाश में जंगलों में भटकने की जरूरत नहीं। अपने एक पद में वे कहते हैंः—

काहे रे बन खोजन जाई।
सरब निवासी सदा अलेपा तोही संग समाई।
पुहुप मधि जिउ बासु बसतु है मुकर माहि जैसे छाई।।
तैसे ही हरि बसे निरंतरि घट ही खोजहु भाई।।

व्यक्ति अपने को पहचान कर जिस ईश्वर के साथ जुड़ता है वह कैसा है? उनके शब्दों में—

पतित उधारन भै हरन हरि अनाथ के नाथ।
कहु नानक तिह जानीए सदा बसतु तुम साथ।।

उस समय का समाज कैसा था? लोग कहीं शासन द्वारा पतित किये जा रहे थे तो कहीं उस समाज के द्वारा भी जो किसी की छाया पड़ जाने मात्र से ही व्यक्ति को भ्रष्ट मान लेता था। दूसरी बात उस समाज में रहने वाला व्यक्ति भयग्रस्त था–डरा हुआ, सहमा हुआ और इसलिए अपने आपको अनाथ महसूस कर रहा था। तेगबहादुर ने कहा-ईश्वर का साथ हमें भय-मुक्त करता है। गुरु नानक ने अपनी सुप्रसिद्ध रचना "जपुजी" में भी ईश्वर के अनेक गुणों में एक गुण उसका निर्भय होना भी बताया है। गुरु तेगबहादुर ने कहा-हरि का नाम भय का नाश करता हैं, दुर्मति को नष्ट करता है–

मै नासन दुरमति कलि मै हरि को नाम
निस दिन को नानक भजे सफल होहि तिह काम

जब व्यक्ति के सम्मुख कोई बड़ा आदर्श नहीं होता तो उसका सारा ध्यान किसी भी तरह अधिक से अधिक धन एकत्र करने और उसे अपनी पत्नी-बच्चों पर लुटाने में लग जाता है। ऐसा व्यक्ति–

मद माया कै भयो बावरो हरि जसु नहि उचरै।
करि परपुंचु जगत कउ इहकै अपनी उदरु भरै।

गुरु तेगबहादुर ने अपनी वाणी में जिस मायाग्रस्त मन या व्यक्ति का चित्र खींचा है, वह तत्कालीन का ही एक चित्र था। ऐसा समाज जिसके घटक वैयक्तिक सुख साधना में लीन हो गये थे और सभी तरह के उच्चस्तरीय दायित्वों को भुला बैठे थे। लोग वेद-पुराण तो सुनते थे, उत्तम मार्ग क्या है यह भी जानते थे, परन्तु जीवन में उसका पालन नहीं करते थे और इस तरह दुर्लभ जन्म को व्यर्थ ही गंवा रहे थे–

वेद पुरान साध मग सुनि करि निभष न हरि गुन गावै।।
दुरलभ देह पाइ मानस की बिरथा जनमु सिरावै।।

गुरु तेगबहादुर की वाणी में संसार की नश्वरता का स्वर बहुत प्रमुख है। इस नश्वरता के अनेक पहलू हैं। उनके सामने प्रश्न यह नहीं था कि यह संसार नश्वर है इसलिए व्यक्ति को अपना समाधान खोजने के लिए इसे छोड़ देना चाहिए या संसार से निरपेक्ष हो जाना चाहिए। उनके सामने जो समाज था वह सांसारिक सुखों की भागदौड़ में इस तरह डूबा हुआ था कि उसे यह बताना बहुत आवश्यक था कि जीवन में विशाल आदर्शों में सब कुछ व्यर्थ है। एक और शासन वर्ग के वे लोग थे जो अपनी सत्ता के नशे में किसी को कुछ समझते ही नहीं थे। ऐसे लोगों के लिए उन्होंने कहा–इस संसार में राम और रावण जैसे शक्तिमान पुरुष नहीं रहे जिनका इतना बड़ा परिवार था। यह संसार या इस संसार की उपलब्धियां स्वप्न की तरह अस्थिर हैं। तुम्हें अभिमान किस बात का है? पृथ्वी का राज्य तो बालू की दीवार की तरह है

1. राम गयो रावन गयो जाकउ बहु परिवार।
   कहु नानक थिरु कछु नहीं सपने जिउ संसार।।
2. काहे पर करत मानु।
   बारु की भीति जैसे बसुधा को राजु है।

सिख गुरुओं ने कभी भी संसार को त्यागकर वनवासी बनने का उपदेश नहीं दिया। वे संसार में रहकर, सांसारिक दायित्वों और कर्तव्यों का पालन करते हुए जीवन यापन करने का आग्रह करते हैं जब वे कहते हैं कि संसार झूठा है तो उनका संकेत उस सांसारिकता या माया की ओर होता है जिसमें लिप्त होकर व्यक्ति अपने व्यापक दायित्वों को भूल जाता है। गुरु तेगबहादुर के पितामह, पांचवें गुरु, गुरु अर्जुन देव ने कहा था—तुम सदैव उद्यम करते हुए जियो, कमाते हुए सुख प्राप्त करो, ध्यान करते हुए प्रभु से मिलो, तुम्हारी सारी चिंता दूर हो जाएगी।

गुरु तेगबहादुर व्यक्ति को उस मानसिक स्तर पर लाना चाहते थे जहां से वह सभी प्रकार का बलिदान कर सके, अपने प्राणों को अत्याचारी के सिर पर कच्चे ठीकरे की तरह फोड़ सके, हंसते-हंसते मृत्यु का वरण कर सके, अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अपने सिर को हथेली पर रखकर चल सके। यह स्थिति उस समय आती है जब वह दुख में दुख नहीं मानता, उसमें सुख और स्नेह की कामना नहीं रहती, वह भय मुक्त हो जाता है, सोने को मिट्टी की तरह निर्मूल्य मान लेता है। वह निंदा और स्तुति लोभ, मोह और अभिमान से ऊपर उठ जाता है। न उसे हर्ष छूता है और न शोक, न उसे वैयक्तिक मान की चिंता रहती है, न अपमान की। आशा, मनसा त्याग कर वह सांसारिकता की सभी आशाओं से मुक्त हो जाता है। काम क्रोध उसे छूते भी नहीं। उसके हृदय में तो माया के स्थान पर ब्रह्म निवास करने लगता है—

जो नर दुख में दुख नहि मानै,
सुख सनेह अरु मै नहि जाकै, लोभ मोह अभिमाना।
हरष सोग से रहे निआरउ नाहि मान अपमाना।।
आसा मनसा सगल तिआगी जगते रहे निरासा।
काम क्रोध जिह परसै नाहिन तिह घट ब्रह्म निवासा।
गुरु किरपा जिह नर कउ कीनी, तिह इहि जुगति पछानी।
नानक लीन भयो गोबिंद सिउ, जिउ पानी संग पानी।।

इसीलिए ऐसा साधक मृत्यु की रत्ती भर चिंता नहीं करता, क्योंकि वह जानता है कि चिंता उस बात की करनी चाहिए जो अनहोनी हो। जो जीवन से चिपटे रहते हैं मृत्यु तो उन्हें भी नहीं छोड़ती—

चिंता ताकी कीजिए जो अनहोनी होइ।
इह मारगु संसार को नानक थिरु नहि कोह।।

गुरु तेगवहादुर बार-बार उस ईश्वरीय शक्ति, जो मनुष्य के अंदर ही है, पर भरोसा रखने, उसे अनुभव करने का आग्रह करते हैं। जीवन में निर्भय पद पाने के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति अपने मन में माया के स्थान पर नाम के स्थान दे, क्योंकि उसके समान कुछ भी नहीं है—

राम नाम उर मै गहयो जाके सम नहि कोह।
जिह सिमरत संकट मिटै दरसु तुहारे होह।

निर्भय पद को प्राप्त ऐसा साधक, साधना और बलिदान के मार्ग पर निशंक होकर चल पड़ता है। न वह किसी को भयभीत करता है और न ही किसी से भयभीत होना चाहता है—

भै काहू कउ देव नहि नहि भै मानस आनि।।
कहु नानक सुन रे मना, ज्ञानी ताहि बखानि।।

(दैनिक जागरण, 16-12-99)

जुलूस क्यों निकाले जाते हैं

इस समय अपने देश में त्योहारों का मौसम है। सामान्यतया यह मौसम अक्टूबर से लेकर अप्रैल तक रहता है। विजयादशमी, दिवाली, ईद, गुरुपर्व, क्रिसमस, होली आदि बड़े त्योहार इसी अवधि में आते हैं और बड़ी धूम-धाम से मनाए जाते हैं। इसी अवधि में अधिकांश जुलूस भी निकलते हैं जिनमें बड़ी संख्या में लोगों की भागीदारी होती है।

सामाजिक दृष्टि से उत्सवों, त्योहारों, मेलों का अपना महत्व है। इससे लोगों के जीवन की एक रसता टूटती है, उत्साह का संचार होता है, सामाजिक बोध बढ़ता है। अधिसंख्य त्योहारों की पृष्ठ भूमि धार्मिक होती है। इन त्योहारों के माध्यम से, उस पर्व की ऐतिहासिकता के परिचय के साथ ही उन मूल्यों का भी पुनः स्मरण होता है, जिनके लिए कोई भी धर्म प्रतिबद्ध होता है।

त्योहारों का मनाया जाना, उनके लिए विशेष आयोजनों का किया जाना, मेलों का लगना, एक-दूसरे को शुभकामनाएं देना, उपहारों का आदान-प्रदान करना, एक-दूसरे से गले मिलना आदि बातों का हमारे पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक बोध की दृष्टि से जो महत्व है उससे हम परिचित हैं। किन्तु ऐसे अवसरों पर बड़े-बड़े जुलूस निकालना, शोभायात्राएं अथवा नगर कीर्तनों का आयोजन करना आज के परिवेश में कितना सार्थक और महत्वपूर्ण है, इस पर पुनः विचार करना मुझे बहुत आवश्यक लगता है।

इसमें भी कोई संदेह नहीं कि हमारा देश धूम-धड़ाकों का देश है। इसलिए अपने देश का व्यक्ति जब किसी ऐसे देश में पहुंच जाता है जहां का जीवन बहुत हंगामों से भरा हुआ नहीं होता तो उसे वहां बहुत सूना-सूना लगता है। मेरे एक मित्र का नौजवान बेटा कुछ महीनों से जापान में है। अपने एक पत्र में उसने अपनी मां को एक बहुत मजेदार बात लिखी, ''मां, इस देश में बड़ी समृद्धि है, बहुत सफाई है, लोगों में कार्य

कुशलता भी बहुत है किन्तु चुप्पी बहुत है...इतनी चुप्पी कि मेरे जैसे भारतीयों का तो कभी-कभी दम घुटने लगता है। मिर्च मसालों के शौकीन, हमारे जैसे लोग, जापान का स्वादहीन भोजन तो शायद एक बार हजम कर जाएं पर उनसे यहां की चुप्पी बर्दाश्त नहीं होती।''

हमारे देश के धूम-धड़ाकों को यदि कोई चीज़ सबसे अधिक रंग और चमक देती है तो वह यहां के जुलूस हैं। जगन्नाथ पुरी में रथयात्रा की शोभा में लाखों लोग शामिल होते हैं। दुर्गा पूजा के अवसर पर कलकत्ता और गणेश चतुर्थी के अवसर पर मुंबई में दुर्गामाता और गणेश जी की मूर्तियों के विसर्जन के छोटे बड़े हज़ारों जुलूस निकाले जाते हैं। रामलीला, मोहर्रम और गुरुपर्वों के जुलूसों की अपनी परम्पराएं हैं। अब महर्षि वाल्मीकि, भगवान महावीर, संत कबीर, गुरु रविदास, झूलेलाल आदि की स्मृति में भी बड़े-बड़े जुलूस निकालने का चलन हो गया है।

ऐसे जुलूस देश के सभी भागों के छोटे-बड़े नगरों में निकाले जाते हैं। अकेले दिल्ली की ही बात लें। यहां रामलीला की शोभा यात्रा कई दिन तक निकलती है। गुरु-पर्व से सम्बन्धित तीन विशाल नगर कीर्तन नवम्बर, दिसम्बर और जनवरी महीनों में निकलते हैं। इनके अतिरिक्त मोहर्रम के ताजियों के जुलूस, भगवान महावीर, गुरु रविदास दुर्गा पूजा की स्मृतियों जैसी अनेक शोभायात्रों की शोभा से यह नगर पूरे वर्ष भर दमकता रहता है। अनियमित धार्मिक जुलूसों से भी, कभी पिछले वर्षों में रामशिलाओं, राम पादुकाओं और राम रथ यात्राओं के जुलूसों, की धूम से सारा देश गूंजता रहा।

मैं नहीं जानता कि इस प्रकार के जुलूसों और शोभायात्राओं की परम्परा कितनी प्राचीन है। किन्तु यह बात तो निश्चयपूर्वक कही जा सकती है कि इनका मूल उद्देश्य प्रदर्शन है। किसी धर्ममत के अनुयायियों की भक्ति, शक्ति, लोकप्रियता और उत्साह का प्रदर्शन इन जुलूसों के माध्यम से होता है।

मेरे मन में बार-बार उठता है कि वर्तमान संदर्भ में ऐसे जुलूसों की क्या प्रासंगिकता या उपयोगिता है? इनका सकारात्मक पक्ष क्या है और नकारात्मक पक्ष क्या है?

जुलूसों के नकारात्मक पक्ष से मेरा परिचय बचपन से ही है। मेरे जीवन के प्रारंभिक वर्ष कानपुर में व्यतीत हुए। हिन्दू-मुस्लिम दंगों के लिए यह नगर उन दिनों सबसे आगे माना जाता था। कानपुर के मूलगंज चौराहे पर एक बड़ी पुरानी मस्जिद है, वहां से जब भी रामलीला की शोभायात्रा गाजे-बाजे के साथ निकलती थी, साम्प्रदायिक दंगा भड़क उठता था। जुलूस में बजने वाले बाजों के कारण मस्जिद में नमाज़ पढ़ते हुए मुसलमानों की नमाज भंग होती थी। मस्जिद के सामने बैंड नहीं बजाया जाना चाहिए इसे लेकर विवाद उत्पन्न होता था। इसी समय किसी तरफ से गुम्मों की बौछार शुरू हो जाती थी। चारों ओर भगदड़ मच जाती थी। सारा शहर अफवाहों से भर उठता था और हिंदू-मुस्लिम दंगे शुरू हो जाते थे।

कानपुर में ही पहली बार मैंने सिखों और गैर सिखों के बीच लड़ाई होते देखी

थी। गुरु पर्व का जुलूस निकल रहा था। उसमें स्त्रियां और बच्चे भी थे। तमाशबीनों में से कुछ शरारती लोगों ने उस समय कुछ भद्दी छींटाकसी कर दी, जब महिलाएं, उनके सामने से निकल रही थीं। बस...जुलूस में शामिल दो-चार नौजावान भड़क उठे। देखते-देखते मारपीट शुरू हो गई। भगदड़ में स्त्रियों-बच्चों की दुर्गति प्रारम्भ हो गई। आसपास के क्षेत्रों में भी अफरा-तफरी फैल गई। असामाजिक तत्वों के लिए यह सुनहरा अवसर होता है। उन्होंने कई दुकानों को लूट लिया और उसे दंगे की रंगत देने के लिए उनमें आग लगा दी।

इस देश में होने वाले साम्प्रदायिक दंगों का यदि व्यापक विश्लेषण किया जाए तो पता लगेगा कि अधिसंख्य दंगे उस समय भड़कते हैं जब किसी धार्मिक समुदाय द्वारा जुलूस निकाला जा रहा होता है। जुलूस और दंगे का बड़ा सीधा संबंध है। जुलूस जब भीड़-भाड़ वाले संकरे रास्ते से गुजरता है तो उस पर पांच-सात पत्थर आ गिरते हैं। इसका सीधा निष्कर्ष यह निकाला जाता है कि पत्थरबाजी दूसरे धर्म/मजहब के लोगों ने की होगी। ऐसी पत्थरबाजी से जुलूस में भगदड़ मच जाती है। जुलूस के भड़के हुए लोग आस-पास की दुकानों को नुकसान पहुंचाना प्रारम्भ कर देते हैं और दूसरे धर्म के लोगों को अपराधी मानकर उन पर हमले करना शुरू कर देते हैं। यह भी होता है कि जुलूस में फंसे लोग दूसरे वर्ग की पत्थरबाजी, छुरेबाजी या गोलाबारी के शिकार हो जाते हैं। फिर सारे शहर में अफवाह बिजली की तरह फैलती है कि अमुक मौहल्ले में जुलूस पर हमला हुआ, जिसमें सैकड़ों लोग मारे गये। दंगे की अतिरंजित ख़बरें पाकर दोनों ही समुदायों के लोग भड़कते हैं और पूरा क्षेत्र उसकी लपेट में आ जाता है।

कुछ वर्ष पहले जम्मू में यही हुआ था। गुरु गोबिन्द सिंह के जन्म दिवस पर निकाला जा रहा जुलूस नगर की छोटी-संकरी सड़कों में फंस गया था। प्रेम और सद्भाव में जीने वाले दो समुदायों के लोग आपस में भिड़ गये थे और कितने ही लोग अपनी जान गंवा बैठे थे। पिछले वर्षों में रामजन्म भूमि से संबंधित जुलूसों में भड़के दंगों की चपेट में इस देश के विभिन्न भागों में कितने ही नगर आ गए थे जिनमें असंख्य जानें गईं अरबों की सम्पत्ति स्वाहा हुई और बेहिसाब लोगों के मन-शरीर पर ऐसे घाव लगे जो आज तक रिस रहे हैं।

जुलूसों का एक बड़ा संकट यह है कि वह उस नगर का सामान्य जीवन बुरी तरह अस्त-व्यस्त कर देते हैं। रास्ते रुक जाते हैं। काम-धंधों पर निकले हुए लोगों की भीड़ अपने घरों को लौटने के लिए घंटों इधर-उधर भटकती और परेशान होती है। ट्रैफिक बुरी तरह जाम हो जाता है। बसों के रास्ते बदल जाते हैं अथवा भीड़ में वे चींटी की चाल से रेंगती हुई चलती हैं। कई बार तो लोग मीलों का चक्कर लगाकर अपने गन्तव्य तक पहुंचते हैं। कई बार तो सड़के रुके हुए ट्रैफिक के कारण पूरी तरह जड़ हो जाती हैं। कितने ही लोगों की ट्रेन छूट जाती है, जो समय से स्टेशन नहीं पहुंच पाते।

आजकल तो राजनीति प्रेरित रैलियों, प्रदर्शनों और जुलूसों की भी बड़ी धूम है। एक स्थिति धार्मिक उत्साह (या उन्माद) से भरी हुई है तो दूसरी राजनीतिक पैंतरेबाजी से। प्रायः राजनीतिक दल या उसका कोई बड़ा नेता अपनी लोकप्रियता का प्रदर्शन करने, अपनी धाक जमाने, अपने प्रतिद्वंद्वी को आतंकित करने के लिए देश के विभिन्न भागों से लोगों को देश या प्रदेश की राजधानी में इकट्ठा करता हैं उस दिन रेल सेवाएं भी बुरी तरह प्रभावित होती है। यह बात तो सभी जानते है कि ऐसी रैलियों में भाग लेने के लिए जाने वाले लोग कभी टिकट नहीं खरीदते, इतना अवश्य करते हैं कि वे टिकट खरीदकर यात्रा करने वाले लोगों को बुरी तरह पीड़ित करते हैं। कभी यह कहा जाता था कि कलकते की हर सड़क का एक हिस्सा सदा ही नारे लगाती हुई और लंबे जुलूस की शक्ल में आगे बढ़ती हुई भीड़ से भरा रहता है। अब ऐसा दृश्य देश के किसी भी भाग में देखा जा सकता है।

आखिर हम जुलूस क्यों निकालते हैं? रामलीला, मोहर्रम या गुरुपर्व मनाने का यह अर्थ तो नहीं कि इस प्रदर्शन प्रियता से लोगों में स्नेह और सद्‌भाव बढ़ाने की बजाए, कटुता, विद्वेष, परेशानी, व्याकुलता भर दें। इस आडंबर से हमें सकारात्मक उपलब्धि क्या होती है, मैं नहीं जानता, किन्तु यह मेरा निश्चित मत है कि आज की स्थितयों में ऐसे जुलूस अपनी संगति पूरी तरह खो चुके हैं।

मैं समझता हूं कि इस देश में जुलूसों के विरुद्ध एक व्यापक जनमत तैयार किया जाना चाहिए। यह काम सरकारें नहीं कर सकतीं। इसके लिए स्वैच्छिक संस्थाओं को आगे आना चाहिए। मानवाधिकार संगठन भी बड़े सार्थक ढंग से यह भूमिका निभा सकते हैं। मैं समझता हूं कि सबसे पहले विभिन्न धार्मिक समुदायों के बीच यह संवाद बनाना चाहिए कि वे आपस में मिलकर यह निर्णय लें कि हम अपने धार्मिक त्योहार सामूहिक रूप से अपने धर्म-स्थानों अथवा किसी बड़े मैदान या पार्क में तो मनाएंगे, पर उस अवसर पर कोई जुलूस शोभायात्रा अथवा नगर कीर्तन नहीं निकालेंगे। हम ऐसा कोई प्रदर्शन नहीं करेंगे जो सर्वसाधारण लोगों को जीवन की उलझनों, परेशानियों बढ़ाने और कई बार जीवन की सुरक्षा के लिए संकट बन जाने का माध्यम बने।

जीवित और प्रगतिशील समाज का सबसे बड़ा लक्षण यह है कि व्यर्थ और असंगत हो चुकी प्रथाओं, रूढ़ियों और मान्याताओं के प्रति जागरूक होता है और समयानुकूल उनमें परिवर्तन लाने, उन्हें संशोधित करने और कभी-कभी उन्हें पूरी तरह त्यागने के लिए आत्मचितंन करता है और उसे व्यवहार में परिणत करता है। भारतीय समाज भी एक जागरूक समाज है। पिछले वर्षों में इस समाज ने विवाह जैसे पारिवारिक समारोहों में अनेक सुधार किये हैं और उनसे हमारे सामाजिक जीवन को स्वस्थ दिशा मिली है।

आज धार्मिक जुलूस भी इस देश में ऐसी ही निरर्थक रूढ़ि बन चुकी है। इससे छुटकारा पाने का भी हमें प्रयास करना चाहिए।

(दैनिक जागरण, 20-1-2000)

भक्ति भी उपभोक्ता संस्कृति की चपेट में

संत कवीर ने जब माया की व्याप्ति से सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये तो उसमें यह बात स्पष्ट कर दी कि इसके मोहपाश में सांसारिक प्राणी तो फंसे हुए हैं ही, वे व्यक्ति भी इसके जाल से मुक्त नहीं हो पाते जो व्यक्ति सदैव माया की निंदा करते हैं और ईश्वर प्राप्ति के मार्ग में उसे सबसे बड़ी बाधा मानते हैं। कबीर ने अपनी एक साखी में कहा है कि माया का आकर्षण इतना प्रबल है कि उसने तो नारद जैसे मुनि को भी पथभ्रष्ट कर दिया था—

कबीर माया जिनि मिलै, सौ बरियां दे बांह।
नारद से मुनियर गिले, किसी भरौसा त्याह।।

माया से मुक्ति की कामना करने वाले धार्मिक व्यक्ति भी यदि माया के प्रेमी हो जाते हैं तो इसके लिए उनका अन्ध भक्त-जन बहुत हद तक जिम्मेदार होते हैं। धर्म हो और अंधविश्वास न हो, यह संभव नहीं दिखता। अंधविश्वास हो और आचार में भ्रष्टता न आए यह भी संभव नहीं है। क्या इसका निष्कर्ष यह है कि सभी प्रकार की धार्मिकता कुछ समय बाद भ्रष्टाचार के घेरे में घिरना शुरू हो जाती है? संसार का कोई भी धर्म ऐसा नहीं है जिसके अगुवाओं में, उन्हीं के जीवन काल में या उनकी मृत्यु के कुछ समय बाद उनके उत्तराधिकारियों में, उनके समीपस्थ लोगों में ऐसी स्थिति न आई हो।

संसार भर में आचरण डगमगाने के दो ही मुख्य केन्द्र बिंदु हैं—कंचन और कामिनी। सृष्टि के सभी जीव पहले अपने पेट की भूख मिटाने के लिए गतिशील होते है, फिर अपनी काम तृप्ति की ओर बढ़ते हैं। दोनों प्रकार की क्षुधाएं सहज और प्राकृतिक हैं।

पशु जगत इन्हें सहज और प्राकृतिक ढंग से पूरा करता है। मनुष्य के पास सोचने, समझने, बनाने, संवारने और उसके लिए नये उपायों और साधनों को निर्मित करने की शक्ति है, इसलिए उसकी महत्वाकांक्षाएं अपरिमित हैं। उसे केवल रोटी नहीं चाहिए, कंचन चाहिए। उसे केवल स्त्री नहीं चाहिए–कामिनी भी चाहिए। इस दृष्टि से भरसक वह किसी सीमा को नहीं मानता।

धर्म मनुष्य के इन संवेगों को नियमित, नियन्त्रित करने और दिशा देने में अहम भूमिका निभाता है। ईश्वर और परलोक का अस्तिव ही मनुष्य को नियन्त्रित करने, भय में रखने, अनदेखे-अनजाने भविष्य के प्रति संचित रखने के लिए हुआ। हिन्दी में जिसे हम 'धर्मभीरू' और अंग्रेजी में 'गॉड फियरिंग' कहते हैं–वह समाज का भला और सज्जन अंग माना जाता है।

जीवन के सभी क्षेत्रों में भीरूता नकारात्मक मूल्य रखती है, किन्तु धर्म के क्षेत्र में आते ही वह सकारात्मकता ग्रहण कर लेती है। यह भी विचित्र विरोधाभास है कि जिस धार्मिकता को, आत्मानुभूति को और ईश्वर-आस्था को व्यक्ति को 'भयमुक्त' करना चाहिए, वह उसे पाप-पुण्य, नरक-स्वर्ग, इहलोक-परलोक, सुख-दुःख अमीरी-गरीबी, स्वास्थ और रोग की कितनी कथाएं सुनाकर 'भयभीत' बनाती है। भयभीत व्यक्ति अपनी सुरक्षा के लिए इधर-उधर दौड़ता है। सभी धर्मगुरु, धर्मोपदेशक पण्डे, पुरोहित, मौलवी, ग्रंथी और प्रीस्ट कहते हैं–"अपनी सुरक्षा के लिए 'प्रभु' की शरण में आओ।" बिचारा 'प्रभु' तो कहीं दिखाई नहीं देता। सामने दिखाई देते हैं व्यक्ति और प्रभु के बीच के ये बिचौलिए। प्रभु को खोजता हुआ व्यक्ति इन्हीं के चरणों में पहुंच जाता है। ये अपने आपको मार्ग-दर्शक कहते हैं और दावा करते हैं कि लक्ष्य (प्रभु) तक पहुंचने में ये व्यक्ति का मार्ग दर्शन करेंगे। किन्तु धीरे-धीरे ये स्वयं लक्ष्य बन जाते हैं, प्रभु का रूप धारण कर लेते हैं। व्यक्ति जिन्हें साधन मानकर प्रारम्भ में स्वीकार करता है, इनके मोहपोश में फंसकर इन्हें ही साध्य मान लेता है। इन्हीं की पूजा, इन्हीं की अर्चना, इन्हीं की सेवा उसकी सम्पूर्ण चिंता का केंद्र बन जाती है।

इसी बिंदु से दुनियादारी और कंचन-कामिनी की माया अपना रंग दिखाना शुरू करती है। हाड-मास के बने इन संतों, महन्तों, आचार्यों, धर्मगुरुओं के सामने प्रभु की खोज में आए श्रद्धालुओं की जमात धन-दौलत के ढेर लगाना शुरू करती है। कितनी विचित्र बात है। संसार में किसी भी व्यक्ति अथवा स्थान के प्रति अपना आदर या सम्मान व्यक्त करने का सबसे महत्वपूर्ण साधन 'धन' है। जो जितना धन चढ़ाए वह उतना ही बड़ा भक्त या श्रद्धालु समझा जाता है। 'दरबार' में उसे उतना ही बड़ा सम्मान या 'सिरोपाव' दिया जाता है। मजे की बात है कि धार्मिक परिवेश में सबसे ज़्यादा निंदा धन अथवा माया की होती है और सबसे ज़्यादा बोलबाला भी इसी का होता है। वही मंदिर, दरगाह या गुरुद्वारा अधिक महत्वपूर्ण होता है जिसमें 'चढ़ावा' ज़्यादा आता है, जहां कंचन की वर्षा होती है। किसी समय इस देश के अनेक धर्म स्थानों में देवदासियों

की भरमार होती थी। देवता को समर्पित ये कन्याएं धर्म स्थानों से जुड़े आचार्यों, पुरोहितों और पुजारियों को ही समर्पित हो जाती थीं। फिर वे राजाओं और धनपतियों को समर्पित होने लगीं। स्थिति यह आई कि उनकी हालत वेश्याओं जैसी हो गई। दक्षिण भारत के देवस्थानों में इनका विकृत और घिनौना रूप आज भी देखा जा सकता है।

यह भी कितनी विचित्र और रोचक बात है कि धर्म जगत में अपना विशिष्ट पंथ, मत या मार्ग चलाने वाला, जिसका प्रारम्भिक दावा प्रभु की प्राप्ति अथवा प्रभु की अनुभूति कराना होता है, धीरे-धीरे स्वयं भगवान का अत्यन्त निकटस्थ स्वरूप बन जाता है। लोग उसी को अपना भगवान, इष्ट, गुरु या रहनुमा मानकर उसकी पूजा करना शुरू कर देते हैं। उसके चारों ओर भक्तों की जितनी बड़ी भीड़ जमा होती जाती है, उसकी आलौकिक और चमत्कारी शक्तियों की चर्चा भी बढ़ती चली जाती है। उसके चारों ओर 'मिथ' का ऐसा मायाजाल बनना शुरू हो जाता है कि आम लोग तो उससे प्रभावित होते ही हैं, अच्छे-खासे, पढ़े-लिखे, साधन-सम्पन्न, बुद्धिजीवी समझे जाने वाले, उच्च सरकारी पदों पर काम करने वाले, यहां तक कि जज और प्रोफेसर भी उसके प्रभामंडल में आ जाते हैं।

मैंने यह भी देखा है कि जिसके जीवन और धंधे में जितना अधिक जोखिम, अस्थिरता, अनिश्चितता और अनैतिकता होती है, वह इन 'महापुरुषों' और इनके मठों, आश्रमों, डेरों और गद्दियों पर उतना ही अधिक जाता है, अधिक 'सेवा' करता है, अधिक नाक रगड़ता है, अधिक भरोसा करता है और इनके मायाजाल का विस्तार करने में अधिक सहायक होता है। राजनीतिकों, सट्टाबाजारियों, काला धंधा करने वालों, फिल्मी हस्तियों, रिश्वतखोर अफसरों को 'भगवान' की ज़रूरत सबसे अधिक होती है। कौन-सा ऐसा राजनीतिकर्मी है जो किसी स्वामी, तांत्रिक या आचार्य का सहारा नहीं लेता। नामाकंन-पत्र भी इनसे पूछकर दाखिल कराए जाते हैं, अपनी जीत के लिए इनकी चौखट पर जाकर माथा रगड़ा जाता है और यदि कोई ऊंचा पद मिल जाए तो कोशिश यह होती है कि उनके आदेश और परामर्श से ही पद-ग्रहण का मुहूर्त निकाला जाए। ऐसे व्यक्तियों के नाम से धर्म-स्थानों और मठों-डेरों पर निरन्तर पूजा-पाठ प्रार्थना और अरदास होती रहती है।

यह स्थिति भी कम रोचक नहीं कि जैसे-जैसे इस देश में राजनीति से लेकर सामान्य व्यवसाय में नम्बर दो का धंधा उन्नति कर रहा है, वैसे ही देश में गुरुओं, साधुओं, बाबाओं, संतों, तान्त्रिकों, योगियों, योगनियों, साध्वियों और इनकी अंतिम परिणति 'भगवानों' की संख्या बढ़ती चली जा रही है। इस देश में इस समय जितने भगवान और सिद्ध-पुरुष हैं उतने शायद इससे पहले कभी नहीं थे। पुराण-कथाओं के अनुसार पहले सहस्रों वर्षों के अंतराल के बाद और बड़े आर्तनाद के पश्चात् एक 'अवतार' जन्म लेता था। उस अवतार की लीलाओं के कारण उसे भगवान मान लिया जाता था। सम्पूर्ण पुराण-साहित्य में दस प्रमुख और चौदह गौण अवतार स्वीकारे गए। पिछले दस

वर्षों में जितने अवतारों और भगवानों का डंका इस देश में पिटा, उनकी गिनती चौबीस से कहीं ज़्यादा है।

इस प्रसंग में एक बात और अचंभित करने वाली है। प्राचीन और मध्य काल में कुछ लोगों/व्यवसायियों को अपनी चीज़ों को बेचने के लिए प्रचार के कुछ साधन अपनाने पड़ते थे। घोड़ों के व्यवसायियों को राज-दरबारियों में जाकर अपने घोड़ों के लिए 'कन्वैसिंग' करनी पड़ती थी। कई बार कवियों को भी अच्छा आश्रयदाता ढूंढने के लिए अनेक स्थानों पर जाकर अपना काव्य-पाठ करना पड़ता था। गली-मोहल्लों में घूम-घूम कर और हांक लगाकर अपना माल बेचने की परम्परा तो बहुत पुरानी है ही।

आधुनिक युग में व्यवसायी अधिक आधुनिक प्रचार-साधनों का सहारा लेते हैं। अखबारों, रेडियों, दूरदर्शन पर होने वाले विज्ञापन, सड़कों, बाज़ारों में लगने वाले होर्डिंग, बैनर और पोस्टर सभी जीवन की दैनिक ज़रूरतों में इस्तेमाल की जाने वाली चीज़ों का जोर-शोर से प्रचार करते हैं।

व्यावसायिक तंत्र में मुनाफे के लिए वस्तुओं का उत्पादन होना और प्रचार-साधनों के माध्यम से उन्हें बेचना आज की उपभोक्ता संस्कृति का अंग है। किन्तु क्या ईश्वर, धर्म, आत्मोन्नति, भक्ति आदि विषय भी इस उपभोक्ता संस्कृति के अंग बन गए हैं? लग यही रहा है। वर्ष में दो-तीन बार ऐसे अवसर आते हैं जब कुण्डलिनी जागृत कराने वाली एक माता के विज्ञापनों से देश के प्रमुख अखबार भरे दिखाई देते हैं। शहर में उनके इतने होर्डिंग, बैनर और पोस्टर लगे और चिपके दिखाई देते हैं कि बहुत से लोगों की कुंडलिनी अपने आप जागृत हो जाती है। फिर एक बाबा का दौर चलता है। देश के कोने-कोने में उनकी चार-छह रंगों वाली तस्वीर से बने लाखों पोस्टर देखकर ऐसा नहीं लगता कि क्या यह बाबा लोगों का कष्ट दूर करने, उन्हें किसी प्रकार का आत्मिक-ज्ञान देने वाला व्यक्ति है? ऐसा लगता है कि देश में राष्ट्रपति प्रणाली का चुनाव हो रहा है और यह व्यक्ति उस पद का उम्मीदवार है।

ऐसे उदाहरण दो-चार नहीं हैं। जाने कितने संत, बाबा, महर्षि, अवधूत, तान्त्रिक और माताएं करोड़ों/अरबों रुपए खर्च करके अपनी आध्यात्मिकता, धार्मिकता और दैवी शक्तियों का प्रचार उसी ढंग और तर्ज़ पर कर रहे हैं जैसे साबुन और टूथपेस्ट बनाने वाले करते हैं। दोनों ही प्रकार के व्यवसायी खूब ख़र्च करते हैं और खूब कमाते हैं। अंतर केवल इतना है कि साबुन-टूथपेस्ट बेचने वाले व्यवसायी को अपने व्यवसाय में बहुत-सी पूंजी लगानी पड़ती है, कुछ हिसाब-किताब भी रखना पड़ता है और बहुत से कर भी देने पड़ते हैं किन्तु धर्म का व्यवसाय करने वालों के लिए यह सब कुछ माफ है। ऐसे मठों, आश्रमों, डेरों और दरगाहों में धीरे-धीरे जो सम्पत्ति जमा हो जाती है, वह बड़े-बड़े पूंजीपतियों की सम्पत्ति से होड़ लेती है।

अपने देश में राजनीतिक समीकरणों का स्वरूप तेजी से बदल रहा है, उसने अनेक रोचक स्थितियां उत्पन्न कर दी हैं। पहले राजनीति करने वाले असामाजिक तत्वों की

अपनी चुनावी जीत के लिए मदद लेते थे और उन्हें उनकी मदद का, किसी न किसी रूप में पूरा मुआवज़ा देते थे। कुछ समय बाद इन तत्वों ने अपना पैंतरा बदल लिया। उन्होंने सोचा, हम अपनी मदद देकर यदि किसी नेता को राजनीति में सफल बना सकते हैं, तो क्यों न हम स्वयं ही अपनी मदद करें और राजनीति के सभी मीठे रसदार फल स्वयं चखें, जो राजनीति वाले चखते हैं। परिणाम यह हुआ कि अपराधी तत्व स्वयं चुनाव लड़ने लगे, सफल होने लगे और मंत्री तक बनने लगे।

यही रोचक स्थिति धर्म क्षेत्र में भी फैल गई लगती है। साधू, संत, महाराज, मठाधीश पहले किसी को चुनाव जीतने का आशीर्वाद देते थे। अब वे स्वयं चुनाव के लिए उम्मीदवार बनने लग गये हैं। पिछले तीन-दशकों में धर्मक्षेत्र के कितने ही अगुआ राजनीति में भी अपना लोहा मनवाने में सफल हुए हैं। केवल सफल ही नहीं हुए हैं, राजनीति के सारे दाव-पेंच खेलते हुए मंत्रीपद प्राप्त कर चुके हैं।

संत कबीर का एक पद है–

'माया महा ठगिनि हम जानी'

इस पद में उन्होंने माया के विभिन्न रूपों और सभी स्थानों में उसकी गहरी पैठ का वर्णन किया है। यह पैठ केवल संसारी कहे जाने वाले व्यक्तियों तक ही सीमित नहीं है, जिसकी अनंत चर्चा आपको साधु, संत, संन्यासी, पीर, गुरु कहलाने वाले लोग भयंकर दोष और पाप के रूप में कराते रहते हैं। दिलचस्प बात तो यह है कि माया की गहरी पैठ इन माया विरोधियों के घरों में कहीं ज्यादा और भयावह दिखाई देती है।

घूम-फिरकर बात 'अंधविश्वास' पर आकर टिकती है। धर्म के लिए विश्वास या आस्था जरूरी तत्व समझे जाते हैं। ये तत्व जरा-सी फिसलन पाकर अंधविश्वास और अंध आस्था की सीमा में सहज ही प्रदेश पा जाते हैं। लगता है आदिकाल से ही धर्म का सारा कारोबार इस अंधविश्वास पर ही टिका हुआ है। यह भी अपने आप में विचित्र विरोधाभास है कि अनेक धार्मिक संत और महापुरुष इस क्षेत्र में फैले हुए कंचन और कामिनी के अखंड साम्राज्य का विरोध करते हुए व्यक्ति को ज्ञान और तर्क का सहारा लेकर अंधविश्वास त्यागने और प्रेम तथा सेवा को आधार बनाकर प्रभु की भक्ति का मार्ग अपनाने की प्रेरणा देते रहे हैं, किन्तु समय पाकर उन्हीं के अनुयायी उन्हीं के नाम और उपदेशों का सहारा लेकर अंधविश्वास की नींव पर ठगिनी माया का महल उतारने लगते हैं।

क्या यह स्थिति आश्चर्यजनक नहीं है कि इतनी शिक्षा, वैज्ञानिक प्रगति, वैज्ञानिक सोच लम्बी धार्मिक/सामाजिक जागरूकता के बावजूद इस देश का अनपढ़ जनसमुदाय ही नहीं, अपने आपको प्रबुद्ध मानने वाला शिक्षित वर्ग भी बुरी तरह इन बाबाओं की कथित अलौकिक शक्तियों के मोहपाश में बुरी तरह जकड़ा हुआ है। किसी की भभूति, किसी की मिठाई, किसी का गंडा-तावीज, किसी का प्रसाद ऐसी चामत्कारिक बातों से

गुंथे हैं कि लोग आंखें बंद करके उनकी और दौड़ते हैं। निहित स्वार्थों से ग्रस्त कुछ लोग ऐसे भगवानों, बाबाओं, संतों और पीरों के दलाल बनकर किसी भी हर्षद मेहता को चुनौती देने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेते हैं।

किन्तु यह व्यापार तो रुकेगा नहीं। संत कबीर की बात याद आती है–हे भाई, माया ऐसी मोहिनी है कि वह सभी जीवों को भटका देती है–

माया ऐसी मोहिनी, भाई
जेते जीऊ तेते भटकाई।।

(दैनिक जागरण, 3-2-2000)

धर्म, धार्मिकता और धर्म निरपेक्षता

संसार के सबसे बड़े इस्लामिक देश इंडोनेशिया के राष्ट्रपति अबुर्रहमान वहीद ने अपनी हाल की दिल्ली यात्रा में कहा कि इस्लाम को राज्य से पृथक रखना चाहिए और उसे (इस्लाम को) निजी नैतिकता के रूप में विकसित करना चाहिए।

अबुर्रहमान वहीद अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के इस्लामी विद्वान हैं और निहदात-उल-उलेमा (इस्लामी धर्म प्रचारकों की सभा) के अध्यक्ष रह चुके हैं। दिल्ली के एक पत्रकार सम्मेलन में उन्होंने कहा कि इस्लामी कानून को किसी देश में राजकीय कानून के साथ नियमबद्ध नहीं किया जाना चाहिए। इस्लाम को नैतिकता और विश्वास के रूप में विकसित किया जाना चाहिए, न कि एक राज्य-संस्था के रूप में।

संसार के लगभग सभी इस्लामी देश धार्मिक राज्य हैं और धर्मनिरपेक्षता उनके लिए कोई आकर्षक और ग्राह्य स्थिति नहीं है। इंडोनेशिया के राष्ट्रपति ने जो कुछ कहा है उसे संसार का अन्य कोई इस्लामी राज्य सरलता से पचा नहीं सकेगा क्योंकि अपने आपको इस्लामिक राज्य घोषित करना उनकी प्राथमिकता होती है।

धर्म और राजनीति के आपसी संबंध क्या हों, यह चर्चा इस देश में विभाजन के पूर्व भी बहुत सरगरम थी और विभाजन के बाद भी लगातार बहस का मुद्दा बनी रही है।

कुछ वर्ष पूर्व पी. वी. नरसिंहराव की सरकार ने जिस दिन यह घोषित किया कि वह राजनीति में धर्म के दुरुपयोग को रोकने के लिए संसद में एक बिल पेश करेगी, तब से इस विषय पर ज्यादा चर्चा शुरू हो गई। जिस दिन यह बिल पेश हुआ उसी दिन इसे संयुक्त प्रवर समिति को भेज दिया गया। प्रायः इस देश में विवाद का विषय

यह बन जाता है कि पहले यह फैसला करो कि धर्म है क्या? क्या यह रिलीजन और मज़हब शब्द का समानार्थी है? और अगर धर्म को राजनीति से अलग कर दिया गया तो क्या पृथ्वी रसातल में नहीं चली जाएगी? क्या यह चर्चा इस देश की राजनीति को धर्मविहीन करने की साजिश है? क्या इसे अधार्मिक बनाया जाएगा।

इसलिए इस चर्चा को आगे बढ़ाने से पहले यह आवश्यक है कि 'धर्म' शब्द की अर्थान्विति के सम्बन्ध में स्पष्ट हो जाए। धर्म शब्द का प्रयोग इस देश में प्राचीन काल से लगभग उन्हीं अर्थों में होता आया है, जिस अर्थ में रिलीजन या मजहब का मध्य और पश्चिमी जगत में होता रहा है। यदि धर्म के लक्षणों में सच्चाई, करुणा, क्षमा, अहिंसा आदि नैतिक गुणों का समावेश है तो रिलीजन और मज़हब भी इन अर्थों से अछूते नहीं हैं। अंग्रेज़ी शब्द रिलीजन में सृष्टि के निर्माता और पालक के रूप में एक लोकोत्तर शक्ति के अस्तित्व में विश्वास की बात है तो आत्मिक गुणों के संरक्षण और अनुपालन पर भी आग्रह है। रिलीजन और मज़हब यदि एक विशेष प्रकार के सम्प्रदाय गत, शास्त्रगत आचरण और आस्था या पूजा पद्धति पर आग्रहशील हैं, तो धर्म भी यहां एक विशेष प्रकार के शास्त्रगत आचरण पर बल देने वाला तत्व स्वीकार किया गया है। स्वयं मनु महाराज कहते हैं कि ''श्रुति में कहा गया है और स्मृति में प्रतिपादित आचार परम धर्म हैं। (मनु स्मृति) वामन शिवराम आप्टे के संस्कृत-हिंदी कोश में धर्म शब्द के जो अर्थ दिए गए हैं उनमें सबसे पहला अर्थ है—जाति, सम्प्रदाय आदि के प्रचलित आचार का पालन।

धर्म की परिकल्पना में किसी आधिदैविक या लोकोत्तर शक्ति, प्रचलित शब्दों में जिसे ईश्वर या परमात्मा कहा जाता है, में आस्था परमावश्यक तत्व हैं। ईश्वर के अस्तित्व की स्वीकृति के बिना धर्म की कल्पना करना संभव नहीं लगता। इस देश में जिन्हें अनीश्वरवादी धर्म माना गया—बौद्ध और जैन—उनमें भी बुद्ध और महावीर भगवान के रूप में स्वीकृत और पूजित हैं।

मोक्ष, निर्वाण, परमगति, स्वर्ग या जन्नत जैसी सभी कल्पनाएं इस जीवन के बाद की, इससे परे की कल्पनाएं हैं। इनकी प्राप्ति के लिए विभिन्न मत, विचारधाराएं शास्त्र और आचार संहिताएं समय-समय पर विकसित होती रही हैं जिन्हें विभिन्न मतों या धर्मों के नाम से जाना गया। इनमें भी अनेक उपधाराएं सम्प्रदायों और पंथों के रूप में विकसित हुई और आज भी हो रही हैं।

धर्मों के बीच और उन्हीं की उपधाराओं के बीच मतभेद प्राचीन काल से ही सारे संसार में उभरते रहे हैं। ये मतभेद तार्किक विवाद का रूप तो लेते ही थे, आपसी कलह और युद्ध का रूप भी धारण कर लिया करते थे, जैसा आज हो रहा है। पश्चिमी संसार में यहूदियों, ईसाइयों और मुसलमानों के बीच के भयंकर रक्तपात से भरे हुए कलह से इतिहास के पन्ने भरे हुए हैं। एक ही धर्म के अन्दर के सम्प्रदायों का खूनी संघर्ष भी नया नहीं है। कैथोलिकों और प्रोटेस्टेन्टों के बीच अथवा सुन्नियों और शियाओं के

बीच जितना रक्तपात हुआ है उसे कौन नहीं जानता। जापान में विभिन्न बौद्ध सम्प्रदाय सदियों से एक-दूसरे से बुरी तरह टकराते आ रहे हैं।

अपने देश में भी धार्मिक कलह का इतिहास बहुत प्राचीन है। वैदिकों और बौद्धों के मध्य हुए संघर्षों का इतिहास कुछ कम त्रासद और रोमांचकारी नहीं है। शैवों, वैष्णवों बौद्धों और जैनों में परस्पर जिस प्रकार के कलह, द्वेष और घृणापूरित सम्बन्ध थे और ये सम्बन्ध किस प्रकार हिंसा और रक्तपात में परिवर्तित हो जाया करते थे, इसके उदाहरण भी कम नहीं हैं। धर्म शास्त्र केवल धर्मानुयायियों के लिए आचार संहिता ही नहीं बनाते थे, उन्हें कभी धर्म और कभी वर्ण के नाम पर दूसरे से घृणा करने और घोर अन्याय करने की प्रेरणा भी देते थे। एक विधान यह कहता था कि यदि सामने से शराब पिये हुए एक मतवाला हाथी आपकी ओर दौड़ा चला आ रहा हो तो आप उससे अपने प्राणों की रक्षा के लिए, किसी आश्रय की तलाश में हों, ऐसी स्थिति में यदि सम्मुख कोई जैन मंदिर दिख जाए तो उसमें आश्रय लेने के बजाए हाथी के पैरों तले रौंदे जाकर प्राण दे देना कहीं अधिक श्रेयस्कर है। दूसरा विधान कहता था—जो शूद्र वेदों को सुने उसके कानों में पिघला हुआ शीशा और लाख भर दिया जाना चाहिए, यदि वह वैदिक शब्दों का उच्चारण करे तो उसकी जिह्वा काट ली जानी चाहिए।

ईश्वर, दैवीशक्ति, दैवी अधिकार और उच्च वर्ण तथा कुलीनता का सहारा लेकर जो विकृति धर्म का रूप धारण करके सारे संसार में विकसित हुई थी, उसका कहीं अधिक वीभत्स रूप, यूरोप में दिखाई दिया। धर्म के नाम पर पुरोहित वर्ग और चर्च ने राज्यों की राजनीतिक गतिविधियों पर जितना निरंकुश अधिकार जमा लिया था उसके विरुद्ध वहां स्वर उठने लगे और उन्हीं के मध्य से धर्म को राजनीति से अलग करो, राज्य को चर्च के चंगुल से मुक्त करो की आवाज़ उभरीं। 'सेक्युलरिज्म की अवधारणा इसी हलचल का परिणाम थी।

सेक्युलरिज़्म के लिए हिन्दी में 'धर्मनिरपेक्ष' शब्द का प्रयोग किया जा रहा है। यह विवाद निरर्थक है कि इसे धर्मनिरपेक्ष न कहकर पंथनिरपेक्ष कहा जाए या और कुछ। 'धर्म' शब्द सदियों से इस देश में वह अर्थ भी देता आ रहा है जिसे स्वीकार करने में कुछ लोगों को व्यर्थ की बौद्धिक घबराहट होती है। वैदिक धर्म, बौद्ध धर्म, जैन धर्म आदि शब्द इस देश के लिए नए नहीं हैं। और यदि उन दिनों, विशेषरूप से ईसा की पहली शती से लेकर सातवीं शती तक, जब वैदिक धर्म और बौद्ध धर्म के बीच भयंकर संघर्ष चल रहा था, किसी ने ऐसे राज्य की कल्पना की होती जो न वैदिक धर्म को प्रश्रय देता न बौद्ध धर्म अथवा किसी अन्य धर्म को, अपने शासन और उसकी आचार-व्यवस्था को नैसर्गिक नैतिकता पर आधारित मानता, किसी धर्म पर नहीं, तो वह उसे धर्म निरपेक्ष राज्य ही कहता।

सेक्युलरिज़्म की सम्पूर्ण अवधारणा ही यह है कि राजनीति, अर्थ-नीति, व्यापार तथा मानवीय जीवन के अनेक कार्य-व्यवहार नितान्त और लौकिक बोध द्वारा संचालित

और क्रियान्वित होते हैं। विभिन्न वर्गों और देशों के लोगों के आपसी सम्बन्धों का निर्धारण भी उनकी अपनी लौकिक आकांक्षाओं और आवश्यकताओं के परिणामस्वरूप होता है। इसलिए मनुष्य को इन सभी कार्यकलापों से सम्बन्धित चिन्ताओं को अपने ज्ञान और अपनी क्षमताओं को विकसित करते हुए सहेजना चाहिए। इसके लिए किसी प्रकार की धार्मिकता, अलौकिकता अथवा अदृश्य शक्ति के सहारे की अनिवार्यता नहीं है। समाज विज्ञान के विश्वकोश ने सेक्युलरिज़्म की परिभाषा देते हुए कहा गया है—''आधिदैविक अथवा अलौकिक, प्रतिबुद्धिवादी पूर्व स्वीकृत मान्यताओं से हटकर ज्ञान के एक स्वायत्त क्षेत्र की स्थापना का प्रयास।''

ज्ञान के स्वायत्त क्षेत्र पर धार्मिक मान्यताएं और रूढ़ियाँ सदा ही अंकुश लगाती रही हैं। धर्म शब्द का कोशीय अर्थ क्या है, इस शब्द का का निर्माण किस धातु से हुआ है, महत्व इस बात का नहीं है। अधिक महत्व इस बात का है कि इस शब्द का प्रयोग क्या अर्थ ग्रहण कर चुका है। शब्द वही अर्थ देने लगते हैं जिस अर्थ में शब्द की व्याख्या करने वाले उसे रंगना चाहते हैं। आज भी धर्म शब्द की अर्थान्विति के सम्बन्ध में शंकराचार्यों, सनातनियों, आर्य समाजियों, जैन आचार्यों और सिख व्याख्याकारों में बहुत मतभेद हैं। ये मतभेद प्राचीन काल में भी थे और मध्ययुग में भी। मतभेद मतवाद का आग्रह ग्रहण करते रहे हैं और प्राचीनकाल से ही धर्मक्षेत्र के ये मतवादी आग्रह राजनीति को प्रभावित करते रहे हैं। अठारहवीं शती में जब धर्मनिरपेक्ष विश्ववाद संसार में फैलना शुरू हुआ तो उसने इस मान्यता को बल दिया कि धरती पर मनुष्य सभी प्रकार की महत्वपूर्ण ज्ञान-विधियों का स्रोत है। संसार में अपने कल्याण और उन्नति के लिए वह अपनी वैज्ञानिक-बुद्धि और विवेक पर निर्भर करता है अपनी उपलब्धियों और असफलताओं के लिए वह स्वयं उत्तरदायी है, न कि कोई पारलौकिक शक्ति।

मैं समझता हूं कि इस देश में हम धर्म और राजनीति के सम्बन्धों का उत्तर ढूंढ़ चुके हैं। हमने सेक्युलरिज़्म अथवा धर्म निरपेक्षता को अपनी शासन संचालन पद्धति का आवश्यक तत्व मान लिया है। हमने यह मान लिया है कि इस देश की राजनीति का संचालन इस देश के लोगों के सामाजिक और आर्थिक नैतिक विकास को ध्यान में रखकर, उनमें समता और बंधुता के आधार पर किया जाएगा। इस प्रयास में धर्म, धार्मिक मान्यताएं और धार्मिक विश्वासों को आड़े नहीं आने दिया जाएगा।

यही सिद्धान्त और व्यवहार के अंतर की बात सामने आती है। धर्म की सम्पूर्ण महिमा मंडित परिभाषाओं के बावजूद इसकी विकृतियां हमारे सामने हैं। यही हाल हमारी धर्म निरपेक्षता का है। धर्म को राजनीति में इस्तेमाल नहीं करना चाहिए, यह घोषणा करने वाली लगभग सभी पार्टियां अपने राजनीतिक स्वार्थों के लिए धर्म, धर्म स्थानों और धर्माचार्यों का इस्तेमाल करती रही हैं। बाबाओं, संतों, तान्त्रिकों को जितना आश्रय और संवर्धन राजनीति-कर्मियों से आज प्राप्त हो रहा है उसे देखकर यह लगता है कि इस देश में धर्मनिरपेक्षता सम्बन्धी सभी घोषणाओं के बावजूद राजनीति के संचालन के

सभी सूत्र धर्म क्षेत्र के लोगों के हाथों में ही हैं।

धर्म में आस्था रखना, ईश्वर में विश्वास रखना और धर्म को नैतिकता पवित्रता और कर्तव्य के रूप में ग्रहण करना धर्म का सकारात्मक पक्ष है। किन्तु धर्म को राजनीति का हथकंडा बनाना और उसे सत्ता प्राप्ति के लिए मोहरे के रूप में इस्तेमाल करना इसका नकारात्मक पक्ष है। प्रायः देखा यही गया है कि नकारात्मक पक्ष सकारात्मक पक्ष पर हावी होता है और धर्म को उसके मूल आदर्शों से भटकाने का काम कभी धर्माचार्य करते रहे हैं, कभी राजनीति के कुशल खिलाड़ी और कभी दोनों की मिलीभगत। मध्ययुग में जब यूरोप में यह विचार उभरा कि चर्च (धर्म-स्थान) को स्टेट (राज्य) से अलग करो तो वह धर्म और राजनीति के घालमेल से उपजी प्रतिक्रिया ही थी जो धर्म निरपेक्षता (सेक्युलरिज़्म) की अवधारणा में विकसित हुई।

भारत इस अवधारणा को स्वीकार कर चुका है। इंडोनेशिया जैसे मुस्लिम बहुल राज्य का राष्ट्रपति भी यदि यह कहे कि इस्लाम को नैतिकता और विश्वास के रूप में विकसित किया जाना चाहिए, न कि एक राज्य संस्था के रूप में, तो निश्चित ही इसे एक स्वागत योग्य पहल मानना चाहिए क्योंकि आधुनिक संसार में कहीं-कहीं दिखने वाली धर्मान्धता के बावजूद धर्मनिरपेक्ष हुए बिना कोई शासन-पद्धति नहीं चल सकती।

(दैनिक जागरण, 17-2-2000)

झूठ के अंधेरे में बुल्लेशाह के बोल

इस देश में धार्मिक उदारता और सहिष्णुता की लंबी परम्परा की लहर, सभी प्रकार की संकीर्णताओं और विग्रहों के बीच सदा ही प्रवाहित होती रही है। इस प्रकार की भावना का निर्माण करने में सूफी संतों का बहुत बड़ा योगदान रहा है। ये सूफी फकीर न धर्मान्धता के शिकार थे, न किसी भाषा के व्यामोह से पीड़ित थे। यही कारण था कि अवधी, पंजाबी, सिंधी, उर्दू आदि अनेक भाषाओं में इन फकीरों ने रचना की, जो अत्यन्त लोकप्रिय हुई। सूफी संतों के पास जाने वाले श्रद्धालु भी कभी एक धर्म अथवा सम्प्रदाय तक सीमित नहीं रहे। आज भी इनकी दरगाहों पर मुसलमानों के साथ ही गैर मुसलमानों श्रद्धालुओं की संख्या भी बड़ी मात्रा में दिखाई देती है। बुल्लेशाह अठारहवीं शतीं के पंजाब के सुप्रसिद्ध सूफी संत कवि थे। वे कसूर (अब पाकिस्तान में) के रहने वाले थे। उनका जीवन काल सन् 1680 से 1752 ई. तक माना जाता है। बुल्लेशाह अपने समय के उन कवियों में से थे जिन्होंने धार्मिक कट्टरता, रूढ़िवाद, साम्प्रदायिक संकीर्णता का तीखा विरोध करते हुए मानवीय एकता और उसकी प्रेरक शक्ति 'प्रेम भावना' का खुलकर प्रचार किया।

धर्म या मज़हब मानव मात्र में प्रेम और भाई-चारे की भावना को जागृत करने और उसे बढ़ाने के लिए अपनी सार्थक भूमिका निभाता है, परन्तु जब वह संकीर्ण सीमाओं में घिरकर भेदभाव और आपसी विद्वेष का साधन बनने लगे तो बुल्लेशाह जैसे सूफी फकीर बागी हो उठते हैं। बुल्लेशाह इस मानसिकता को अपनी एक 'काफी' में व्यक्त करते हुए कहते हैं, "मैं नहीं जानता कि मैं कौन हूं। न मैं मस्जिद में जाने वाला मुसलमान हूं, न मैं काफिरों के रीति-रिवाजों में हूं, न मैं पवित्र धामों को भ्रष्ट करने वाला हूं...मैं तो एक ही बात जानता हूं कि अपने दिल को साफ करो...बस इसी एक नुक्ते पर बात ख़त्म हो जाती है...

बुल्ला की जाणा मैं कौण/ना मैं मोमन विच मसीतां
ना मैं विच कुफर दीआं रीतां/ना मैं पाकां विच पलीतां।

बुल्लेशाह धार्मिक कर्मकांड और दिखावे का खंडन करते थे और इस बात पर आग्रह करते थे कि बाह्याडंबर करने से अंदर की बात नहीं छिपती–

ऐवे मत्था जमीं घसाईदा/लम्मा पा महिराब दिखाई दा
पड़ कलमा लोक हसाई दा/दिल अन्दर समझ ना लिआई दा
कदी बात सची वी लुकी ए/इक नुकते विच गल मुकदी ए।

सार्थक के मन में जब ज्ञान की ज्योति प्रज्वलित हो जाती है तो न वह हिन्दू रहता है ना मुसलमान। प्रेम उसका धर्म बन जाता है। पंजाब के लोक जीवन में हीर-रांझा की प्रेम कथा जहां एक ओर लौकिक जीवन के अनूठे प्रेम को प्रकट करती है, वहीं उसमें अनेक आध्यात्मिक और पारलौकिक संकेत भी छिपे हुए हैं। सूफी कवियों ने इहलोक की प्रेम कथाओं का पारलौकिक ईश्वरीय प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए सदा सहारा लिया। उनकी मान्यता थी कि व्यक्ति इहलौकिक प्रेम की तीव्र अनुभूति पाकर ही पारलौकिक प्रेम की ओर बढ़ता है। इसी को सूफी कवि 'इश्क मिजाजी' (भौतिक प्रेम) से 'इश्क हकीकी' (आध्यात्मिक प्रेम) की ओर अग्रसित होना कहते हैं। बुल्लेशाह के लिए इश्क हकीकी का सबसे बड़ा प्रतीक रांझा है और उसका जन्म-स्थान तख्त हजारु उसके लिए मक्के से भी ज्यादा महत्वपूर्ण है। वे कहते हैं कि हाजी लोग मक्के की यात्रा करते हैं, परन्तु मेरा मक्का तो रांझा और तख्त हजारा है–

हाजी लोक मक्के नूं जांदे/मेरा रांझा माही मक्का
मैं ता मंग रांझे दी होई आं/मेरा बाबल करदा धक्का
हाजी लोक मक्के नूं जांदें/मेरे घर विच नौ सहु मक्का
विच्चे हाजी विच्चे गाजी/विच्चे चोर उचक्का
हाजी लोक मक्के नूं जांदे/असां जावा तख़्त हजारे
जिस वल यार उते वल काबा/भावें फोल किताबां चारे।।

व्यक्ति को जब इस अलौकिक प्रेम की लगन लग जाती है तो उसे अपने प्रेम में नित्य नई-बहार दिखाई देती है। उस समय उसे अपना-पराया सब कुछ भूल जाता है। उसकी अपनी धार्मिक सीमाएं भी उसके सामने छोटी हो जाती हैं। वह सभी का हो जाता है। बुल्लेशाह के शब्दों में–

इश्क की नवीआं नवीं बहार/जा मैं सबक इश्क दा पढ़िआ
मसजिद कोलों जीउड़ा हरिआ/डेरे जा ठाकर दे बड़िआ
जित्थे वजदे नाद हजार/इश्क दी नवीओं नवीं बहार

बुल्लेशाह धार्मिक संकीर्णता और कर्मकांड के विरुद्ध एक विद्रोही कवि थे। ऐसे विद्रोही कवियों को अपने समय में धर्म और समाज़ के कट्टरपंथियों का तीखा विरोध सहना पड़ता है, परन्तु बुल्लेशाह जैसे फकीर सच्ची बात कहने से कभी नहीं झिझकते–यह जानते हुए भी कि सच बात कहने से चारों ओर तूफान मच जाता है। बुल्लेशाह के शब्दों में दुनिया में तो झूठ का अंधेरा छाया है। इसमें चारों ओर माया की फिसलन है। मनुष्य सब कुछ बाहर-बाहर ढूंढ़ता है, अंदर की ओर झांकता नहीं। धार्मिक बाह्यांडबर करने वाले लोग अपने आपको कर्मकांडों की आड़ में छिपा लेते हैं। बुल्लेशाह कहते हैं, तुम अपने आपको किससे छिपा रहे हो। कहीं तुम मुल्ला होकर बोलते हो, कहीं राम की दुहाई देते हो, कहीं सुन्नत को अपना मज़हब बताते हो, कहीं माथे पर तिलक लगाते हो, कहीं चोर बनते हो, कहीं काजी बनते हो–

कहु किस थीं आप छिपाई दा/कहु किस थीं आप छिपाई दा,
कहूं मुल्ला होए बुलेंदे हो,/कहुं राम दुहाई दें दे हो,
कहूं सुन्नत मजब दसेंदे हो/कहूं माथे तिलक लगाई दा,
किते चोर बने कितने काजी हो/कहु किस थीं आप छिपाई दा।

परन्तु संसार का चलन तो निराला है। लोगों ने अपने चारों ओर झूठ का इतना प्रसार कर रखा है कि सच को सुनना नहीं चाहते। इसलिए इसके अतिरिक्त और क्या उपाय रह जाता है कि व्यक्ति चुप रहकर अपने दिन काट ले। संसारी लोग सच सुनकर लड़ने पर आमादा हो जाते हैं, वे सच कहने वाले के पास बैठना भी नहीं चाहते, परन्तु ईश्वर के प्रेमी के लिए तो सच ही सबसे मीठी चीज है। बुल्लेशाह सूफी फकीर थे। उन पर भारतीय अद्वैतवाद, गुरुमत और मध्ययुगीन भक्ति आंदोलन का गहरा प्रभाव दिखाई देता है। अपने प्रियतम से बिछुड़ी हुई और सांसारिक मोह-माया के नशे में सोई हुई जीवात्मा को जगाने और उसे आत्मबोध देने की उनकी शैली लगभग वैसी ही है जैसी उस युग के अन्य भारतीय संतों की थी। जीवात्मा को झकोरते हुए वे कहते हैं–

उठ जाग घुराड़े मार नहीं/इह सौंण तेरे दरकार नहीं
इक रोज जहानी जाणा ए/जा कबरे विच समाणा ए
तेरा गोश्त कीड़िआं खाणा ए/कर चेता मरग विसार नहीं

वे आत्मा रूपी नारी से कहते हैं–प्रभु से तुम्हारे विवाह की बेला निकट आ गई है, परन्तु तुमने तो कोई तैयारी नहीं की है। तुम सोकर उम्र गंवा रही हो। तुमने अपने चर्खे पर अभी तो ताना भी नहीं चढ़ाया। तुम मिलन के अवसर पर क्या करोगी? तुम्हारा दहेज तो अभी तैयार नहीं है।

बुल्लेशाह पंजाबी भाषा के कवि थे, परन्तु उस युग के संत कवि किसी एक भाषा से बंधे हुए नहीं होते थे। उन्हें समाज के विभिन्न वर्गों में अपनी बात पहुंचानी होती

थी, इसलिए जब जैसी जरूरत होती थी वे अपनी भाषा में नया रंग भर लेते थे। भाषा का यह खुला रूप बुल्लेशाह की कई कविताओं में दिखाई देता है। उदारता और सहिष्णुता से भरपूर सूफी परम्परा में बुल्लेशाह जैसा मतवालापन और फक्कड़-मिजाजी, धर्म/मज़हब की तंगदिली को पूरी तरह नकार देने वाला व्यक्तित्व दूसरा नहीं दिखाई देता।

(दैनिक जागरण, 2-3-2000)

हुक्मनामों के लिए एक निश्चित नीति होनी चाहिए

पिछले दिनों पंजाब के कुछ बुद्धिजीवियों ने अकाल तख़्त के जत्थेदार से एक निवेदन किया कि जत्थेदार साहब को कोई भी हुक्मनामा जारी करने से पहले धार्मिक प्रकृति के कुछ व्यक्तियों से विचार-विमर्श करना चाहिए। अपने आप कोई हुक्मनामा जारी नहीं करना चाहिए। इस सुझाव की कोई सकारात्मक प्रतिक्रिया नहीं हुई। यह अवश्य हुआ कि कुछ लोग यह कहने लगे कि जिन बुद्धिजीवियों ने ऐसा सुझाव दिया है, उनके विरुद्ध 'हुक्मनामा' जारी करके उन्हें अकाल तख़्त पर तलब किया जाना चाहिए।

पिछले दो दशकों में सिख परिवेश में हुक्मनामों की बड़ी चर्चा है। इससे पहले इस्लामी परिवेश में फतवों की बड़ी चर्चा सुनी जाती थी। सिख समाज की अपनी कुछ गौरवमयी संस्थाएं हैं जो गत 500 सौ वर्षों में बनी और विकसित हुई है। इनमें बिना किसी भेदभाव के गुरु-दरबार में आने की छूट, परमेश्वर की स्तुति में सम्पूर्ण मानव समाज की एक समान भागीदारी, समाज को सभी समस्याओं (आध्यात्मिक और लौकिक) के निदान के लिए जनतांत्रिक पंचायती व्यवस्था, संगत में आकर, सभी के साथ मिल-जुलकर प्रभुचिंतन और सांसारिक समस्याओं के विषय में विचार-विमर्श, सभी के साथ मिलकर भोजन पकाने और एक साथ बैठकर खाने की प्रणाली, 'लंगर' जैसी अनेक संस्थाएं है जिन पर कोई भी समाज गर्व कर सकता है।

संसार का प्रत्येक समाज खुलेपन से सिकुड़न और सिकुड़न से खुलेपन की ओर बढ़ता है। यह द्वंद्वात्मक समाज प्रणाली सदैव चलती रहती है। गुरु नानक के समय व्यापक हिन्दू समाज (और मुसलमान भी) निरर्थक रूढ़ियों और कर्मकांडों की जकड़न में फंसा हुआ था। गुरु नानक ने उसे उसमें से निकालकर विचार और चिंतन के उन्मुक्त वातावरण में लाने का प्रयास किया और समाज के सम्मुख...

'विद्या विचारी तां परउपकारी'

(जो विद्या के प्रकाश में सभी समस्याओं पर विचार करता है, वही परोपकारी कहलाता है।) का आदर्श रखा।

किन्तु अब ऐसा लग रहा है कि उनके द्वारा सृजित सिख समाज फिर वैसी ही रूढ़िवादिता, कर्मकांड और विचारहीनता की जकड़न की ओर बढ़ रहा है, जिसमें से गुरु नानक तथा परवर्ती गुरुओं ने उन्हें मुक्त किया था।

पिछले कुछ वर्षों से अकालतख्त से जारी होने वाले हुक्मनामे बड़ी चर्चा में रहे हैं। 'हुक्मनामा' क्या है? गुरु साहबान के समय उनके द्वारा ज़ो पत्र सिखों को भेजे जाते थे वे एक प्रकार से आज्ञा पत्र होते थे। ऐसे पत्रों को सिख गुरु का हुक्मनामा समझते थे और अत्यन्त श्रद्धाभाव से उन्हें स्वीकार करते थे।

काल के प्रभाव में ऐसे बहुत से हुक्मनामे नष्ट हो गए। पिछले कुछ वर्षों में ऐसे हुक्मनामों की खोज की गई और उन्हें एकत्र किया गया। शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी (अमृतसर) तथा पंजाबी विश्वविद्यालय (पटियाला) द्वारा प्राप्त हुक्मनामों को पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित किया गया है। इसमें छठे गुरु, गुरु हरगोबिंद से पूर्व का कोई 'हुक्मनामा' उपलब्ध नहीं है। इस संग्रह में गुरुओं के अतिरिक्त बाबा बंदा सिंह, गुरू-पत्नियों (माता गूजरी, माता सुंदरी और माता साहब देवी) द्वारा लिखित हुक्मनामे भी हैं। एक हुक्मनामा अकालतख़्त (अमृतसर) से और एक हुक्मनामा हरिमंदिर (पटना) द्वारा लिखा गया भी है।

सिख समाज के सम्पूर्ण संगठन में पंचायती व्यवस्था का बहुत महत्त्व है। गुरू नानक ने अपनी रचना 'जपुजी' में कहा है कि ईश्वर दृष्टि में पंच ही स्वीकृत है, ये पंच ही समाज के मुखिया है और पंचों को ही प्रभु के दरबार में सम्मान प्राप्त होता है। गुरुवाणी में पंच शब्द सत्पुरुषों के लिए प्रयुक्त हुआ है। गुरु गोबिंद सिंह द्वारा पांच प्यारों का चयन किया जाना इसी प्रक्रिया का अंग है। सिखों के 'तख़्त' भी पांच हैं। सभी तख़्तों की मान्यता बराबर है, किन्तु अकालतख़्त इनमें सर्वप्रमुख है। इसलिए अकाल तख़्त से जो भी हुक्मनामें जारी होते रहे हैं उनमें पांचों तख़्तों के जत्थेदार सहभागी होते रहे हैं।

तख़्तों से हुक्मनामे जारी होने की कोई पुष्ट परम्परा उपलब्ध नहीं है। 1925 में शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी अस्तित्व में आई। उससे पहले ऐसे हुक्मनामों के इक्का-दुक्का उदाहरण ही मिलते हैं, ऐसे हुक्मनामों में कुछ स्थानीय समस्याओं का उल्लेख होता था अथवा तख़्त की कुछ आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए धन अथवा सामग्री भेजने का आदेश होता था।

सिख गुरुओं के सभी आदेशों और सिख धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों के बावजूद सिखों में जाति-पात और ऊंच-नीच का भाव पूरी तरह नष्ट नहीं हुआ था। इसलिए 13 जून, 1939 में अकाल तख़्त से जारी हुकमनामे में सिखों को यह आदेश दिया गया

कि वे दलित वर्ग और पिछड़ी जाति के लोगों के साथ बराबरी का व्यवहार करें। सन् 1950 में भी अकालतख़्त से जारी एक हुक्मनामा जाति-पात और ऊंच-नीच की भावना के विरुद्ध था, जिसमें कहा गया था कि सरबत खालसा और गुरुद्वारों के सभी सेवादारों के लिए श्री अकाल तख़्त का हुक्म है कि अमृतधारी सिख वही है जो प्राणिमात्र के साथ संगत-पंगत में एक जैसा व्यवहार करता है। व्यक्ति से उसकी जाति-पात नहीं पूछता, किसी प्रकार का भ्रम नहीं पालता—यही गुरु जी की आज्ञा है।

अकाल तख़्त पर हाज़िर होने और दंड (तनखाह) भुगतने की परिपाटी 1961 में मास्टर तारा सिंह और संत फतेह सिंह की घटना से प्रारम्भ हुई। उन्होंने अकाल तख़्त पर की गई अपनी अरदास में यह प्रतिज्ञा की थी कि वे पंजाबी सूबे की प्राप्ति होने तक अपना आमरण सत्याग्रह जारी रखेंगे। किन्तु उन्होंने लक्ष्य प्राप्त किए बिना ही अपना अनशन तोड़कर अपनी प्रतिज्ञा भंग कर दी थी। उनके इस कृत्य से अकाल तख़्त पर की गई 'अरदास' का अपमान हुआ था इसलिए उन्हें वहां बुलाया गया था और उन पर तनख़ाह लगाई गई थी।

इसके बाद तो जैसे हुक्मनामों की झड़ी लग गई। सन् 1978 में जब निरंकारियों के विरुद्ध हुक्मनामा जारी हुआ तो उससे जैसे एक नया दौर प्रारम्भ हुआ। उसके पश्चात् अकाल तख़्त की छत्र-छाया में इतने हुक्मनामे जारी हुए कि सम्पूर्ण देश में हुक्मनामा, तनखाह और तनख़ाईया जैसे शब्द उन लोगों में भी पहचाने जाने लगे जिन्होंने ये शब्द कभी नहीं सुने थे।

सम्पूर्ण सिख समाज को प्रभावित करने वाले हुक्मनामें पांचों तख़्तों के जत्थेदारों की उपस्थिति और भागीदारी से जारी किए जाते तो सिख परम्पराओं की सही तर्जुमानी होती। किन्तु शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंध कमेटी का कार्य क्षेत्र और अधिकार कानूनन पुराने पंजाब तक ही सीमित है। पटना तथा नादेड़ के तख़्त इसकी सीमा में नहीं आते, इस कारण अकाल तख़्त (अमृतसर) से जारी हुक्मनामों में इन दोनों तख़्तों के जत्थेदारों को शामिल नहीं किया जाता रहा है। पांच की गिनती पूरी करने के लिए अकाल-तख़्त और हरिमंदिर (अमृतसर) के मुख्य ग्रंथियों को उनमें सम्मिलित कर लिया गया। फिर भी एक चलन तो बना ही रहा कि पंजाब क्षेत्र के तीन तख़्तों के जत्थेदार और दो मुख्य ग्रंथी ऐसे निर्णयों में सम्मिलित होते रहे।

पंजाब से बाहर के दो तख़्तों के जत्थेदारों को सम्पूर्ण सिख-पंथ को प्रभावित करने वाले निर्णयों से वंचित रखने के संबंध में टीका-टिप्पणी निरन्तर होती रही है और यह मत भी व्यक्त किया जाता रहा है कि ऐसे हुक्मनामे समूचे सिख समाज पर कैसे लागू हो सकते हैं जिनमें दो तख़्तों के जत्थेदारों की सहभागिता और सहमति न हो। किन्तु यह प्रथा इसलिए चलती रही कि एक दिन अखिल भारतीय गुरुद्वारा कानून बन जाएगा और पटना तथा नांदेड़ के तख़्त उस कानून के तहत एक सांझी व्यवस्था के अंग बन जाएंगे।

किन्तु भाई रणजीत सिंह के अकाल तख़्त का जत्थेदार पद संभालने के बाद एक नई बात बननी प्रारम्भ हो गई। हुक्मनामा जारी होने की प्रक्रिया में पंजाब से बाहर के जत्थेदार तो पहले ही शामिल नहीं किए जाते थे, भाई रणजीत सिंह ने केसगढ़ (आनन्दपुर साहब) और दमदमा साहिब (भटिंडा) के जत्थेदारों को भी इस प्रक्रिया में सम्मिलित न करने का फैसला कर लिया। इससे समूचे सिख-समाज के सम्मुख यह प्रश्न उभर आया कि क्या चार तख़्तों के जत्थेदारों की उपेक्षा करके केवल अकालतख़्त के जत्थेदार द्वारा जारी किया गया कोई भी हुक्मनामा परम्पराओं के अनुकूल हैं? क्या ऐसा हुक्मनामा वैध है? क्या यह सही अर्थ में हुक्मनामा है? क्या इससे सिखों की परम्परागत पंचायती कार्यप्रणाली नहीं भंग होती? और क्या इससे एक ख़तरनाक क़िस्म की पुरोहितगीरी और तानाशाही को प्रोत्साहन नहीं मिल रहा है?

स. शमशेर सिंह अशोक ने अपनी पुस्तक 'शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी का 50 वर्ष का इतिहास' में एक घटना का उल्लेख किया है। सन् 1934 में शिरोमणि कमेटी की एक सभा में एक प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकार किया गया था। इस प्रस्ताव में कहा गया था—''शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंध कमेटी की इस सभा के विचार में किसी एक व्यक्ति को समूचे पंथ का डिक्टेटर मानना गुरुमत के सिद्धान्तों, पंथ की परम्पराओं और पंचायती चलन के विरुद्ध है और ऐसा करना सिखी की शान के खिलाफ है (पृष्ठ 117)।

जो बात उस समय शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंध कमेटी की आम सभा में एक प्रस्ताव द्वारा स्वीकार की गई थी, उसे भाई रणजीत सिंह ने पूरी तरह नकार दिया और अपने कार्यकाल में स्वयं ही इतने हुक्मनामे जारी कर दिए जितने सम्पूर्ण सिख इतिहास में नहीं किए गए थे।

भाई रणजीत सिंह ने जिस प्रकार का रवैया अपनाया था, उससे वे बहुत विवादास्पद हो गए थे। शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी के तत्कालीन अध्यक्ष स. गुरचरण सिंह तोहड़ा ने ही उन्हें अकाल तख़्त का जत्थेदार बनाया था। गत वर्ष पंजाब की सिख राजनीति में जो उबाल आया था उसने तत्कालीन मुख्यमंत्री प्रकाश सिंह बादल और शिरोमणि कमेटी के उस समय के अध्यक्ष गुरुचरण सिंह तोहड़ा में गहरे मतभेद पैदा कर दिए थे। शिरोमणि कमेटी के चुने हुए सदस्यों में बादल का बहुमत है, इसलिए एक अविश्वास प्रस्ताव द्वारा तोहड़ा को अध्यक्ष पद से हटाकर बीबी जागीर कौर को कमेटी का अध्यक्ष चुन लिया गया था। यही बात भाई रणजीत सिंह के साथ भी हुई। कमेटी ने उन्हें भी जत्थेदार के पद से हटा दिया और ज्ञानी पूरन सिंह को नया जत्थेदार बना दिया गया। यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि सन् 1925 में बने गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी ही पंजाब क्षेत्र के सभी ऐतिहासिक गुरुद्वारों के जत्थेदारों और ग्रंथियों की नियुक्ति करती है। इस गणित के हिसाब से शिरोमणि कमेटी का अध्यक्ष और उसकी कार्यकारिणी से कोई भी (वेतन भोगी) जत्थेदार टकराव उत्पन्न करने की बात नहीं सोचता।

शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंध कमेटी गुरुद्वारों के प्रबंध में सुधार के लिए बनी थी। उसका क्षेत्र पूरी तरह धार्मिक था। किन्तु अपने जन्म के तुरन्त बाद से ही इसमें ऐसी धड़े बंदी ने उभरना शुरू कर दिया था जिसके पीछे सत्ता-लोलुपता प्रमुख थी। उसका परिणाम यह हुआ कि शिरोमणि कमेटी राजनीतिक उठा-पटक का पूरी तरह शिकार बन गई और जत्थेदारों की नियुक्ति में भी वह अपनी प्रमुख भूमिका निभाने लगी। हुक्मनामों के जारी करने, किसी को अकालतख़्त पर बुलाने, उस पर तनखाह लगाने, उसे पंथ से बहिष्कृत करने की बात भी धार्मिक परिधि की बातें नहीं रहीं। उनमें भी राजनीतिक स्वार्थ काम करने लगे।

हुक्मनामों को लेकर जो आपाधापी भाई रणजीत सिंह के समय में आरम्भ हो गई थी, वह आज नहीं है। जत्थेदार जोगिन्दर सिंह वेदान्ती ने इस दृष्टि से अधिक संयम से काम लिया है। किन्तु सिख संगत यह चाहती है कि इस दृष्टि से ऐसी परम्परा का पालन किया जाए जो व्यक्ति केन्द्रित न होकर सिद्धान्त केन्द्रित हो। शिरोमणि कमेटी की एक धर्म प्रचार समिति है। इस दृष्टि से कम से कम इतना तो किया ही जाना चाहिए कि अकाल तख़्त से जो भी हुक्मनामा जारी हो, उसे पहले धर्म प्रचार कमेटी के सम्मुख रखा जाए और उसकी सहमति से ही उसे जारी किया जाए।

(दैनिक जागरण, 9-3-2000)

गुरु गोबिन्द सिंह के सपनों का समाज

तीन सौ वर्ष पहले, सन् 1699 की बैसाखी के दिन, गुरु गोविंद सिंह ने एक नये प्रकार के समाज की संरचना का बीड़ा उठाया। नये प्रकार के समाज की उनकी क्या परिकल्पना थी? वे कैसा समाज बनाना चाहते थे? आज यह जिज्ञासा बहुत स्वाभाविक है।

किसी भी महान व्यक्तित्व की महानता इस बात पर निर्भर करती है कि मनुष्य के अन्तःबाह्य व्यक्तित्व के निर्माण और विकास संबंधी उसकी अवधारणा क्या है और उसकी पूर्ति के लिए वह कौन से व्यावहारिक कदम उठाता है। मनुष्य के मानसिक और सामाजिक संदर्भ की दृष्टि से गुरु गोबिंद सिंह का यह कवित्त बहुत महत्त्वपूर्ण है–

कोऊ भयो मुंडिया सन्यासी कोऊ जोगी भयो
कोऊ ब्रह्मचारी कोऊ जाति अनुमानो।
हिन्दू तुरक कोऊ राफजी इमाम शाफी,
मानस की जात सवै एकै पहचानबो।।
कर्ता करीम रोई राजक रहीम ओई,
दूसरो न भेद कोई भूल भ्रम मानवो।
एक ही की सेव, सभही को गुरुदेव एक,
एक ही सरूप सब एकै जोत जानबो।।

गुरु गोबिंद सिंह की सभी मनुष्यों की मूलभूत एकता, समता और अभिन्नता में गहरी आस्था थी। बाह्य संसार में जो विभिन्नता दिखाई देती है वह कृत्रिम है, दिखावा है और व्यक्तिजनित है। इसलिए गुरु गोबिंद सिंह कहते हैं–

देहरा मसीत सोई, पूजा ओ निवाज ओई,
मानस सवै एक पै अनेक को भ्रमाउ है।
देवता अदेव जच्छ गंधर्व तुरक हिन्दू,
निआर निआरे देसन के भेस को प्रभाउ है।।
एकै नैन एकै कान एकै देह एकै बान,
खाकं बाद आतस और आव को रलाउ है।
अल्लह अभेख सोई पुरान औ कुरानं ओई,
एक ही स्वरूप सवै एक ही बनाउ है।।

संसार में दो प्रकार की विचारधाराएं किसी न किसी रूप में सदा प्रचलित रही हैं। एक विचार यह है कि प्रकृति की ओर से ही सभी प्राणियों को असमान बनाया गया है। कुछ जीव अधिक शक्तिसम्पन्न होते हैं, कुछ दुर्बल होते हैं, कुछ छोटे होते हैं, कुछ बड़े होते हैं।

सभी मनुष्य भी बराबर नहीं होते। अपने वर्ण, जन्म, वंश, विद्या, शक्ति, धन और नैन-नक्श आदि अनेक कारणों से असमानता होती है। इस देश में प्रचलित वर्ण-व्यवस्था का प्रारंभिक स्वरूप कुछ भी रहा हो, बाद में वह पूरी तरह असमानता के सिद्धांत का प्रतिपादन करने लगी थी। मनुस्मृति सहित अनेक स्मृतियां इस असमानता का समर्थन ही नहीं करती हैं, बल्कि उसी को 'धर्म' बताती हैं। समाजशास्त्री इसे सोपानिक व्यवस्था कहते हैं।

इस सीढ़ी पर कुछ सबसे ऊपर हैं, कुछ उनसे नीचे, कुछ उनसे भी नीचे। जहां ऊंच-नीच का अंतर सामाजिक या राजनीतिक आधार पर निर्मित और विघटित होता रहा है, वहां स्थितियों में परिवर्तन की संभावना अधिक व्यापक होती है, किन्तु जहां इसे जन्मना मान लिया जाए और उसे धार्मिक स्वीकृति और समर्थन भी प्राप्त हो जाए वहां व्यक्ति सोपान की जिस सीढ़ी पर एक बार खड़ा हो गया, उसकी सामाजिक स्थिति निर्धारित हो गई और उस स्थिति को मर्यादा मान लिया गया, वहां परिवर्तन की संभावनाएं बहुत क्षीण और दूभर हो गई। इस देश की वर्ण-जाति व्यवस्था ऐसी ही है।

इस स्थिति के समस्त समतावादी मूल्यों की प्रतीक्षा का प्रयास भी निरन्तर होता रहा, जिसमें बार-बार इस बात पर आग्रह किया कि समाज व्यवस्था का रूप खड़ी रेखा न होकर पड़ी रेखा के रूप में होना चाहिए, जहां सभी लोग, सभी वर्ग, सभी राष्ट्रीयताएं या जातीयताएं बराबरी का मानस लेकर परस्पर प्रभावशील हों।

मानवीय समता और एकता की बात लगभग सभी धर्म, सभी विचारधाराएं और सभी अगुवा करते आए हैं, किन्तु संसार में बोलबाला कभी ऊंची जाति का, रंग का, प्रदेश का, धन का या राजसत्ता का रहा है।

इसी को आधार बनाकर कुछ लोग विशाल जनमसुदाय पर शासन करते हैं, उसका शोषण करते हैं, उस पर जुल्म करते हैं, और उसे सदा-सदा के लिए दलित बनाए रखना

चाहते हैं।

गौतम बुद्ध से लेकर गुरु नानक तक (और बाद में गांधी जी तक) सभी इस ऊंच-नीचवादी व्यवस्था की आलोचना में परमात्मा के सर्वव्यापी, घट-घटवासी, सर्व-पालक, सर्व-पिता आदि गुणों का सहारा लेते हैं।'' परमात्मा की दृष्टि में सभी बराबर हैं'' और ''जाति पूछै नहिं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई'' जैसे आदर्श सिद्धान्त-वाक्य बहुत दूर तक इस देश में सामाजिक असमानता और विषमता को दूर करने में सहायक नहीं हुए। इन प्रयासों का असर कुछ लोगों पर हुआ। वे अपना अलग पंथ और मत बनाकर बैठ गए। बहुसख्ंयक समाज उसी पुराने ढर्रे पर चलता रहा।

गुरु गोबिंद सिंह ने तीन सौ वर्ष पहले अनुभव किया कि इस ऊंच-नीचवादी व्यवस्था से पीड़ित लोगों को यदि ऊपर उठाना है और उनमें बराबरी का विश्वास उत्पन्न करना है तो समतामूलक धार्मिक सिद्धान्तों के साथ ही अन्य उपाय भी करने होंगे। उन्होंने ऐसे तीन उपाय किए—एक—पिछड़े और पीड़ित लोगों में मन में गहरे तक जड़ जमाए बैठी हीनभावना को दूर करने का मनोवैज्ञानिक उपाय। दो—इसके लिए वर्गान्तर करना अर्थात् इन लोगों से ऐसे कार्य करवाए जिन पर केवल उच्च समझे जाने वाले वर्णों या समूहों का एकाधिकार था। तीन—इन वर्गों में भी सत्ता में भागीदारी की आकांक्षा उत्पन्न करना।

उन्नीसवीं शती के उत्तरार्द्ध की एक रचना 'पंथ प्रकाश' के रचयिता ज्ञानी ज्ञान सिंह ने एक घटना का उल्लेख किया है। एक दिन गुरु गोबिन्द सिंह के सम्मुख कुछ सिखों ने आकर पुकार की कि तुर्क हमें बड़ा दुख देते हैं। आपके लिए हम जो सुंदर वस्तुएं और भेंट लेकर आते हैं, मार्ग में हमसे छीन लेते हैं। हममें इतनी सामर्थ्य नहीं कि हम उनसे बच सकें। हे सतगुरु, आप इसका कोई उपाय बताइए।

गुरु गोबिंद सिंह ने कहा—तुम अपने हाथ में शस्त्र लो और उनका सामना करो—

इह सुन कै गुरु ऐस उचारो
तुम शस्त्र फड़ उनको मारो

यह सुनकर वे लोग बड़े अधीर हुए। कहने लगे—मुगल-पठान बड़े वीर हैं, शस्त्र-विद्या के ज्ञाता हैं। हम तो उनके सामने अज्ञानी बालकों की तरह है। हम मोठ-बाजरा खाते हैं, वे शराब-कबाब उठाते हैं। हम बकरी, चिड़िया, तीतर के समान हैं, वे बाज और भेड़िए की तरह हैं। हम उनसे कैसे लड़ सकते हैं? उन्हें देखकर तो हम थरथर कांपने लगते हैं—

सुन सिख बोले होइ अधीर
मुगल पठानादिक बड़ वीर।
सस्त्र विद्या के सो ज्ञाता।

हम उन आगे बल अज्ञाता।
मोठ बाजरी हम नित खैहैं।
सोऊ शराब-कबाय उड़े हैं।
बकरी चिड़िया तीतर सम हम।
बाज बचयाड़न तैं सो नहिं कम।
उनसे लड़ना तो किम हो है।
सम्मुख बात आत नहि को है।
पेख उनै हम थरथर कपै।
जो सो चहित देत हम सपै।

यह सुनकर गुरु गोबिंद सिंह ने सोचा कि ये लोग तुर्कों से इतना क्यों डरते हैं। एक तो ये लोग गरीब हैं, दूसरे इनके नाम भी बहुत दब्बू किस्म के हैं। तीसरे इनकी छोटी जाति का अहसास इनमें हीनता की भावना पैदा करता है। उन्होंने सोचा कि इनसे पुराने जाति-कर्म छुड़वाकर इनमें क्षत्रियों का तेज भरना चाहिए। जब इन्हें 'सिंह' नाम मिलेगा तो इसमें वीर रस का संचार होगा। इन्हें शिकार खेलना चाहिए, इन्हें युद्ध करना आना चाहिए—

इह सुन सतगुरु ऐस विचारी।
एहु दबे रहे उनै अगारी।।
इक तो करम गरीबी के हैं।
दूसर नाम निकारो से हैं।
तीसर जाति कमो जट वणीए।।
नाई छीबै झीउर गणीए।
रोड़े खत्री सैणी खाती।
वणजारे आदिक बख्याती।।
तांते इनके जाती करम।
छुड़वा भरो क्षत्री धरम।
सिंह नाम शस्त्री जब थैहैं
पाण बीर रस की चढ़ जैहै
खेलन इन्हें शिकार सिखईए।
सिख मत जंग करन की दईऐ।।

उन्होंने यह भी निश्चय किया कि वे बड़े लोगों को छोड़कर नीचे समझे जाने वाले लोगों को मान-सत्कार देंगे, वैसे ही जैसे सोने की अंगूठी बड़ी उंगलियों को छोड़कर छोटी उंगली में पहनाई जाती है—

पुन सभ जन की लघु उंगरी
तज बड़ीअन तिह पावत मुंदरी

यह बात वैसाखी 1699 अर्थात् 'खालसा' स्वरूप के निर्माण से पहले की हैं। उन्होंने निश्चय किया कि जैसे भगवान रामचंद्र ने अपने अभियान के लिए द्विजों और ऋषियों का सहारा न लेकर वानरों और भालुओं जैसे आदिवासी जातियों को अपने साथ लिया और उन्हें संसार में पूज्य बना दिया, कृष्ण ने भी ग्वालों को अपना मित्र बनाया, मैं भी छोटे समझे जाने वाले लोगों को अपने साथ लूंगा।

गुरु गोविंद सिंह ने निश्चय किया कि वे छोटी समझी जाने वाली जातियों को बड़प्पन देंगे। जिनकी जाति और कुल में कभी सम्मान नहीं आया, सरदारी नहीं आई, ऐसे कीड़े समझे जाने वाले लोगों को मैं शेर बनाऊंगा। इनके सामने तुर्कों के झुंड हाथियों की तरह भागेंगे। इन्हें मैं सरदार बनाऊंगा। तभी मेरा गोबिंद सिंह नाम सार्थक होगा।

जिन की जाति और कुल माहीं।
सरदारी नहिं भई कदाहीं।
कीटन तै इसको मृगिंदू।
करो हरन हित तुरक गजिंदू
इन ही को सरदार बनावों।
तबै गोबिन्द सिंह नाम सदावो।।

यह विचार कर के बैसाखी वाले दिन गुरु गोविंद सिंह ने खालसा पंथ का निर्माण किया–

इहु विचार कर सतगुरु पंथ खालसा कीन।
भीरू जाति के तईं अती बड़प्पन दीन।।

प्राचीन पंथ प्रकाश के रचयिता भाई रतन सिंह भंगू ने अनेक जातियों के नाम गिनाए हैं जो सदियों से राजनीति से दूर थे, जिन्होंने सपने में भी पातशाही के बारे में नहीं सोचा था। ऐसे लोगों को गुरु गोबिन्द सिंह ने अपने साथ जोड़ा, इन्हें सिंह बनाया, इनके हाथ में अस्त्र-शस्त्र दिये और इनके मन में यह विश्वास उत्पन्न किया कि वे संसार की बड़ी से बड़ी शक्ति से टकराने का दावा कर सकते हैं। यह बहुत बड़ा चमत्कार था। गुरु गोबिन्द सिंह ने यह चमत्कार कर दिखाया।

नीच समझे वाले लोगों को अपने आन्दोलन में इतनी प्रमुखता देने का ही परिणाम था कि वैसाखी के दिन जिन पांच व्यक्तियों ने गुरु के सम्मुख आकर अपना सिर देने का प्रस्ताव रखा उनमें एक खत्री था, दूसरा जाट, तीसरा कहार, चौथा नाई और पांचवां धोबी था।

उस समय की समाज व्यवस्था में यह बात बड़ी अनहोनी जैसी थी। उच्च वर्ण के लोगों ने, यहां तक कि उनके सम्बन्धियों ने भी, उनकी इस नीति का विरोध किया था। दशम ग्रंथ में किन्हीं पंडित केशो राम को उसकी आपत्तियों का उत्तर देते हुए गुरु गोबिंद सिंह ने कहा था– मैंने अपने सभी युद्ध इन लोगों की सहायता से ही जीते हैं। मेरे सभी कष्ट इन्हीं की कृपा से दूर होते हैं, मेरी विद्या भी इन्हीं की कृपा का प्रसाद है, इन्हीं के कारण मेरे शत्रु मृत्यु को प्राप्त होते हैं, इन्हीं की कृपा से मेरा इतना सम्मान है, नहीं तो मेरे जैसे करोड़ों लोग इस दुनिया में हैं।

युद्ध जिते इनही के प्रसादि इनही के प्रसादि सु दान करे।
अघ अउघ टरै इनही के प्रसादि इन्हीं को कृपा पुन धाम भरे।।
इनही के प्रसादि सु विदिया लई इनही की कृपा सभ शत्रु मरे।।
इनही की कृपा तै सजै हम हैं नहि मो सो गरीब करीर परे।

गरीब और दलित लोगों को इतना सम्मान अपने युग में गुरु गोबिंद सिंह ने ही दिया था।

अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने कहा था—मुझे इन्हीं की सेवा करना अच्छा लगता है, इन्हीं को दान देना भला लगता है, इन्हीं को दिया हुआ ही आगे चलकर फलदायी होगा, शेष तो सब कुछ बहुत फीका है। इसलिए मेरा घर मेरा तन-मन, सिर और धन सब इन्हीं का है–

सेव करी इन्हीं की भावत अउर की सेव सुहात न जी को।
दान दयो इन्हीं को भलो अरु आन को दान न लागत नीको।
आगे फलै इनही को दयो जग में जस अउर दयो सभ फीको।
मो गृह मो तन से मन ते सिर लउ धन है सब ही इनही को।।

गुरु गोबिंद सिंह ने छोटे और हीन समझे जाने वाले लोगों के मन में जिस आत्मविश्वास का संचार किया था, उनमें अपने अधिकारों के प्रति जो जागरुकता उत्पन्न की थी और जिस शोषणविहीन समतावादी समाज की उन्होंने संकल्पना की थी, आधुनिक भारतीय समाज उसे ही प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील दिखता है। तीन सौ वर्ष पूर्व खालसा पंथ के निर्माण की पृष्ठभूमि पर यही परिकल्पना कार्य करती दिखाई देती है।

(दैनिक जागरण, 13-4-2000)

बुद्ध ने कहा था–स्वयं आत्मदीय बनो (अप्प दीपो भव)

भारतीय दर्शन की प्रवृत्तियों को ऐतिहासिक क्रम से विश्लेषित करना सरल नहीं है। इसका मूल कारण यह है कि यहां दर्शनों का विकास केवल व्यक्तियों द्वारा नहीं, बल्कि सम्प्रदायों के रूप में व्यक्ति समूहों द्वारा हुआ। भारतीय दार्शनिक विचार धाराएं–न्याय, वैशेषिक, सांख्य, वेदान्त, जैन, दर्शन, बुद्ध-दर्शन आदि का विकास अत्यन्त प्राचीनकाल से प्रारम्भ होकर हज़ारों वर्ष तक समानान्तर भाव से होता रहा।

भारतीय दर्शन का वास्तविक आरम्भ उपनिषदकाल से माना जाता है। वैदिक काल के बीज उपनिषदों में अंकुरित हुए हैं। उपनिषदों की जिज्ञासा का एक प्रमुख विषय विश्व का मूल तत्व है, वह तत्व जिसके जानने से सब कुछ जाना जाता है। तत्व को जानने की खोज में वैदिक दर्शन इस सीमा तक उलझा रहा कि समाज और व्यक्ति के व्यावहारिक जीवन से उसका संबंध टूट सा गया। भारतीय दर्शन को भगवान बुद्ध की सबसे बड़ी देन यह थी कि उन्होंने उसे कोरे तत्व-चिंतन की परिधि से निकाल कर व्यक्ति और समाज के लौकिक सुखों और दुखों से जोड़ा।

बुद्धदेव कोई नवीन मार्ग बताने का दावा नहीं करते। उन्होंने कहा था–"मैंने प्राचीन मार्ग को देखा है–उस पुरातन पथ को जिस पर पिछले प्रबुद्धजन चल चुके हैं। मैं उसी पथ का अनुसरण कर रहा हूं। बुद्ध ने बोधि अथवा ज्ञान की बात कही है। यह केवल सैद्धान्तिक ज्ञान नहीं है यह वह ज्ञान है जो कामना की जड़ों को काट देता है।

बुद्ध देव बचपन से ही गम्भीर एवं चिन्ताशील प्रवृत्ति के थे। छोटी-छोटी घटनाएं उन पर गहरा प्रभाव डालती थीं। ऐसा प्रसिद्ध है कि रथ में सैर करते हुए बूढ़े, बीमार और मृत व्यक्ति को देखकर उनका मानसिक असन्तोष बढ़ा। अंत में प्रसन्नमुख संन्यासी देखकर, उन्हें उसके हल का मार्ग सूझा। 28 वर्ष की आयु में गृहस्थ और राज-पाट के

सब सुखों को छोड़कर वे घर से निकल पड़े। यही उनका 'महाभिनिष्क्रमण' कहलाता है। पहले कुछ समय तक उन्होंने राजग्रह के दो प्रधान दार्शनिकों से शिक्षा-ग्रहण की किन्तु इनसे उनकी ज्ञान-पिपास शांत नहीं हुई। गृहस्थों के कर्म कांड से ऊबकर वे ज्ञान-मार्ग की ओर बढ़े थे, किन्तु यहां उन्हें सूखी दिमागी कसरत ही दिखायी दी। इसके बाद उन्होंने तपस्या का मार्ग पकड़ा। पांच साथियों के साथ उन्होंने 6 वर्ष तक घोर तपस्या की, फिर भी शांति नहीं मिली। कहते हैं कि एक बार कुछ नाचने वाली स्त्रियां उस जंगल में से गुजरी। उनके गीत की ध्वनि उनके कान में पड़ी। वे गा रही थीं—वीणा के तार को अधिक ढीला न करो, नहीं तो वह बजेगा नहीं, उसे इतना अधिक कसो भी नहीं कि वह टूट जाए। इससे गौतम को यह ज्ञान हुआ कि वे अपने जीवन के तार एकदम कसे जा रहे हैं। इस तरह कसने से उनके टूटने की संभावना है। उन्होंने तपस्या का मार्ग छोड़ दिया। कुछ समय बाद एक पीपल के पेड़ के नीचे बैठे हुए उन्हें बौद्धि (ज्ञान) प्राप्त हुई और वे बुद्ध बन गए।

भारतीय दर्शन को आचार प्रधान स्वरूप देने में बुद्धदेव का योगदान अपूर्व था। उनकी मध्यम-मार्ग की परिकल्पना भारतीय चिंतन के लिए एक नया मोड़ थी। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि मनुष्य को न तो भोग-विलास की अति में फंसना चाहिए और न कठोर तपस्या की अति का आलम्बन करना चाहिए। दोनों अतियों को छोड़कर मध्यमार्ग पर चलना चाहिए।

भगवान बुद्ध ने कहा—संसार में चार आर्य सत्य है—(1) संसार दुःखमय है, (2) दुःख का कारण तृष्णा है, (3) तृष्णा के निरोध से दुःख का निरोध होता है, (4) इसका उपाय अष्टांग मार्ग है।

अष्टांग मार्ग जीवन में आठ सत्यों का पालन करना है—सम्यक दृष्टि, सम्यक भाव, सम्यक भाषण, सम्यक व्यवहार, सम्यक निर्वाह, सम्यक प्रयत्न, सम्यक विचार और सम्यक ध्यान।

बुद्धदेव यज्ञादि के विरोधी थे और उग्र तपश्चर्या के थी। एक कर्मकांडी ब्राह्मण से उन्होंने कहा, 'हे ब्राह्मण यह मत समझो कि पवित्रता अग्नि में समिधा डालने से होती है। यह तो बाह्य बात है। इसे छोड़कर मैं तो अपने भीतर अग्नि जलाता हूं। आन्तरिक यज्ञ में सुवा (घी डालने का चम्मच) वाणी है और हृदय ही यज्ञ-वेदी है।

बुद्धदेव के समय भारतीय दर्शन या तो कोरे बौद्धिक चिंतन में ग्रस्त था या पशुवलि से भरे यज्ञों और कर्मकांडी जीवन-पद्धतियों से घिरा हुआ था। बुद्ध ने अनुभव की गरिमा दी और उसे लोक जीवन से जोड़ा भगवान बुद्ध के उपदेश उस समय की लोक भाषा (पालि) में थे। वे प्रायः अपने उपदेशों में सुंदर दृष्टान्तों का प्रयोग करते थे। सबसे बड़ी बात कि भगवान बुद्ध द्वारा प्रतिपादित आचार-प्रधान धर्म के द्वार सब के लिए खुले हुए थे। उसमें ब्राह्मण-शूद्र, स्त्री-पुरुष सभी के लिए स्थान था। किसी प्रकार के वर्ग भेद, जाति-पात या ऊंच-नीच का कोई स्थान उनके द्वारा प्रवर्तित धर्म में नहीं था।

भगवान बुद्ध ने अंधविश्वास और अंधश्रद्धा को कभी महत्व नहीं दिया। वे व्यक्ति के स्वतंत्र चिंतन और अनुभवजन्य ज्ञान के समर्थक थे। उन्होंने सदा यही कहा कि किसी बात को केवल इसीलिए मत स्वीकार कर लो कि वह किसी ऋषि द्वारा कही गयी है अथवा किसी धर्म शास्त्र में लिखी है अथवा परम्परा द्वारा उसकी पुष्टि होती है। हर बात को विचार

और तर्क की कसौटी पर कसना चाहिए।

बुद्ध के अनुसार—''मूर्त जगत में आत्मा नहीं मिलती। प्रत्येक वस्तु जो ज्ञान का विषय है, अनात्मभाव है। वस्तुनिष्ठ जगत से दूर कामना के प्रभाव से मुक्त शोक और दुःख से परे भी एक स्थिति है। हम बाह्य आडंबरों से उसे नहीं पा सकते। अज्ञानावस्था में मनुष्य अपनी वास्तविक प्रकृति को भूल जाता है और जो वह नहीं है वही अपने को समझने लगता है। इस सम्पूर्ण दृश्य जगत से परे जो सत्य है उसे उसको जानना चाहिए।'' बुद्धदेव ने कहा—''ऐसे बनो कि आत्मा तुम्हारा दीपक बन जाए—आत्मा ही तुम्हारा एक मात्र आश्रय हो।''

प्रज्ञा प्रकाश की कोई ऐसी स्थिति नहीं है जिसमें कोई वस्तु प्रकाशित होने के लिए न हो, वह कोई ऐसा दर्पण नहीं जिसमें कोई प्रतिबिंब न पड़े। यह तो ऐसी चेतना है जो वस्तुनिष्ठता-आत्मनिष्ठा के भेदों को पार कर जाती है। बौद्धग्रंथों में प्रायः एक 'अजात' (अनुत्पन्न). अकारण एवं सनातन का तथा उस ओर जाने वाले मार्ग का वर्णन आता है। निर्वाण का पंथ नैतिक पथ है। भगवान बुद्ध केवल रीतिवाद का, कर्मकांड का विरोध करते हैं तथा अन्तरानुशासन पर जोर देते हैं। उन्होंने कहा, ''यदि चोगा या वस्त्र-विशेष पहनने से लोभ-द्वेष आदि नष्ट हो जाते तब तो बच्चे के जन्म से ही उसके स्नेही एवं कुटुम्बीजन उसे चोला पहनने को बाध्य करते और कहते—''आओ, चोगा पहन लो, क्योंकि इसे पहनते ही लोभी अपना लोभ तथा विद्वेषी अपना द्वेष छोड़ देंगे।''

भगवान बुद्ध हमसे अपने को बात की सीमा से मुक्त होने को कहते हैं। अपने को कामनाओं से मुक्त करके हम ऐसा कर सकते हैं। यदि हम लालसा की ज्वाला को भोजन देने से इनकार कर दें तो ईंधन के अभाव में आग स्वयं बुझ जाएगी। निर्वाण क्रोध, लोभ, वासना से मुक्त होने का नाम है। यह विनाश नहीं है। यह शाश्वत, स्थित, अनन्त आनन्द की स्थिति है।

निर्वाण की प्रकृति पर कल्पना के घोड़े दौड़ाने से बुद्ध के इनकार का यह अर्थ नहीं है कि वह कुछ नहीं है, बल्कि यह कि वह परिभाषा से परे है। तर्क का आश्रय लेकर बुद्ध ने कुछ तात्विकीय प्रश्नों का, जिन्हें उन्होंने निरर्थक समझा, उत्तर देने से इनकार कर दिया। उन्होंने साधिकारिता के या प्रमाण ग्रंथों के सिद्धान्त को अमान्य कर दिया क्योंकि किसी दूसरे के अधिकार या प्रमाण के कारण मान्य सत्य का जो निजी यत्न से सिद्ध या प्रमाणित न हुआ हो, कोई महत्व नहीं है। उन्होंने बार-बार अपने शिष्यों को यह उपदेश दिया कि मेरे वचनों को गुरु-वचन मानकर मत स्वीकार करो, उनको अपनी बुद्धि की कसौटी पर वैसे ही कसो, जैसे स्वर्णकार सोने को कसता है। निर्वाण से पहले, उन्होंने शिष्यों को यही उपदेश दिया था कि वे 'आत्मदीय' हों, अपनी आत्मा को अपना मार्ग-दर्शक बनायें। यही कारण है कि परवर्ती बौद्ध दार्शनिकों ने निर्बाध होकर दर्शन की सभी समस्याओं पर स्वतन्त्रतापूर्वक विचार किया। इस क्षेत्र में उनके विचार भारतीय दर्शन के उच्चतम विकास को सूचित करते हैं। नागार्जुन, असंग, वसुबन्धु, धर्मकीर्ति विश्व के दार्शनिकों की पहली पंक्ति में आते हैं।

(दैनिक जागरण, 18-5-2000)

कबीर : सूरा सो पहचानिए

गत वर्ष से संत कबीर की छठी जन्म शताब्दी की धूम रही। सारे देश में संत कबीर के अवदान को विभिन्न कोणों से स्मरण किया गया। गत वर्ष सितम्बर मास में लंदन में हुए छठे विश्व हिन्दी सम्मेलन के अवसर पर एक बहुमूल्य सिक्का जारी किया गया था, जिसके एक ओर भारत की राजभाषा हिन्दी की स्वर्ण जयंती तथा छठे विश्व हिन्दी सम्मेलन की चर्चा थी और दूसरी ओर संत कबीर के चित्र से अंकित उनकी छठी शताब्दी को स्थापित किया गया था। कुछ दिन पूर्व ही कबीर समारोह समिति के अध्यक्ष डॉ. लक्ष्मीमल सिंघवी के सद्प्रयास से (12-13 मई को) वाराणसी के गंगाघाट और कबीर चौरो पर आयोजित श्रद्धांजलि और पुण्यस्मरण के कार्यक्रमों में हिमाचल प्रदेश के राज्यपाल पं. विष्णुकांत शास्त्री और उत्तरप्रदेश के राज्यपाल श्री सूरजभान के सानिध्य में दिल्ली से गए अनेक जाने-माने लेखकों ने भाग लिया।

भारतीय जीवन और चिंतन को संत कबीर ने जो अवदान दिया उस पर अनेक दृष्टियों से बहुत कुछ लिखा-बोला गया है। यहां मैं उनके केवल एक पक्ष पर कुछ बात करना चाहता हूं। दूसरी सहस्राब्दि के प्रारंभ होते-होते इस देश के शौर्य का सूर्य पराभव, हतोत्साह, निराशा और फिर कायरता में डूबता हुआ दिखाई देता है। संपूर्ण देश पर धीरे-धीरे ऐसा अंधकार फैलना प्रारंभ होता है जिसकी लपेट में इस सहस्राब्दि की अनेक सदियां सिमटती हुई दिखाई देती हैं। दूसरी सहस्राब्दि के प्रारंभिक वर्षों में ही उत्तर पश्चिम भाग के भारतीय राजा जयपाल और आनन्दपाल गजनी के महमूद के हाथों पराजित होकर अपना राजनीतिक प्रभुत्व खो बैठते हैं। फिर सोमनाथ के मंदिर का ध्वस्त होना, राजस्थान और गुजरात के राजाओं का पराभव और बाद में मोहम्मद गोरी द्वारा पृथ्वीराज चौहान के राज्य की समाप्ति होती है। फिर यह सिलसिला कई सदियों तक चलता रहता है।

15वीं शती में दक्षिण भारत का विजयनगर साम्राज्य नष्ट हो जाता है और संपूर्ण भारत का शौर्य मध्य एशिया के आक्रान्ता कबीलों के आगे घुटने टेक देता है।

इन्हीं सदियों में उभरे भक्ति आन्दोलन पर क्या इस अवसाद भरे पराजय की छाया है? इस आन्दोलन पर विचार करते हुए अनेक मत सामने आए हैं, किन्तु एक बात पर लगभग सहमति है कि भक्ति आन्दोलन से पूर्व राजनीतिक अव्यवस्था और उत्पीड़न तथा सामाजिक सुरक्षा का अभाव था और लोक-जीवन अनेक प्रकार की कुप्रथाओं का शिकार हो गया था। अवसाद की यह छाया सोलहवीं शती के वल्लभाचार्य के इस कथन में दिखाई देती है कि देश-मलेच्छाक्रान्त है, गंगादि तीर्थ दुष्टों द्वारा भ्रष्ट हो रहे हैं, अशिक्षा और अज्ञान के कारण वैदिक धर्म नष्ट हो रहा है, सत्पुरुष पीड़ित तथा ज्ञान विस्मृत हो रहा है, ऐसी स्थिति में एकमात्र कृष्णाश्रय में ही जीवन का कल्याण है।" श्री वल्लभाचार्य और उनके समकालीन महाप्रभु चैतन्य को उस समय कृष्णोपासना में ही सभी प्रकार के कष्टों का निदान दिखाई दिया था, किन्तु कबीर को ऐसे विकल्पहीन समर्पण में ही समस्या का पूर्ण निदान नहीं दिखाई दिया था। स्थिति उन्हें उद्वेलित करती थी, आक्रोश से भरती थी। एक ओर वे अपने समय के पण्डे, पुरोहितों, काजियों, मुल्लाओं को उनके पाखण्डपूर्ण चरित्र के लिए खरी-खोटी सुनाते हैं, तो दूसरी ओर भविष्य में उभरने वाले किसी संभावित प्रतिरोध और संघर्ष की एक मनोभूमिका भी तैयार करते हैं। कबीर के जीवन पर चर्चा करते हुए अभी तक उनके व्यक्तित्व का यह पक्ष अनदेखा सा रहा है, किन्तु मुझे वह बहुत महत्वपूर्ण लगता है।

कबीर का एक पद है—"गगन दमादा बाजियों, पर्‌यो निसानै घाउ। खेत जु मांडियो सूरमा, अब जूझन को दाऊ।। सूरा तो पहिचानिऐ, जु लरे दीन के हेत। पुरजा-पुरजा कठि मरै, कबहूं न छाड़े खेत।।"

इस पद की शव्दावली पूरी तरह वीर रस से भरपूर दिखती है और किसी सूरमा को इस बात के लिए प्रेरित करती है कि वह दीन (गरीब और पीड़ित) जनों के लिए युद्ध करे। इस कार्य में चाहे उसके टुकड़े-टुकड़े हो जाएं, किन्तु वह रणभूमि का भाव अपने मन में न लाए। श्रद्धालु इस पद के आध्यात्मिक अर्थ निकालते हैं और पद में आए सभी रूपकों को भक्तिपरक अर्थ देते हैं। किन्तु एक बात तो ध्यान देने की है ही कि ऐसी शौर्य भरी अभिव्यक्ति तत्कालीन भक्ति साहित्य में अत्यन्त विरल है। आकाश का नगाड़ों की ध्वनि से गुंजारित होना, शस्त्र द्वारा ठीक निशाने का घाव लगना, सूरमा का रणभूमि को खेत की तरह गोड़ना और उसमें जूझने का अवसर ढूंढ़ना, दीन-दुखियों के लिए सूरमा बनकर लड़ना और टुकड़े-टुकड़े हो मर जाना किन्तु रणभूमि को न छोड़ने के लिए निश्चय पर दृढ़ रहना—ऐसी आकांक्षा है जो भक्तिकाल की संपूर्ण मनोभूमिका से सर्वथा अलग दिखती है।

साधारणतः इस बात पर विश्वास नहीं होता कि यह पद संत कबीर का है। इसीलिए

अनेक सुधीजनों में यह विश्वास घर किए रहा है कि ये पंक्तियां गुरु गोबिंद सिंह द्वारा रचित हैं। अनेक प्रसंगों में गुरु गोबिंद सिंह के नाम से ही ये पंक्तियां उद्धृत भी की जाती हैं, यह सोचकर कि ऐसे उद्‌गार गुरु गोबिंद सिंह के अतिरिक्त और कौन व्यक्त कर सकता है।

संत कबीर और गुरु नानक अपने समय के ऐसे दो भक्तिमार्गी व्यक्ति थे, जिनका तेवर उस युग (और परवर्ती युग) के संतों भक्तों से बहुत अलग दिखाई देता है। कबीर का जीवन काल 1399 से 1495 माना जाता है। गुरु नानक का जीवन काल 1469 से 1539 सर्वस्वीकृत है। इस प्रकार जब गुरु नानक का जन्म हुआ था, संत कबीर की आयु 70 वर्ष की थी। ये दोनों महात्मा अपने जीवनकाल में कभी एक-दूसरे से मिले थे, इसका कहीं कोई संकेत नहीं मिलता। किन्तु इनकी भावधारा की साम्यता अद्‌भुत है। गुरु नानक ने संत कबीर की भांति निर्गुण भक्तिधारा की पुष्टि की किन्तु अपने समय की राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक स्थितियों पर बड़ी चुटीली टिप्पणियां कीं। उनके जीवनकाल में ही इस देश पर बाबर का आक्रमण हुआ था। इस घटना के वे चश्मदीद गवाह थे। अपने कुछ पदों में उन्होंने इसका मार्मिक वर्णन किया है। समय से जूझने, किसी महत् उद्‌देश्य के लिए बिना उफ किए, हंसते-हंसते अपना सिर दे देने की बात उन्होंने भी कही है। गुरु नानक का एक पद है–

जउ तउ प्रेम खेलण का चाउं। सिर धर तली गली मेरी आउ।
इतु भारग पैर धरीजै। सिर दीजै काणि न कीजै।

इस पद की संपूर्ण शब्दावली भी वीर भावों को अभिव्यक्ति करने वाली है–''यदि तुम सचमुच प्रेम का खेल खेलना चाहते हो तो अपने सिर को हथेली पर रखकर मेरी गली में आओ। ध्यान रहे, इस मार्ग पर पैर बढ़ाने की एक शर्त है। तुम्हें अपना सिर दे देना होगा, किन्तु उफ भी नहीं करनी होगी।' कबीर कहते हैं कि रणभूमि में पुरजा-पुरजा कट जाना होगा। नानक कहते हैं, सिर को हथेली पर रखकर मेरे पास आओ। सिर दे दो किन्तु उफ भी न करो।

सामान्यतः बहुत से लोगों को ये पंक्तियां भी गुरु नानक की नहीं लगतीं। उन्हें भी लगता है कि सिर को बिना किसी संकोच के कटवा देने की बात गुरु गोबिंद सिंह का तेवर लगता है, गुरु नानक का नहीं। किन्तु गुरु नानक ने तो यह भी कहा था कि अपने हक के लिए मरने वाले सूरमा को ईश्वर के सम्मुख सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त होता है–

मरणु मुणसा सूरिआ हकु है जै होइ मरन पर वाणो,
सूरे सोई आगै आखी अहि दगह पावहि माणो।

अपने सभी सांसारिक कष्टों, अभावों, विपदाओं और अपमानों से मुक्ति पाने के लिए दैन्य भाव से भगवान की शरण में जाना एक दृष्टि है, जो मध्ययुग के अधिकांश भक्ति साहित्य पर छाई दिखाई देती है। किन्तु उसी के समानान्तर इन सभी संकटों का मुकाबला करने के लिए भगवान का भरोसा लेकर सूरमा बनना, रणभूमि में उतरना, पुरजा-पुरजा कट मरने का संकल्प लेना, सिर को हथेली पर रखकर आगे आना, सिर कटवा देना पर उफ न करना, स्थितियों से भागना नहीं उनका मुकाबला करना, उसके लिए जूझना और समय आने पर अपने प्राणों को न्योछावर कर देना—एक दूसरी दृष्टि, जो लोगों में भगवान का सहारा लेने की बात तो करती है, किन्तु निष्क्रिय होकर उन्हीं पर आश्रित हो जाने की बात नहीं करती। यह दृष्टि लोगों में अपने अधिकार के लिए जूझने का संकल्प पैदा करती है और इस सिद्धांत की पुष्टि करती है कि भगवान उन्हीं की सहायता करता है जो स्वयं अपनी सहायता करते हैं। स्थितियों को जस की तस स्वीकार न करने की दृष्टि मुझे अपनी दयनीय स्थिति का वे कभी बड़े करुण भाव से, कभी आक्रोश से, कभी शिकायत भरे स्वर से वर्णन करते हैं और अपना गहरा असंतोष व्यक्त करते हैं। कबीर और नानक जैसी राजनीतिक चेतना इनमें चाहे न हो किन्तु असमानता भरी सामाजिक व्यवस्था उन्हें बहुत कुरेदती है। यह बात सगुण धारा के कवियों में अधिक नहीं दिखाई देती। वे राजनीतिक पराभव को तो लगभग स्वीकार कर लेते हैं, अपनी नियति मानकर और सामाजिक स्थिति के प्रति उनका असंतोष इतना ही है कि ये निरगुणिया संत वर्णाश्रम व्यवस्था को भंग कर रहे हैं, प्राचीन स्वीकृत मान्यताओं को चुनौती दे रहे हैं, छोटी जाति के होकर भी अपनी बराबरी का दावा कर रहे हैं और अपने निर्धारित धर्म-मार्ग से दूर चले जा रहे हैं।

कई बार मेरे मन में विचार आता है कि जिस शौर्य और जूझन की बात को संत कबीर ने अपनी वाणी में उठाया था, उनके द्वारा प्रस्थापित परम्परा में वह आगे क्यों नहीं बढ़ी? क्यों नहीं यह स्वर कुछ और तीव्र हुआ? क्यों कबीरपंथ केवल भक्तिमार्गी अनुयायियों का एक आम मठ बनकर रह गया?

इसी के समानान्तर गुरु नानक ने जिस 'सिर धर तली गली मेरी आओ' वाले मार्ग को प्रशस्त किया था वह उनके पश्चात की दो सदियों में निरन्तर प्रखर होता चला गया। गुरु नानक के लगभग एक सौ वर्ष बाद पांचवें गुरु, गुरु अर्जुन ने उन्हीं के स्वर में स्वर मिलाते हुए कहा था—

जो सूरा तिन ही होई मरणा।
जो भागे तिसु जोनी फिरणां।

(जो सूरमा है, उसी का मरण सार्थक है। जो जीवन-संग्राम से भागता है, वह तो योनियों के चक्कर में पड़ा रहता है।)

गुरु अर्जुन के समय 'सिर देने' की व्यावहारिक परिणति शुरू हो गई थी। जहांगीर के हाथों में उन्हें उस मृत्यु का वरण करना पड़ा था, जिसका आह्वान गुरु नानक ने किया था और उनके भी लगभग सौ वर्ष बाद गुरु गोविन्द सिंह ने तो महत् उद्देश्य की प्राप्ति के लिए निरन्तर संघर्ष करने और सिर-धड़ की बाजी लगाने वालों की झड़ी ही लगा दी थी, किन्तु यह भी सच है कि ''पुरजा-पुरजा कट मरै'' की भावना का प्रादुर्भाव मुझे संत कबीर से प्रारम्भ हुआ दिखाई देता है। दीनजनों के हेतु लड़ने की जिस आकांक्षा को उन्होंने दर्शाया था उस आकांक्षा का प्रतिफलन उनकी कर्मभूमि काशी से कई सौ कोस दूर पंजाब में होता दिखाई देता है।

(दैनिक जागरण, 25 मई, 2000)

धर्मान्तरण क्यों होता है?

लोग अपना धर्म क्यों बदलते हैं? कोई समूह या व्यक्ति किसी अन्य समूह अथवा व्यक्ति को उसका धर्म बदलने के लिए क्यों कहता हैं? धर्म परिवर्तन की क्रिया केवल आत्मिक है अथवा उसके पीछे भय, लालच, लोभ, जबरदस्ती आदि भौतिक क्रियाओं की भी भूमिका होती है? सभी धर्म शान्ति, प्रेम, भाईचारा, सहिष्णुता, पर दुःखकातरता, उपकार, निर्धनों की सहायता, दुर्वलों और रोगियों की सेवा का उपदेश देते हैं, किन्तु संसार भर में धर्म के नाम पर घृणा, उपेक्षा, दलन, हत्या और व्यापक नरसंहार का चलन सदियों से चल रहा है—ऐसा क्यों है? धर्म के नाम पर कथनी और करनी में इतनी बड़ी और गहरी खाई क्यों बनी रही है, जिसे संसार का कोई भी धर्म लांघ नहीं पा रहा है?

यहां धर्म की शास्त्रीय व्याख्या करने का कोई लाभ नहीं है, क्योंकि ऐसी व्याख्याओं को पीसकर, उसका चूरन बनाकर हम कब का फांक चुके हैं। इतना अवश्य है कि ऐसी व्याख्याओं के लिखित शब्दों को वहुत से लोगों ने शीशे के फ्रेम में जड़वा कर अपने ड्राइंग रूम में टांग रखा होता है और समय-समय पर उसका अपनी तात्कालिक आवश्यकता के अनुरूप उपयोग करते रहते हैं।

धर्म का संबंध आध्यात्मिक जीवन दृष्टि से जोड़ा जाता है जिसमें परलोक के सरोकार लोक के सरोकारों से अधिक महत्वपूर्ण समझे जाते हैं। हमारे धार्मिक प्रवचनों और उपदेशों में प्रायः लोक-सरोकार 'माया' की श्रेणी में आकर मिथ्या, त्याज्य और उपेक्षणीय भी घोषित कर दिए जाते हैं और अदृष्य, अनजाना, अनबूझ ब्रह्म ही एकमात्र सत्य बनाकर प्रस्तुत किया जाता है।

हर धर्म की अपनी स्थापनाएं, मान्यताएं और विश्वास होते हैं। ईश्वर प्रकृति, माया, संसार, सृष्टि रचना, जीवन-मृत्यु, आवागमन, स्वर्ग-नरक, कर्मफल आदि विषयों पर सभी धर्मों के गंभीर चिंतनपरक ग्रंथ हैं। बहुत-सी मान्यताएं सभी धर्मों में समान

हैं और बहुत-सी मान्यताओं के संबंध में गहरे मतभेद हैं। मृत्यु के बाद जीव का क्या होता है इस संबंध में हिंदू धर्म की धारणा से इस्लाम की धारणा बहुत भिन्न है, किन्तु संसार में सब कुछ उस परमसत्ता की इच्छानुसार उसी के आदेश से होता है, इसमें दोनों धर्मों की मान्यता लगभग एक जैसी है। हिन्दू मानते हैं, परमात्मा सर्वव्यापी है और हमारे अंदर भी है। किन्तु मुसलमान मानते हैं अल्लाह हमारे साथ है। (हमारे अंदर नहीं)।

किन्तु क्या धर्मों के प्रचार, प्रसार में किसी भी धर्म के आध्यात्मिक और दार्शनिक सिद्धान्तों की भूमिका निर्णायक होती है? आज संसार भर में ईसाई धर्म को मानने वाले सबसे अधिक (लगभग 33 प्र.श.) क्या ये सभी व्यक्ति ईसाई धर्म के आध्यात्मिक-दार्शनिक सिद्धान्तों से प्रभावित होकर ईसाई बने थे? दूसरे नम्बर पर इस्लाम को मानने वाले हैं (लगभग 18 प्रतिशत)। संसार में हिंदुओं की गिनती लगभग 13 प्रतिशत है और बौद्ध की लगभग 6 प्रतिशत। हिन्दुओं को छोड़कर शेष तीनों धर्मों में विशाल धर्मान्तरण के परिणामस्वरूप आई हुई जनसंख्या है। इस जनसंख्या में ऐसे लोगों की गिनती कम नहीं है, जिनके पास पहले कोई व्यवस्थित धर्ममत नहीं था। विभिन्न प्रकार की आदिम मान्यताएं इनके विश्वासों का निर्धारण करती थीं। जब बौद्ध, ईसाई और इस्लाम जैसे व्यवस्थित धर्म सामने आए और इनके प्रचारक इन लोगों के मध्य पहुंचे तो उन्होंने उस धर्म को स्वीकार कर लिया।

धर्मान्तरण का दूसरा प्रमुख कारण यह था कि जिस धर्म को राज्याश्रय प्राप्त हो गया उसके प्रचार में गति आ गई। अशोक के समय बौद्ध धर्म को राज्याश्रय प्राप्त हुआ। रोमन साम्राज्य के समय ईसाई धर्म को राज्यश्रय मिला और ईसाईयत को राज-धर्म का दर्जा दे दिया गया। इस्लाम को तो सदा ही राज्य का सहयोग और समर्थन सक्रिय रूप से प्राप्त होता रहा।

राज्याश्रय में पनपे और पल्लवित हुए धर्मों के पीछे किसी प्रकार के सैद्धान्तिक आदर्श की प्रेरणा का इतना महत्व नहीं होता था जितना उस राज्य से मिलने वाली सुविधाओं का होता था। राजा अथवा शासनाधिकारी की सांसारिक शक्ति का उपयोग भी धर्म प्रसार या धर्मान्तर के पीछे होता रहा है इसके लिए उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं है। इस्लाम और ईसाई धर्मों के प्रचार के लिए कितना बल प्रयोग किया गया, इतिहास के पृष्ठ इसके गवाह हैं।

किन्तु धर्म प्रचारकों का अपना आदर्श जीवन भी धर्मान्तरण में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता रहा है। बौद्ध भिक्षु संसार के कोने-कोने में गए। वे अपने साथ किसी प्रकार की राजकीय अथवा सैनिक शक्ति लेकर नहीं गये थे। उनका जीवन, उनका प्रेमभाव, उनकी पर दुःखकातरता, उनका शान्ति और अहिंसा का संदेश असंख्य लोगों को उनकी ओर आकर्षित करता था, जिसके कारण लोग उनके अनुयायी बन जाते थे। यही बात ईसाईयत और इस्लाम के संबंध में भी कही जा सकती है। दुनिया की यदि एक तिहाई से अधिक जनसंख्या यदि आज ईसाई है तो इसका कारण मुख्य कारण ईसाई पादरियों

का उन लोगों के बीच जाकर निरन्तर सेवा करना है जिनके पास सभ्यता का प्रकाश कभी पहुंचा ही नहीं था, जो शिक्षा से पूरी तरह वंचित थे, जिनके पास प्रकृति से प्राप्त रोगों की कोई औषध नहीं थीं, जिन्हें यह अहसास ही नहीं था कि मनुष्य होने का क्या अर्थ है और मनुष्य पशु किस प्रकार भिन्न होता है।

यही बात सूफी फकीरों के संबंध में भी कहा जा सकती है। भारत में इस्लाम के प्रसार को बलपूर्वक धर्म परिवर्तन से जोड़कर ही देखा जाता है। किन्तु यह बात इतनी सही नहीं है। इसमें कोई संदेह नहीं कि मुसलमान बादशाहों ने अपने निजी राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए बलात् धर्म परिवर्तन कराए और उसके लिए अत्याचार भी किए। किन्तु सूफी फकीरों ने अपने प्रेम, सद्‌भाव, भाईचारे के संदेश और गहरी मानवीयता से भी असंख्य लोगों को अपनी ओर आकर्षित किया था। इस्लाम के प्रचार-प्रसार का यह भी एक महत्वपूर्ण कारण था।

इस विश्लेषण का अर्थ यह है कि किसी धर्म के प्रचार में आध्यात्मिक-दार्शनिक सिद्धान्तों की भूमिका इतनी महत्वपूर्ण नहीं होती है जितनी मनुष्य को उसके भौतिक जीवन में प्राप्त होने वाली उपलब्धियों की है। देखना यह होता है कि कौन-सा धर्म मनुष्य को मनुष्य की गरिमा देता है, उसे अन्य मनुष्यों के साथ समानता और सहभागिता का अवसर देता है, उसे अज्ञान के अंधकार से बाहर निकालने में उसकी सहायता करता है और उसे लौकिक और पारलौकिक प्राप्तियों की ऊंचे से ऊंचे शिखरों को छू लेने का कितना समान अवसर देता है।

अपने देश का उदाहरण सामने रखें। ढाई हज़ार वर्ष पहले महात्मा बुद्ध ने जो मार्ग लोगों को दिखाया था वह उस समय प्रचलित मार्ग, जिसे यज्ञ प्रधान वैदिक मार्ग कहा जाता है, की समकक्षता में उभरा एक मार्ग था। तत्कालीन समाज वर्णभेद की असमानतामूलक भित्तियों पर खड़ा था। ज्ञान के सूर्य की किरणें केवल एक वर्ग के द्वार पर, एक भाषा के माध्यम से दस्तकें देती थीं। समाज के बहुसंख्यक वर्ग को जीवन में किसी प्रकार का अर्थ ढूंढ़ने की कोई सुविधा नहीं थी। यज्ञों में जो व्यापक पशु बलि होती थी उसकी संगति भी किसी की समझ में नहीं आ रही थी।

भगवान बुद्ध ने प्रचलित धर्म का व्यवहार बदल दिया। उन्होंने सामाजिक असमानता को नकार दिया। सभी स्त्री और पुरुषों के लिए ज्ञान का मार्ग खोल दिया। उन्होंने सामान्य और अनपढ़ जनता से उस भाषा में संवाद स्थापित किया जो उनके अपने नित्य-व्यवहार की भाषा थी। यह संवाद पाली भाषा में किया गया। उस समय का कथित विद्वत समाज पाली जैसी किसी प्राकृत भाषा में ज्ञान-चर्चा करना अपना अपमान समझता था। परिणाम यह हुआ कि देखते-देखते बौद्ध धर्म इस देश की बड़ी जनसंख्या द्वारा स्वीकार कर लिया गया। इस घटना को इस देश में पहला व्यापक धर्मान्तरण कहा जा सकता है।

मध्ययुग का भक्ति आन्दोलन भी असमानतामूलक समाज व्यवस्था को एक चुनौती के रूप में उभरा। संत कबीर, गुरु नानक, रविदास, नामदेव आदि ने ईश्वर के उस

स्वरूप की प्रतिष्ठा की जो केवल आध्यात्मिक-दार्शनिक सिद्धान्तों का ही प्रतीक नहीं है यह सामाजिक-संरचना में भी भौतिक दृष्टि से अपनी पूरी भूमिका निभाता है। उस समय यह सम्पूर्ण देश समता मूलक समाज-व्यवस्था के इस सूत्र से गूंजने लगा—'जात-पात पूछै नहिं कोई। हरि को भजै सो हरि का होई।'

इस समय इस देश में धर्मान्तरण को लेकर बहुत चर्चा हो रही है और गहरी चिंता भी व्यक्त की जा रही है, बिना इस बात पर गंभीरतापूर्वक विचार किए कि आखिर यह होता क्यों है। ऐसे उदारहण बहुत कम हैं जब किसी व्यक्ति या व्यक्ति समूह ने अपना धर्म इसलिए बदल लिया हो उसे नये अपनाए जाने धर्म की आध्यात्मिक या दार्शनिक मान्यताओं ने प्रभावित किया हो। अधिकांश धर्मान्तरण लौकिक कारणों से होता है। इसमें भी कोई संदेह नहीं कि लौकिक कारण ही किसी धर्म के अनुयायियों को राजसत्ता का सुख देते हैं जो अनेक संदर्भों में धर्म-परिवर्तन का कारण वनती रही है।

किन्तु एक बात बिल्कुल निश्चित दिखती है। संसार में वही धर्म जीवित रहते और फलते-फूलते हैं जो सामान्य लोगों के भौतिक सरोकारों से गहरे जुड़े होते हैं। ये सरोकार हैं मनुष्य को समानता का अधिकार देना, उसे किसी भी कारण से ऐसे वर्गों में न बांटना जहां कुछ लोग अन्य लोगों की अपेक्षा अपने आपको अधिक श्रेष्ठ और ऊंचा मानने लगे और वैसा ही व्यवहार करने लगे। सभी मनुष्यों के शिक्षा, व्यवसाय, रहन-सहन और सामाजिक संबंधों के विकास में समान अवसर मिलना दूसरा बड़ा सरोकार है। यह सरोकार उसे अपने होने का अहसास कराता है और उसकी हीन भावना को दूर करता है।

बलात् धर्म परिवर्तन का युग बीत चुका है। अब लोभ और लालच भी उतने कारगर नहीं रह गए हैं। भारत में कोई भी धर्म राज-धर्म नहीं है, इसलिए राज्याश्रय की सुविधा किसी एक विशिष्ट धर्म को प्राप्त नहीं है। अब धर्मों के बीच अपने प्रचार-प्रसार की होड़ इस बिंदु पर आकर केंद्रित हो गई है कि कौन-सा धर्म सामान्य जन की सेवा, शिक्षा, चिकित्सा, रोजगार की प्राप्ति और सम्मानपूर्ण जीवन जीने का आकांक्षा को किस मात्रा में पूर्ति में सहायक सिद्ध होता है।

इसलिए मुझे आज धर्मान्तरण का प्रश्न इतना महत्वपूर्ण नहीं लगता जितना धर्म को मनुष्य के भौतिक सरोकारों से जोड़ने का लगता है।

(दैनिक जागरण, 3-8-2000)

दरिद्रनारायण या समृद्धिनारायण

हमारे भक्ति साहित्य में ईश्वर के लिए ऐसे अनेक शब्दों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में हुआ है, जो उसके दीन, हीन, दुर्वल, गरीब और लाचार अथवा बेबस व्यक्ति के प्रति गहरे लगाव, सरोकार और गहरी अंतरंगता को व्यक्त करते हैं। दीनबंधु, दीनदयाल दीनानाथ, दरिद्र नारायण, गरीबनिवाज, निर्बल के बल, पतित पावन आदि ऐसे ही शब्द हैं जिनके माध्यम से हम उस परमसत्ता को स्मरण करते हैं। आदिकाल से ही संसार में ऐसे लोगों की प्रचुरता रही है जो सांसारिक सुखों से वंचित रहे हैं, जो अनेक प्रकार की आपदाओं और व्यथाओं से घिरे रहते हैं। इसीलिए ईश्वर के लिए ये सम्बोधन भी प्रचलित हो गए–संकटमोचन, दुःखनिवारण कष्टहरण, विघ्न विनाशक आदि।

इसलिए भक्तों ने उन्हें दरिद्र नारायण के रूप में देखा। किसी ने उन्हें समृद्धि नारायण के रूप में देखा हो ऐसा मुझे याद नहीं आता। यदि कहीं उन्हें राजाओं का राजा कहा गया तो केवल सांसारिक राजाओं को छोटा बनाने के लिए कहा गया। किन्तु समृद्धिवान लोग ईश्वर को भी समृद्धि से भरा-पूरा देखना चाहते हैं। हमारे संत, महात्मा, उपदेशक भी समृद्धि से भरे संसार में विचरण करना चाहते हैं। उनके आश्रम, उनके निवास स्थान, उनका रहन-सहन, उनके आतिथेय, उनके परमभक्त पूरी तरह समृद्धि की घोषणा करते हैं। दरिद्रों, दलितों, दीनों, निर्धनों का उनके परिवेश में कहीं कोई स्थान नहीं होता है, केवल उनके उपदेशों-प्रवचनों को छोड़कर।

यह भी कैसी विडम्बना है कि अपने आदर्श को हम जिस रूप में कल्पित करते हैं, उसे चित्रित करते समय हम उन्हीं मायावी प्रलोभनों के शिकार हो जाते हैं, जिनसे मुक्ति पाने की कामना ही हमें ईश्वर की ओर प्रेरित करती है। क्यों हम अपने धर्मस्थानों को स्वर्णमंडित करना चाहते हैं? क्यों हम अपने आराध्य देव को हीरे-मोतियों के आभूषणों से लदा देखना चाहते हैं? क्यों हम उस गरीब निवाज को गरीब की दुनिया से दूर ले

जाना चाहते हैं? कुछ दिन पहले मैंने एक समाचार पढ़ा कि जालन्धर में अमृतसर के स्वर्ण मंदिर की ही तरह एक हिन्दू स्वर्ण मंदिर उतारा जा रहा है। वहां 40 एकड़ में देवी तालाब मंदिर का परिसर है। अब वहां एक सरोवर बनाया गया है और पगोडानुमा मंदिर को स्वर्ण मंडित किया गया है, जिस पर कई करोड़ रुपयों का सोना लगा है। आयोजकों ने सोचा था कि इस मंदिर पर जितना सोना चढ़ेगा, उसे एकत्र करने में तीन वर्ष लग जाएंगे। किन्तु भक्तों के उत्साह के कारण यह सोना 6 महीने के अंदर ही एकत्र हो गया।

आज से 170 वर्ष पहले महाराजा रणजीत सिंह ने अमृतसर के हरिमंदिर पर बाहर-अंदर सोना चढ़वाया था। गुरु अर्जुन देव ने चार सौ वर्ष पहले अमृतसर में एक सरोवर खुदवाया था और उसके बीच एक मंदिर बनवाया था। इस मंदिर में चार दरवाजे रखे गए थे, जो इस बात का संकेत देते थे कि सभी वर्णों, जातियों, धर्मों, नस्लों के मानने वाले लोगों के लिए यह मंदिर खुला है। गुरु अर्जुन देव ने इसे हरिमंदिर नाम दिया था। फिर आने वाले दो सौ वर्षों तक यह मंदिर शौर्य, साहस और बलिदान का केन्द्र बना रहा है। स्वतंत्रता और स्वाभिमान की रक्षा के लिए जूझने वाले सिखों के जत्थे यहां से प्रेरणा लेकर निकलते थे और आतताइयों के साथ भिड़ते थे। अफगानी आक्रान्ता अहमदशाह अब्दाली ने इसे तोप से उड़वाकर इसके सरोवर में मिट्टी भरवा दी थी। किन्तु वीर भक्तों ने शीघ्र ही इसका पुनर्निमाण कर लिया था। महाराजा रणजीत सिंह ने इस पर सोना चढ़वाया। इसे समृद्धि का गौरव दिया। उन्होंने काशी विश्वनाथ मंदिर के कलश भी स्वर्ण मंडित किए थे। यह उनके 'महाराजा' होने की घोषणा थी। हरिमंदिर स्वर्ण मंदिर कहा जाने लगा। हरिमंदिर का निर्माण एक आध्यात्मिक पुरुष 'गुरु' ने साधारण ईंट-गारे से कराया था। स्वर्ण मंदिर की परिकल्पना एक समृद्धि सम्पन्न सांसारिक महाराजा ने की थी।

कई बार मैं सोचता हूं कि क्या स्वर्ण मंदिर बनकर हरिमंदिर के गौरव में कुछ बढ़ोतरी हुई थी? गत वर्ष मुझे लंदन में श्री स्वामी नारायण मंदिर देखने का अवसर मिला। मुझे नहीं लगता था कि इतना वैभवशाली कोई धर्मस्थान संसार के किसी भी भाग में होगा। इस मंदिर में कहीं भी लोहे का प्रयोग नहीं किया गया है। हजारों टन बल्गेरिआई लाइम स्टोन और इतालवी संगमरमर को भारत लाकर 1500 शिल्पकारों की सहायता से इस मंदिर के अंशों का निर्माण कराया गया। फिर उन्हें लंदन ले जाकर मंदिर को मूर्तरूप दिया। मैं केवल अनुमान ही लगा सकता हूं कि श्री स्वामी नारायण मंदिर के निर्माण में धन करोड़ों की गणना में नहीं, अरबों की गणना में व्यय किया गया होगा।

आजकल तो मुझे अपने देश में समृद्धि की होड़ लगी दिखाई दे रही है। महंगी से महंगी कारें या तो थोड़े से धनपतियों के पास दिखाई देती हैं अथवा धर्मपतियों के पास। अनंत सम्पत्ति भी इन्हीं दो वर्गों के बीच बंटी हुई हैं। सारा बाजार भी इन्हीं के इर्द-गिर्द घूमता दिखाई देता है। लक्ष्मी पूजन एक धनपति समृद्धि के वैभव में जिये तो

कोई अनहोनी बात नहीं। किन्तु हमारा परमात्मा भी यदि वैभव की चकाचौंध में गुम हो जाएगा तो उन करोड़ों लोगों का क्या होगा, जिनके लिए उसे दरिद्र नारायण, दीनबंधु और गरीबनिवाज कहा जाता है? कई बार मेरे मन में आता है कि हमारे धर्म स्थान भव्यतापूर्ण हों या वैभवपूर्ण। भव्यता अंदर से उपजती हैं, वैभव बाहरी सजावट से। एक झुर्रियों से भरा साधारण किसान, हाथ गाड़ी खींचता हुआ मजदूर मुझे भव्य दिखाई देता है। सुंदर वस्त्रों और आभूषणों से सजा व्यक्ति वैभवपूर्ण तो लग सकता है, भव्य भी हो यह आवश्यक नहीं है।

कुछ समय पूर्व दिल्ली गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी के एक नवनिर्वाचित अध्यक्ष ने फोन किया और बताया, ''आपको एक अच्छी ख़बर दे रहा हूं। हमारी कमेटी ने सोचा है कि दिल्ली के तीन प्रमुख गुरुद्वारों-शीशगंज, बंगला साहब और रकाब गंज को पूरी तरह एयरकंडीशन्ड कर दिया जाए। यह हम एक बहुत बड़ा काम करने जा रहे हैं।''

मैंने पूछा—''आपने मुझे फोन इसलिए किया है कि मैं कहूं कि आप सचमुच बड़ा अच्छा काम करने जा रहे हैं।''

उन्होंने कहा, ''हां...इसी आशा से।''

मैंने कहा, ''मेरा उत्तर सुनकर आपको निराशा होगी। मेरी नजरों में आप बहुत बुरा काम करने जा रहे हैं।'' मेरी बात सुनकर वे अचम्भे में आ गए। मैंने उन्हें बताया कि गुरुद्वारे साधारण से साधारण, गरीब से गरीब व्यक्ति के शरणस्थल हैं। दुःखों, कष्टों और संघर्षों में जूझता हुआ व्यक्ति गुरु की शरण में आकर कुछ शांति प्राप्त करता है और साहस तथा शक्ति अर्जित करने के लिए अरदास करता है। आप उसे उसकी अपनी शरणस्थली से क्यों तोड़ना चाहते हैं? गुरुद्वारे को आप उसे गरीब, भाई लालो का घर बना रहने दीजिए, जिसकी सुखी रोटी के सामने गुरु नानक ने बहुत अमीर, मलिक भागो के पकवानों का प्रस्ताव ठुकरा दिया था। जिस गरीब के घर में बिजली का पंखा भी बड़ी मुश्किल से पहुंचता है उसे आप एयरकंडीशनिंग का वक्ती नशा देकर मदहोश क्यों करना चाहते हैं?''

पुराने जमाने के राजाओं, महाराजाओं, बादशाहों के महलों का वैभव देखकर व्यक्ति चकाचौंध हो जाता था। आज के अमीरों की कोठियां देखकर भी यही हाल हो सकता है। मेरे एक मित्र एक बार मेरे साथ ऐसी ही एक कोठी में गए। पूरे समय उनकी आंखें चुंधिआई रहीं। बाहर निकले तो बहुत आतंकित से लग रहे थे। बोले, ''कम से कम दस करोड़ की कोठी होगी।''

किन्तु कोई भी धर्मस्थान चकाचौंध करने वाली जगह नहीं हो सकती। उसे वैभवपूर्ण नहीं, भव्यतापूर्ण होना चाहिए, जहां जाकर व्यक्ति चकाचौंध होने की बजाय तृप्ति अनुभव करे। तृप्ति अंदर से उपजती हैं, जिसे एक दीन-हीन व्यक्ति भी अनुभव कर सकता है। धर्मस्थान कोई आतंकित करने वाला स्थान नहीं है, यह हमें अपनी ओर बुलाने वाला, अपनी गोद में बैठाने वाला, स्नेह देने वाला, दुःखों का शमन करने वाला, बिल्कुल साधारण

सा लगने वाला स्थान है। यही बात संत पुरुषों के संबंध में कही जा सकती है। एक बार मेरी ऐसे ही एक व्यक्ति से भेंट हुई। बिल्कुल साधारण सा दिखने वाला, स्नेहसिक्त चेहरा, टिमटिमाती हुई छोटी-छोटी आंखें। बहुत धीरे-धीरे मुंह से निकलने वाले शब्द और होठों पर बड़ी निर्मल सी दिखने वाली मुस्कराहट। उस संत के अनुयायी भी कुछ कम नहीं हैं। यह मेरा दुर्भाग्य ही है कि जीवन में आज तक मुझे कोई ऐसा संत-महात्मा नहीं मिला जो मेरी अंतरंगता में प्रवेश कर गया हो। अधिसंख्य के प्रवचन और उपदेश मुझे या तो पाखंड लगते हैं या बचकाने। उनके चारों ओर माया का जो प्रपंच फैला होता है उसे देखकर मुझे वितृष्णा होती है, किन्तु उस संत पुरुष ने मुझे कुछ हद तक प्रभावित किया। उसकी निश्छलता मुझे बहुत अच्छी लगी। उसमें ज्ञानी, पंडित, उपदेशक अथवा सामान्य जन से कुछ विशिष्ट होने का कोई दंभ मुझे नहीं दिखाई दिया। उसके एक श्रद्धालु ने पूछा, ''ये आपको कैसे लगे?'' मैंने कहा, ''मैंने नियाग्रा प्रपात देखा है। नीचे गिरता हुआ उसके जल का आवेग प्रकृति के उस रूप को दिखाता है जिसे देखकर व्यक्ति अचंभित होता है और आतंकित भी। मैंने कश्मीर में पहलगाम में जल की वह धारा भी देखी है जो पहाड़ों में से उतरकर बहुत धीरे-धीरे आगे बढ़ती है। जल इतना स्वच्छ कि नीचे का हर पत्थर बिल्कुल साफ दिखता है और आपका मन चाहता है कि इस जलधारा के पास बैठकर इसमें अपने पैर डुबोकर इसे देखा जाए और तृप्ति अनुभव की जाए।'' मैंने उन सज्जन से कहा, ''जिस व्यक्ति से आपने मुझे मिलवाया है वह नियाग्रा प्रपात जैसा नहीं है। वह पहलगाम की जलधारा जैसा है।''

मेरी कल्पना का धर्म स्थान भी ऐसा ही है। वह मुझे इस तरह आतंकित नहीं करता कि मैं अपने नंगे पैर भी सिकोड़कर वहां इस तरह चलूं कि कहीं उसका फर्श गंदा न हो जाए, किन्तु माया की व्याप्ति के लिए क्या कहा जाए? वह तो किसी को नहीं छोड़ती। संसारी लोगों के घरों में तो उसकी तूती बोलती ही है, उन स्थानों में भी वह पैठ जमा लेती है जहां से हर सांस से, हर वाक्य से, हर प्रवचन से उसकी निंदा की जाती है। संत कबीर ने अपनी एक साखी में कहा है, ''समस्त संसार माया की श्रृंखलाओं में जकड़ा हुआ है। वे बेचारे जीव किस प्रकार माया-बंधन से मुक्त हो सकते हैं जो संसारकर्ता ब्रह्म को भी माया में लिप्त कर देते है...''

''संकल ही तै सब लहै, माया इहि संसार।
ते क्यूं छूटै बापुड़े, बांधे सिरजनहार।''

यह माया यदि दरिद्रनारायण को समृद्धि नारायण में बदल दे तो क्या आश्चर्य है?

(दैनिक जागरण, 21-9-2000)

भगवान की मुक्ति कैसे हो?

हाल में ही केरल प्रदेश में एक घटना हुई। वहां के एक कांग्रेस नेता वायलार रवि के पुत्र रवि कृष्णन का विवाह बहुत प्रसिद्ध कृष्ण मंदिर गुरुवायूर में सम्पन्न हुआ। दक्षिण भारत में गुरुवायूर का कृष्ण मंदिर अत्यन्त मान्यता प्राप्त मंदिरों में से है। वहां विवाह की सभी विधियां सम्पूर्ण होने के पश्चात् जब वर-वधू सहित सभी लोग वापस आ गए तो मंदिर के पुजारी ने मंदिर का पुण्यहम करवाया अर्थात् मंदिर को धोकर पवित्र किया गया। इस मंदिर में केवल हिंदुओं का ही प्रवेश हो सकता है। वहां के पुजारी को यह संदेह था कि वायलार रवि का पुत्र रवि कृष्णन हिन्दू है या नहीं। संदेह का मुख्य कारण यह कि लड़के की मां, वायलार रवि की पत्नी ईसाई है। पिता ने बाद में इसकी बहुत सफाई दी कि उनका पुत्र हिन्दू है। इसके लिए उन्होंने स्कूल का वह प्रमाणपत्र भी प्रस्तुत किया जिसमें उसे हिंदू लिखा गया है।

हिंदू मंदिरों में अहिंदुओं का प्रवेश वर्जित है। इस आशय का स्पष्ट निर्देश जगन्नाथ पुरी के प्राचीन मंदिर के बाहर भी लिखा हुआ है। दलित जातियों के लोग भी अनेक मंदिरों में प्रवेश नहीं कर सकते। राजस्थान के नाथद्वारा मंदिर का विवाद अभी विस्मृतियों में नहीं गया है। धर्माचार्यों और पुरोहितों का मत है कि ऐसी जातियों के हिंदू मंदिर से बाहर रहकर कलश के दर्शन तो कर सकते हैं, मंदिर के अंदर जाकर भगवान की मूर्ति के दर्शन नहीं कर सकते। ऐसे प्रतिबंधों से संसार के अनेक धर्म मुक्त नहीं हैं। उदाहरणस्वरूप गैर मुसलमान मक्का में बने काबा में नहीं जा सकते।

मेरे एक निकट के संबंधी हैं। लम्बे समय से वे हृदयरोग से पीड़ित हैं। उसकी पत्नी एक ईसाई महिला है। वे अपने पति पर यह ज़ोर लगातार डालती रही हैं कि आप प्रभु यीशु की शरण में आ जाइए। उनकी कृपा से आपका यह रोग दूर हो जाएगा। मेरे सम्बन्धी अपनी पत्नी की बात हंसकर टालते रहे। अपने इलाज के सिलसिले में

कुछ वर्ष पूर्व पति-पत्नी मुंबई गये। वहां पत्नी को पता लगा कि यूरोप के किसी देश से एक ईसाई पादरी आए हुए हैं। वे बड़े सिद्ध पुरुष हैं और किसी भी प्रकार के रोग से पीड़ित व्यक्ति को ऐसी दवा देते हैं कि वह ठीक हो जाता है। पत्नी अपने पति को मनाकर उस पादरी के पास ले गई। उसने उनके सम्मुख अपने पति के रोग की चर्चा की और प्रार्थना की कि वे उन्हें ठीक कर दें। पादरी ने स्त्री ने पूछा—'तुम ईसाई हो?' स्त्री ने उत्तर दिया, 'मैं ईसाई हूं।' पादरी का दूसरा प्रश्न था कि क्या तुम्हारा पति भी ईसाई है? स्त्री सोच में पड़ गई। बोली—'नहीं' ये तो ईसाई नहीं हैं।' पादरी ने बहुत स्पष्ट शब्दों में कह दिया, 'मैं अपनी दवाई सिर्फ ईसाइयों को देता हूं। यदि तुम चाहती हो कि मैं इनका उपचार करूं तो पहले इन्हें ईसाई बना लो।'

मरता क्या न करता। पतिदेव ईसाई बन गए। पादरी ने उन्हें लाल रंग में रंगा हुआ एक डबल रोटी का टुकड़ा खिला दिया। मान्यता यह है कि रोटी के उस टुकड़े में प्रभु यीशु का रक्त मिला हुआ है।

मैं नहीं जानता कि इस उपचार से मेरे संबंधी को कितना लाभ हुआ। यह अवश्य जानता हूं कि वे ठीक ठाक जीवनयापन कर रहे हैं और इस समय बड़े आस्थावान ईसाई हैं।

जब मैंने यह बात सुनी थी तो मेरे मन में प्रश्न उठा था कि क्या हमारे भगवान, अवतार, पैगंबर, मसीहा भी इतने ही भेदभाव करने वाले महापुरुष हैं जितने हम सब संसारी लोग हैं? अपनी कृपा की बौछार करने से पहले क्या वे यह देख-परख लेते हैं कि उनकी कृपा का पात्र उसी मत को मानने वाला प्राणी है जिस मत या धर्म के साथ उनके नाम की महत्ता जुड़ी हुई है? क्या ऐसा भगवान, देवता, नबी या मसीहा उन सांसारिक मनुष्यों से श्रेष्ठ है जिन्होंने अपने चारों ओर भेदभाव, छूत-अछूत, मोमिन-काफिर, विश्वासी-अविश्वासी, आस्तिक-नास्तिक, गोरे-काले की कितनी ही दीवारें खड़ी कर रखी हैं?

अनेक वर्ष पहले लगभग ऐसी ही एक स्थिति मेरे सम्मुख आई थी। मैं केन्द्र-सरकार के परिवहन मंत्रालय की हिन्दी सलाहकार समिति का सदस्य था। समिति की एक बैठक कोषिकोड (केरल) में हुई। बैठक की कार्य सूची समाप्त होने के पश्चात् मंत्रालय की केरल इकाई के प्रबंधकों ने समिति के सदस्यों को गुरुवायूर के कृष्ण मंदिर ले जाने की व्यवस्था की। हिन्दी सलाहकार समिति में संसद के कुछ सदस्य भी थे। इनमें से एक सदस्य नागालैंड के थे और वे ईसाई थे। वे अहिन्दू होने के कारण उस मंदिर में नहीं जा सकते थे, इसलिए उन्हें छोड़ना पड़ रहा था। उस मंदिर में नंगे सिर जाना आवश्यक है। ज्ञानी जैल सिंह दो दिन पहले ही उस नगर में आए थे। वे उस समय राष्ट्रपति थे। सारी व्यवस्था हो जाने के बावजूद वे उस मंदिर में नहीं जा सके थे क्योंकि अपनी पगड़ी बाहर रखकर नंगे सिर मंदिर में जाना उनके लिए संभव नहीं था। मेरे साथ भी यही हुआ। नागालैंड के सांसद इसलिए वहां नहीं जा सके थे, क्योंकि वे ईसाई थे। मुझे

अहिन्दू तो नहीं माना गया था किन्तु अपनी पगड़ी बाहर रखकर मैं मंदिर में जाऊं, यह मुझे बहुत अटपटा लग रहा था। परिणाम यह हुआ कि हम दोनों अपने निवास स्थान पर ही बैठे रहे, शेष भगवान कृष्ण के दर्शन करने चले गए।

मनुष्य अपनी लम्बी जीवन यात्रा करके आज जहां पहुंच गया है वहां कितनी ही मान्यताएं, कितने रूढ़ विश्वास, कितने अवैज्ञानिक दावे अब पीछे छूट गए हैं। एक तथ्य लगभग सर्वस्वीकृत हो गया है कि मनुष्य जन्मतः समान होता है। वर्ण, रंग, धर्म, जाति, नस्ल, लिंग और क्षेत्र संवंधी विभिन्नताएं होते हुए भी भावना, चिंतन, अन्तश्चेतना, विचार सरणि में ऐसा कुछ भी नहीं है जो एक मनुष्य को दूसरे से अलग करता हो। इसी तरह प्रकृति द्वारा प्रदत्त शारीरिक बनावट में भी रंग, कद और मुखाकृति में कुछ अंतर होते हुए भी संसार के सभी मनुष्य एक जैसे हैं और समान हैं। सम्पूर्ण संसार में लोकतंत्र का विकास इसी आधार पर हुआ है। इसी आधार पर सभी राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय मानवीय संगठन गठित हुए हैं।

ऐसी स्थिति में वे कौन-सी बातें हैं जो धर्म का, धर्मस्थान का, आराध्य देव का सहारा लेकर एक मनुष्य को ग्राह्य और एक को त्याज्य वना देती हैं। मंदिर प्रवेश के अधिकार को लेकर लम्वी लड़ाई लड़ने के बावजूद आज भी कितने ही मंदिरों के दरवाज़े दलितों के लिए वंद हैं। अहिन्दुओं के लिए तो बंद हैं ही।

पिछले दिनों हमारे एक शंकराचार्य ने उड़ीसा में थोड़े से ऐसे आदिवासियों को हिन्दू धर्म में वापस लाने का काम किया जिन्होंने ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया था। हिन्दू बन जाने के बावजूद वे हिन्दू नहीं बन सके, क्योंकि उनका उन अनेक मंदिरों में प्रवेश वर्जित है जहां श्री शंकराचार्यों द्वारा पोषित व्यवस्था अभी भी मान्य है। इस सीमा को वे शंकराचार्य भी जानते हैं। संभवतः इसीलिए उन्होंने घोषित किया कि इन 'शुद्ध' किये गये आदिवासियों के लिए वे 'स्वास्तिक मंदिर' नाम से अलग मंदिर बनवाएंगे।

पांच सौ वर्ष पहले सिख-धर्म इस दृष्टि से वहुत बड़ा संगठित अपवाद बनकर सामने आया। उसमें घोषित रूप से यह स्वीकार किया गया कि सभी मनुष्य समान होते हैं। सभी धर्म-स्थान और सभी धर्म-पुस्तकें सम्मान्य होती हैं। सिख गुरुओं ने घोषित किया कि उनका उपदेश सभी मनुष्यों के लिए समान होगा और उनके द्वारा निर्मित सभी धर्म-स्थान किसी भी प्रकार का भेद-भाव किए विना सभी के लिए खुले होंगे।

कितनी बड़ी विडम्बना है। विज्ञान मनुष्य की बनाई सभी गलियों-वीथियों को खुला करके एक ऐसी चौड़ी सड़क का निर्माण करता है जिस पर गोरे-काले, लम्बे-छोटे, स्त्री-पुरुष, विश्वासी-अविश्वासी बिना नामक-भौं सिकोड़े साथ-साथ चलते ही नहीं हैं, साथ-साथ काम करते हैं, साथ-साथ अपनी उपलब्धियों के सहभागी बनते हैं।

यह काम धर्म को करना चाहिए था। किन्तु कई बार तो वह हमें छोटी गलियों-वीथियों से निकाल कर अंधेरी गुफाओं में ले आता है, जिसमें से सिर्फ एक अंधे भटकाव के अतिरिक्त हमारे हाथ कुछ नहीं लगता।

वायलार रवि ने अपने बेटे के विवाह के पश्चात् गुरुवायूर मंदिर के पुजारी दिवाकरन नम्बूदिरिपाद द्वारा मंदिर को पुनः पवित्र करने की क्रिया का विरोध मंदिर की प्रबंध समिति के अध्यक्ष वेणु गोपाल कुरुप को पत्र लिखकर किया। श्री कुरुप ने वायलार की शिकायत रद्द करते हुए अपना निर्णय दे दिया कि मंदिर के सभी मामलों में पुजारी का निर्णय सर्वोपरि है।

पुजारी का निर्णय सर्वोपरि है, यह मान्यता सभी प्रकार के वैज्ञानिक-तार्किक चिंतन पर ताला लगा देती है और रूढ़िवादिता तथा कठमुल्लेपन को जन्म देती है। ऐसी अवैज्ञानिक सोच से कोई सांसारिक धर्म, मत या सम्प्रदाय वचा हुआ नहीं है।

मैं अभी सिख धर्म की मूल मान्यताओं की चर्चा कर चुका हूं। किन्तु वहां भी पुरोहितवादी कठमुल्लापन हावी होने के निरन्तर प्रयास करता रहा है। केवल अस्सी वर्ष पहले तक हरिमंदिर और अकाल तख़्त के पुजारी दलित जातियों के लोगों द्वारा लाया गया प्रसाद इन स्थानों पर स्वीकार नहीं करते थे और न उनके साथ समानता का व्यवहार करते थे। सन् 1920 में पुजारियों के ऐसे रवैये के विरुद्ध जनान्दोलन हुआ और इस बुराई को दूर किया गया।

किन्तु कठमुल्लापन रुकता नहीं है। धर्मस्थानों से जुड़े हुए पुजारियों, मुल्लाओं, पादरियों, ग्रंथियों की स्वार्थपूर्ति इस बात से होती है कि लोग अधिक से अधिक अंधविश्वासी बनें, उनकी किसी बात पर वे प्रश्न न उठाएं, उनकी हर बात आंख बंद करके स्वीकार कर लें और इस बात से सदा भयग्रस्त बने रहें कि उनकी बातों पर प्रश्नचिह्न लगाने का मतलब है घोर पाप और उसका परिणाम है इस संसार में और उस संसार में घोर कष्ट और यन्त्रणा।

ऐसे ही कठमुल्लेपन का परिणाम है कि बहुत से गुरुद्वारों में ऐसे श्रद्धावान लोगों को कीर्तन नहीं करने दिया जाता जो सहजधारी हैं, अर्थात् जो केश और दाढ़ी नहीं रखते हैं। ऐसे लोगों को कुछ गुरुद्वारों में गुरुग्रंथ साहब का पठन करने, उसकी सेवा में बैठने और उसका आदेश लेने की भी अनुमति नहीं दी जाती।

कितना बड़ा व्यंग्य है और विरोधाभास भी कि गुरु नानक देव का जीवन भर का साथी और उनकी रची वाणी को अपनी रवाब पर स्वर देने वाला, भाई मरदाना एक मुसलमान था। फिर सदियों तक गुरु-दरवार में गुरुवाणी का कीर्तन करने वाले कीर्तनिये प्रमुख रूप से भाई मरदाना की परम्परा के मुसलमान रागी ही थे। आज भी यह परम्परा थोड़ी-बहुत जीवित है। किन्तु जैसे तेजी से सिखों में धार्मिक कट्टरता बढ़ रही है और पुरोहितवाद का शिकंजा कसता चला जा रहा है, वहां गुरु नानक और उनके परवर्ती गुरुओं द्वारा स्थापित सभी मानवीय मान्यताएं कब केवल सिद्धान्त और आदर्श की कोरी बातें बनकर रह जाएंगी, कहा नहीं जा सकता।

हाल में ही न्यूयार्क में संयुक्त राष्ट्र महासभा भवन में सहस्राब्दि विश्व शांति शिखर सम्मेलन सम्पन्न हुआ जिसमें संसार के सभी धर्मों, मतों, सम्प्रदायों के हज़ारों प्रतिनिधियों

ने भाग लिया। किन्तु क्या उसका कोई सार्थक परिणाम निकला? यदि संसार के सभी धर्मों के आचार्य अपनी-अपनी सीमाओं में घिरे रहकर एक-दूसरे को छोटा और सत्य से भटका हुआ समझते हुए और अपने आपको मानवता का एकमात्र मुक्तिदाता घोषित करते हुए, एक दूसरे से अपना पल्ला सिकोड़ते हुए व्यवहार करेंगे तो वे विश्व में शान्ति लाने की दिशा में कितने सफल होंगे?

क्या आज यह आवश्यक नहीं लगता कि सभी धर्माचार्य आज मनुष्य की मुक्ति की बात छोड़कर इस सोच की ओर अग्रसित हों कि भगवान को उसके पुरोहितों की संकीर्ण मानसिकता से कैसे मुक्ति दिलाई जाए?

(दैनिक जागरण, 28-9-2000)

राम नाम की व्याप्ति

कई बार यह सोचकर आश्चर्य होता है कि राम की इतनी व्याप्ति के पीछे रहस्य क्या है? ऐसी व्याप्ति में दूसरा नाम कृष्ण का है। पौराणिक मान्यता तो यह है कि कृष्ण सोलह कला सम्पन्न सम्पूर्ण अवतार हैं और राम अंशावतार हैं। किन्तु इस देश में राम वैयक्तिक भी हैं और निर्वैयक्तिक भी। वे विष्णु के अवतार हैं। दशरथ-पुत्र हैं, सीता-पति हैं और रावण जैसे असुरों के संहारक हैं। इसके साथ ही वे पूरी तरह निर्वैयक्ति हैं। वे अवतार नहीं हैं, न दशरथ पुत्र हैं, न सीता-पति हैं, न असुर संहारक हैं। वे निराकार, निर्गुण, सर्वव्यापी, घट-घटवासी हैं, पारब्रह्म हैं पूर्णावतार होते हुए भी कृष्ण नाम को ऐसी निर्वैयक्तिता प्राप्त नहीं हुई जैसी राम-नाम को।

यह तो निश्चित है कि राम शब्द दशरथ-सुत राम से कहीं अधिक प्राचीन होगा। इसका कोषीय अर्थ सुहावना, आनन्दप्रद, हर्षदायक, सुंदर, प्रिय और मनोहर जैसा है। ऋग्वेद में भी इसका उल्लेख है। दशरथ सुत के रूप में राम-कथा को सारे संसार में व्याप्त करने का श्रेय ऋषि वाल्मीकि को दिया जाता है जिन्होंने अपने समय में प्रचलित गाथा-गीति को काव्य का रूप देकर रामायण की रचना की।

राम के चरित्र को जैसा गौरव और व्यापक महत्ता प्राप्त हुई उसके कारण सम्पूर्ण भारत और भारत के बाहर भी उसकी लोक-प्रसिद्धि हुई। वाल्मीकि ने राम के रूप में एक महामानव की सृष्टि की थी। आगे चलकर राम के चरित्र में नारायण का समावेश हो गया और राम का व्यक्तित्व अलौकिकता से समन्वित हो गया। सोलहवीं शती में गोस्वामी तुलसीदास ने राम के प्रति अनन्य भक्ति प्रकट करते हुए उनके चरित्र का जो निर्माण किया, वह उनके चरित्र विकास का चरम कहा जा सकता है।

भारत का कोई भी ऐसा प्रदेश नहीं है जिन में राम-कथा अपने-अपने ढंग से न लिखी गई हो और इस देश में जन्मा ऐसा कोई धर्ममत नहीं है जिसमें राम-कथा का

प्रचलन न हो। बौद्धों ने ईसा से कई शती पूर्व राम को बोधिसत्व मानकर रामकाव्य को अपने जातक साहित्य में स्थान दिया है। बौद्धों की भांति जैनियों ने भी राम-कथा को अपनाया और इसकी लोक-प्रियता शताब्दियों तक बनी रही।

सिखों में राम का नाम दो रूपों में प्राप्त है। परम्परागत राम-कथा का समावेश गुरु गोबिंद सिंह विरचित दशम ग्रन्थ में है। दशम ग्रंथ में चंड़ी के अतिरिक्त विष्णु, ब्रह्मम और रूद्र के अवतारों का भी वर्णन है। विष्णु के अवतारों में राम और कृष्ण की कथा अधिक विस्तार से कही गई है।

राम कथा के सम्बन्ध में कवियों के दृष्टिकोण में पर्याप्त विविधता रही है। वाल्मीकि के राम महामानव हैं और सर्वत्र मानवोचित व्यवहार करते हैं। अध्यात्म रामायण में राम के चरित्र का दैवीकरण हो जाता है जिसका चरम विकास 'रामचरित मानस' में दिखाई देता है। इस समय तक राम के प्रति भक्ति भावना की व्याप्ति चारों ओर हो गई थी।

गुरु गोबिंद सिंह इस अर्थ में राम-भक्त नहीं थे। गुरु ग्रंथ साहब में राम का नाम असंख्य बार आया है। किन्तु नानकमार्गी भक्ति निर्गुण और निराकार की भक्ति है। अवतारवाद में उसकी आस्था नहीं है और वह परब्रह्म को अयोनि मानती है, जो जन्म-मरण विहीन है। 'जपुजी' में गुरु नानक ने उसे अकालपुरुष कहा है और यह भी कहा है कि वह 'अजूनी' (अयोनि) है।

निर्गुण संतों ने राम को निर्वैयक्ति कर दिया था। उनका राम रघुवंश का राम नहीं था, न ही वह विष्णु का अवतार था, न ही वह दशरथ और कौशल्या का पुत्र था। संत कबीर ने अपने राम को सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त देखा था—'एक राम दशरथ का प्यारा'। एक राम ने सकल पसारा।' उन्होंने अपनी एक साखी में इसे बहुत स्पष्ट शब्दों में कहा है—दशरथ सुत तिहुं लोक बखाना। राम नाम का मरम है आना।' दशरथ पुत्र की चर्चा तीनों लोकों में होती है। उन्हें राम नाम के मर्म की समझ नहीं है। दशरथ पुत्र राम का मुंह-माथा है, उसका अपना स्वरूप है, किन्तु जिस राम के प्रति संत कबीर समर्पित है उसका कोई आकार-प्रकार नहीं। वह तो पुष्प की गंध से भी पतला है—'जाके मुंह माथा नहीं, नाहीं रूप सरूप। पुहुप बास ते पातरा, ऐसा तत्व अनूप।'

नानकमार्गी भक्ति राम नाम प्रचुर प्रयोग करती है। गुरु ग्रंथ साहब में परब्रह्म के लिए राम शब्द का सबसे अधिक प्रयोग हुआ है। वैसे इसमें वैष्णव, शैव और इस्लामी परम्परा के शब्द भी आए हैं। ये सभी शब्द अपने सम्प्रदायगत, पंथगत, मज़हबगत अर्थों से ऊपर उठकर एक 'अकाल पुरुष' का ही अर्थ दें, ऐसे संकेत गुरु ग्रंथ साहब में हैं।

किन्तु गुरु गोबिंद सिंह ने नानकमार्गी भक्ति परम्परा के दसवें उत्तराधिकारी का दायित्व लेने के साथ ही एक बहुत ही महत्तर कार्य भी अपने कंधों पर ले लिया था। जब उनका जन्म हुआ था, इस देश पर संकट के ऐसे बादल सघन हो गए थे कि ऐसा लगने लगा था कि इन बादलों से बरसने वाली अग्नि वर्षा इस देश की सभी धार्मिक और सांस्कृतिक परम्पराओं को जलाकर नष्ट भ्रष्ट कर देगी। वे समाज को एक ऐसे

अत्याचारी शासन के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए तैयार करना चाहते थे जो उस समय संसार का संभवतः सबसे अधिक शक्तिशाली शासन था और औरंगजेब जैसा असीम शक्ति का स्वामी उस शासन का नायक था।

इस वृहत्तर कार्य का सम्पन्न करने के लिए उन्होंने कुछ सूत्र खोजे। उनमें एक महत्वपूर्ण सूत्र था, सम्पूर्ण प्राचीन भारतीय साहित्य को इस प्रकार लोकभाषा में लाना जिससे लोगों में साहस, वीरता और बलिदान का भाव जागृत हो सके। सम्पूर्ण दशम ग्रंथ और उसमें संग्रहीत 'राम-कथा' इस विशाल आयोजन की एक महत्वपूर्ण कड़ी थी। दशमग्रंथ में संग्रहीत 'कृष्णावतार' में उन्होंने अपने मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए एक स्थान पर कहा है कि मैं भागवत के दशम स्कंध को लोकभाषा में अन्य किसी भावना से प्रेरित होकर नहीं, केवल आतताइयों से धर्म-युद्ध करने की इच्छा से प्रेरित होकर लिख रहा हूं—'दशक कथा भागीत की भाषा करी बनाई। अउर वासना नाहि प्रभु-धरम जुद्ध को चाई।'

इस प्रकार अपनी राम-कथा में गुरु गोबिंद सिंह वाल्मीकि से लेकर केशव की रामचंद्रिका तक की राम-कथा को एक नया आयाम दे देते हैं।

सभी राम-कथाओं में राम के जन्म का मुख्य उद्देश्य दुष्टों का नाश और साधुजनों की रक्षा करने का है। गुरु गोबिंद सिंह तो उनके इसी रूप को विशेष रूप से उजागर करना चाहते थे। दशम ग्रंथ में संग्रहीत 'रामावतार' में वे कहते हैं—

राम परम पवित्र हैं रघुबंस के अवतार।
दुष्ट दैतन के संघारक संत प्रान अधार।।

वे ऐसे राम को लोगों के सामने रखना चाहते थे, जो योद्धा थे, जो दुष्टों और आतताइयों को नष्ट करने के लिए प्रतिबद्ध थे। वे राम के अलौकिक दैवी रूप से इतने प्रभावित नहीं थे जितने उनके उस रूप से जो हाथ में धनुष-बाण लेकर शत्रुओं का संहार करता है। रावण से युद्ध करते हुए राम का रूप इस प्रकार का है—

रोष भरे रणमो रघुनाथ कमान लै बाण अनेक चलाए।
बाज गजी गजराज घने रथराज बने करि रोस उडाए।।
जै दुख देह कटी सिय के हित ते रन आज प्रतच्छ दिखाए।
राजीव लोचन राम कुमार घनो रन घाल घर घाल घनकर घाए।।

'रामावतार' में कवि ने एक स्थान पर राम को 'श्री असुरार्दन' नाम से संबोधित किया—

श्री असुरारदन के करक्रो जिन एक ही बान बिखै तन चाख्यो।
भाज सक्यो न भिर्‌यो हठ कै भट एक ही धाई धरा पर राखयो।।
छेद सनाह सुबाहन कौ सर ओटन कोट करोटन नाख्यो।
सुआर जुझार अपार हठी रन हार गिरे धर हाइन भाख्यो।।

राम कथा के माध्यम से लोगों में युद्ध भाव जागृत हो सके—यह गुरु गोबिंद सिंह का प्रयास था। 'रामावतार' में कुल 864 छंद है। इनमें से 400 से अधिक छंदों में केवल युद्धों का ओजस्वी वर्णन है। करुण, भक्ति, शृंगार आदि अन्य किसी रस पर कवि की दृष्टि नहीं टिकती उनकी रुचि युद्ध-चित्रण में है और जहां कहीं भी उन्हें यह सुयोग मिलता है, वह इसका पूरा लाभ उठाते हैं।

राम की व्याप्ति केवल भारत की सीमाओं में ही नहीं रही। वह विदेशों में भी पहुंच विदेशों में राम-कथा के प्रसार का श्रेय बौद्धों को दिया जाता है। 'अनाम जातकम' तथा 'दशरथ कथानम' का तीसरी और पांचवीं शताब्दी में चीनी भाषा में अनुवाद हुआ था। तिब्वती रामायण आठवीं शताब्दी में बनी थी।

दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों में वाल्मीकि रामायण का ज्ञान प्राचीन काल से है। बारहवीं और पंद्रहवी सदी में इंडोनेशिया में राम काव्य काफ़ी लोकप्रिय था। थाईलैंड, कम्पोडिया, बरर्मा आदि देशों में सोलहवीं शती से ही राम-कथा अनेक रूपों में विकसित हुई और राम-नाटकों या रामलीलाओं का प्रचलन भी हुआ।

इस देश लम्बी सांस्कृतिक परम्परा में राम-नाम और राम-कथा का विकास होने में शताब्दियां लगीं। किन्तु उसे जन-मानस ने इस तरह स्वीकार कर लिया कि उसके सम्पूर्ण अस्तित्व में इसकी पहचान स्थापित हो गई। कोई भी कार्य प्रारम्भ करने से पहले किसी के मुंह से सहज निकल पड़ता है—'राम का नाम लो और शुभारंभ करो। 'राम राम' अथवा 'जय राम जी की' का अभिवादन संभवतः यहां की सर्वसाधारण जनता का प्राचीनतम अभिवादन है। यही कारण है कि राम शब्द व्यक्ति न रहकर एक विचार के रूप में परिणत हो गया है। इस विचार को ग्रहण करने और इसे अपने जीवन का आलम्बन बनाने में इसका सगुण होना अथवा निर्गुण होना, इसका अवतार होना अथवा परब्रह्म होना, इसका घट-घट वासी होना अथवा अयोध्या का राजा होना, इसका दशरथ पुत्र होना अथवा अयोनि होना किसी प्रकार बाधक नहीं बनता। इस नाम की इतनी व्याप्ति है कि इसे संत कबीर और गुरु नानक की सम्पूर्ण परम्परा परब्रह्म और अकाल पुरुष का पर्यायवाची मानकर स्वीकार कर लेती है और गोस्वामी तुलसीदास की परम्परा इसे ईश्वर का अवतार मानकर इसके प्रति भक्तिभाव से पूरी तरह समर्पित हो जाती है। दोनों विचारों में कहीं द्वंद्व नहीं है, कहीं विरोध नहीं है और कहीं इस बात का आग्रह नहीं है कि तुम्हारे राम से मेरा राम बड़ा है।

यह भी सच है कि इस देश का प्रत्येक बड़ा और महत्वपूर्ण कवि, वह किसी भी भाषा का हो, राम की कथा अवश्य लिखता है। राम की व्याप्ति ही इतनी है कि वह किसी को भी कवि बना देती है। मैथिलीशरण गुप्त के शब्दों में—

राम, तुम्हारा वृत्त स्वयं ही काव्य है।
कोई कवि बन जाय, सहज संभाव्य है।

(दैनिक जागरण, 19-10-2000)

कैसे जले दीप से दीप?

दीपावली भारतीय जनमानस का सबसे बड़ा त्योहार है। जैसी उमंग और जैसा उत्साह इस समय होता है, वैसा अन्य किसी अवसर पर नहीं होता। अत्यन्त गहमागहमी से भरा वातावरण अनेक दिनों तक लोगों को अपनी ओर आकर्षित करता रहता है।

किन्तु किसी भी त्योहार का आनन्द और उसकी सार्थकता तभी उजागर होती है जब उसकी लहर उन तटों को भी छूने लगे, जो सदियों से सूखे पड़े हुए हैं। हमारे देश में एक विशाल जनसमुदाय ऐसा है जिनके मध्य दीपावली जैसे त्योहार ललक के साथ ही लालसा भी लाते हैं और ऐसा व्यक्ति चाहता है कि उसके जीवन में भी वह दिन आए जब वह दीपावली जैसे 'समृद्धि सूचक' त्योहार का सही अर्थों में भागीदार बन सकें।

कुछ समय पूर्व मैं द्वितीय विश्व दलित लेखक सम्मेलन के सिलसिले में इंग्लैंड गया था। लंदन का साउथाल का क्षेत्र तो भारत का ही एक भाग लगता है। वहां भारतीय, विशेषरूप से पंजाबीमूल के निवासियों की इतनी बड़ी संख्या है कि सड़कों-बाज़ारों में घूमते समय व्यक्ति को अनुभव होता है कि वह दिल्ली के करोलबाग में घूम रहा है। इन दिनों वहां दीपावली के स्वागत की खूब तैयारियां हो रही थीं। हमारे देश में मिट्टी के दीयों का स्थान मोमबत्तियां लेती चली जा रही हैं किन्तु साउथाल के बाज़ारों में सड़क की पटरियों पर मिट्टी के बने हुए दीयों की भरमार थी।

ब्रिटेन में जाकर विशेष प्रसन्नता उस समय होती है जब हम भारत के विभिन्न भागों से गए दलित वर्ग के उन लोगों से मिलते हैं जो आज दलितत्व से मुक्ति पाकर सम्मान और समृद्धि का जीवन जी रहे हैं। इस बार लंदन, बरमिंघम और वोलवरहेंप्टन जैसे नगरों में बसे ऐसे बहुत से लोगों से मेरी भेंट हुई। ब्रिटेन में लगभग डेढ़ लाख दलित वर्ग के लोग हैं, जो अधिसंख्य इसी क्षेत्र में बसे हुए हैं। इन्हें यह बात नहीं भूली

है कि ये किस वर्ग के लोग हैं, भारत में सदियों से इनके साथ कैसा व्यवहार होता रहा है और आज भी थोड़ी-सी 'क्रीमी लेयर' को छोड़कर आम लोगों की दशा किस प्रकार की है।

यहां बसे हुए दलित वर्ग के अधिसंख्य लोग पंजाब से गए हुए लोग हैं। कड़ी मेहनत करके इन्होंने अपनी आर्थिक स्थिति में बहुत सुधार कर लिया है। इनके रहन-सहन, इनके व्यवसाय (नौकरी अथवा व्यापार), इनके बच्चों की शिक्षा देखकर यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता कि इनकी पृष्ठभूमि क्या थी। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इनमें से बहुत से लोगों का अपनी मूल भूमि, पंजाब से संबंध बना हुआ है। ये भारत आते रहते हैं और अपने सगे-संबंधियों की सहायता भी करते हैं।

एक अच्छी बात मुझे यह लगी कि दलित वर्ग के ये लोग सामाजिक दृष्टि से बहुत जागरूक हैं और धार्मिक आस्था के केंद्रों से गहरे जुड़े हुए हैं। मुझे ऐसे तीन आस्था केंद्र वहां विशेषरूप से दिखाई दिए—एक वाल्मीकि मंदिर, दो, रविदासी गुरुद्वारे और तीन, बुद्ध विहार। वाल्मीकि समाज के लोगों ने वाल्मीकि मंदिर बना लिए हैं और ऋषि वाल्मीकि को पूरी तरह देवत्व प्रदान करके 'भगवान वाल्मीकि' बना दिया है। उन्हीं की पूजा-अर्चना इन मंदिरों की केंद्रीय आस्था है।

प्रारम्भ के दो दिनों का दलित लेखक सम्मेलन साउथाल के वाल्मीकि मंदिर में ही सम्पन्न हुआ। सम्मेलन में भाग लेने आए बहुत से प्रतिनिधि भी यहीं ठहराए गए। पश्चिमी देशों में अधिकांश भारतीय धर्म स्थानों में पहले तल का प्रयोग पूजा-स्थल के रूप में होता है और भूमि तल का प्रयोग सामूहिक भोजन (लंगर) तथा अन्य सामुदायिक कार्यों के लिए होता है। साउथाल के वाल्मीकि मंदिर की स्थिति भी ऐसी ही है। वह मंदिर भी है और सामुदायिक केंद्र भी है। क्योंकि मंदिर से जुड़े अधिक व्यक्ति पंजाबी हैं, इसलिए सारी व्यवस्था पर गुरुद्वारा संस्कृति की छाप है—वैसी ही लंगर-व्यवस्था, वैसा ही सेवा-कार्य, विशेषरूप से महिलाओं द्वारा और वैसा ही संगत-भाव। यह बात भी वहां किसी को विचित्र नहीं लगती कि वाल्मीकि मंदिर के संस्थापक एक सिख सज्जन सरदार राम सिंह हैं और वर्तमान अध्यक्ष सरदार गुरुपाल सिंह गिल हैं। दोनों ही केशधारी हैं और पगड़ी बांधते हैं।

रविदासी गुरुद्वारे तो बहुत सुव्यवस्थित और सम्पन्न दिखाई देते हैं। वोलवरहेंप्टन के रविदासी गुरुद्वारे में मुझे जाने का अवसर मिला। यह रविदासी सिखों का गुरुद्वारा है। मुख्य हाल में किसी भी सिख गुरुद्वारे की तरह गुरु ग्रंथ साहब का पाठ होता है, वैसा ही एक सिख शक्ल-सूरत और वेशभूषा वाला ग्रंथी है और उसी ढंग का कीर्तन होता है। संत रविदास जी के 40 पद गुरु ग्रंथ साहब में संग्रहीत हैं। रविदासी समाज के लोग यह अनुभव करते हैं कि 400 वर्ष पूर्व गुरु अर्जुन देव ने अन्य अनेक गुरुओं, सूफियों और संतों के साथ संत रविदास को गुरु ग्रंथसाहब में स्थान देकर उनकी महत्ता को उजागर किया था। इसलिए यह ग्रंथ उन्हें उसी प्रकार मान्य है, जैसे अन्य किसी को।

रविदासी गुरुद्वारे में गुरु नानक के साथ संत रविदास के चित्र को लगाना और उसे विशेष महत्व देना बहुत स्वाभाविक लगता है। जिस समय मैं इस गुरुद्वारे में पहुंचा था, उस समय रविदास जी के ही एक 'शब्द' का कीर्तन हो रहा था। कीर्तन व्यावसायिक रागी नहीं, स्थानीय लोग कर रहे थे जो अत्यन्त भावभीना और रसासिक्त था।

गुरुद्वारे के सामने सड़क के दूसरी ओर, रविदासी सभा ने एक समुदाय भवन बनाया है। यह भवन बहुत सुंदर है। इसके पहले तल पर एक विशाल हाल है जिसमें सात-आठ सौ लोगों के बैठने की व्यवस्था है। मुझे बताया गया कि बरमिंघम में रविदासियों का जो गुरुद्वारा है वह वोलवरहेंप्टम के गुरुद्वारे और समुदाय भवन से कहीं अधिक बड़ा और भव्य है।

तीसरे आस्था केंद्र बुद्ध विहार हैं। जिस दिन मैं और मेरे साथी वोलवरहैंप्टम पहुंचे थे, वहां नए बने बुद्ध विहार और समुदाय भवन का उद्घाटन था। इसमें कोई संदेह नहीं कि डॉ. बाबा साहब अम्बेडकर इस समय देश-विदेश में बसने वाले दलित समाज के सबसे बड़े प्रेरणास्त्रोत और दिशा निर्देशक हैं। डॉ. अम्बेडकर ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था, इसलिए देश-विदेश में बौद्ध धर्म के पुनर्जागरण की लहर है। यह भी सच है कि अभी तक वाल्मीकि और रविदासी समाज के लोग बड़ी संख्या में बौद्ध नहीं बने हैं, किन्तु डॉ. अम्बेडकर के प्रति उनकी आस्था में कोई कमी नहीं है।

मैं लिख चुका हूं कि दलित वर्ग, चाहे वे वाल्मीकि हों, रविदासी हों अथवा बौद्ध हों, की सभी गतिविधियों का संचालन वहां बसे पंजाबी मूल के लोग ही करते हैं। पंजाबी समुदाय का इस समय ब्रिटेन की शासन व्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान बनता जा रहा है। श्री स्वराज पाल वहां हाउस आफ लार्ड्स के सदस्य हैं। श्री मोता सिंह वहां के उच्च न्यायालय में न्यायाधीश हैं। अनेक नगरों में पंजाबी मूल के व्यक्ति मेयर या डिप्टी मेयर हैं। वोलवरहेंप्टन के उस समय मेयर श्री तरसेम सिंह थे जो पंजाबी हैं और दलित वर्ग के हैं। इसलिए वहां की, अपने समाज से संबंधित जन सभाओं में, संयोजक सहित सभी वक्ता पंजावी में ही बोलते हैं और विचार-विमर्श करते हैं।

बुद्ध विहार और समुदाय भवन का उद्घाटन करने के लिए वहां सुश्री मायावती पहुंची हुई थीं। समारोह के लिए आए व्यक्तियों (स्त्री-पुरुषों) की संख्या एक हज़ार से अधिक रही होगी। हाल खचाखच भरा हुआ था और सारी कार्रवाई का माध्यम पंजाबी भाषा थीं। दूसरे दिन रविदासी समाज द्वारा आयोजित विशाल सभा में भी मायावती मुख्य अतिथि थीं। वहां भी सारी कार्रवाई पंजाबी में ही हो रही थी।

यदि उचित वातावरण मिले, छूत-छात और वर्ण-भेद की असमानता और घृणामूलक नज़रों की पैनी मार से छुटकारा मिले और समय-असमय इन याद दिलाने वाले क्रूर व्यंग्य वचनों से मुक्ति मिले कि तू चमार या भंगी की संतान है, तो व्यक्तित्व में कैसे आत्म-विश्वास और आत्म-सम्मान बढ़ता है यह विदेशों में बसने वाले दलित वर्ग के लोगों को देखकर अनुभव किया जा सकता है। हमारे देश में तो रंग-रूप और कपड़े-लत्ते देखकर

किसी दलित को अलगाया जा सकता है। किन्तु ब्रिटेन में ऐसी पहचान कर पाना संभव नहीं है। वहां उनके चेहरे पर समृद्धि ही नहीं दिखती है, अभिजात्य भी दिखता है।

वोलवरहेंप्टन में मैं, जिस दलित (रविदासी) परिवार का अतिथि था उसका जीवन स्तर भारत के किसी भी लखपति से अच्छा था। पति-पत्नी और चारों बच्चे किसी समृद्ध परिवार के दिखाई देते थे। सभी अपने व्यवहार और अतिथि सत्कार में इतने शिष्ट और विनम्र थे कि कभी भुलाए न भूलें।

दीपावली समृद्धि की सूचक है। इस दिन धन की देवी लक्ष्मी की पूजा की जाती है और यह प्रथा भी है कि रात को घर के दरवाज़े खुले रखे जाएं क्योंकि लक्ष्मी का आगमन होना है। किन्तु यह विडम्बना ही है कि अनन्तकाल से मनाई जाने वाली दीपावली की रात को आने वाली देवी लक्ष्मी उन्हीं घरों में ही आती है जिनके घरों में उसका थोड़ा-बहुत निवास पहले से ही होता है। वह उन ग़रीबों, दलितों और वंचितों की झुग्गियों और कुटियों की ओर नहीं जाती है जो अपने घरों के आगे दस-पांच दीये जलाकर शताब्दियों से उसकी बाट जोहते रहे हैं।

दीप से दीप जलने की बात हमने बहुत सुनी है। किन्तु यदि तेल से भरा एक दीपक दूसरे तेल से भरे दीपक को ही जलाता रहेगा तो उसका क्या लाभ होगा? तेल से रहित दीपक तो उसी तरह प्यासे रहेंगे जैसे वे हमेशा से हैं। बात तो तब बनती है जब तेल से भरे दीपक वहां भी दिखाई दें, जहां असंख्य सूखी आंखें अमावस के अंधेरे में इनकी ओर ललक भरी दृष्टि से देख रही होती है।'

ब्रिटेन में जा बसीं ऐसी बेबस आंखों में इस बार जैसी चमक मैंने देखी उसने मुझे यह विश्वास दिया है कि ऐसा हो सकता है। हमारे देश में भी ऐसा हो सकता है। यहां भी सामाजिक परिवर्तन की लहर उन तटों को छूने की उतावली है जो अनंतकाल से सूखे हैं।

दीप से दीप जले का स्वप्न अभी तो अधूरा है।

(दैनिक जागरण, 26-10-2000)

उन्होंने सामाजिक न्याय की लड़ाई लड़ी थी

क्या धर्म का अर्थ व्यक्ति को परमात्मा, परलोक, मृत्यु के बाद के जीवन की चिंताओं से जोड़कर ऐसी स्थिति के प्रति प्रयत्नशील बनाना है, जिसे आध्यात्मिक संसार में मोक्ष कहा ज़ाता है अथवा उसमें इस दृश्यमान जीवन जीने और उसमें हो रहे अन्याय और अत्याचार के विरोध में आवाज़ बुलंद करना भी शामिल है? आमतौर पर धर्म को ऐसी आध्यात्मिक साधनाओं से जुड़ा हुआ माना जाता है जिसका इहलौकिक जीवन के प्रयत्नों, सुखों, दुखों, संघर्षों से कोई सीधा सरोकार नहीं है, यदि है तो वह अधिक स्वीकार्य नहीं है, बल्कि प्रायः तिरस्कार योग्य है।

इस देश में धर्म से जुड़ी हुई जिन चिंताओं का विकास हुआ उसमें व्यक्ति निरन्तर एकाकी बनता चला गया। अपना कल्याण, अपनी मुक्ति, अपना उद्धार उसकी सबसे बड़ी चिंता बन गई। संसार उसके लिए माया का निरर्थक पसारा बन गया, जो उसकी मुक्ति के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है। इस संसार के सभी काम-धंधे उसे व्यर्थ लगने लगे, क्योंकि इसमें कुछ भी स्थिर नहीं है। इस संसार के सभी संबंध उसे अपने लिए बंधन से दिखाई देने लगे। इससे छुटकारा पाकर भगवान की भक्ति या तप साधना में लीन जीवन ही उसे सार्थक जीवन की सबसे बड़ी पहचान दिखाई देने लगी। इसलिए उसके इहलौकिक जीवन में जो समस्याएं उठीं, जिन अन्यायमूलक व्यवस्थाओं ने जन्म लिया, जो सुख-दुःख आए, उसे उसने भाग्य, ईश्वरेच्छा और धर्म का नाम लेकर आंखें मूंदकर स्वीकार कर लिया।

मध्ययुग का भारतीय जीवन, जिसमें गुरु नानक का जन्म हुआ था, इस प्रकार की जीवन-शैली का पूरी तरह शिकार हो चुका था। एक ओर यहां के लोगों पर मध्य

एशिया से आने वाले तुर्क, पठान, मुग़ल, कबीलों के निरन्तर आक्रमण हो रहे थे, दूसरी ओर धर्म और परलोक का नाम लेकर सम्पूर्ण समाज को जाति-पात, ऊंच-नीच, छूत-अछूत की श्रेणियों में बुरी तरह बांटकर असंख्य लोगों को पशुओं से भी बदतर जीवन जीने के लिए मज़बूर कर दिया गया था।

ऐसी स्थिति में गुरु नानक ने धर्म और आध्यात्मिकता को परलोक, मुक्ति, निर्वाण, आवागमन आदि की चिंताओं तक ही सीमित नहीं रखा बल्कि उसे इहलौकिक जीवन के सराकारों से सीधे-सीधे जोड़ा। व्यक्ति को उसके एकाकी बोध से निकालकर उसे सामाजिक-बोध का अहसास कराया, उसकी कमियों के लिए उसे प्रताड़ित किया, उसे अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध खड़े होने की प्रेरणा दी, उसे उन मूल्यों के प्रति जागरूक किया जो समता, बन्धुता और स्वतंत्रता को अपना आधार बनाते हैं और सबसे बड़ी वात उसे इन मूल्यों की रक्षा के लिए प्राण तक न्योछावर करने का आह्वान किया।

इस देश में सदियों से मनुष्य सामाजिक असमानता और उससे जन्मे सामाजिक अन्याय का शिकार रहा है। असमातवादी, अन्यायमूलक व्यवस्था के प्रति महाराष्ट्र के नामदेव, वाराणसी के कबीर और रविदास ने जो उक्तियां व्यक्त कीं, गुरु ग्रंथ साहब में उन्हें शामिल किया गया है। संत नामदेव ने अपनी गहरी पीड़ा व्यक्त करते हुए कहा था—

हंसत खेलत तेरे देहुरे आया।
भगति करत नामा पकरि उठाया।।
हीनड़ी जात मेरी जादम राया।
छीपे के जनम काहे को आया।।

इन पंक्तियों में छीपा जाति में जन्म लेने वाले व्यक्ति की असीम वेदना उभर आई है—हे भगवान, मैं तो हंसते-खेलते हुए तेरे द्वार पर आया था, किन्तु धर्म के ठेकेदारों ने मुझे वहा से पकड़कर उठा दिया, इसलिए कि मैं हीन जाति का हूं। यदि मेरे साथ यही व्यवहार होना था तो तुमने मुझे छीपे के घर में क्यों जन्म दिया?

इस असमता और अन्यायमूलक व्यवस्था ने व्यक्ति को सामाजिक स्तर पर नीचा ही नहीं बनाया बल्कि उसमें बहुत गहरे तक अपने नीच जाति के होने का हीनभाव भी पैदा कर दिया।

अपनी जाति-जन्म के हीन होने को अनुभूति संत रविदास में भी बहुत गहरी थी—

जाति भी ओछी जनम भी ओछो
ओछा करम हमारा।
हम सरनागति राम राई को,
कहें 'रैदास' चमारा।

इस आरोपित हीनताभाव के प्रति उस युग में कुछ लोगों में असंतोष भी उभरा। इस पीड़ा को संत कबीर ने भी भोगा था। उन्होंने ब्राह्मण को ललकारते हुए पूछा था–

तुम कत बाहमन हम कत सूद
हम कत लोहू तुम कत दूध।

जन्माधारित वर्ण-व्यवस्था की खिल्ली उड़ाते हुए उन्होंने जिज्ञासा व्यक्त की थी–

जे बामन तू बामनी जाया
आन बाट काहे नहि आया?

इस व्यवस्था के प्रति हताशा और विरोध प्रकट करने वाले इन प्रयासों को संगठित आंदोलन का रूप देने का काम सिख आंदोलन ने किया। गुरु नानक का जन्म उच्च समझे जाने वाले वर्ण में हुआ था, किन्तु उन्होंने अपने आपको पूरी तरह से पीड़ित, दलित और तिरस्कृत वर्ग से जोड़ लिया। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा–

नीचां अंदरि नीच जाति नीची हूं अति नीच,
नानक तिनके संग साथ वडियां सू क्या रीस।

उन्होंने यह भी कहा कि जहां नीच समझे जाने वाले लोगों को संभाला जाता है, वहीं ईश्वर की कृपा-दृष्टि पड़ती है–'जित्थै नीचु संभालियन तित्थे नदरि तेरी बख्शीश।'

अपने समय के सामाजिक अन्याय के विरुद्ध यह एक प्रबल आवाज़ थी। किन्तु यह आवाज़ केवल गुरु नानक तक ही सीमित नहीं रही। यह निरन्तर एक आन्दोलन का रूप धारण करती चली गई। सिख गुरुओं ने सामाजिक न्याय की लड़ाई को केवल वचनों और उपदेशों तक ही सीमित नहीं रखा बल्कि उसे अपने जीवन में व्यावहारिक रूप में ढालकर दिखाया। गुरु नानक ने अपनी यात्राओं में ऐसे लोगों का आथित्य स्वीकार किया जिन्हें छोटा समझा जाता था। ऐसे में कई बार टकराव की स्थिति भी आई। उन्होंने उस टकराव को झेला और हमेशा निर्बल पक्ष के साथ खड़े हुए। गुरु नानक के जीवन से संबंधित भाई लालो और मलिक भागो की कथा इस बात की पुष्टि करती है।

चौथे गुरु, गुरु रामदास द्वारा अमृतसर की स्थापना और पांचवे गुरु, गुरु अर्जुन देव द्वारा अमृत सरोवर में हरि मंदिर का निर्माण तथा आदि ग्रंथ का संपादन धार्मिक, सामाजिक क्षेत्र में लाए जा रहे परिवर्तनों की दृष्टि से उठाए गए महत्वपूर्ण कदम थे। अमृतसर को गुरु रामदास ने केवल एक नगर के रूप में ही परिकल्पित नहीं किया था, वे इसे इस नए आन्दोलन का धार्मिक-सामाजिक केंन्द्र भी बनाना चाहते थे। उस समय देश में तीर्थस्थानों की कमी नहीं थी, किन्तु उन पर पूरी तरह पुरोहित व्यवस्था छाई हुई थी। वहां का सम्पूर्ण कार्य-व्यवहार उन्हीं के द्वारा बनाये गये नियमों के अनुसार चलता था। छोटे से छोटा धार्मिक अनुष्ठान इन तीर्थ स्थानों पर कब्जा जमाए पंडे-पुरोहितों

की सहायता के बिना पूरा नहीं हो सकता था।

गुरु नानक द्वारा अपनाया गया नगर करतारपुर पहले ही एक नया तीर्थ-स्थान बन चुका था। गुरु रामदास द्वारा बसाया गया नगर सभी धर्मों, जातियों, सम्प्रदायों के लिए एक सांझा नगर बनने लगा। गुरु अर्जुन ने हरिमंदिर में चार दरवाज़े रखकर इस बात की घोषणा कर दी कि यह मंदिर किसी एक धर्म या जाति तक ही सीमित नहीं है। इसमें किसी के लिए प्रवेश वर्जित नहीं है। यहां से मिलने वाले उपदेश ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्व, शूद्र सभी के लिए सुलभ हैं–

"ब्राहमन, खत्री, सूद, वैस उपदेस चहु वरनन को साझा।"

गुरु अर्जुन द्वारा निर्मित मंदिर किसी के लिए भी वर्जित नहीं था। उन्होंने जिस ग्रंथ का संपादन किया वह भी सभी के लिए था। सभी के लिए होने का अर्थ इतना ही नहीं था कि सभी उसका अध्ययन-मनन कर सकते थे। गुरु अर्जुन ने इस ग्रंथ में सभी का सहयोग और सहभाग पैदा किया। इसमें शेख फरीद और कबीर की वाणी शामिल की गई, नामदेव, रविदास और धन्ना की अभिव्यक्तियों को स्थान दिया गया, परमानंद, रामानंद और जयदेव भी इस अभियान में सम्मिलित किए गए। यह एक ऐसा ग्रंथ बना जिसे सभी स्वीकार कर सकते थे, सभी अपना मान सकते थे।

गुरु नानक और उनके परवर्ती गुरुओं ने धार्मिक-सामाजिक स्तर पर न्यायमूलक जीवन-पद्धति का समर्थन तो किया ही, राजनीतिक स्तर पर भी उन्होंने पहल की। इस देश के लोग अपनी चेतना और स्वाभिमान को खो चुके थे। वे एक ओर तो निरर्थक धार्मिक रूढ़ियों के शिकार थे, दूसरी ओर अपने समय के शासकों को प्रसन्न करने के लिए उनकी भाषा बोलते थे, उनके जैसे वस्त्र पहनते थे, उनका दिया हुआ अन्न ग्रहण करते थे, उनके जैसा धार्मिक आचरण करने का पाखंड करते थे। ऐसी विसंगति के शिकार एक हिन्दू सरकारी कर्मचारी से गुरु नानक ने कहा था–"तुम गऊ ब्राह्मण पर कर लगाते हो और गोबर का सहारा लेकर मुक्ति पाना चाहते हो? धोती, तिलक और माला धारण करते हो और धान म्लेच्छों का दिया हुआ खाते हो। घर में पूजा करते हो और बाहर शासकों को प्रसन्न करने के लिए कुरान पढ़ते हो। तुम यह पाखंड छोड़ क्यों नहीं देते?"

गुरु नानक द्वारा चलाया गया आन्दोलन सभी प्रकार की धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक जागरूकता को अपने साथ पूरी तरह जोड़कर आगे बढ़ता है। वह धर्म और न्याय की लड़ाई को किसी विशिष्ट वर्ग तक ही सीमित नहीं रखता बल्कि उसमें आम आदमी, छोटे आदमी की सक्रिय भागीदारी पैदा करता है। यह लड़ाई सेवा, बन्धुता और बलिदान की भावना को आधार बनाकर ही लड़ी जा सकती थी। इसलिए वह ऊंच-नीच और जाति-पात का भेदभाव समाप्त करके सबको एक पंगत में बैठकर, सबके साथ मिलकर, सब की सेवा करते हुए भोजन ग्रहण करने का आग्रह करती है।

गुरु नानक जानते थे कि यह लड़ाई सरल नहीं है। इस प्रकार का संघर्ष करने वाले व्यक्ति को समाज और शासन दोनों के ही विरोध का सामना करना पड़ता है। उसे डराया जाता है, मृत्यु का भय दिखाया जाता है, उसकी धन-सम्पति नष्ट कर दी जाती है, उसे जेल में डाल दिया जाता है, उसे असह्य कष्ट दिए जाते हैं और उसके प्राण भी ले लिए जाते हैं। गुरु नानक ऐसे संघर्षशील व्यक्ति को संबोधित करते हुए कहते हैं–

जे तऊ प्रेम खेलण का चाउ
सिर धर तली गली मेरी आउ
इत मारग पैर धरीजै
सिर दीजै काणि न कीजै।

(यदि तुम प्रेम का ऐसा खेल खेलना चाहते हो तो अपने सिर को हथेली पर रखकर मेरे पास आओ। उस मार्ग पर पैर रखोगे तो प्राण देने होंगे, किन्तु उफ भी नहीं करनी होगी।)

(दैनिक जागरण, 9-11-2000)

रमजान, रोज़े और ईद-उल-फितर

इस्लाम की दृष्टि में मनुष्य इस पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि है। प्रत्येक मुसलमान निम्नलिखित पांच धार्मिक कृत्यों द्वारा अपने कर्तव्य का निर्वाह करता है–

1. तौहीद (एकेश्वरवाद)
2. नमाज़ अथवा सलात
3. रोज़ा (उपवास)
4. ज़कात (दान)
5. हज्ज (तीर्थ)

इस्लाम शुद्ध एकेश्वरवादी धर्म है। वह अल्लाह और बंदे के बीच 'पैगम्बर' को मार्गदर्शक मानता है। इसमें चित्र अथवा मूर्ति जैसे किसी माध्यम की आवश्यकता नहीं है। अल्लाह धरती और आकाश का पूर्ण स्वामी है। वह सर्वज्ञाता, उदार, क्षमाशील, करुणामय और कृपाशील है। इस्लाम में बहुदेववाद (शिर्क) को स्वीकार करना पूरी तरह वर्जित है।

नमाज़ अथवा सलात इस्लाम की रीढ़ है। दिन में पांच बार नमाज़ पढ़ने का आदेश है। यह निश्चित समय में अल्लाह का स्मरण है। इस व्यवस्था का पालन करते हुए मुसलमान पांच बार खुदा के सामने उपस्थित हो पाप-कर्म से बचने की प्रार्थना और सच्चाई के मार्ग पर अग्रसर होने की सामर्थ्य संचित करता है।

रोज़ा का उद्देश्य मनुष्य के आध्यात्मिक और नैतिक विकास के साथ हृदय और आत्मा की शुद्धि है। यह मनुष्य को धर्मपरायण और संयमी बनाता है।

ज़कात (दान) का इस्लाम में बहुत महत्व है। इसके नियम और इसकी मर्यादाएं भी निश्चित की गई है। प्रत्येक धनवान मुसलमान के धन का स्तर नापने के लिए एक पैमाना बना दिया गया है। जिसके पास कम से कम साढ़े बावन तोला चांदी हो और

उसे रखे हुए पूरा एक वर्ष बीत जाए तो वह उसमें से चालीसवां भाग अपने किसी ग़रीब सम्बन्धी, असहाय, किसी मुसाफिर या किसी ऋणग्रस्त व्यक्ति को दे दे। इस प्रकार धनवानों की सम्पत्ति में निर्धनों के लिए कम से कम ढाई प्रतिशत भाग निश्चित कर दिया गया है।

जीवन भर में केवल एक बार मक्का में काबा की यात्रा करना सभी मुसलमानों के लिए एक आदर्श है। यह सभी मुसलमानों के लिए अनिवार्य नहीं है। परिस्थिति, यात्रा के लिए आवश्यक धन और स्वास्थ्य की दृष्टि से सुयोग्य व्यक्ति के लिए यह फर्ज़ है। धार्मिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण होने के साथ ही साथ इसका सारे संसार में फैले इस्लामी भाईचारे के आपसी सम्बन्धों के समाजीकरण की दृष्टि से भी बहुत महत्व है। यह एक प्रकार से सम्पूर्ण संसार के मुसलमानों का सम्मेलन बन जाता है।

रोज़े रमज़ान के महीने में रखे जाते हैं। इसे इस्लाम में बड़ा सवाब (पुण्य) पूर्ण कार्य माना गया है। इसे पूरे महीने भर हर वयस्क और स्वस्थ मुसलमान का फर्ज़ करार दिया गया है। बीमार अथवा यात्रा कर रहे व्यक्ति के लिए इस महीने में रोज़ा रखना आवश्यक नहीं है। उसके लिए यह आदेश है कि जब वह स्वस्थ हो जाए या उसकी यात्रा पूरी हो जाए तो वह रोज़े रखकर उस कमी को पूरा कर दे। हदीस (कुरआन का स्पष्टीकरण एवं टीका) में कहा गया है कि इस मुबारक माह में जन्नत के दरवाज़े खुल जाते हैं और शैतान क़ैद हो जाता है।

जिस पाठ को नमाज़ प्रतिदिन पांच बार याद कराती है उसे रोज़ा वर्ष में एक बार पूरे महीने तक हर समय याद दिलाता रहता है। रमज़ान आया और सुबह से लेकर शाम तक खाना-पीना बंद हुआ। सहरी (सूर्योदय से पहले) आप खा पी रहे हैं कि अचानक अज़ान हुई और आपने तुरंत हाथ रोक लिया। अब कैसा भी रुचिकर भोजन सामने आए, कैसी भी भूख-प्यास हो कितनी ही इच्छा हो आप शाम तक कुछ नहीं खाते। यही नहीं कि लोगों के सामने नहीं खाया जाता। एकांत में जहां कोई देखने वाला नहीं होता, एक बूंद पानी पीना या एक दाना भी खाना गुनाह है। मगरिब की (सूर्यास्त होने पर) अज़ान होने पर रोज़ा खुलता है। इसे इफ्तार कहते हैं। इस समय कुछ भी खाया जा सकता है।

रोज़ा आदमी के अन्दर अल्लाह का डर और संयम का भाव पैदा करता है। इससे अपने मन की इच्छाओं को अपने वश में रखने की शक्ति उत्पन्न होती है। एक हदीस में हजरत मोहम्मद का एक आदेश है कि जब तुम में कोई रोज़ा रखे तो चाहिए कि कोई गंदी और बुरी बात अपनी जबान से न निकाले और किसी प्रकार का लड़ाई-झगड़ा न करे। यदि कोई उससे झगड़ा करे, उसको गालियां दे तो उससे केवल इतना कह दे कि मैं रोज़े से हूं इसलिए तुम्हारे साथ न झगड़ सकता हूं, न बदले में गालियां दे सकता हूं। एक और हदीस में कहा गया है कि जो कोई रोज़े में भी गंदी भाषा बोले और बुरे काम करता रहे तो उसने जो खाना-पीना छोड़ा है, इसकी अल्लाह द्वारा स्वीकृति नहीं होती।

रोज़ों के दौरान हर मुसलमान का यह फर्ज़ बन जाता है कि वह अपने मन को हर प्रकार के पाप से दूर रखे। न झूठ बोले, न किसी की निंदा करे, न किसी से लड़े-झगड़े। रोज़े रखने का उद्‌देश्य व्यक्ति को धर्मपरायण और संयमी बनाना है। रोज़े की स्थिति में वह बहुत-सी बुराइयों और अवज्ञाओं से बच जाता है। हज़रत मोहम्मद की हदीस के अनुसार रोज़ा (जीवन-संघर्ष में) एक ढाल है।

रमज़ान का महीना पूरा होता है तो मुसलमानों का सबसे पवित्र और उत्साह से भरा त्योहार ईद (ईद-उल-फितर) का स्वागत होता है। ईद का त्योहार सहज ही नहीं आ जाता। उसके पीछे पूरे एक महीने की साधना होती है। रोज़ों के दिन परिवर्तित होते रहते हैं। कभी-कभी रमज़ान का महीना जून-जुलाई में आ जाता है। भयंकर गर्मी के उन दिनों में सारा दिन प्यासा रहना, किसी भी व्यक्ति के लिए कठोर परीक्षा का समय होता है। हर विश्वासी मुसलमान इस कठिन परीक्षा से प्रतिवर्ष अत्यन्त निष्ठापूर्वक गुज़रता है। सभी धर्मों के लगभग सभी त्योहार अपनी तिथि पर सहज रूप से आ जाते हैं। किन्तु मसुलमान 'ईद' को अर्जित करता है। ईद उसे कठिन साधना के बाद प्राप्त होती है। तीसवें रोज़े की शाम को निगाहें पश्चिम पर आ टिकती हैं और 'ईद के चांद' का बेसब्री से इंतज़ार करती हैं। किसी अन्य महीने का चांद इतनी उत्सुकता से नहीं देखा जाता जितना ईद का चांद। इसीलिए किसी व्यक्ति का बड़ी प्रतीक्षा और बेताबी के बाद मिलना एक लोकप्रिय मुहावरा बन गया है—भाई, आप तो ईद के चांद हो गए हैं।

चांद दिखने की उस रात से ही लोगों की खुशी का ठिकाना नहीं रहता। ईद का अर्थ ही खुशी है। नये कपड़े तैयार किए जाते हैं। खाने-पकाने का इंतज़ाम किया जाता है। सुबह सभी लोग नहा-धोकर, नए कपड़े पहनकर ईदगाह नमाज़ पढ़ने जाते हैं। यह एक तरह से शुक्राने (धन्यवाद) की नमाज होती है। बन्दा अपने मालिक यानी अल्लाह का शुक्रिया अदा करता है कि उसने एक महीने की इबादत में सहायता की और यह दुआ करता है कि इसकी इबादत कबूल कर ली जाए।

इस्लाम हर काम में खुदा की रज़ा और प्रसन्नता ढूंढ़ता है। मुसलमान का हर काम इबादत के नियम से होना चाहिए क्योंकि जब वह पैदा होता है तो उसके कान में अज़ान कही जाती है, जब वह मरता है तो जनाज़े की नमाज पढ़ी जाती है। बीच का समय इबादत है जिसमें बंदा अल्लाह की रज़ा (इच्छा) तलाश करता है। वह समझता है कि अल्लाह उसकी इबादत को कबूल कर ले तो उससे बड़ी और कोई बात नहीं है। इसलिए ईद के दिन कुछ और करने की बजाए वह ईदगाह की तरह अपना शुक्राना अदा करने जाता है।

इस्लाम से पहले भी ईद मनाई जाती थी। अरब में पहले बहुत से धर्मों के अनुयायी थे। उस समय ईद मनाने का तरीका अलग था। ईद के दिन खेल-कूद, घुड़सवारी, अस्त्र-शस्त्र में निपुणता का प्रदर्शन किया जाता था। उसमें आपस में मुकाबला होता था और हार-जीत होने पर लड़ाइयां भी होती थीं। इस्लाम ने इस प्रतिस्पर्धा को सौहार्द

में बदल दिया। खेल-कूद में जाने की बजाए लोग ईदगाह में जाने लगे। वहां परमात्मा को धन्यवाद ज्ञापित किया जाने लगा। फिर अपने मित्रों, स्नेहियों, सम्बन्धियों, प्रियजनों और पड़ोसियों को ईद की मुबारकबाद दी जाने लगी। गले मिलकर लोगों के प्रति प्रेम और आत्मीयता की अभिव्यक्ति होने लगी।

ईद के दिन सिवइयां खाई जाती हैं। एक महीने के रोज़ों के बाद सिवइयां हल्का भोजन है। साथ ही मिठास और दूध का मिश्रण मिठभाषी और स्नेहसिक्त होने का प्रतीक बन जाता है। इस दिन अमीर-गरीब सभी खुशियां मनाते हैं। अमीरों के पास साधन होते हैं, परन्तु साधनहीन ग़रीबों के पास खुशी मनाने का ज़रिया 'फितरा' होता है। 'फितरा' ईद की नमाज़ से पहले कुछ पैसा उन लोगों को देना होता है, जिन पर जकात फर्ज़ है। यह फितरा नमाज़ से पहले अदा करना चाहिए जिससे उसे ईद के दिन से पहले गरीबों, अनाथों तथा विधवाओं को दिया जा सके ताकि उनकी ईद भी औरों के साथ हो सके। यह एक ऐसा प्रयास है कि जिससे समाज का कोई भी वर्ग ईद की खुशियों में शामिल होने से वंचित न रह जाए।

ईद का महत्व आपसी सौहर्द्र और भाईचारा बढ़ाने तथा गरीबों को भी साथ लेकर चलने में है। भारत जैसे बहुधर्मी देश में यह महत्व इसलिए और बढ़ जाता है कि ऐसे त्योहार समाज के विभिन्न वर्गों में सद्भाव और आपसी समझ बढ़ाने में बहुत सहायक हो सकते हैं।

इस देश में शताब्दियों तक साथ-साथ रहने के बावजूद विभिन्न धर्मों, सम्प्रदायों के लोग एक-दूसरे के त्योहारों, विश्वासों और आस्थाओं को बहुत कम जानते हैं। हमारे समाज में अपने-अपने घेरों में जीने की आदत है। दूसरे धर्मों के सम्बन्ध में हम बहुत कम जानते हैं और यह भी एक कटु सत्य है कि हमारी जानकारी बहुत बार सुनी-सुनाई बातों पर आधारित होती है, जिसमें ग़लत तथ्यों की भी भरमार होती है।

रमज़ान का महीना और ईद जैसे त्योहारों का उपयोग यदि इस बहुधर्मी देश में आपसी संवाद उत्पन्न करने और विभिन्न वर्गों के मध्य आपसी समझ को विकसित करने में किया जाए तो घृणा, विद्वेष और असहिष्णुता भरे वातावरण में कुछ सार्थक उपलब्धि हो सकती है।

(दैनिक जागरण, 28-12-2000)

क्या भगवान को गुस्सा आता है?

गुजरात में जो भयंकर विनाश लीला हुई, उससे अपना देश तो दुखी है ही, पूरा संसार स्तब्ध है। ऐसे संकट के समय सम्पूर्ण देश में भूचाल पीड़ितों के लिए जो गहरी संवेदना उत्पन्न हुई है वह भी मानवीय करुणा के प्रति हमारी आस्था को बल देती है। चारों ओर सहायता कोष बन गये हैं और छोटे-बड़े सभी उसमें सहभागी बन रहे हैं। विदेशों में भी इस मानवीय संकट के प्रति गहरा सरोकार अनुभव किया जा रहा है और कोने-कोने से धन-जन की सहायता गुजरात पहुंच रही है। ऐसे संकट के समय भगवान की क्या भूमिका है? आस्थावान व्यक्ति मानते हैं कि संसार में जो कुछ भी होता है वह भगवान की इच्छानुसार ही होता है। जीवन-मरन, यश-अपयश सब कुछ उसी के हाथ में है। एक पत्ता भी उसकी मर्जी के बगैर नहीं हिलता। सम्पूर्ण संसार का धार्मिक साहित्य भगवान की कृपा, दया, अनुग्रह, उसकी रहमत, उसकी रज़ा आदि शब्दों से भरा पड़ा है। कहीं-कहीं उसके क्रोधी स्वरूप की भी चर्चा है। गीता में भगवान कृष्ण कहते हैं कि संसार में जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब मैं अपने रूप को रचता हूं। साधु पुरुषों का उद्धार करने के लिए और पाप कर्म का विनाश करने के लिए मैं युग-युग में प्रकट हुआ हूं। निष्कर्ष यह है कि भगवान मनुष्य मात्र का कल्याण करता है। वह कृपाशील है। जो लोग मनुष्यता की रक्षा करने वाले साधुजनों पर अत्याचार करते हैं उन्हें वह दंड देता है, उनका विनाश भी करता है।

गुजरात की सर्वग्राही विनाश लीला पर दो प्रतिक्रियाएं बड़ी विचित्र मानसिकता को व्यक्त करती हुई सामने आयी हैं। लश्कर-ए-तोयबा के एक नेता ने, जो निश्चित ही अपने आपको मज़हब परस्त व्यक्ति मानता होगा, एक वक्तव्य में कहा है कि भारतीय शासकों ने कश्मीर पर जो अत्याचार किए हैं, अल्लाह ने गुजरात में यह तबाही लाकर भारत को उसकी सजा दी है। इसी प्रकार कर्नाटक के एक ईसाई धर्मपुरुष ने कहा

है कि गुजरात में पिछले दिनों ईसाइयों पर जो जुल्म हुए यह उसकी दैवी प्रतिशोध है। मैं सोचता हूं कि दैवी प्रतिशोध क्या होता है? प्रायः लोग ईश्वरीय प्रकोप की बात करते हैं किन्तु ईश्वरीय प्रकोप अंधा तो नहीं होता। शास्त्र कहते हैं कि ईश्वर साधु पुरुषों की रक्षा के लिए और साधु पुरुषों को कष्ट देने वालों दुष्टों के विनाश के लिए जन्म लेते हैं। अल्लाह भी कुफ्र (कृतघ्नता) करने वालों पर रुष्ट होता है। 'कुफ्र' का मौलिक अर्थ है छिपाना और परदा डालना। ऐसे व्यक्ति को काफिर कहा जाता है जिसने अपनी सहज प्रकृति पर नादानी का पर्दा डाल रखा है। ईसाइयों के ईश्वर का सबसे बड़ा गुण उसका दयालु होना है। वह तो कृपाशील है। जब ईसा मसीह को सलीब पर लटकाया जा रहा था तो उनकी अंतिम प्रार्थना भी अपने मृत्युदाताओं के प्रति रोष से भरी नहीं थी। उस समय उन्होंने यह कहा था—'हे प्रभु, उन्हें क्षमा करना क्योंकि वे यह नहीं जानते कि वे क्या कर रहे हैं।' उनके मुंह से किसी के प्रति प्रतिशोध भरे शब्द नहीं निकले थे।

इस पृष्ठभूमि में यह कैसे हुआ कि अल्लाह का परचम उठाने वाला व्यक्ति कह रहा है कि भारतीय शासकों को अल्लाह सजा दे रहा है और ईसा की सौगंध खाने वाला कह रहा है कि गुजरात में आया विनाशकारी भूकंप भगवान का प्रतिशोध है। गुरुनानक ने अपनी रचना 'जपुजी' में कहा है कि ईश्वर निर्भय और निरवैर होता है। प्रतिशोध लेने वाला व्यक्ति डरा हुआ होता है। वह प्रतिशोध इसलिए लेना चाहता है क्योंकि उसे भय होता है कि यदि उसका शत्रु-प्रतिशोध के माध्यम से आतंकित न किया गया तो वह उसे और अधिक पीड़ित करेगा। प्रतिशोधी व्यक्ति निर्भय नहीं होता और ऐसा व्यक्ति निरवैर भी नहीं होता। अपने विरोधी अथवा शत्रु के प्रति वह वैर भाव तो रखता ही है। इसी वैर भाव के कारण वह अपने विरोधी के हाथों पीड़ित होता है और उसे पीड़ित करने का प्रयास करता है। किन्तु क्या भगवान (उसे किसी भी नाम से पुकारें) भी इन सभी मानवीय मनोभावों से ग्रस्त होता है? यह भी हमारे निर्देशों का पालन करते हुए सजाएं देता है? वह ईसा अथवा उसके अनुयायियों की बात मानकर कहीं पर भी, किसी भी विनाश की आंधी चला कर कुछ लोगों से बदला लेता है? यदि सचमुच भगवान ऐसा ही है तो वह सृष्टिकर्ता, सर्वपालक, सर्वरक्षक, दयालु, कृपालु आदि विशेषणों का अधिकारी नहीं है। ईश्वरीय प्रकोप की बात भी कभी मेरी समझ में नहीं आई। ईश्वर कोई नादिरशाह तो है नहीं कि उसकी ईरानी सेना के कुछ सिपाहियों को यदि दिल्ली के कुछ नागरिकों ने सताया तो उसने सारी दिल्ली को लूटने और बिना किसी प्रकार के भेदभाव के नागरिकों के कत्लेआम का हुक्म दे दिया और बात की बात में दिल्ली के तीस हजार से अधिक लोगों की हत्या करवा दी तथा नगर के अधिकांश भाग को जलाकर राख कर दिया।

आखिर गुजरात में क्या हुआ है? यदि यह भारत को सजा देने के लिए गुजरात में सताये गये कुछ ईसाइयों का बदला लेने के लिए कोई दैवी प्रकोप था, तो मानना

चाहिए ऐसा परमात्मा किसी क्रूर नादिरशाह से कम नहीं है। क्या हम उसके सम्मुख इसलिए नाक रगड़ते हैं कि वह अपने नादिरशाही कारनामों से हमें आतंकित न करें? इस स्थिति में हम उससे भयभीत तो हो सकते हैं, उससे प्रेम नहीं कर सकते, उसके प्रति अपनी आस्था नहीं रख सकते, उसे अपना दयालु पिता नहीं मान सकते। इस बात को भी नहीं स्वीकार कर सकते कि वह हमारे प्रेम बंधन में बंध सकता है। जिन्होंने ऐसी घोषणाएं की हैं क्या उन्हें यह नहीं पता है कि भूकम्प के प्रकोप से मरने वालों में मुसलमानों और ईसाइयों की संख्या भी कम नहीं थी। क्या अल्लाह अथवा गॉड को यह भी समझ नहीं है कि किसे सजा देनी है और किससे प्रतिशोध लेना है? क्या निरीह, निर्दोष और उसके प्रति आस्था रखने वाले लोगों को भी वह अपने प्रकोप का शिकार बनाता है? मनुष्य सदैव ईश्वर से यह मांगता रहा है कि हे प्रभु, मुझे अपने गुणों के भंडार में से कुछ गुण दे दो, जिससे मैं बड़ा और गुणवान व्यक्ति बन सकूं। किन्तु विडम्बना यह है कि मनुष्य सदा इस प्रयास में लगा रहता है कि ईश्वर मुझे बड़ा और गुणवान चाहे न बनाये, मैं उसे अवश्य अपने स्तर पर उतार लाऊं, उसे छोटा और गुणहीन बना दूं। ईश्वर का बड़ा और गुणवान होना उसे नहीं सुहाता क्योंकि उस स्थिति में उसे भी वैसा बनने का प्रयास करना पड़ता है, जो सचमुच बड़ा दुभर कार्य है। ईश्वर को अपने जैसा क्षुद्र, लालची, स्वार्थी, नृशंस, क्रोधी और प्रतिशोधी बनाने में मनुष्य को बड़ा सुख मिलता है। ऐसी स्थिति में यदि किसी विरोधी अथवा शत्रु की कोई छोटी-बड़ी हानि हो जाए, चाहे वह परिवार संबंधी हो, व्यापार संबंधी हो, शरीर संबंधी हो तो एक सामान्य संसारी व्यक्ति बड़ी तृप्ति अनुभव करता है और इसे 'ईश्वरीय न्याय' कहता फिरता है। चाहिए तो यह कि मनुष्य ईश्वर के अनुरूप अपने आपको ढाले। किन्तु होता यह है कि वह उसे अपने अनुरूप ढालता है, वह उसे अपने हाथ का एक खिलौना मात्र मानता है। 600 वर्ष पूर्व संत कबीर ने ठीक ही लिखा था—

माथे तिलक हथ माला बाना।
लोगन राम खिलौना जाना।।

मनुष्य के सम्मुख आपदाएं दो स्रोतों से आती हैं। एक प्रकृति निर्मित होती है, दूसरी मनुष्य निर्मित। सन् 1947 में भारत विभाजन के समय दोनों ओर पांच लाख से अधिक लोग मौत के घाट उतार दिए गए थे। करोड़ों लोग विस्थापित हो गए थे और अरबों की धन-सम्पत्ति बर्बाद हो गई थी। युद्धों में लाखों लोग मारे जाते हैं, घायल होकर अपाहिज हो जाते हैं और बमबारी में अथाह धन-सम्पत्ति नष्ट होती है। यह सब कुछ मनुष्य निर्मित होता है। इसमें बेचारे भगवान को क्यों घसीटा जाए। आस्थावान और संतोषी व्यक्ति इसे भी ईश्वर की इच्छा, अल्लाह की मर्जी, वाहेगुरु का भाणा मानकर स्वीकार कर लेते हैं। दूसरी प्रकृति निर्मित आपदाएं हैं। सृष्टि के जन्म से ही प्रकृति और मनुष्य के बीच संघर्ष जारी है और मनुष्य निरंतर प्रयत्नशील है कि वह प्रकृति

पर अपना नियंत्रण स्थापित कर ले और उसे मनुष्य के साथ विनाश लीला रखने के बजाय मनुष्य के हित साधन के लिए उपयोग में लाए। इसमें उसे निरंतर सफलता प्राप्त हुई है। उसने पहाड़ काटकर अपने मार्ग बनाये हैं, इठलाती, मचलती नदियों के प्रवाह रोककर बड़े-बड़े बांध बना लिये हैं, गर्मी-सर्दी के प्रकोप से बचने के लिए बड़े सार्थक उपकरण तैयार कर लिए हैं। किन्तु प्रकृति अपनी शक्ति दिखाने से भी नहीं चूकती। समुद्री तूफान, ज्वालामुखी, भूकम्प, पहाड़ों पर चट्टानों का खिसकना, कभी-कभी बादलों का फटना, बिजली गिरना आदि अनेक ऐसी घटनाएं हैं जो आज भी होती रहती हैं। हाल में उड़ीसा में आया विनाशकारी समुद्री तूफान अथवा बंगाल-असम में आयी बाढ़ अथवा राजस्थान और गुजरात में पड़ा सूखा प्रकृति के खेल हैं जिनसे मनुष्य का अदम्य साहस निरंतर संघर्षरत है।

संसार का ऐसा कौन-सा भाग है जिसमें मनुष्य निर्मित और प्रकृति निर्मित ऐसी आपदाएं न आती हों? किन्तु संसार में शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति या संगठन होगा जो इन्हें 'ईश्वरीय प्रकोप' मानकर इसका लांछन किसी के माथे मढ़ता हो। हम लोग तो पूरी तरह ईश्वर को समर्पित लोग हैं और अपनी नाक पर उगी हुई फुन्सी को भी उसके खाते में डाल देते हैं। एक बात निश्चित है। मनुष्य और प्रकृति के बीच का संघर्ष निरंतर चलता रहेगा। समुद्री तूफान आएंगे तो मनुष्य उनसे बचाव के रास्ते ढूंढ़ेगा। भूकम्प आएंगे तो उनसे भी वह बखूबी निपटेगा। जापान जैसे देशों ने ज्वालामुखी जैसे विपदाओं को भी नकेल डाल दी है और भूकम्प प्रतिरोध के भी कितने ही मार्ग ढूंढ़ लिए हैं। यदि प्रकृति अपना प्रकोप दिखाने के लिए बाजिद है तो मनुष्य भी उसका प्रतिरोध करने के लिए दृढ़ संकल्प है। ऐसी आपदाओं को अल्लाह की सजा अथवा दैवी प्रकोप मानकर अपनी क्षुद्रता का प्रदर्शन करना मनुष्य की संकल्पशक्ति का अपमान करना है।

(राष्ट्रीय सहारा, 9-2-2001)

खूब फल-फूल रहा है धर्म का व्यवसाय

इस देश में धार्मिक सम्प्रदाय, मठ, पंथ, अखाड़े और उनसे जुड़े संस्थानों की जितनी संख्या है, उतनी संसार के किसी देश में नहीं है। साधु-संतों की जितनी भरमार इस देश में वैसी भी और कहीं देखने की नहीं मिल सकती। हमारे ये मठ और अखाड़े धर्म-स्थान कितने हैं यह कहना सरल नहीं है किन्तु ये तथ्य तो अनेक सूत्रों से प्रकट हुए हैं कि अपराध क्षेत्र के अनेक व्यक्ति यहां आश्रय पाते हैं और निर्द्वंद्व होकर न केवल कानून की नज़रों से बचकर विचरण करते हैं, साधु वस्त्र धारण करने के कारण आस्थावान व्यक्तियों (विशेष रूप से महिलाओं) से अपनी पूजा भी करवाते हैं।

इस देश में धर्म का पूरा व्यापार विकसित हो गया है। व्यक्ति के साथ बाज़ार शब्द प्राचीन काल से जुड़ा हुआ है। बाज़ार का काम है चीज़ों की पहचान करना, उन्हें तैयार करना, उनके लिए ख़रीददार ढूंढ़ना फिर उन्हें बेचना। चाहे सुपर बाज़ार हो चाहे आज की दुनिया के मुक्त बाज़ार हों—चारों ओर खरीदो और बेचो तथा खरीदों की सरगरमी चलती रहती है। चीज़ें नित्य बनाई जा रही हैं। कुछ का पहले से बना हुआ बाज़ार है, कुछ के लिए नए बाज़ारों की तलाश होती रहती है।

बाज़ार में विकने वाली चीज़ क्या है, कैसी है, ठोस है या तरल है, मूर्त्त है या अमूर्त्त है उसकी कोई निश्चित सीमा नहीं है। बाज़ार किसी भी चीज़ के लिए ग्राहक तैयार कर देता है। आटा-दाल से लेकर कला, साहित्य, संस्कृति, धर्म, आध्यात्मिकता की मूर्त्त और अमूर्त्त चीज़ों के लिए भी खरीदारों को ढूंढ़ लेना, उनके बीच उनकी महत्ता और उपयोगिता स्थापित कर देना, उनमें ललक पैदा कर देना और उस वस्तु को खरीदने के लिए उनकी जेब से पैसा निकलवा लेना किसी भी सफल बाज़ार की अपनी विशेषता है।

संस्कृति और कला कैसे बाज़ार का निर्माण कर देती हैं इसका अध्ययन भी कम रोचक नहीं है। पहले बाज़ार में देवी-देवताओं की तस्वीरें बिकती थीं, आज भी खूब बिकती हैं। अच्छी, सुंदर, मांसल स्त्रियों की तस्वीरों के ख़रीदारों की संख्या कम नहीं है। राजनेताओं की तस्वीरें उतनी नहीं बिकतीं जितनी फिल्मी अभिनेता और अभिनेत्रियों की। जव अमूर्त कला के चित्र बनने लगे तो बहुत लोगों ने सोचा, भला इन्हें कौन खरीदेगा। किन्तु देखते-देखते अमूर्त चित्रों का बाज़ार उठने लगा। बड़े-समृद्ध घरों के ड्राइंगरूम में उन्हें लगाना, उनके घरों-परिवारों ललित अभिरुचियों का प्रतीक माना जाने लगा और 'स्टेटस सिंबल' के रूप में लिया जाने लगा। मूर्त कला के चित्र सामान्य जनता के बीच रह गए। अमूर्तकला की पेंटिंग्ज अमीरों के घर स्थान पाने लगीं और उसी के अनुसार उनका मूल्य भी हज़ारों-लाखों में आंका जाने लगा।

इसी तरह गायन, नर्तन, लेखन का बाज़ार भी अपने अंदर वे सारे तत्व समेटे हैं जो साबुन ओर टुथपेस्ट के बेचने के लिए आवश्यक माने जाते हैं, केवल इन चीज़ों के खरीदारों की सही पहचान करनी पड़ती है।

मुझे लगता है कि आज धर्म का बाज़ार किसी भी अन्य बाज़ार की अपेक्षा बहुत अधिक फल-फूल रहा है। मेरा अनुमान है कि यदि इस बाज़ार का सही-सही अध्ययन और विश्लेषण किया जाए तो यह कई हज़ार करोड़ रुपयों का बाज़ार निकलेगा। देश और विदेश में फैले भगवानों, संतों, महंतों, उपदेशकों, कथावाचकों, कीर्तनियों को प्रतिवर्ष कितना धन भेंट और दान में प्राप्त होता है इसका पूरा जायज़ा नहीं लिया गया है। किन्तु यदि इनका सही जायजा लिया जाए तो चौंकाने वाले तथ्य सामने आएंगे।

धर्म का बाज़ार अन्य किसी भी भौतिक उत्पाद की अपेक्षा कहीं अधिक सीधे-सपाट रास्ते पर चलता है। इसके लिए लंबी-चौड़ी पूंजी की आवश्यकता नहीं पड़ती। न कोई कारखाना लगाना पड़ता है, न किसी लंबी-चौड़ी दुकान की ज़रूरत पड़ती है। यह बाज़ार किसी एक पुरुष या स्त्री के करिश्माई व्यक्तित्व के सहारे चलता है। जैसे-जैसे उस व्यक्ति का करिश्मा बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे उसका बाज़ार निखरता जाता है। आयकर वालों की गिद्ध-दृष्टि पड़ती। इस बाज़ार में हिसाब-किताब के बही खातों का भी विशेष महत्व नहीं है, न मुनीमों का जमघट लगाने की ज़रूरत पड़ती है। इस बाज़ार की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसका सम्पूर्ण कार्य नगदी में चलता है। यहां उधार लेन-देन का कोई काम नहीं है।

धर्म का बाज़ार कोई नई वात नहीं है। प्राचीन काल से भारत में और संसार के सभी देशों में यह व्यापार खूब चला है और इस बाज़ार की रौनक कभी कम नहीं हुई है। यह बाज़ार पूरी तरह लोगों की आत्मा और विश्वास के कारण ही फलता-फूलता। सांसारिक चीज़ों को खरीदते समय ग्राहक चीज़ की परख भी करता है और मोल भाव भी करता है। धर्म के बाज़ार में ऐसा कुछ नहीं होता। एक बार विश्वास जमता है तो ऐसा बहुत कम होता है कि वह उखड़ जाए। अधिकतर तो विश्वास अंधविश्वास में वदल जाता है। यह भी कहा जा सकता है कि इस बाज़ार का आधार विश्वास पर कम, अंधविश्वास पर अधिक होता है।

गुरु नानक ने अपनी एक रचना में एक पाखंडी साधू की इस प्रकार की दुकानदारी की एक स्थान पर चर्चा की है। वह साधू बीच-बाज़ार अपनी दुकान लगाकर बैठा था और यह दावा कर रहा था कि वह आंख बंद करके भूत, भविष्य और वर्तमान की सभी बातें बता सकता है। एक बार उसने आंखें बंद की तो किसी व्यक्ति ने उसके सामने रखे कमंडल के उसकी पीठ की ओर रख दिया। किसी ने पूछा, महाराज आप तो त्रिकालदर्शी हैं। आपका कमंडल कहां है? वह घबराकर भी इधर-उधर उसे ढूंढ़ने लगा और लोग हंसने लगे–

अक्खी त मीटहि नाक पकड़हि ठगण कउ संसार।
आंट सेती नाकु पकड़हि सूझते तिन लोउ।
मगर पाछै कुछ न सूझे एहु पदम अलोअ

(ऐसे लोग संसार को उगने के लिए आंखें बंद करते हैं, नाक पकड़ते हैं। उंगलियों से नाक दबाते हैं और दावा करते हैं कि इन्हें तीनों लोक दिखाई देते हैं। किन्तु पीठ पीछे रखी वस्तु का इन्हें पता नहीं लगता। यह कैसा पद्मासन है।)

आज धर्म के बाज़ार ने पूरा आधुनिक रूप धारण कर लिया है। अब संतों, महंतों, योगियों, योगिनियों का प्रचार उसी प्रकार होता है जैसा फिल्मी हस्तियों का अथवा उन माडलों जैसा जो साबुन, तेल, टूथपेस्ट अथवा मोटरसाइकिल और उसी चीज़ों की बिक्री के लिए प्रचार कार्य करते हैं। अब छोटे-छोटे नगरों में ऐसे संतों और प्रवचनकर्ताओं के चार-पांच रंग में बने हुए पोस्टर लाखों की गिनती में लगाए जाते हैं। नगर के हर नुक्कड़ और राष्ट्रीय मार्ग पर ऐसे 'महापुरुषों' के बड़े-बड़े होर्ड़िग्ज लगे होते हैं। कुछ संतों के नगर में आगमन के समय बड़े-वड़े बैनर भी लगाए जाते हैं और अख़बारों में लाखों रुपए-ख़र्च करके विज्ञापन भी दिए जाते हैं।

आजकल एक और बाज़ार बहुत गरम है–जिसे 'शो बाज़ार' कह सकते हैं। कुछ लोग अपने नगर में एक बड़ा शो आयोजित करते हैं जिसमें फ़िल्मी कलाकार, लोकप्रिय गायक और नर्तक, लतीफ़ेबाज, भारी-भरकम आरकेस्ट्रा के साथ बुलाए जाते हैं। शो के प्रबन्धक आमंत्रित कलाकारों से उनकी फीस तय कर लेते हैं। फिर प्रचार माध्यमों से लोगों को टिकट बेचे जाते हैं। स्वाभाविक है कि ऐसे आयोजकों के प्रबंधक व्यवसायी व्यक्ति होते हैं। शो से जमा की हुई रकम से कलाकारों की फीस दे देने के पश्चात् उनके पास अच्छी ख़ासी धनराशि बच जाती है, जो उनका मुनाफा होती है।

ऐसा शो व्यापार धर्म के क्षेत्र में भी शुरू हो गया है। कुछ दिन पहले एक ऐसे ही 'धार्मिक शो' का विवरण मुझे सुनने को मिला। एक स्थान के कुछ उद्यमियों ने सोचा कि क्यों न अमुक संत को अपने यहां प्रवचन के लिए बुलाया जाए। संत महाराज को ऐसे आमंत्रण देश के कोने-काने से मिलते रहते हैं। वे जहां भी जाते हैं, हज़ारों की भीड़ उनका प्रवचन सुनने के लिए आती है और श्रद्धालुओं द्वारा दी गई भेंट, दान, दक्षिणा में भारी धनराशि आती है।

कार्यक्रम यह बना कि उन संत जी को पंद्रह दिनों के लिए निमंत्रित किया जाए। किसी खुले मैदान अथवा पार्क में विशाल पंडाल लगाया जाए, कार्यक्रम का धुआंधार प्रचार किया जाए।

प्रबंधकों ने संतजी के सचिव से बातचीत की। सौदा इस बात पर पटा कि संत जी जितने दिन प्रवचन करेंगे उन्हें एक लाख रुपए प्रतिदिन के हिसाब से दिया जाएगा।

निश्चित तिथि पर संत जी आ गए और अगली सुबह से उनका प्रवचन प्रारम्भ हो गया। संत जी की ख्याति तो चारों ओर फैली हुई थी। लाखों लोगों ने टी. वी. के एक चैनल पर उनके प्रवचन सुन रखे थे। उनके आगमन के पूर्व सभी आधुनिक साधनों से उनका प्रचार भी किया गया था। इस सबका ठीक परिणाम निकला। उनके प्रवचनों को दो सप्ताह तक असंख्य लोगों ने सुना और कृत कृत्य हुए।

किन्तु अंतिम दिन लेन-देन को लेकर झगड़ा पैदा हो गया। पंद्रह दिनों में जितनी धनराशि जमा हुई थी, पंडाल, प्रचार तथा अन्य सभी ख़र्च निकाल कर तीस लाख रुपए बचते थे। संत जी का दावा था, ये सारी धन-राशि मेरी है, क्योंकि यह मेरे कारण ही जमा हुई है। प्रबंधकों का कहना था कि हमारी बात तो आपसे पहले ही तय हो गई है। आपका हिस्सा पंद्रह लाख होता है, वह आप ले लीजिए। संत जी का कहना था, तय होने से क्या होता है? आख़िर तो यह धनराशि मेरे कारण इकट्ठी हुई है। आप अपने ख़र्च निकालकर शेष राशि मुझे दे दीजिए।

प्रबंधक सोच रहे थे कि हम क्या मूर्ख है। हमने यह सारा आयोजन इसलिए किया था कि संतजी को उनका मुआवजा देने के बाद हमारे हिस्से में भी कुछ आ जाएगा। इस व्यापार में संत जी लाखों कमाएं और हम केवल परमार्थ करते फिरें? यह कैसे हो सकता है?

संत जी से प्रबंधकों का कोई लिखित अनुबंध तो था नहीं। धर्म का सारा व्यापार तो ऐसे ही चलता है।

अंत में बड़ी तू तू मैं मैं के बाद फैसला हुआ। संत जी को पांच लाख रुपए और दिए गए—अर्थात् कुल बीस लाख। शेष दस लाख रुपए प्रबंधकों ने आपस में बांट लिये।

बाज़ार अपना पूरा धर्म निभाता है। वह हर चीज़ ख़रीदता है और बेचता है। धर्म का भी इतना बड़ा और बिना किसी झंझट का बाज़ार है अभी तक बाज़ार में इसकी पूरी समझ विकसित नहीं हुई है। किन्तु जिस ढंग से आजकल यह बाज़ार दिन दुगनी, रात चौगुनी तरक्की कर रहा है, उसे देखते हुए यह लगता है कि यह बाज़ार दूसरे बाज़ारों को जल्दी ही पीछे छोड़ जाएगा। सबसे बड़ी बात तो यह है कि इस बाज़ार के बहुराष्ट्रीय स्वरूप ग्रहण करने की बड़ी संभावनाएं हैं और नई आ रही सूचना टेक्नालॉजी इस बाज़ार का अंतर्राष्ट्रीयकरण करने में अपनी पूरी भूमिका निभा सकती है।

(दैनिक जागरण, 15-2-2001)

सहःअस्तित्व की भावना के प्रतीक थे बाबा शेख फरीद

आज के विश्व के विचारतन्त्र का उत्स है—सह अस्तित्व। सहस्रों वर्षों के मतभेद और मतभेदों से उभरे अनेक प्रकार के विग्रह और संघर्षों से एक अवधारणा उभरी कि एक-दूसरे का विरोध करने वाले विभिन्न मतों और विचारों के लोग निरन्तर आपस में लड़ते रहें यह आवश्यक नहीं है। एक-दूसरे को ग़लत या झूठा सिद्ध करने की बजाय एक-दूसरे से संवाद पैदा करना और प्रतिपक्षी के मत को समझने का प्रयास करना चाहिए। इसी विचार से सह-अस्तित्व को अवधारणा को मूर्तरूप मिला।

संसार में मनुष्य अनेक नस्लों, राष्ट्रों, देशों, भाषाओं, धर्मों, जातियों और सांस्कृतिक में बंटे हुए हैं। अपने अस्तित्व और स्वत्व की रक्षा अथवा अपनी बहुमुखी शक्ति के विस्तार के लिए ये नस्लें, कौमें या धर्म आपस में आदिकाल से ही लड़ते आ रहे हैं। संसार में ऐसे उदाहरण भी हैं जब एक नस्ल, राष्ट्र या धर्म के लोगों ने अपने विरोधी पक्ष के लोगों को लगभग नष्ट ही कर दिया अथवा नष्ट करने का प्रयास किया। इतिहास में अधिक दूर न भी जाएं फिर भी इस तथ्य को तो स्मरण किया ही जा सकता है कि योरोपवासियों ने जब संसार के नये-नये भागों को खोजना प्रारम्भ किया और वहां अपने उपनिवेश बनाने की प्रक्रिया शुरू की तो वहां के मूल निवासियों का अस्तित्व ही समाप्त करने का प्रयास किया। आज उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, कनाडा आदि देशों में वहां के मूल निवासी या तो नष्ट किए जा चुके हैं अथवा दूर-दूर के क्षेत्रों में घेर कर रखे गए हैं ताकि संसार भर के पर्यटकों को अजायबघर की वस्तुओं की भांति दिखाया जा सके।

मनुष्य जाति का इतिहास आक्रमणों, लड़ाइयों, युद्धों का इतिहास है। संसार के लोगों में अनेक कारणों से आपसी मतभेद हैं और रहेंगे। सम्पूर्ण संसार कभी एक धर्म,

एक विचारधारा अथवा एक राष्ट्रीयता का नहीं बनेगा। इसका सीधा अर्थ यह है कि संसार में सदा ही विभिन्नताएं रहेंगी। मनुष्य के सम्मुख चुनौती यह है वह विभिन्नताओं के कारण आपस में लड़ता रहे, एक-दूसरे को समाप्त करने का प्रयास करता रहे, जैसा कि मनुष्य इतिहास में होता रहा है अथवा सह-अस्तित्व की भावना से सभी विभिन्नताओं के बावजूद एक-दूसरे के प्रति सहिष्णुता का भाव रखकर, एक-दूसरे को सहन करते हुए और वहन करते हुए जिए।

आज का संसार इस निष्कर्ष पर पहुंच गया है या पहुंचने की दिशा में प्रयास कर रहा है कि मनुष्य के सम्मुख सह अस्तित्व के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं है।

पंजाब के सूफी संत बाबा शेख फरीद ने इस सह-अस्तित्व की भावना को सात-आठ सौ वर्ष पूर्व उजागर किया जब सम्पूर्ण संसार में असहनशीलता, कट्टरता और संकुचित मानसिकता का बोलबाला था। सहिष्णुता की पहली शर्त यह है कि अपने विरोधी की थोड़ी-बहुत ज्यादती को भुला देना या क्षमा कर देना। 'ईंट का जवाब पत्थर' या 'टिट फार टैट' के सिद्धान्त ने मनुष्यता को बहुत हानि पहुंचाई है। संसार में बहुत से झगड़े छोटी-छोटी बातों से शुरू होते हैं जो आगे चलकर विकराल रूप धारण कर लेते हैं। मनुष्य का अहंकार उसे बदला लेने के लिए प्रेरित करता है। बाबा फरीद ऐसे लोगों के लिए एक राह सुझाते हैं।

फरीदा बुरे दा भला करि गुस्सा मन न हंडाइ।
देही रोगु न लगई पल्ले सभु किछु पाइ।।
(फरीद, बुरे व्यक्ति का भी भला करो। अपने मन में क्रोध को स्थान मत दो)

बदले की भावना क्रोध से भरी होती है। यह ऐसा मनोभाव है जो प्रतिपक्ष को इतना नहीं खाता, जितना क्रोध करने वाले को। गुरु वाणी में कहा गया है कि क्रोध रूपी चांडाल जिनके अंदर बैठा हुआ है उनके पास नहीं जाना चाहिए–

उना पास दुआसि न मिटीए जिन अंदरि क्रोध चंडालु।

जब फरीद जी ने यह कहा कि बुराई करने वाले के साथ भी तुम भलाई करो तो आग्रह इस बात पर है कि अपने मन में गुस्से को न आने दो। ऐसा करने से देह को कोई रोग नहीं लगता और अच्छे गुण सुरक्षित रहते हैं।

अपनी इस सहनशील दृष्टि का विस्तार करते हुए वे ऐसी बात कहते हैं जो सहिष्णुता की पराकाष्ठा है–

फरीदा तो मारनि मुकीआं तिना न मारे धुम्मि।
आपनड़े घरि जाइए, पैर तिना दे चुम्भि।।

दुःख देने वाले से बदला लेने के स्थान पर उसके घर जाकर उसके पैर चूमने की सम्मति बाबा फरीद देते हैं। इसमें भी अपना ही हित है। 'बुरे का भला कर' वाले श्लोक में वे कहते हैं–' पल्ले सभ किछु पाई।

इस श्लोक में वे कहते हैं–'आपनड़े घर जाइए।' क्षमा करने वाला व्यक्ति अपने घर में आत्म-स्वरूप में शांत अवस्था में जीता है। गुरु नानक ने भी कहा था कि क्षमाविहीन व्यक्ति सारी आयु व्याकुल ही रहता है–

खिमा विहूणे खपि गए खुहणि लख असंख।
गणत न आवै किउ गणी खपि मुए बिसंख।।

अपनी त्रुटियों के लिए क्षमा मांगने वाला व्यक्ति बड़ा हो जाता है। यह भी सच है कि क्षमा कर देने वाला व्यक्ति और अधिक बड़ा हो जाता है।

व्यक्ति असहिष्णु क्यों बन जाता है? राष्ट्र भी असहनशील हो जाते हैं। धार्मिक दृष्टि से भी लोग बहुत छोटे दिल के क्यों हो जाते हैं? बाबा फरीद की वाणी में से इन प्रश्नों के उत्तर ढूंढ़े जा सकते हैं। धन और सत्ता का नशा इस मनोवृत्ति का निर्माण करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। धन का नशा रखने वालों के लिए उन्होंने कहा कि जिन्होंने कोठे, मंडप, माड़ियां उतार ली हैं, उन्होंने जीवन में झूठा सौदा किया है। ऐसे लोग अंत में अनजान कब्रों में जाकर सो गए। जिनके पास सत्ता के धौंसे बजते थे, सिर पर छत्र झूलता था, जिनकी स्तुति में छंद गाए जाते थे वे भी अंत में मसानों में जाकर सो गए और अनाथों की तरह हो गए–

फरीदा कोठे मंडप माड़ीआं उसारदे भी गए।
कूड़ा सौदा करि गए गौरी आइ पए।।

पाति दमामें छतु सिरि मेरी मडी रड।।
जाइ सुत्ते जराण महि धीए अतीमा गड।।

बाबा फरीद की वाणी में पंजाबी लोक जीवन में प्रचलित ऐसे रीति-रिवाजों की झलक मिलती है जो किसी एक वर्ग तक सीमित नहीं है। उनका एक श्लोक है–

फरीदा जे जाणी तिल थोड़ेउे, संभलि बुकु भरी।
जे जाणी सहु नंढडा, थोड़ा माण करी।।

पंजाब में नवयाहता लड़की जब अपनी ससुराल आती है तो 'तिल भल्ले' या 'तिलवेतरे' नाम की रस्म की जाती है। इसी रस्म का रूपक बनाकर फरीद जी ने कहा कि यदि आत्मा रूपी स्त्री यह जानती कि रस्म के लिए तिल थोड़े हैं तो तिलों की मुट्ठी संभालकर भरती अर्थात् अपने स्वास इस तरह नष्ट नहीं करती। यदि यह पता होता

कि पति सीधा-सरल नहीं हैं तो मैं थोड़ा ही मान करती।

शेख फरीद मुसलमान थे—एक सच्चे, पवित्र और धर्मशील मुसलमान। उनके मुसलमान होने और उच्च स्तर के इन्सान होने कई द्वैत नहीं है। वे मुसलमान को नियमित नमाज़ पढ़ने की ओर प्रेरित करते हैं—

उठ फरीदा उजू साजि सुबह निवाज गुजारि।
जो सिर साई न निबे सो सिर कपि उतारि।।

जो मुसलमान नमाज़ नहीं पढ़ता, पांच वक़्त मस्जिद में नहीं आता उसे ताड़ना भी देते हैं—

फरीदा बेनिवाजा कुतिया एह न भली रीत।
कब ही चलि न आइए पंचे पहर मसीत।

इस्लाम के अनुयायियों को दिया गया यह संदेश सभी मनुष्यों के लिए संदेश बन जाता है जब वे कहते हैं कि फीका वचन किसी से भी न बोलो, क्योंकि सभी में सच्चा मालिक बस रहा है। किसी का भी दिल मत दुखाओ क्योंकि ये सारे जीव अनमोल मोती है—

इकु फिका ना गालाइ सभना है सचा धणी।
हिआउ न कैही ठाहि माणक सभ अमोलवें।।

प्रत्येक व्यक्ति में परमात्मा का रूप देखना, हर मन को सच्चा मोती मानना, हर किसी की भावना का सम्मान करना बाबा फरीद का मानस था—

सभना मन माणिक ठाहणु मूलि मचांगवा।
तउ पिरीआ दी सिक हिआउ न ठाहे कहीदा।।

(सभी के मन माणिक हैं, इन्हें दुःख देना अच्छा नहीं है यदि तुम्हें परमेश्वर से मिलने की इच्छा है तो किसी का दिल मत दुखाओ)

धार्मिक और सांस्कृतिक स्तर पर बाबा फरीद ने जिस सर्वव्यापी सहिष्णुता का उपदेश दिया था वह गुरु नानक तथा परवर्ती गुरुओं के व्यक्तित्व में पूरी तरह रूपमान हुआ। सम्पूर्ण संसार में व्याप्त संकुचित मनोवृत्ति, कट्टरता और धर्मान्धता भरे वातावरण में गुरु ग्रंथ साहिब जैसे धर्म ग्रंथ का संपादन, जो सम्पूर्ण मानवीय चेतना को अपने अंदर समाहित कर सके, एक चामत्कारिक बात थी। इसकी पृष्ठभूमि में बाबा शेख फरीद के महान व्यक्तित्व का प्रकाश काम कर रहा था, इसीलिए उनकी वाणी इस ग्रंथ में सम्मिलित हुई। सह-अस्तित्व का यह एक जीवन्त उदाहरण है।

(दैनिक जागरण, 22-2-2001)

गुरुकुलः खालसा की परिकल्पना

राष्ट्रकवि श्री मैथिली शरण की काव्य कृतियां बहुत लम्बे समय तक हिन्दी साहित्य में सर्वाधिक सम्मानित और चर्चित कृतियां रही हैं। हिन्दी का ऐसा कौन सा पाठ्यक्रम है जिसमें भारत भारती, जयद्रथ वध, यशोधरा और साकेत जैसी कृतियां न रखी गई हों और कौन सा ऐसा विद्यार्थी है जिसने इन कृतियों के माध्यम से राष्ट्रकवि की प्रतिभा का परिचय न पाया हो।

किन्तु श्री मैथिली शरण गुप्त की कुछ कृतियां अपेक्षाकृत कम चर्चित हुईं। इसका कारण संभवतः यह रहा कि ऐसी कृतियां हिन्दी पाठ्यक्रम का भाग नहीं बनीं। इसलिए ऐसी कृतियां केवल साहित्य रसिकों के मध्य ही थोड़ा-बहुत पठन-पाठक का माध्यम बन कर रहीं। 'गुरुकुल' एक ऐसी ही रचना है।

यह भी एक तथ्य है कि सिख-गुरुओं और उनके प्रभामंडल में रहने वाले कवियों की अधिकांश रचना तत्कालीन हिन्दी के बहुप्रचलित रूप ब्रज भाषा में हुई किन्तु आधुनिक खड़ी बोली हिन्दी में सिख इतिहास और जीवन-दर्शन पर कुछ अधिक नहीं लिखा गया। इस सम्बन्ध में मुझे एक प्रबन्ध काव्य, मैथिली शरण गुप्त रचित 'गुरुकुल' और जयशंकर प्रसाद की एक लम्बी कविता 'शेर सिंह का शस्त्र समर्पण' तथा सूर्यकांत त्रिपाठी की एक कविता 'जागो फिर का बार' का स्मरण होता है। मैथिली शरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद और सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' ये तीनों ही हिन्दी के मूर्धन्य साहित्यकार थे

यह भी सही है कि गत 25-30 वर्षो में हिन्दी के कुछ कवियों ने सिख इतिहास विशेषरूप से गुरु गोबिंद सिंह के जीवन पर प्रबन्ध काव्य लिखें हैं, किन्तु साहित्यिक दृष्टि से उनका विशेष महत्त्व स्वीकृत नहीं हुआ है।

इस सम्पूर्ण परिदृश्य में सबसे महत्वपूर्ण रचना 'गुरुकुल है, जिसकी रचना सन 1928 में हुई थी। श्री मैथिली शरण गुप्त ने अपनी इस रचना की प्रस्तावना में एक घटना का उल्लेख किया है–इस पुस्तक के लिखने की कोई संभावना न थी। किन्तु

थोड़े दिन हुए एक सिख सज्जन ने बड़े स्नेह, आदर और साथ ही कुछ अभिमानपूर्वक लेखक ने कहा था—''क्या आप सिख गुरुओं पर भी कुछ लिखने की कृपा करेंगे? हिन्दी के कवियों ने, कहना चाहिए कि अब तक उन पर कुछ नहीं लिखा। क्या गुरुओं के बलिदान इस योग्य नहीं कि मैं आपसे यह प्रार्थना न कर सकूं?''

इस घटना से प्रेरित होकर कवि ने गुरुकुल की रचना की। इस रचना के संदर्भ में कवि ने जिन पुस्तकों का उल्लेख किया है, उनमें है—श्री शिवनंदन सहाय द्वारा रचित 'सिख गुरुओं की जीवनी', पं. ज्वालादत्त शर्मा कृत 'सिखों के दस गुरु', नंद कुमार देव शर्मा द्वारा लिखित 'सिखों का उत्थान और पतन' तथा डॉ. गोकुलचंद्र नारंग की पुस्तक ''ट्रांसफोर्मेशन आफ सिख्स'' है। इन पुस्तकों, विशेष रूप डॉ. गोकुल चंद्र नारंग की पुस्तक से उन्होंने आधारभूत साम्रगी प्राप्त की।

गुरुकुल में सभी सिख गुरुओं का जीवन कथा से युक्त 200 मुद्रित पृष्ठों की इस पुस्तक में से 92 पृष्ठों में गुरु गोबिंद सिंह का जीवन-वृत्त है—

क्या चिंता यदि अस्त हो गया
तेग़बहादुर रूपी चंद्र।
देखो, गुरु गोबिंद दिवाकर
उदित हुआ है वह निस्तन्द्र।।
सिख संघ के भाग्य विधाता,
निर्माता ये गुरु गोबिंद
जो दे गये वंश तक की बलि
वे दाता ये गुरु गोबिंद ।

गुरु तेगबहादुर के बलिदान के पश्चात् गुरु गोबिंद सिंह सिखों को संगठित करते समय अपना निश्चय प्रकट करते हुए कहते हैं—

चिड़ियों से मैं बाज गिराऊं
तभी कहाऊ मैं गोबिन्द,
अपना क्षोभ शत्रु-श्रोणित में,
क्यों न बहाऊं मैं गोबिन्द।

लाख-लाख मलेच्छों से मेरा
एक-एक मट न करे युद्ध
तो फिर वैर विरुद्ध वृथा ही
किया उन्हें मैंने उद्धबुद्ध।

खालसा पंथ के निर्माण की पृष्ठभूमि में गुरु गोबिन्द सिंह का क्या उद्देश्य था, इसकी चर्चा करते हुए कवि कहता है—

लेते शस्त्र भेंट वे देते,
शस्त्र बांधने का उपदेश
वस उनका उद्देश्य यही था–

योद्धा बन जाये यह देश।

इसलिए कार भेंट लेकर आने वाले सिखों को उन्होंने आदेश दिया–

कंगन नहीं मुझे तो कर दो
जो वैरी को धरे समेट।

आनन्दपुर साहब में ली गई परीक्षा में उत्तीर्ण पांच सिखों को देखकर अपना संतोष व्यक्त करते हुए गुरु गोबिन्द सिंह कहते हैं–

''धन्य आज का दिन'' गुरु बोले–

''सीखें हैं सिख मरना ठीक।
जी सकता है वही जगत में
मर सकता है जो निर्भीक।

किन्तु मुझे आशा है निश्चय
नहीं यहीं यह शौर्य समाप्त।
पांच नहीं, सिक्खों में ऐसे।
पांच लाख भी होंगे प्राप्त।

खालसा पंथ के सृजन के पश्चात् सिखों में सभी प्रकार का जाति भेद समाप्त होकर सभी वीरव्रत को धारण कर लें यह आकांक्षा प्रकट करते हुए गुरु जी ने कहा–

''एक जाति हो सब सिक्खों की,
जब सबका वीरव्रत एक
एक विशेष चिह्न हो सबके,
और एक ही विनय विवेक

मैं भी सबके ही समान हूं,
सबका गुरु है आदिग्रंथ।
एक अकाल उपास्य हमारा,
खालिस यही खालसा पंथ।

इन पंक्तियों को लिखते समय मैथिली शरण गुप्त के सम्मुख गुरु गोबिंद सिंह का स्वरचित सवैया अवश्य रहा होगा–

जागत जोत जपै निस बासर एक बिना मन नैक न आने।
पूरन प्रेम प्रतीत सजै व्रत गौर मड़ी मट भूलन न मानै।
तीरथ दान दया तप संजम एक बिना नह एक पछानै।
पूरन जोत जगै घट मैं तब खालस ताहि निखालस जानै।

(दशम ग्रंथ, पृष्ठ, 712)

इस अवसर से पांच ककारों को धारण करने की प्रथा का उल्लेख कवि ने प्रत्येक ककार की व्याख्या करके की है–

कर में प्रखर कृपाण हमारे,
रहे हृदय में हरि-विश्वास।
लोक और परलोक कहीं भी
नहीं हमें फिर कोई त्रास

आज सिक्ख भी 'सिंह' हुए तुम,
सबके नामों में हो सिंह
और नाम-सम सभी एक से
तुम सब कामों में हो सिख।

खालसा पंथ की स्थापना के पश्चात् गुरु गोबिंद सिंह ने आस-पास के पहाड़ी राजाओं को प्रेरित करने का प्रयास करते हुए कहा–

कब तक क्रीत दास यवनों के
बने रहोगे तुम हे वीर।
कब तक पद-मार्दित रक्खेंगे
तुम्हें धर्म-वैरी बेपीर?

याद करो निज रूप तुम्हीं हो
सूर्य-चन्द-कुल जात नृपाल।
यदि अपने को भूल जाय तो,
बने सिंह भी श्वान-श्रृंगाल।

अपमानित होकर जीने से
अच्छा है मर जाना–मार,
मर कर वीर अमर है, जीकर
भीरू मरे हैं बार-बार।।

और फिर उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा–

जाति-धर्म की और देश की
लज्जा रखने के ही हेतु
यवनों के विरुद्ध गुरुकुल ने
फहराया है निज करण केतु।

किन्तु पहाड़ी राजाओं पर गुरु गोबिंद सिंह ने उद्‌बोधन का कोई असर नहीं हुआ उल्टे वे मुगलों से मिलकर गुरुजी पर आक्रमण करने को आ गए–

अरि-विरुद्ध राजा न मिले थे,
गुरु-विरुद्ध मिल गये समस्तः
भाल पीटते हैं अपना ही
क्लीव-कर्महीनों के हस्त।

गुरुकुल की रचना के पीछे कवि की दृष्टि क्या है? खालसा-सृजन को वह किस दृष्टि से देखता है, इस पर कुछ विचार किया जा सकता है।

गुरुकुल की रचना एक उदारवादी हिन्दू दृष्टि से की गई रचना है। कवि सम्पूर्ण सिख लहर को हिन्दू-पुनरुदारवादी दृष्टि से देखता है। उसका विश्वास है कि मुगल शासन काल के अत्यन्त त्रासदायी दिनों में सिख-गुरुओं ने आकर न केवल हिन्दू धर्म की रक्षा की वरन् उनमें आत्म विश्वास उत्पन्न किया, उनमें शक्ति का संचांर किया और उन्हें विशेष आदर्शों की पूर्ति के लिए संगठित किया–

जाति धर्म की और देश की
लज्जा रखने के ही हेतु
यवनों के विरुद्ध गुरुकुल ने
फहराया है निज रण-केतु।

पंच ककार वाले प्रसंग ने गुरु गोबिंद सिंह से यह भावाभिव्यक्ति कराई हैः

हिन्दू-जाति-धर्म के पहरी
हम स्वदेश के सुभट समस्त,
आचारों के आड़म्बर में
बंधे न अधिक हमारे हस्त।

जिस समय गुरुकुल की रचना की गई (1928 ई.) उस समय सम्पूर्ण देश में धार्मिक और साम्प्रदायिक समस्या बहुत मुखर होकर उभरी हुई थी देश का राजनीतिक परिदृश्य तेजी से बदल रहा था और भावी भारत का राजनीतिक चित्र कैसा होगा इसकी चिंता हिन्दुओं, मुसलमानों, सिखों और दलित वर्गों में पूरी तरह व्याप्त थी। गांधी जी का विचार था कि देश को यदि स्वाधीन होना है तो हिन्दुओं और मुसलमानों की आपसी एकता

आवश्यक है। दूसरी ओर हिन्दूवादी संगठन हिन्दू समाज में एकता और संगठन के लिए जागरूक हो रहे थे। मुसलमानों और सिखों में यह चिंता बढ़ रही थी कि जब अंग्रेज यह देश छोड़कर चले जाएंगे तो उनका भविष्य क्या होगा।

श्री मैथिलीशरण गुप्त गांधीवादी विचारधारा से प्रभावित थे। किन्तु वे इस तर्क को स्वीकार करते थे कि मुसलमान समाज हिन्दू समाज की अपेक्षा बहुत सुगठित और सबल समाज है। हिन्दुओं और मुसलमानों में सच्ची एकता तभी हो सकती है जब हिन्दू भी उतने ही संगठित और सबल हों।

इस बात को कवि ने गुरु गोबिंद सिंह और सैयद बुद्धशाह के माध्यम से कहने का प्रयास किया है। भंगाणी के युद्ध में सैयद बुद्धशाह की सहायता से प्रसन्न होकर गुरु गोबिंद सिंह उन्हें पगड़ी बदल भाई बना लेते हैं। सैयद प्रसन्न होकर कहता है–

बोले सैयद लेकर सादर
गुरु का यह आदर अनमोल
"खुदा करे कि मिलें यों ही सब
हिन्दू-मुसलमान जी खोल"

सैयद बुद्धशाह की भावना का आदर करते हुए गुरुजी ने कहा कि मैं भी चाहता हूं कि हिन्दुओं-मुसलमानों में आपसी सद्भाव बढ़े, किन्तु जब तक हिन्दू शक्तिशाली नहीं होंगे इनमें कभी भी सच्चा मेल नहीं हो सकेगा–

गुरु बोले–"मैं यत्न इसी का
करता हूं प्राणों पर खेल,
जब तक हिन्दू सबल न होंगे,
कभी न होगा सच्चा मेल।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि गुरुकुल में खालसा का सृजन हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए गुरु गोबिंद सिंह द्वारा किया गया ऐसा अभियान था जो यवनों के अत्याचार का प्रतिरोध करने, हिन्दुओं को शक्तिशाली बनाने और उनमें आत्म-गौरव का निर्माण करने के लिए चलाया गया था।

(दैनिक जागरण, 5-4-2001)

बैसाखी फिर आ गई।

बैसाखी आती है और पंजाब के किसान के अंदर का सारा उल्लास भंगड़े के ढोल की ताल पर थिरकने लगता है—धि न ध ना धिन त ना कत शुरू में यह ताल धीरे-धीरे बजती है। भंगड़े के नर्तक ताल पर पैर हिलाते हैं, शरीर को गति देते हैं और कंधे उचकाते हुए नाचते हैं। कभी घुटने आगे बढ़ाकर, शरीर झुकाकर ताल पर नाचते हैं तो कभी मुट्ठी बंद कर, तर्जनी अंगुली से खड़ी कर बाहें फैलाकर झटका देते हैं। मस्ती में घूमते नर्तकों के शरीर का अंग-अंग ढोल की ताल पर हिलोर लेने लगता है। धीरे-धीरे ढोल वादक अपनी ताल तेज करता है। उसके साथ ही नाचने वालों की हरकत भी तेज हो जाती है। कुछ देर बाद नर्तक खड़े हो जाते हैं। एक मनचला युवक नर्तकों के घेरे में आ जाता है। उसका एक हाथ कान पर है और दूसरा हाथ ऊंचा उठाकर वह एक 'बोलो' बोलता है—

ए गभरू देश पंजाब दे
उड़दे विच हवा,
ए गभरू देश पंजाब दे
ते देंदे धूड़, धुमा
हो ढोल वालिया जवाना...

ढोल को दमक और नर्तकों की गमक में से उभर आती हैं बैसाखी के साथ जुड़ी हुई अनेक स्मृतियां, ऐसी स्मृतियां जिनमें आनंद और मस्ती है, तलवारों की खनखनाहट है, गोलियों की धांय-धांय हैं और जयघोषों, चीख़-पुकारों का तीव्र स्वर है।

वह दिन भी तो बैसाखी का ही था। तीन सौ दो वर्ष पूर्व, हिमालय की पर्वतमाला के पश्चिमी छोर की छाया में नए बसे एक नगर के खुले मैदान में हज़ारों लोग जमा

थे। उन सभी के ऊपर एक प्रश्न झूल रहा था—एक अजीब सा प्रश्न और उस प्रश्न की छाया में हर व्यक्ति जैसे भौंचक्का-सा हो गया था। भला यह भी कोई बात हुई? कहां बैसाखी की मौज-मस्ती, गिद्दे और भंगड़े, खेल-तमाशों से भरे मेले और कहां यह सवाल? सिर चाहिए...सिर चाहिए। सामने मंच पर खड़ा, किसी उन्माद में डूबा, आंखों से चिंगारियां बिखेरता, नंगी चमचमाती तलवार घुमाता हुआ तैंतीस वर्षीय युवा व्यक्ति कह रहा था- मुझे सिर चाहिए.... मुझे सिर चाहिए। हर व्यक्ति एक-दूसरे को देख रहा था या हर व्यक्ति एक-दूसरे से आंखें चुरा रहा था और प्रश्न था कि डंके पर पड़ने वाली चोट की तरह बराबर बजता चला जा रहा था।

फिर लोगों की नज़रें दूसरी ओर मुड़ गईं। यह उस विचित्र प्रश्न का विचित्रतर उत्तर था।

'मैं अपना सिर देने को तैयार हूं।'

कैसा था यह व्यक्ति? सीधा-सादा, अधेड़, दुकानदार-सा। ''मेरा नाम दयाराम है। मैं खत्री हूं, लाहौर का रहने वाला।''

आपको सिर चाहिए। मेरा सिर हाजिर है। भीड़ की विस्फारित आंखें उसे भीड़ से निकलता हुआ देख रही हैं। वह घूमता हुआ उस लपलपाती तलवार की ओर बढ़ता चला जा रहा है। फिर वह और लपलपाती तलवार वाला व्यक्ति एक खेमे की ओट में चले जाते हैं। ''खटाक''...और खेमे से खून की धार बाहर बह निकलती है। मंच पर फिर वह तलवार चमचमा रही है, परन्तु इस बार वह अधिक भयावह होकर वातावरण पर फिर से झूल रही है।

'एक सिर और चाहिए...और चाहिए...।'

सन्नाटा गहरा हो गया है। फिर किसी कोने से एक मद्धिम आवाज उभरती है—'मैं अपना सिर देने को तैयार हूं।' यह कौन है?

'मैं धरम दास हूं जी। जाट हूं...हस्तिनापुर का रहने वाला।' और भीड़ की लहरों पर से उतराता हुआ वह जाट उस तलवार को चूमनें इस तरह चला जा रहा है जैसे भंगड़े वालों की टोली में कोई 'बोली' बोलने जा रहा हो।

'खटाक' ज़्यादा ख़तरनाक हुई। खेमे में से खून और गाढ़ा निकला। चमचमाने वाली तलवार खून में और सन गया और सिर मांगने वाले युवक की आंखों की चिंगारियों संकेत को चुभन ज़्यादा बोंधने लग गई। 'एक सिर और चाहिए।' 'मैं अपना सिर देने को तैयार हूं पर...।' उस प्रश्न पर एक और प्रश्न उभर आया—'क्या आप मेरा सिर भी स्वीकार करेंगे? मैं छोटी जाति का हूं...छीपा...कपड़े छापने वाला...।' मंच पर खड़े जिस व्यक्ति की आंखों से लोग आग बरसती देख रहे थे, एकाएक उनमें से जैसे जल चू पड़ा। सारा खिंचा हुआ चेहरा एकदम तरल होकर करुणा में डूब गया। तलवार के साथ ही उसकी दोनों बाहें भी गईं और उस पसार में द्वारका का रहने वाला मोहकम चंद समा गया। फिर चौथी मांग के साथ तलवार की धार पर खून की परत और गहरी हो गई।

'एक सिर और चाहिए...।'

सभा का सन्नाटा गहरा होकर फटने लगा। भीड़ घटने लगी, परन्तु वह अनोखा प्रश्न जैसे भागते हुए लोगों का पीछा कर रहा था।

'मेरा सिर लीजिए। मैं नाई हूं। अपने उस्तरे से लोगों के बाल काटता हूं। लोगों ने मेरे सामने सिर झुकाया पर मेरे हाथ का छुआ पानी नहीं पिया। आप तो गुरु हैं। लाखों लोग आपके सामने सिर झुकाते हैं, पर आपकी प्यास नहीं बुझाते। लीजिए मेरा सिर...शायद आपकी प्यास थोड़ी-सी बुझ जाए।' और देखते-देखते बीदर का नाई साहब चंद उस रहस्यमय खेमे के अन्धकार में डूब गया। साथ ही लोगों के दिल भी डूब रहे थे। आवाज़ फिर गूंज रही थी—सिर चाहिए...और सिर चाहिए...और सिर चाहिए...।

लग लगा था, बैसाखी के आनन्दपूर्ण अवसर पर आनन्दपुर में जुड़ी हज़ारों लोगों की भीड़ भगदड़ में बदल जाएगी। लोगों को लगा था, युवा गुरु, गुरु गोविंद सिंह विक्षिप्त हो गया है। लोग सोच रहे थे—कैसा है यह गुरु? यह धन नहीं मांगता, वस्त्र नहीं मांगता, घोड़े-हाथी नहीं मांगता, श्रद्धा और भक्ति नहीं मांगता। यह मांग रहा है सिर...। कहता है अपना सिर मुझे दे दो। सिर दे दें तो पास रहेगा क्या? और उसकी आवाज़ और तेज़ होती जा रही थी—'मुझे सिर चाहिए...।' लोग सिर बचाने लगते हैं। उठ-उठकर भागने लगते हैं। गुरु की आवाज़ और तीखी होती जा रही हैं—'अरे भागते कहां हो? क्या भागकर तुम अपना सिर बचा सकोगे? क्या तुम यह भी नहीं जानते कि सिर बचाने से सिर चला जाता है...और सिर देने से सिर बच जाता है। अपना सिर बचाना चाहते हो तो यह सिर मुझे दे दो...।' और तब सिर लेकर हाजिर था...जगन्नाथ पुरी का धीवर हिम्मत राय।

पांच ने अपने सिर भेंट कर दिए। वे गुरु के प्यारे बन गए। सबके प्यारे बन गए...पंज प्यारे। परीक्षा में उत्तीर्ण ये प्यारे नये वस्त्रों में सुसज्जित वहां उपस्थित जनसमूह के सम्मुख खड़े थे। तीन सदियां गुज़र गईं। आज भी जब उनकी याद आती है तो उनमें से किसी का नाम याद नहीं आता। न ही कोई अकेला-अकेला याद आता है। पांचों एक साथ याद आते हैं, पांचों प्यारे याद आते हैं। इन सिर देने वालों की यह याद बैसाखी को और अधिक प्यारा बना देती है।

सिर मांगना एक विचित्र मांग थी, पर सिर दे देना उससे भी अधिक विचित्र था। इसमें एक बात सबसे विचित्र थी। सिर मांगने वाला पंजाब की पहाड़ियों में से सिर मांग रहा था, परन्तु सिर दिने वाले? उनमें पंजाब का सिर्फ़ एक था। एक था हस्तिनापुर का और शेष...? एक गुजराती, एक कन्नड़ और एक उड़िया। भावात्मक एकता और भारत की अखंडता के नाम पर बड़े-बड़े भाषणों, लेखों और नारों के बनावटी आयोजन के मध्य से यह नहीं उभरा था। फिर यह सब कैसे हुआ था? कैसे एक ही मांग पर उत्तर-दक्षिण, पूर्व-पश्चिम के सिर एक साथ आ जुटे थे।

बैसाखी आती है तो इस तरह के कितने ही सवाल हमारे सामने आ खड़े होते हैं।
भंगड़े के ढोल का स्वर और मुखर हो उठा है—
धिन धा ना धिन

पर ढोल की इस मधुर आवाज़ के साथ यह और कौन-सा स्वर है? धायं...धायं...धायं। इस आवाज़ के साथ एक और बैसाखी उजागर हो गई है, सन् 1919 को अमृतसर की बैसाखी। चारों ओर आवाज़ें गूंज रही थीं—रौलेट एक्ट मुर्दाबाद। काला कानून वापस लो। जलियांवाला बाग में बीस हज़ार से अधिक नर-नारी जमा थे। शहर के मकानों की चारदीवारी से घिरे इस बाग में प्रवेश करने के संकरे दरवाज़े पर अपने फौजी जवान लिए खड़ा था जनरल डायर और उसका हुक्म था फौरन तितर-बितर हो जाओ, परन्तु कौन कहां से, किधर से तितर-बितर हो जाए? चारों ओर ऊंचे-ऊंचे मकान, निकलने का सिर्फ़ एक रास्ता और उस रास्ते पर तनी हैं सिपाहियों की बंदूकें और सड़क पर उन्हें घेरे खड़ी हैं फौजी आरमर्ड कारें।

'अच्छा तो तुम सरकारी हुक्म नहीं मानते...लो सजा भुगतो...फायर...फायर...फायर।'

बन्दूकों से गोलियां छूट रही हैं। धायं-धायं और हाय-हाय की आवाजें एक दूसरे से मिल गई हैं। लोग भाग-दौड़ करते, चीख़ते-चिल्लाते हुए घायल पक्षियों की तरह फड़फड़ा रहे हैं। जनरल डायर चीख़ता चला जा रहा है—फायर...फायर...फायर...

अमृतसर का बैसाखी का मेला खूनी मेले में बदल गया है। गुरु गोबिन्द सिंह ने भी एक बैसाखी खूनी बैसाखी बना दी थी। उसमें कुछ लोगों ने अपने सिरों को मानो हथेली पर रखकर सौंप दिया था। आज जनरल डायर जबरदस्ती सिर ले रहा है। बचने का कोई उपाय नहीं है।

हंटर कमीशन के सामने गवाही देते हुए जनरल डायर ने कहा था, 'लोगों के तितर-बितर हो जाने के हुक्म के तीन मिनट बाद ही मैंने गोली चलाने का हुक्म दे दिया।' मानो वह हुक्म नहीं, सूरज की तेज़ गर्मी थी जिसके प्रभाव से बीस हज़ार लोगों को तीन मिनट में भाप बनकर उड़ जाना था। हंटर कमीशन के सामने जनरल डायर ने एक बात और कही थी—'मैंने और भी गोली चलवाई होती, अगर मेरे पास कारतूस होते। मैंने सोलह सौ बार ही गोली चलवाई, क्योंकि मेरे पास कारतूस ख़त्म हो गये थे।'

सोलह सौ गोलियों की वर्षा कराने वाला जनरल डायर कुछ साल बाद अपने ही घर में पश्चाताप की आग में झुलसकर मरा था। उसकी पीठ पर वरदहस्त रखने वाला उस समय पंजाब का लेफ्टिनेंट गवर्नर ओड्वायर बैसाखी और भंगड़े की भूमि के ही एक लाल-ऊधम सिंह की गोली का शिकार बना था।

बैसाखी फिर आ गई है। देश में हरी क्रांति लाने वाला किसान फिर से झूम उठा है। पंजाब की धरती गिद्दे और भंगड़े की ताल पर फिर से थिरक उठी है। गेहूं कट रहा है, खेतों से निकलकर मंडियों में आ रहा है और झूमता हुआ किसान गाता चला जा रहा है—

ओ जट्टा आई बैसाखी...आई बैसाखी
कणकां दी मुक गई राखी...आई बैसाखी

(दैनिक जागरण, 12-4-2001)

संकीर्णता के दौर में गुरु अर्जुन देव की सीख

गुरु अर्जुन देव की एक उक्ति है—पहिला मरण कबूल जीवण की छड़ि आस। होहु सभना की रेणुका तउ आऊ हमारे पासि। संसार में मृत्यु भय सबसे बड़ा भय है। इस भय के कारण ही व्यक्ति सभी प्रकार के नैतिक-अनैतिक समझौते करता है और बलशाही व्यक्ति की दासता स्वीकार कर लेता है। व्यक्ति का दूसरा संकट यह है कि अहंकार से ग्रसित होकर अपनी विनम्रता गंवा बैठता है। वीरता भी हो और विनम्रता भी हो, क्या यह अनहोनी बात है? गुरु अर्जुनदेव ने कहा, यदि तुम मेरे पास आना चाहते हो तो मृत्यु भय से मुक्त हो जाओ, साथ ही सभी के चरणों में धूल बन सको, ऐसी विनम्रता पैदा करो। ऐसी बात कहने वाले गुरु अर्जुन देव शताब्दियों के अंतराल के पश्चात् इस देश के पहले शहीद थे। 30 मई 1606 को लाहौर में उन्हें तत्काल मुगल बादशाह जहांगीर द्वारा भयंकर यातनाएं देकर शहीद किया गया था। जहांगीर ने अपनी आत्मकथा 'तुजके जहांगीरी' में इसका विवरण दिया है।

शहीद अरबी शब्द है, जिसका अर्थ है धर्म, देश या किसी लोक-हित के लिए अपने प्राण देना। बलि का अर्थ है आहुति। प्राचीन काल में इस शब्द का प्रयोग यज्ञ में दी जाने वाली पशुओं की दी आहुति के संदर्भ में अधिक होता था। इसके पीछे लोकहित की क्रिया की कोई लम्बी परम्परा नहीं दिखाई देती, सिवाय राजा दधीचि के जिन्होंने एक महत् आदर्श के लिए अपनी हड्डियां दान दे दी थीं, जिनसे इन्द्र ने वज्र बनाकर दैत्यों का संहार किया था। चार सौ वर्ष पहले गुरु अर्जुन देव ने धर्म और स्वाभिमान की रक्षा के लिए अपनी आहुति दे दी थी, किन्तु उनका अवदान केवल इतना ही नहीं था। उनके पिता, गुरु रामदास ने अमृतसर नगर की स्थापना की थी।

गुरु अर्जुन देव ने उसमें एक सरोवर खुदवाया और सरोवर के बीचों बीच हरिमंदिर बनवाया, जिसे आज दरबार साहब या स्वर्ण मंदिर भी कहा जाता है। वे एक ऐसा धर्म स्थान बनाना चाहते थे जो सभी धर्मों, सभी जातियों, सभी वर्णों के लिए खुला हो, सभी को गले लगा सकता हो और सभी को आत्मिक शांति दे सकता हो। इस आदर्श की प्राप्ति के लिए उन्होंने हरिमंदिर का शिलान्यास करने के लिए अपने समय के महान सूफी संत हजरत मीआं मीर को आमंत्रित किया। यह अपने समय की बड़ी अनोखी घटना थी। आज भी ऐसा कोई उदाहरण नहीं दिखाई देता, जब किसी एक धर्म के पवित्र स्थान का शिलान्यास किसी दूसरे धर्म के सामान्य पुरुष से कराया गया हो। गुरु अर्जुन देव ने हरिमंदिर में चार द्वार रखे। वे इस बात के प्रतीक थे कि यह मंदिर चारों दिशाओं से आने वाले लोगों का स्वागत करेगा। इस मंदिर में सभी धर्मों के व्यक्ति प्रवेश पा सकेंगे। सबसे महत्वपूर्ण बात कि इस मंदिर में सभी वर्णों, सभी जातियों के लोग समान रूप से प्रभु-स्तुति कर सकेंगे। एक मुसलमान फकीर से मंदिर का शिलान्यास कराना और उसे सभी लोगों के लिए, बिना किसी भेदभाव के खुला रखना कितना बड़ा प्रगतिशील और साहसिक कदम था, आज इसका अनुमान लगाया जा सकता है। उनका ऐसा ही एक और साहसिक और विशाल दृष्टि संपन्न कार्य था—गुरु ग्रंथ साहब का संपादन करना। गुरु अर्जुन देव को उनके पूर्व के चार गुरुओं—गुरु नानक, गुरु अंगद, गुरु अमरदास और गुरु रामदास द्वारा रचित वाणी उपलब्ध थी। स्वयं गुरु अर्जुन देव ने दो हजार से अधिक पदों की रचना की थी। गुरुओं द्वारा रची वाणी अपने समय में ही बहुत लोकप्रिय हो गई थी। असंख्य घरों में उसका नियमित पाठ और कीर्तन होता था। गुरु अर्जुन देव एक नए धर्म मंदिर की स्थापना कर चुके थे। उस मंदिर के लिए दृष्टि की उतनी ही व्यापकता लिए एक धर्मग्रंथ की आवश्यकता थी। अपने पूर्ववर्ती गुरुओं और अपनी वाणी को संकलित कर ऐसा ग्रंथ सहज ही बन सकता था, किन्तु गुरु अर्जुन देव ने ऐसा नहीं किया। उन्होंने ऐसे ग्रन्थ की परिकल्पना की जो किसी एक धर्म, सम्प्रदाय, मजहब, वर्ग की ही थाती बनकर न रह जाए। वह सम्पूर्ण मानवीय चिंतन का एक पर्याय बन सके।

गुरु नानक देव ने अपनी यात्राओं में सभी धर्मों, मतों, विचारों के सिद्ध पुरुषों से संवाद स्थापित किया था। इन यात्राओं में उन्होंने अपने समकालीन और अपने से पूर्व के ऐसे अनेक संतों, भक्तों, सूफी फकीरों की रचनाओं का संकलन किया था जो मनुष्य को प्रभु-भक्ति की ओर ले जाने के साथ ही उनमें भाईचारा, बंधुता, प्रेम और सद्भाव का प्रचार भी करती थीं। गुरु अर्जुन देव ने श्रमपूर्वक ऐसी रचनाओं को एकत्र किया। ऐसी रचनाओं में बारहवीं सदी के शेख बाबा फरीद और गीत गोविन्द के रचयिता जयदेव हैं, तेरहवीं सदी के त्रिलोचन और नामदेव हैं, चौदहवीं-पंद्रहवीं सदी के रामानंद, सधना, बेणी, कबीर, रविदास, पीपा, सैण और धन्ना हैं, सोलहवीं सदी के परमानंद, सूरदास, भीखन हैं। गुरु अर्जुन देव ने इनकी रचनाओं की बानगी अपने द्वारा संपादित ग्रंथ में

शामिल की। इन संतों में मुलतान से लेकर बंगाल तक तथा उत्तरप्रदेश, राजस्थसन, सिंध, महाराष्ट्र तक के फैले हुए रचनाकार थे। पांच गुरुओं की वाणी उसी समय संग्रहीत की गई। लगभग सौ वर्ष बाद गुरु गोबिंद सिंह ने अपने पिता गुरु तेगबहादुर की वाणी को इसमें संकलित कर आदिग्रंथ को अंतिम रूप दिया।

आदिग्रंथ में संग्रहीत कवियों में मुसलमान भी हैं, ब्राह्मण और क्षत्रिय भी हैं। शूद्र समझी जाने वाली जातियों के कितने ही संतों की रचनाएं इस ग्रंथ में अत्यन्त सम्मान और आदर से सम्मिलित की गई हैं। पहले इसे पोथी या ग्रन्थ कहा जाता था। गुरु गोबिंद सिंह ने इसे 'गुरुपद' पर आसीन कर दिया। अमृतसर के हरिमंदिर जैसा मंदिर ढूंढ़ना यदि सरल नहीं है तो आदि ग्रंथ जैसा धर्मग्रंथ भी संपूर्ण संसार में अद्वितीय है। आज जब साम्प्रदायिक संकीर्णता का दौर फिर से हमारे सामने मुंह बांए खड़ा है, जब कट्टरता और उन्माद धर्म के नाम पर चारों ओर अपना विस्तार करता जा रहा है और जब छोटी-छोटी बात को मुद्दा बनाकर बड़े-बड़े सिद्धान्त बघारने वाले लोग एक-दूसरे का सिर तोड़ने को अपनी धार्मिक या मज़हबी आस्था का आधार घोषित कर रहे हैं तथा चारों ओर असहिष्णुता का डंका पिट रहा है, गुरु अर्जुन देव जैसी सोच की तो कहीं कोई जगह नहीं दिखाई देती।

गुरु अर्जुन देव ने यह सब कुछ चार सौ वर्ष पहले किया। सहिष्णुता और सह अस्तित्व आधुनिक जीवन के मूल्य दिखाई देते हैं। गुरु अर्जुन देव ने अपने जीवन में उन मूल्यों को चरितार्थ करके दिखाया। कोई बड़ा काम, नया काम, अद्भुत काम अपनी पूरी क़ीमत मांगता है। कुछ द्वेषी लोगों ने जहांगीर के पास जाकर यह शिकायत की थी कि पांचवे गुरु ने एक ऐसा ग्रंथ बनाया है जिसमें इस्लाम की निंदा की गई हैं। उसी समय जहांगीर का पुत्र खुसरो, जो अपने पिता से बागी हो गया था, पंजाब आया। वह गुरु अर्जुन देव से गोयंदवाल में मिला। अपनी परम्परा के अनुसार उन्होंने उसे आश्रय दिया। वहां से निकलकर वह लाहौर चला गया, जहां वह बंदी बना लिया गया। गुरुद्रोहियों को नया बहाना मिल गया। उन्होंने बादशाहा के कान भरने शुरू कर दिए और यह आशंका भी जताई कि गुरु अर्जुन देव की लोकप्रियता जिस गति से बढ़ रही है उससे आगे चलकर मुगल सत्ता के लिए संकट उत्पन्न हो सकता है।

जहांगीर ने अपनी आत्मकथा में इसका उल्लेख किया है। वह लिखता है कि—''गोयंदवाल में व्यास नदी के किनारे अर्जुन नाम का एक हिन्दू रहता था। उसने बहुत से सीधे-सादे हिन्दुओं को ही नहीं, बल्कि अज्ञानी मुसलमानों को भी अपनी शिक्षा से श्रद्धालु बनाकर मान-प्रतिष्ठा स्थापित की हुई थी। तीन-चार पीढ़ियों से यह दुकान चल रही थी। कुछ समय से मेरे मन में यह विचार आ रहा था कि इस झूठ की दुकान को बंद कर दूं या उसे इस्लाम में ले जाऊं। उन्हीं दिनों खुसरो ने दरिया पार किया और जाहिल तथा हकीर खुसरो ने उसके पास पड़ाव किया। उसने खुसरो के माथे पर तिलक भी लगाया, जिसे हिन्दू लोग एक अच्छा शगुन मानते हैं। जब मैंने यह सुना तो

हुक्म दिया कि उसे हाजिर किया जाए। उसका माल अस्बाब जब्त कर लिया जाए और उसे डरा धमकाकर और कष्ट देकर जान से मार डाला जाए।"

गुरु अर्जुन देव को लाहौर लाया गया। पांच दिन तक उन्हें रोंगटे खड़े कर देने वाली यातनाएं दी गईं। उन्हें तपते हुए तवे पर बैठाया गया, ऊपर से गर्म रेत डाली गई, बदन को गर्म पानी में खौलाया गया, किन्तु वे अपने आदर्शों पर टिके रहे। इन्हीं आदर्शों की रक्षा के लिए उन्होंने अपने प्राण दे दिये।

प्रति वर्ष गुरु अर्जुन देव का बलिदान दिवस आता है, (इस वर्ष 26 मई)। उनके अनुयायी सभी स्थानों पर लोगों को दूध की लस्सी (कच्ची लस्सी) पिलाते हैं। कैसी विचित्र बात है। इस दिन सिख शोक नहीं मानते हैं। यह तो पर्व है—गुरु पर्व। जालिम बादशाह ने, भयंकर गर्मी की ऋतु में, लोगों के तन-मन को झुलसाना चाहा था। गुरु अर्जुन देव के मानस को पहचानने वाले लोग, उनकी स्मृति में इस दिन सभी की प्यास मीठी, ठंडी लस्सी से बुझाना चाहते हैं, उन्हें ठंडक पहुंचाना चाहते हैं। लोकहित में, पवित्र आदर्शों के लिए दिया गया बलिदान, शोक का नहीं आनन्द का पर्व होता है।

(दैनिक जागरण, 24-5-2001)

संत नामदेव ने भी झेला था जातिवाद का दंश

भक्ति के क्षेत्र में अवर्ण जातियों का प्रवेश कितनी कठिनाई से हुआ, महाराष्ट्र के संत नामदेव इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। इस क्षेत्र में इन जातियों के आरंभिक प्रवेश का श्रेय दक्षिण भारत के अलवार संतों को है। इनकी गिनती 12 मानी जाती है। ये सभी समकालीन नहीं थे। इनका समय ईसा की दूसरी शती से दसवीं शती तक फैला हुआ है। इनमें एक-दो को छोड़कर शेष सभी अत्यन्त साधारण श्रेणी के भक्त थे। ये पढ़े-लिखे नहीं थे और शुद्र समझी जानी वाली जातियों से आए थे। इनके वचनों को बारहवीं शती में एकत्र किया गया था। 'प्रवन्धम' नाम के संग्रह को तमिल वेद कहा जाता है।

इनके पश्चात् दक्षिण भारत में वैष्णवमार्गी भक्तों का आगमन हुआ। ये सभी ब्राह्मण थे किन्तु संतों ने भक्ति का मार्ग सभी लोगों के लिए खोल दिया था इसलिए इन आचार्यो ने भी इसे स्वीकार कर लिया। भक्ति की यह लहर जो बारहवीं शती तक दक्षिण भारत में बहुत लोकप्रिय हो चुकी थी धीरे-धीरे उत्तर की ओर बढ़ी और तेरहवीं-चौदहवीं शती में महाराष्ट्र, गुजरात से होती हुई पंद्रहवीं शती में उत्तर भारत में आ गई। एक प्रचलित दोहे में इस बात का श्रेय स्वामी रामानंद को और इसके चतुर्दिक प्रचार का श्रेय संत कबीर को दिया है–

भगती द्राविड़ उपजी लाए रामानंद।
परगट किया कबीर ने सात दीप नवखंड।

शूद्रों के लिए भक्ति का अधिकार शास्त्रों ने स्वीकार नहीं किया था, किन्तु लम्बी संघर्ष-यात्रा द्वारा उन्होंने यह अधिकार ले लिया था। यह उस युग की समाज व्यवस्था

में एक बड़ी प्रगतिशील उपलब्धि थी। स्वामी रामानंद जैसे ब्राह्मण संतों का इसे पूरा समर्थन प्राप्त था। किन्तु रूढ़िवादी विचार के लोग इसे स्वीकार नहीं कर पा रहे थे इसलिए शूद्र-भक्तों का अपमान होता रहता था। तेरहवीं शती के संत नामदेव को इस अपमान को झेलना पड़ा था। एक बार वे पंढरपुर के ठाकुरद्वारे में भक्ति भाव से प्रेरित होकर चले गए तो पुरोहितों ने उन्हें धक्के मारकर बाहर निकाल दिया था। इस तिरस्कार की चर्चा उन्होंने अपने एक पद में की है—

हसत खेलत तेरे देहुरे आया।
भगति करत नामा पकरि उठाया।।
हीनड़ी जाति मेरी जादिम राया।
छीपे के जनमि काहे को आया।।

(हे यादव राय कृष्ण, मैं हंसता-खेलता तुम्हारे द्वार पर आया, किन्तु भक्ति में लीन नामदेव को पुरोहितों ने पकड़कर वहां से उठा दिया। यह इसलिए हुआ कि मेरी जाति हीन है। हे प्रभु, तुमने मुझे छीपे के घर में जन्म क्यों दिया।)

अपनी जाति के अहसास से मुक्त होने की कामना उस समय के ऐसे सभी भक्तों-संतों ने की थी, किन्तु प्रचलित क्रूर व्यवस्था उन्हें बार-बार यह स्मरण कराती थी कि तुम क्या हो किन्तु इन भक्तों को अपनी भक्ति पर पूरा भरोसा था। संत नामदेव ने एक पद में कहा था—मैं जाति-पाति लेकर क्या करूं। मैं तो दिन-रात राम का जाप करता रहता हूं।

कहा करउं जाती कहा करउं पाती।
राम को नाम जपहुं दिन राती।।

उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा—प्रभु, तुमने मुझे छीपे के घर में जन्म दिया, किन्तु गुरु के उपदेश से मेरा भला हो गया। संतों के प्रसाद से नामदेव को हरि से भेंट हो गई—

छीपे घरि जनमु दैला गुरु उपदेसु मैला।।
संतह कै प्रसाद नामा हरि मंटुला।।

सभी व्याधियों, रुकावटों, अपमानों के रहते हुए नामदेव जैसे संतों ने अपनी उत्कट भक्ति-भावना को खंडित नहीं होने दिया। ऐसे भक्त कवि केवल ईश्वर प्राप्ति के लिए ही प्रयास नहीं कर रहे थे। वे रूढ़िग्रस्त और बद्धमूल मान्यताओं के विरुद्ध संघर्ष भी कर रहे थे। वे उस असमानता मूलक समाज व्यवस्था को चुनौती दे रहे थे और कम से कम भक्ति क्षेत्र में पूरी तरह नकारने का उद्घोष कर रहे थे। उनका भक्ति भाव किसी ऐसे वैष्णव भक्त से कम नहीं था जिसे उच्च कहे जाने वाले वर्ष में जन्म लेने

मात्र से यह अधिकार प्राप्त हो जाता था। संत नामदेव का यह पद इसका एक उदाहरण है–

राम नाम बिन घड़ी न जीवहूं।
भगति करहुं हरि के गुन गावहुं।।
आठ पहर अपना खसम धिआवहुं।
सुइने की सुई रूपे का धागा।।
नामे का चित हरि सिंउ लागा।।

संत नामदेव पर परवर्ती निर्गुण मार्गी संतों ने ऊंच-नीच की भावना से भरी व्यवस्था का प्रतिनिधि पंडों, पुरोहितों और पुजारियों का मानते थे। भक्ति मार्ग में इन्हें पूरी तरह नकारते हुए उन्होंने इन पर स्थान-स्थान पर कटाक्ष किए हैं किन्तु एक बात दृष्टव्य है, इन संतों ने जिस पांडे या पंडित की आलोचना की है वह कोई विचारवान, तत्वदर्शी, साधना के गूढ़ार्थ समझने वाला व्यक्ति नहीं था। ऐसे पंडित के लिए उनके मन में श्रद्धा और सत्कार था उनकी आलोचना का केंद्र वह पंडा था, पुरोहित था जो स्वर्ग-नरक का मिथ्या भय दिखाता था, जाति-पात, ऊंच-नीच और छुआ-छूत का अंध विश्वासी था, तीर्थ स्नान, व्रत, पूजा, दान आदि का जिसने कोरा कर्मकांड बना दिया था। ऐसे कर्मकांड में उस समय का हिन्दू समाज पूरी तरह डूबा हुआ था। मुल्लाओं-मौलवियों ने कुछ हद तक यह कर्मकांड मुसलमानों में भी पैदा कर दिया था। एक वर्ग अपने सहज ज्ञान की दोनों आंखें गवां बैठा था तो दूसरा एक आंख से वंचित हो गया था इनके लिए संत नामदेव ने कहा था–

हिन्दू अंधा तुरकू काना।
दोहां से ज्ञानी सयाना।।
हिन्दू पूजै देहुरा मुसलमान मसीत,
नामे सोई सेविया जय देहरा ना मसीत।।

संत नामदेव जैसे संतों ने इस देश की विशाल जनसंख्या को ईश्वर भक्ति के साथ जोड़कर उसे जीवन का ऐसा अर्थ दिया जिससे वे पूरी तरह वंचित थे। सभी शास्त्र उस भाषा में थे जिस तक बहुजन समाज की पहुंच नहीं थी। सारा शास्त्रज्ञान, तत्वदर्शन और मोक्षविधान समाज के एक छोटे-से वर्ग में सीमित होकर रह गया था। इन संतों ने उसे कूप से निकालकर जनसाधारण की निरन्तर बहती हुई सरिता में बदल दिया था। इनकी वाणी जन-जन की वाणी बन गई आज भी इस देश के असंख्य लोग इस वाणी को अपना आधार बनाकर जीते हैं और उसमें जीवन का अर्थ ढूंढ़ते हैं।

(दैनिक जागरण, 28-6-2001)

शाश्वत नहीं है संहिताएं

समकालीन भारतीय समाज विचित्र सी दुविधाग्रस्त स्थिति में जी रहा है। यहां ऐसे लोग भी हैं जो मानते हैं कि प्राचीन भारतीय धर्म और समाज व्यवस्था सर्वोत्तम थी। इस देश के पतन का कारण यह है कि हम उस व्यवस्था को तोड़ते चले जा रहे हैं। यदि हमें अपना प्राचीन गौरव प्राप्त करना है तो उन्हीं विश्वासों और व्यवस्थाओं को फिर से स्थापित करना होगा। ऐसे लोग भी हैं जिन्हें प्राचीनता से बुरी तरह चिढ़ है। उनकी मान्यता है कि आज के समय में वे मान्यताएं पूरी तरह निरर्थक और असंगत हो चुकी हैं। हम जितनी जल्दी उससे मुक्त हो सकें उतना ही अच्छा है। कुछ लोग इस दृष्टि से अधिक वस्तुपरक होकर सोचते हैं। प्राचीन विश्वासों और व्यवस्थाओं में कितना आज भी सार्थक और उपयोगी है, कितना निरर्थक और असंगत है और कितना हमें नया बनाना है, इस प्रश्न से वह निरन्तर जूझते रहते हैं।

सभी धर्मों की आस्थाओं और विश्वासों के दो बिन्दु होते हैं। एक उस धर्म का धर्मग्रंथ और दूसरा उस धर्म के पालन के नियम। धर्मग्रंथ अनुयायियों का आध्यात्मिक स्रोत है। व्यक्ति किस प्रकार परम तत्व की अनुभूति प्राप्त कर सके, किस प्रकार वह उससे एकाकार होकर, द्वैत की स्थिति से उबरकर, परम तत्व के साथ अभेद स्थापित करके मोक्ष प्राप्त कर सके। दूसरा बिन्दु है संहिता अथवा स्मृति, जो विधि, नियम और कानूनों का संग्रह या संकलन होता है। ये नियम धर्म और कर्मकांड के साथ ही अनुयायियों के वैयक्तिक, सामाजिक, आर्थिक आदि अनेक पक्षों का दिशा निर्देश करते हैं और व्यक्ति तथा समाज को अनुशासन में बांधते हैं। हिन्दुओं के लिए वेद, उपनिषद, गीता आदि धर्मग्रंथ हैं। मनु, गौतम, याज्ञवल्क्य, आपस्तंब जैसे ऋषियों द्वारा स्थापित नियमावलियां सहिताएं या स्मृतियां हैं। इस्लाम में कुरआन भी है और हदीस भी। सिखों में गुरु ग्रन्थ साहब हैं और रहतनामें हैं। अन्य धर्मों में भी ऐसा है। किसी भी धर्म की आत्मा उसके

धर्मग्रंथों द्वारा अभिव्यक्ति पाती है। ये कालातीत होते हैं। उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन संभव नहीं है। अनुयायी इन्हें ब्रह्मवाक्य, ईश्वरीय वाणी, अल्लाह की आयतें मानकर स्वीकार करते हैं।

किन्तु संहिताएं नियमों की रचना करती हैं। संसार में मनुष्य का मार्ग-निर्धारण करने वाला कोई भी नियम अपरिवर्तनीय नहीं होता। समय, परिस्थिति और सामयिक आवश्यकता के अनुसार उसकी व्याख्या और स्वरूप में कुछ परिवर्तन करना आवश्यक हो जाता है। धर्मग्रंथ और स्मृति का यह मूलभूत अंतर है। संकट वहां उत्पन्न होता है जहां संहिता को धर्मग्रंथ के समतुल्य मानकर उसमें दिए गए नियम, विधि, निषेध आदि की भी आप्तवचन मान लिया जाता है। मनु स्मृति का ही उदाहरण लें। इस संहिता की मान्यताएं सभी समय में सभी लोगों द्वारा कभी स्वीकार नहीं की गईं। मनु स्मृति शूद्रों को तपस्या करने का अधिकार नहीं देती, किन्तु रामायण काल में शम्बूक जैसा व्यक्ति तपस्या करता है और नियम भंग करने के कारण दंड का भागी बनता है।

स्मृतियों के माध्यम से जिस प्रकार की समाज रचना की व्यवस्था की गई, वह धीरे-धीरे समाज के बहुसंख्यक वर्ग के लिए जंजीर बनती चली गई। उसने इस वर्ग की प्रगति तो एक ओर, उसके जीवन को अपमान, दुत्कार और घृणा से भर दिया। इसीलिए मध्ययुग के संतों ने शूद्रों के साथ हो रहे अन्याय के लिए स्मृतियों को दोषी ठहराया। उन्होंने स्मृतियों को पूरी तरह नकारा और उनकी निंदा की। शूद्रों के साथ अस्पृश्यता की धारणा स्पष्ट रूप से मनु स्मृति में विद्यमान है। मनु स्मृति में कहा गया है कि शूकर अन्न को सूंघकर निष्फल कर देता है। वैसे ही कुत्ते को देखने से तथा शूद्र को छू देने में द्विज जातियों का कर्म निष्फल हो जाता है। अंग विकृत मनुष्य तथा शूद्र को श्राद्ध के स्थान से निकाल देना चाहिए। मनु स्मृति में यह भी विधान है कि शूद्र यदि ब्राह्मण को पीट दे तो उसे मृत्यु दंड दिया जाए। शूद्र यदि द्विज जनों को अपशब्द कहे तो उसकी जीभ काट लेनी चाहिए। ऐसा दंड-विधान द्विजों के लिए नहीं है।

इस स्थिति की विडम्बना यह है कि एक ओर तो वैचारिक स्तर पर यह माना गया कि विद्वान पुरुष स्वान तथा स्वमान सभी के प्रति समदर्शी होता है। क्रियात्मक स्तर पर उसी व्यवस्था के अंतर्गत समाज के एक बड़े वर्ग को केवल अस्पृश्य ही नहीं माना गया बल्कि उनके साथ पशुवत व्यवहार करने का भी उपदेश दिया गया है। मनु स्मृति में कहा गया है कि शूद्रों को धर्म तथा व्रत का उपदेश देने वाला नरक में जाता है। मनु स्मृति की इन असमानतामूलक व्यवस्थाओं का इस देश में निरन्तर विरोध होता रहा है और उसके लिए नए-नए आंदोलन होते रहे। जैन एवं बौद्ध धर्म में शूद्रों को सामाजिक जीवन में सम्यक् स्थान देने की चेष्टा की गई। इन्हें शिक्षा तथा विहारों में जाने की अनुमति प्राप्त हुई। दोनों धर्मों ने अपने अनुयायियों के मध्य उदारता के प्रसार का प्रयत्न किया किन्तु मनु स्मृति की व्यवस्था शूद्रों के प्रति अत्यन्त कठोरता से भरी रही। वह स्पष्ट रूप से कहती है कि ब्राह्मण अपने शूद्र दास की सम्पत्ति ले सकता

है क्योंकि शूद्र को सम्पत्ति रखने का अधिकार नहीं है। मनु स्मृति किसी भी दंड के विषय में अत्यन्त कठोर है। वह किसी भी प्रकार से शूद्रों द्वारा न्याय व्यवस्था के संचालन के विरोधी है। मध्यकाल का भक्ति आंदोलन (विशेष रूप से निर्गुण भक्ति मार्ग) इस अन्याय पोषण व्यवस्था के विरुद्ध आवाज़ उठाता है। धर्मग्रंथ को तो शाश्वत और अपरिवर्तनीय माना जा सकता है, किन्तु सामाजिक जीवन का विधि-विधान निर्धारित करने वाली स्मृतियां अथवा संहिताएं शाश्वत नहीं हो सकतीं। युग के अनुकूल उन्हें अपनी मान्यताओं में संशोधन-परिवर्तन करना पड़ता है। सौ-डेढ़ सौ वर्ष पहले तक समुद्र यात्रा वर्जित थी। आज यह वर्जना अत्यन्त हास्यास्पद लगती है। कट्टर से कट्टर धर्मशास्त्री भी उस वर्जना को स्वीकार नहीं करता।

परिवर्तित मानसिकता का सबसे बड़ा उदाहरण भारत का संविधान है, जिसने मनु स्मृति (तथा अन्य स्मृतियों) की मान्यताओं को पूरी तरह नकार दिया है। यह संविधान ब्राह्मण और चांडाल में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करता। अस्पृश्यता को यहां दंडनीय अपराध मानता है। यह संविधान देश के सभी नागरिकों को समान रूप से अधिकार देता है, जिसमें सबसे पहले समता का अधिकार है। संविधान स्पष्ट रूप से कहता है कि राज्य, किसी नागरिक के विरुद्ध केवल धर्म, नस्ल, जाति, लिंग, जन्म-स्थान के आधार पर कोई विभेद नहीं करेगा। राज्य के अधीन किसी भी पद नियोजन का नियुक्ति से संबंधित विषयों में सभी नागरिकों के लिए अवसर की समता होगी। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि शूद्र परिवार में जन्म लेने वाला व्यक्ति भारत का राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री हो सकता है, सर्वोच्च न्यायालय का प्रधान न्यायाधीश हो सकता है, किसी विश्वविद्यालय का कुलपति हो सकता है। भारत की सशस्त्र सेनाओं का प्रधान सेनापति भी हो सकता है। मनु स्मृति की कोई व्यवस्था उसके आड़े नहीं आती। इस दृष्टि से मनु स्मृति की व्यवस्थाएं और भारतीय संविधान की व्यवस्थाएं—दोनों एक-दूसरे से बिल्कुल विपरीत दिशाओं में जाती हुई दिखाई देती हैं। दूसरे शब्दों में भारतीय संविधान मनु स्मृति को पूरी तरह नकार कर उस व्यवस्था की संरचना करता है जिसका उस स्मृति में पूरी तरह निषेध है। शूद्रों तथा अस्पृश्यों के सम्बन्ध में हमारा संविधान पूरी तरह स्पष्ट है। इसी के साथ ही वह नारी के संबंध में उन अनेक मान्यताओं को स्वीकार नहीं करता जो मनु स्मृति का भाग है। मनु के अनुसार तीस वर्ष की आयु के पुरुष के लिए बारह वर्ष की कन्या उचित है। चौबीस वर्ष का युवक आठ वर्ष की कन्या से विवाह कर सकता है। मनु की समाज व्यवस्था में नारी का व्यक्तित्व पुरुष के व्यक्तित्व में पूर्णतया तिरोहित हो गया है। स्वयं उसका कोई अस्तित्व शेष नहीं रह जाता। आत्माभिव्यक्ति का उसे कोई अवसर नहीं है और वह पूरी तरह एक कठपुतली के समान है।

आज नारी के संबंध में धारणा पूरी तरह बदल गई है। अब वह पति की दासी नहीं है, सहयोगिनी है। आश्चर्य उस समय होता है जब कुछ धर्माचार्य धर्म के नाम पर इन संहिताओं और उनके द्वारा अनुमोदित कुछ व्यवस्थाओं और रीतियों को अभी भी

उसी तरह मान्य घोषित करते हैं, जैसे वे कई शताब्दियां पहले थीं। इन संहिताओं की अनेक मान्यताएं आज पूरी तरह निरर्थक रूढ़ियों का रूप धारण करके असंगत हो चुकी हैं। मनु स्मृति संसार की सबसे प्राचीन संहिता हो सकती है, किन्तु उसकी प्राचीनता आज के समय में उसकी संगति और उपयोगिता सिद्ध नहीं करती।

क्या यह संभव नहीं कि हिन्दू धर्माचार्य इस स्थिति पर आज के संदर्भ में गंभीर विचार करें? प्राचीन जीवन-मूल्यों, आदर्शों, संस्कारों और आस्थाओं की रक्षा करना कुछ हद तक आवश्यक हो सकता है। उसके लिए चिंतित होना, प्रयत्नशील होना, आग्रही होना भी एक सीमा तक स्वीकार किया जा सकता है किन्तु पूरी तरह असंगत हो चुकी रूढ़ियों को 'धर्म' बताकर उनके प्रति चिंता व्यक्त करना, उनकी पुनर्प्रतिष्ठा की बात करना, उनमें छिपे अन्याय को न्यायोचित सिद्ध करने का प्रयास करना अपने आपको केवल समय-प्रवाह से अलग करना ही नहीं है, बल्कि देश में सामाजिक विग्रह को बढ़ावा देना भी है। स्मृतियों और संहिताओ में जो कुछ समयोचित नहीं है, उसे छोड़ देना ही किसी समाज के चिंतन, मनन और व्यवहार की गतिशीलता का परिचायक है।

(राष्ट्रीय सहारा, 30-6-2001)

कितने सच्चे हैं ज्योतिषियों के दावे

आजकल समाचार पत्रों के अंदर छपे हुए विज्ञापन परचों को डालकर वितरित करने का चलन बहुत बढ़ गया है। प्रातः जब आप अपना अख़बार, खोलते हैं तो उसमें छोटे-बड़े कई परचे आपको मिलते हैं जिनमें सभी प्रकार की वस्तुओं के लुभावने विज्ञापन छपे होते हैं। इन विज्ञापनों में सबसे अधिक विज्ञापन ज्योतिषियों, तांत्रिकों, हस्तरेखा, विशेषज्ञों, भविष्य-वक्ताओं और उन संतों-महंतों के होते हैं जो तीन दिन में आपकी सभी समस्याओं को हल करने का दावा करते हैं। इतने विज्ञापनों को देखकर यह सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि इस देश में यह धंधा बहुत फल-फूल रहा है।

मैं इस समय इस विवाद में नहीं पड़ रहा हूं कि ज्योतिष एक विज्ञान है अथवा नहीं। पिछले कुछ समय से इस संबंध में बहुत चर्चा हुई है। कुछ लोगों ने इसे विज्ञान सम्मत माना है, किन्तु अनेक जाने-माने वैज्ञानिकों ने इसे विज्ञान मानने से पूरी तरह इनकार किया है।

मैं इस समय केवल इसके व्यावहारिक पक्ष की चर्चा कर रहा हूं। अपने देश में ज्योतिषियों, भविष्यवक्ताओं, ग्रहदशा देखने वालों, हस्तरेखा विशेषज्ञों, मस्तक की रेखाओं को पढ़ने वालों की कभी कोई कमी नहीं रही। इन लोगों के साथ ही उन लोगों का बोलबाला भी कम नहीं है जो अपनी चमत्कारी सिद्धियों से मनुष्य के अतीत, वर्तमान और भविष्य को पूरी तरह बता सकने का दावा करते हैं। मृत प्राणी को जीवित कर देना तो संभवतः सिद्धि की अन्तिम अवस्था है, किन्तु किसी असाध्य रोग से पीड़ित व्यक्ति को पूरी तरह निराश कर देना, संतानहीन को संतानवान बना देना अथवा किसी

निर्धन व्यक्ति के सम्मुख धन का ढ़ेर लगा देना इनके बाएं हाथ का खेल समझा जाता है। ऐसी चमत्कारपूर्ण घटनाओं से हमारा पौराणिक साहित्य, लोक साहित्य और लोक मानस भरा पड़ा है।

आधुनिक युग के सभी वैज्ञानिक चिंतन और तर्कशीलता के बावजूद आज भी इस देश में ऐसे चमत्कारी बाबाओं की कमी नहीं है जो अपने लम्बे चोगे से मनचाही वस्तु निकाल देते हैं और सामान्य लोग ही नहीं, पढ़े-लिखे बुद्धिजीवी भी उनकी कथित सिद्धियों के सामने नत-मस्तक होते हैं।

ज्योतिष का धंधा प्राचीन समय में भी बड़ा फलदायी धंधा रहा होगा। असंख्य लोगों की जीविका का यह आधार रहा होगा। आज इस धंधे को सभी प्रकार की आधुनिक प्रचार सुविधाएं मिल गई हैं। आज कोई भी ज्योतिषी या तांत्रिक अपनी योग्यता का कैसा भी दावा करते हुए समाचार पत्रों में विज्ञापन देकर अपना प्रचार कर सकता है, वैसे ही जैसे साबुन टूथपेस्ट, साइकिल या घड़ी बेचने वाले करते हैं। विज्ञापन में एक तांत्रिक यह दावा करता है कि वह हनुमान जी का परम भक्त है। तांत्रिक विद्या का पूर्ण ज्ञाता है। हर व्यक्ति की, हर प्रकार की बाधा वह अपनी तंत्र शक्ति द्वारा दूर कर सकता हैं दूसरा तांत्रिक वह दावा करता है कि वह माता दुर्गा का परम भक्त है। वह प्रत्येक निराश व्यक्ति को आशापूर्ण कर सकता है। किसी भी असाध्य रोग से पीड़ित व्यक्ति को पूर्ण स्वास्थ्य लाभ करा सकता है। आवश्यकता है, उसकी शरण में आने की।

सभी ज्योतिषियों और तांत्रिकों के दावे लगभग एक ही ढंग के होते हैं क्योंकि जनसाधारण के कष्ट भी लगभग एक जैसे होते हैं। कोई किसी भयंकर बीमारी से पीड़ित है, कोई संतान सुख से वंचित है, किसी का व्यवसाय ठीक नहीं है इसलिए वह आर्थिक संकट में है, कोई गृह कलह से पीड़ित है, कोई अपने शत्रु पर विजय पाना चाहता है और कोई अपने प्रेम प्रसंग को सफल बनाना चाहता है।

आजकल प्रातःकाल के समाचार पत्रों में बहुत से व्यवसायी अपने उत्पादनों का प्रचार करने के लिए कुछ पर्चे छपवा कर डलवा देते हैं। मुझे आज के समाचार पत्र में ज्योतिष का व्यवसाय करने वालों के दो-तीन पर्चे मिले हैं। उनमें से मैं एक को यहां उद्धृत कर रहा हूं–

ज्योतिष व तंत्र द्वारा
पल भर में समाधान
नोटः नकलियों से सावधान, कृपया ध्यान दें।

कलयुग तारणी मां गंगा माई विश्वास में ही शक्ति-भक्ति है। आपकी हर समस्याओं का निवारण आसाम में स्थापित ''तांत्रिक शक्ति मां कामख्या द्वारा'' मां के·दरबार में ही समय से पहले, भाग्य से अधिक मिलता है। रुके काम बनते हैं। 10 वर्षों में स्थायी

6 घंटे की इष्ट सिद्धि से वैदिक आध्यात्मिक एवं तान्त्रिक शक्ति द्वारा हर कार्य सिद्ध—एक बार मिलने पर समाधान पाएं। मनचाहा प्यार, कारोबार में कामयाबी, नौकरी में तरक्की, विदेश यात्रा कब, राजनीतिक अवसर, संतान प्राप्ति, खिलाया-कराया, शत्रु विजय, नवग्रह शांति हेतु-आपकी हर समस्या का समाधान पक्का है।

इसके बाद ज्योतिषी/तांत्रिक ने अपना पता और टेलीफोन नंबर दिया है।

दूसरे पर्चे में ऊपर ही सभी व्याधियों के साथ ही मन का भ्रम, कोर्ट-कचहरी, पित्त्ह दोष आदि संकटों से समाधान की बात कही गई। एक विशेष बात यह है कि जो लोग अन्द ज्योतिषियों और तांत्रिकों द्वारा किए गए उपायों से निराश व असफल हो गए हैं, ऐसे व्यक्ति एक बार अवश्य मिलें। इन महोदय ने यह दावा भी किया कि रोजाना मिलने पर ये सभी संकट केवल तीन दिन में दूर कर देते हैं।

मुझे यह देखकर बहुत आश्चर्य होता है (और खेद भी) कि विदेशों में जहां-तहां भी भारतीय गए हैं, उन्हीं के साथ ज्योतिष और काले इल्म का व्यवसाय करने वाले पहुंच गए हैं। मेरे पास ब्रिटेन, कनाडा और अमेरिका जैसे देशों से प्रकाशित होने कुछ पंजाबी साप्ताहिक पत्र नियमित आते हैं। इन देशों में पंजाबी मूल के लोग बड़ी संख्या में बसे हुए हैं। ये लोग पंजाब, पंजाबी साहित्य और पंजाब की राजनीतिक/सामाजिक स्थितियों से पूरी तरह परिचित रहना चाहते हैं, इसलिए पंजाबी में साप्ताहिक और मासिक पत्रों का प्रकाशन बहुत लोकप्रिय है। इन पत्रों में ज्योतिषियों तांत्रिकों, योगियों, काले इल्म के माहिर पीरों, बाबाओं के बड़े-बड़े विज्ञापन छपते हैं। इन लोगों में अब महिलाएं भी शामिल हो गई हैं। ये 'देवियों' अथवा बहन जी अपनी तंत्र शक्ति से लोगों (विशेष रूप से महिलाओं का) इलाज करती हैं। इन विज्ञापनों को देखकर इस बात का अनुमान लगाया जा सकता है कि यह धंधा वहां भारत से अधिक फल फूल रहा है।

मेरे सम्मुख इस समय वैंकुवर (कनाडा) से प्रकाशित एक लोकप्रिय पंजाबी साप्ताहिक के नए अंक की प्रति है। बड़े आकार के 68 पृष्ठों की इस पत्रिका में इस बार पांच पूरे पृष्ठ के और सात आधे पृष्ठ के विज्ञापन ज्योतिषियों/तांत्रिकों/पीरों/बाबाओं के प्रकाशित हुए हैं। सभी में बहुत बढ़-चढ़कर दावे किए गए हैं। एक पीर सैयद साहब का दावा है कि वे समस्याग्रस्त व्यक्ति की सभी इच्छाएं एक सप्ताह से कम समय में पूरी कर देते हैं और इसकी सौ प्रतिशत गारंटी देते हैं। एक बाबा यह दावा करता है कि यदि आप का मन पसंद व्यक्ति आपके वश में नहीं आ रहा है, आपका हर उपाय निष्फल हो गया है तो समय न बर्बाद करो। आज ही बाबा से सम्पर्क करो। केवल सात दिनों में पत्थर दिल माशूक तुम्हारे कदमों में होगा।

मैं सोचता हूं, ये ज्योतिषी, तांत्रिका, काले इल्म के माहिर बाबा जनता को किस ओर ले जा रहे हैं। सारा संसार वैज्ञानिक सोच की ओर अग्रसित है। वह प्रत्येक तथ्य को विज्ञान और तर्क की कसौटी पर कसना चाहता है और ये लोग व्यक्ति को अज्ञान, अंधविश्वास, भाग्यवादिता के माया जाल में ही फंसाए रखना चाहता है।

पिछले दिनों आगरा में प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी और पाकिस्तानी राष्ट्रपति परवेज मुशर्रफ के मध्य हुई वार्ता पर मैंने एक ज्योतिष की रोचक टिप्पणी पढ़ी। उसने ग्रहों, नक्षत्रों और राशियों की गणना करते हुए लिखा कि इस वार्ता के लिए ज्योतिष शास्त्र की घोर अनदेखी की गई थी, इसलिए वार्ता विफल रही। इस ज्योतिषी का बस चले तो आतंकवादियों के विरुद्ध सरकार द्वारा की जाने वाली किसी कार्रवाई से पहले ज्योतिष के ग्रहों, नक्षत्रों और राशियों की गणना अवश्य कराएगा। देश में ऐसे लोगों की भी कमी नहीं है जो किसी भी यात्रा से पूर्व ज्योतिषी से यह पूछ लेते हैं कि उस दिन की यात्रा में कोई दिशाशूल तो नहीं है। यदि उस दिन दिशाशूल हो, किन्तु रेलवे का आरक्षण ले रखा हो तो ऐसे व्यक्ति अपना जूता, छाता, बिस्तर एक दिन पहले ही घर के दरवाजे से बाहर रख देते हैं, यह मानकर कि यात्रा तो हमने एक दिन पहले ही शुरू कर दी थी।

कई बार मेरे मन में विचार आता है कि यदि ज्योतिष शास्त्र सचमुच भविष्य में झांककर आसन्न संकट की परख कर सकता है और उसका उपाय भी बता सकता है, तो वह इस देश पर सैकड़ों वर्ष तक निरन्तर होने वाले विदेशी आक्रमणों को क्यों नहीं देख सका। वह यह पता क्यों नहीं लगा सका कि ग़जनी का महमूद सोमनाथ के मंदिर को तोड़ने कब आ रहा है? वह बाबर के आक्रमण को अपने ग्रहों, नक्षत्रों और राशियों द्वारा क्यों नहीं निर्धारित कर सका। अंग्रेज कब इस देश में आए, उनके इरादे क्या थे, वे किस प्रकार इस देश के शासक बन जाएंगे, कब तक शासक बने रहेंगे, ऐसी कोई भी सूचना इस देश के ज्योतिषाचार्यों और तांत्रिकों ने पहले क्यों नहीं दी। सदाशिव राव भाऊ और पेशवा-पुत्र विश्वास राव अहमदशाह अब्दाली से टक्कर लेने के लिए पंडितों/ज्योतिषियों से शुभ मुहूर्त निकलवाकर पूना से चले थे। क्या ज्योतिषी यह नहीं जानते थे कि ये लोग जिस युद्ध के लिए उत्तर भारत की ओर जा रहा है उसका परिणाम क्या होगा? मुझे नहीं लगता कि काबुल से चलते समय अब्दाली ने नजूमियों से यह पूछा होगा कि वह मराठों से युद्ध करने के लिए जाए या नहीं।

इस देश पर बाबर के आक्रमण को गुरुनानक ने अपनी आंखों से देखा था। उस समय आक्रमणकारी मुगलों और दिल्ली के लोधी (पठानों) के मध्य जो युद्ध हुआ था, गुरु नानक ने अपनी वाणी में उसका मार्मिक वर्णन किया है। मुसलमान फौजें जब युद्ध के लिए चलती थीं, मौलवी कुर्रान की आयतें लिखकर उनके झंडों पर टांक देते थे। इब्राहीम लोधी की सेनाओं के झंडों पर इन्हें टांका गया था। गुरु नानक ने लिखा है कि उस युद्ध में पठान बुरी तरह हार गए। मुगल सैनिकों ने आम लोगों पर भयंकर अत्याचार किए किन्तु झंडों पर लगी हुई पर्चियां किसी काम नहीं आई।

जीवन में जो व्यक्ति जितना असुरक्षित होता है, उसे ज्योतिषियों/तांत्रिकों की आवश्यकता उतनी ही अधिक होती है। यही कारण है कि राजनेता, जोखिम भरा व्यवसाय करने वाले व्यापारी, फिल्मों के निर्माता, अभिनेता आदि व्यक्ति इस माया जाल में सबसे

अधिक फंसे होते हैं। कितने राजनेता ज्योतिषियों से पूरी गणना करवाकर, शुभ मुहूर्त निकलवाकर अपना नामांकन पत्र भरने जाते हैं। ज्योतिषी से पूछकर ही वे अपना प्रचार कार्य प्रारम्भ करते हैं। सरकार में कोई पद मिल जाए तो ज्योतिषी से पूछकर शपथ ग्रहण करते हैं। कुछ वर्ष पहले इस देश के दो प्रधानमंत्रियों के मध्य भी यही हुआ था। पद से हटने वाले प्रधानमंत्री को उसके ज्योतिषी ने यह बताया था कि अमुक समय के पूर्व अपनी कोठी नहीं छोड़ना। नए प्रधानमंत्री को उसके ज्योतिषी ने बताया था कि अमुक समय के पूर्व ही प्रधानमंत्री निवास स्थान में चले जाना। दोनों के समय में दो-तीन घंटे का अंतर था। परिणाम यह हुआ कि दोनों प्रधानमंत्री कुछ घंटों तक एक ही निवास पर डटे रहे।

सारा फिल्मी संसार, व्यापारी वर्ग (विशेषरूप से दो नम्बर का धंधा करने वाले) और आम जनता के कमजोर संकल्पशक्ति के व्यक्ति भी इस माया जाल का शिकार हो जाते हैं।

ऊपर मैंने विदेशों में बसे हुए उन भारतीयों की चर्चा की हैं जिनमें यह माया जाल व्यापक रूप से प्रभावशाली है। उसका भी संभवतः यही कारण है। विदेश जाकर व्यक्ति लम्बे समय तक बहुत असुरक्षित महसूस करता है, अपने देश में उसे यह भरोसा रहता है कि किसी संकट के अवसर पर उसके सगे-सम्बन्धी, मित्र उसकी सहायता के लिए आ जाएंगे। विदेशों में वह अकेला होता है और उसे यह भरोसा नहीं होता कि संकट के समय कोई उसका साथ देने के लिए आगे आएगा। यह असुरक्षा की भावना उसे ज्योतिषियों, तांत्रिकों और बाबाओं की शरण में ले जाती है।

मैं नहीं जानता कि यह शास्त्र किस सीमा तक किसी व्यक्ति अथवा समाज के दिशा निर्धारण में सहायक होता है। इतना अवश्य है कि इस शास्त्र पर अधिक निर्भरता व्यक्ति (और समाज) को आत्म विश्वसहीन, भीरु, भाग्यवादी और पुरुषार्थहीन बनाती है। इस देश में लाखों की संख्या में फैले हुए ज्योतिष का धंधा करने वाले व्यक्ति लोगों के भीरु और अंधविश्वासी मन का पूरा लाभ उठाकर थोड़े से धन की लालसा में उन्हें अपने माया जाल में फंसाते हैं।

(दैनिक जागरण, 01-11-2001)

संत रविदास : एक सुख-राज्य का स्वप्न

भारतीय समाज शताब्दियों से यह संकट झेल रहा है कि किस प्रकार की समाज रचना हो जिसमें व्यक्ति और व्यक्ति समूह सुख, शान्ति, सौमनस्य और संतोष से जी सके। इसके लिए निरन्तर कल्पनाएं भी की जाती रहीं और प्रयास भी होते रहे। वर्ण व्यवस्था भी एक ऐसा ही प्रयास था। प्रारम्भ में इस व्यवस्था के मूल में कर्म रहा होगा। एक वर्ग शिक्षा और धार्मिक/सामाजिक विधान के निर्माण का उत्तरदायी हो गया। दूसरे वर्ग के लिए समाज का शासन और व्यवस्था का भार वहन करना कर्तव्य बन गया। तीसरा वर्ग व्यापार और उद्योग धंधों की समुन्नति के प्रति सचेष्ट हुआ और चौथा ऊपर के तीनों वर्गों की आवश्यकताओं की पूर्ति, उनकी सेवा, उनकी संतुष्टि का भार वहन करने लगा। प्रारम्भ में वर्णान्तर संभव रहा होगा, किन्तु धीरे-धीरे उसे जन्मना मान लिया गया।

ऐसे सुख-राज्य को आदर्श रूप में 'राम राज्य' कहा गया। वर्ण-विभाजन एक व्यवस्था न रहकर 'धर्म' बन गया और यह अपेक्षा की जाने लगी कि सभी लोग अपने-अपने वर्णानुसार जीवन व्यतीत करें, यही उनका धर्म है। तुलसीदास ने एक स्थान पर कहा ही है–

> सब नर करहि परस्पर प्रीती।
> चलहि स्वधरम निरत श्रुति नीती।।

सभी लोग परस्पर एक-दूसरे से प्रीति करें किन्तु यह तभी संभव है जब सभी लोग श्रुतिनीति के अनुसार अपने-अपने (वर्ण) धर्म का पालन करें।

किन्तु अपने-अपने वर्ण में रहकर धर्म का पालन करना पुराण-संहिता काल में

इतना रूढ़ हो गया कि समाज कटघरों में तो कैद हो गया और चतुर्थ वर्ण के सारे अधिकार छिन गए। परमेश्वर की कृपा प्राप्त करने के लिए भी उस पर अनेक बंधन लग गए। मंदिर प्रवेश उसके लिए निषिद्ध हो गया। मंदिर के बाहर खड़े रहकर उसके कलश मात्र के दर्शन को उसकी सीमा मान लिया गया। शास्त्र-अध्ययन तो बहुत दूर शास्त्र-वचन सुनना भी उसके लिए अपराध बन गया।

किन्तु भक्तिकाल में ऐसे अनेक संत-भक्त उभर आए, जिन्होंने इस व्यवस्था और इन निषेधों को मानने से इनकार कर दिया। दक्षिण के आलवार भक्तों ने, जिनमें से अधिसंख्य शूद्र थे, नौवी-दसवीं शती में ही अपने आपको इन निषेधों से मुक्त कर लिया था। उनके बाद की दो-तीन शतियों में दक्षिण के वैष्णव आचार्यों ने, जो अधिसंख्य ब्राह्मण थे, शूद्रों के इस अधिकार को धीरे-धीरे स्वीकार कर लिया। दक्षिण उपजी भक्ति को स्वामी रामानंद उत्तर भारत में प्रचारित किया और उन्होंने शूद्र कही जाने वाली जातियों के लोगों को भी अपना शिष्य बनाना स्वीकार कर लिया। पंद्रहवीं शती के संत कबीर ने अपनी एक साखी में कहा ही था—

भक्ति द्राविड़ ऊपजी लाए रामानंद।
परगट किया कबीर ने सप्तदीप नवखंड।

भक्ति के इस उन्मेष में, सभी रूढ़ियों और निषेधों को नकारते हुए सम्पूर्ण देश में ऐसे भक्तों की आवाज़ गूंजने लगी जिन्हें सदियों से शास्त्रों ने इस अधिकार से वंचित रखा था। नामदेव छीपा थे, सैन नाई थे, धन्ना जाट थे, सधना कसाई थे, कबीर जुलाहा थे, रविदास चमार थे। इन संतों ने उस व्यवस्था को चुनौती भी दी थी जो इन्हें छोटा समझती थी और सामाजिक/धार्मिक संसार में इन्हें किसी प्रकार की मान्यता देने से कतराती थी।

इन संतों ने भी एक सुख-राज्य की कल्पना की, एक ऐसा राज्य जिसमें किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं, ऊंच-नीच नहीं, किसी प्रकार का शोषण नहीं, श्रम की उपेक्षा नहीं, पांडित्य का अभिमान नहीं, बाह्यडंबर नहीं। संत रविदास ने अपने एक पद में एक ऐसे सुख राज्य का पूरा ढांचा हमारे सामने रख दिया है। रविदास ने ऐसे कल्पित नगर राज्य को नाम दिया 'बेग़मपुरा'—दुःख मुक्त नगर। उन्होंने ऐसे नगर की विशेषताओं का वर्णन करते हुए कहा— "बेग़मपुरा में किसी को कोई दुःख नहीं, कोई चिंता नहीं। यहां किसी प्रकार का कर नहीं देना पड़ता, इसलिए उसकी घबराहट नहीं होती। यहां किसी प्रकार का भय नहीं है, कोई अपराध नहीं करता, न कोई तरस योग्य है, न किसी को घाटा पड़ता है। अब मुझे ऐसे देश में बसने का सुयोग प्राप्त हो गया है। हे मेरे भाई, वहां सदैव कुशल-मंगल रहता है। वहां पातशाही (शासन-व्यवस्था) सदा स्थायी और स्थिर रहती है। वहां दूसरे-तीसरे स्तर का कोई विभाजन नहीं है। सभी लोग एक समान हैं। वह नगर सदा आबाद रहता है। वहां सभी धनी और संतुष्ट लोग बसते हैं। सभी लोग अपनी इच्छानुसार जहां चाहें वहां विचरण करते हैं। वहां महलों में जाने से कोई

पहरेदार रोकता-टोकता नहीं। "जीवनमुक्त रविदास चमार कहता है कि इस नगर में जो रहता है, वह हमारा मित्र है।"

संत रविदास का मूल पद इस प्रकार है–
बेग़मपुरा सहर को नाउ।।
दुख अंदोह नहीं तिह ठाउ।।
न तसवीस खिराजु न माल।।
खउफ न खता न तरस ज्वालु।।
अब मोहि खूब वतन गह पाई।।
उहां खैरि सदा मेरे भाई।।
काइमु दाइमु सदा पातिसाही।।
दोम न सेम, एक सो आही।।
आबादानु सदा मसहूर।।
उहां गनी बसहि मामूर।।
तिउ तिउ सैल करहि जिउ भावै।।
महरम महल न को अटकावै।।
कहि रविदास खलास चमारा।।
जो हम सहरी, सो मीत हमारा।।

यह पंद्रहवीं शती के एक संत की सुख-राज्य (युटोपिया) की दृष्टि थी। इस पद के कुछ बिंदुओं की ओर हमारा ध्यान जाता है। कार्लमार्क्स ने भी एक ऐसे सुख-राज्य की कल्पना उन्नीसवीं शती में की थी। वह मानता था कि जब सारे संसार पर सर्वहारा का शासन स्थापित हो जाएगा तो संसार के सभी विवाद और झगड़े समाप्त हो जाएंगे। उस संसार में फिर शासक-शासित, पूंजीपति-मज़दूर, अमीर-गरीब, सेना-पुलिस आदि की आवश्यकता नहीं रहेगी। राज्य की आवश्यकता भी नहीं होगी। वह पेड़ पर लगे सूखे पत्तों की तरह झर जाएगा।

मार्क्स के इस स्वप्न को पूरा करने का प्रयास संसार के कितने ही भागों में हुआ, किन्तु वह किस हद तक सफल रहा, यह हम सभी जानते हैं। किन्तु इतना निश्चित है कि आज सारा संसार उस दिशा में आगे बढ़ रहा है, जिसकी कल्पना संत रविदास ने छह सौ वर्ष पहले की थी।

संत रविदास की कल्पना के सुख-राज्य के कुछ विशिष्ट बिंदु हैं। सबसे पहले तो उन्होंने अपने नगर का नाम बेग़मपुरा रखा। रविदास के समय का समाज विशेषरूप से दलित समाज बेहिसाब ग़मों-दुःखों में जीता हुआ समाज था। उसे एक ऐसे नगर की आवश्यकता थी जो 'बेग़म' हो, दुखों से दूर हो, चिंताओं से मुक्त हो। संत रविदास के समय के शासक सिकंदर लोधी ने गैर-मुसलमानों पर ज़जिया कर लगाकर अनंत बोझ

लाद दिया था। यह नगर कर मुक्त नगर था। इसलिए न दुश्चिंताएं थीं, न भय था, न किसी प्रकार की घबराहट थी। वह नगर अपराध से मुक्त नगर था। वहां रहने वाला कोई भी दयनीय जीवन नहीं जीता था। सभी ओर सुख-शांति थी।

सिकंदर लोधी के समय के हिन्दुस्तान पर पातशाही पूरी तरह अस्थिर और अनिश्चित थी। इस अनिश्चितता और अराजकता का परिणाम सर्व साधारण जनता को भुगतना पड़ता था। संत रविदास ने शासन-तंत्र के स्थायित्व की भी बात सोची। आज हम सभी यह कामना करते हैं कि देश में स्थायी सरकार आनी चाहिए। उसके बिना न कानून-व्यवस्था रहती है, न ही आर्थिक प्रगति होती है।

उस समय का (कुछ हद तक आज की भी) समाज असमानता की विभीषिका से बुरी तरह त्रस्त था। रविदास से अधिक इस यातना को किसने झेला होगा। उनके सुख राज्य में इस विभीषिका से पूरी मुक्ति थी। उस राज्य में सभी बराबर थे, कोई दूसरे-तीसरे दर्जे का नागरिक नहीं था। सभी को समान अधिकार प्राप्त थे। सभी अपनी इच्छानुसार जहां चाहें वहां विचरण कर सकते थे। सभी को सांसारिक समृद्धि का सुख उपलब्ध था, इसलिए सभी संतुष्ट थे।

सामाजिक समता, सभी लोगों को समान अधिकार और सम्मान, सभी को समान सुविधाएं, सभी को सभी प्रकार के शोषण से मुक्ति—ये बातें आज के युग की बातें लगती हैं। संसार में समता, बंधुता और स्वतन्त्रता की बात फ्रांस की राज्यक्रान्ति के बाद प्रारम्भ हुई। भारत ने बीसवीं सदी के मध्य में जो संविधान बनाया उनमें इन मानवीय मूल्यों को समाहित किया गया। रविदास ने ऐसे समाज की कल्पना उस समय की, जब ऐसा सोचना दूभर नहीं, असंभव जैसा था।

(दैनिक जागरण, 13-12-2001)

त्याग और बलिदान की महत्ता

गुरु तेग़बहादुर के बलिदान से लगभग दो शताब्दी पूर्व गुरु नानक ने आह्वान किया था–

> जे तऊ प्रेम खेलन का चाउ,
> सिरे धर तली गली मेरी आउ।
> इत मारगि पैर धरीजै,
> सिर दीजै काणि न कीजै।।

प्रेम और बलिदान का यह अन्योन्याश्रित सम्बन्ध क्या है? प्रेम जीवन को सार्थक बनाता है और प्रेम पंथ की पुकार को बलिदान के उच्च शिखर से गुंजारित किया जाता है। गुरु नानक ने दो टूक शब्दों में कह दिया–'यह रास्ता जितना आसान दिखाई देता है, उतना है नहीं। इस गली में आना है तो सिर को हथेली पर रखकर आना होगा, सिर देना होगा पर उफ भी नहीं करनी होगी।'

आज से तीन शती पूर्व गुरु तेग़बहादुर ने अपना बलिदान दिया–आत्माहुति। उनके सम्मुख एक स्थिति थी, ऐसी स्थिति जिसमें एक ओर संसार का एक अत्यन्त शक्तिशाली साम्राज्य था, उसका एक दृढ़ निश्चयी धर्मान्ध, क्रूर, चालाक और लक्ष्य प्रेरित शासक था, उसकी असीम शक्ति थी और दूसरी और निरीह, पददलित, अपमानित, उपेक्षित, विशृंखलित और अनेक कुरीतियों, अन्धविश्वासों में जकड़ी हुई भारतीय जनता थी। दोनों के बीच खड़े थे गुरु तेग़बहादुर और उनकी पीठ पर थी दो शती की एक परम्परा, जिसका सूत्रपात किया था गुरु नानक ने। हमारे देश की अनेक गौरवपूर्ण परम्पराएं हैं। त्याग, सेवा, परदुखकातरता, तप, संयम, वीरता आदि की अनेक घटनाएं हमें भारतीय इतिहास के पृष्ठों पर बिखरी हुई मिल जाएंगी, परन्तु क्या इस देश में बलिदान की भी कोई परम्परा रही है? एक महत् उद्देश्य को सम्मुख रखकर किसी एक आदर्श के लिए,

जो व्यक्ति को ठीक लगे, उसके लिए वह हंसते-हंसते मृत्यु का वरण कर ले, क्या ऐसे उदाहरण अनेक इतिहास में हैं? महाभारत में एक कथा है कि किस प्रकार एक निर्धन ब्राह्मण परिवार ने एक भूखे अतिथि की प्राण रक्षा के लिए अपना सम्पूर्ण भोजन उसे दे दिया और स्वयं काल का ग्रास बना। दानवीर कर्ण ने अपने जीवन की सुरक्षा की चिंता न करते हुए अपने कवच और कुंडल दान कर दिए। ऐसे अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं, परन्तु ये उदाहरण त्याग के हैं या बलिदान के? मुझे लगता है कि त्याग और बलिदान में एक मौलिक अन्तर हैं। त्याग व्यक्ति-निष्ठ होता है और बलिदान समाज-निष्ठ। त्याग, स्वधर्म, स्वकर्तव्य, स्वसुख के लिए किया जाता है, बलिदान जनहित के किसी ऐसे उद्देश्य या लक्ष्य को सम्मुख रखकर दिया जाता है जिसमें व्यक्ति की अपेक्षा समाज की भूमिका महत्तर हो उठती है। इस दृष्टि से भारतीय परम्पराओं का विश्लेषण करने पर दिखाई देता है कि हमारे देश में त्याग की परम्परा है, परन्तु बलिदान की अधिक नहीं। यहां व्यक्ति अपने मोक्ष, अपने कर्तव्य अपने (वैयक्तिक) धर्म की सिद्धि के लिए बड़े त्याग तो करता रहा है, परन्तु किसी सामूहिक, सामाजिक, आदर्श की रक्षा के लिए अपने जीवन की बाजी लगा बैठा हो राजा दधीचि को छोड़कर, अन्य कोई उदाहरण ढूंढ़ सकना सरल नहीं है। इस देश में बलिदानी परम्परा को पूरा बल पंचम गुरु, अर्जुन देव के बलिदान (1606) से प्राप्त होता है। अपनी आत्मकथा ''तुजके जहांगीरी'' में जहांगीर ने जब यह लिखा कि गुरु अर्जुन द्वारा किए जा रहे कार्य को बन्द करने तथा उन्हें इस्लाम में लाने के लिए मैंने मुर्तजा खान से कहा कि वह उन्हें यातना दे और अंत में मार डाले—तो उसने इस बलिदान की पुष्टि कर दी। बलिदान एक वृहत्तर विद्रोह की भूमिका काम करता है। विद्रोह का बीज ''अस्वीकार'' में से अंकुरित होता है। एक स्थिति ऐसी आ जाती है, जब व्यक्ति कह उठता है—अब और नहीं, बहुत सह लिया, बस और नहीं सहूंगा। अन्याय का यह अस्वीकार हमें दो विभिन्न दिशाओं की ओर प्रेरित कर सकता है।

एक दिशा है कि हम अन्याय की ओर से पूरी तरह विरक्त हो जाएं, यह मान लें कि जो कुछ हमारे चारों ओर घटित हो रहा है, हम उसके सहभागी नहीं हैं। न्याय, अन्याय करने वाली शक्ति इस दृश्य संसार की शक्ति से परे एक 'सत्य' है वही अंतिम सत्य है और हमारा, सीधा सरोकार उससे है। यह स्थिति विवशता और विकल्पहीनता की मानसिकता के उत्पन्न अभिव्यक्तियों से भरा पड़ा है, परन्तु 'अस्वीकार' की दूसरी स्थिति उससे सीधे-सीधे जूझने में है। यहां जीवन का मोह निरर्थक हो जाता है और मृत्यु का वरण जूझने की पहली शर्त बन जाती है। भक्तिकाल में संत कबीर और गुरु नानक की अनेक उक्तियां लक्ष्य प्राप्ति के लिए सिर को हथेली पर रखने, पहले मृत्यु को कबूल करने और अपना घर जलाकर साथ चलने की दिशा की ओर संकेत करती है—

1. कबीरा खड़ा बाज़ार में लिए लुकाटी हाथ
   जो जाले घर आपना सो चले हमारे साथ
2. पहिला मरण कबूल कर जीवन की छड़ि आस

गुरु तेग़बहादुर के सम्मुख भी एक ऐसी ही अस्वीकार की स्थिति आ गई थी। यह वह स्थिति थी जहां व्यक्ति इस निष्कर्ष पर पहुंचता है—बहुत हो गया...और नहीं। गुरु तेग़बहादुर ने आए हुए कश्मीरी ब्राह्मणों से कहा कि जाओ, औरंगजेब से कह दो कि यदि गुरु तेग़बहादुर इस्लाम स्वीकार कर लेंगे तो हम अपना धर्म परिवर्तन कर लेंगे। यह ''अस्वीकार'' की खुली घोषणा थी। इतिहासकार डा. जदुनाथ सरकार ने लिखा है कि उन्होंने (गुरु तेग़बहादुर) कश्मीर के हिन्दुओं को इस्लाम में जबरदस्ती परिवर्तित करने का खुला विरोध किया था। दिल्ली में बुलाए जाने पर उन्हें इस्लाम धर्म ग्रहण करने के लिए विवश किया गया और अस्वीकार करने पर पांच दिन तक यातना देने के बाद उनका शिरच्छेद कर दिया गया। इस संदर्भ में सर्वाधिक उल्लेखनीय स्थिति यह है कि कश्मीरी ब्राह्मणों की बात सुनकर गुरु तेग़बहादुर ने कहा था कि इस अत्याचार का सामना करने के लिए किसी महापुरुष को अपना बलिदान देना होगा। फिर उन्होंने इस महत् कार्य के लिए अपने आपको चुना। डॉ. इंदुभूषण बनर्जी ने इसे स्वयं इच्छित बलिदान कहा है—उनके शब्दों में ''इस प्रकार गुरु का बलिदान स्वाहूत था, धर्म के लिए स्वेच्छा से दिया हुआ बलिदान। बादशाह (औरंगजेब) की शक्ति और उसकी तुलना में अपने असामर्थ्य को जानते हुए भी उन्होंने पीड़ित हिंदुओं के कार्य को अपने हाथ में लिया। बादशाह की आंखों में इस प्रकार उनका अपराध बहुत गंभीर था और यह आश्चर्यजनक नहीं कि उन्होंने प्राणदंड के रूप में अपनी मृत्यु को स्वीकार किया।''

एक इतिहासकार ने गुरु तेग़बहादुर के बलिदान की तुलना पौराणिक अमरपक्षी (फीनिक्स) से की है। कहते हैं कि यह पक्षी आयु-पर्यन्त आकाश में उड़ता रहता है और गीत गाता रहता है। जब उसका अंतिम समय निकट आता है तो वह लकड़ियों और तिनकों की स्वनिर्मित चिता पर बैठकर जल जाता है। फिर अपनी भस्म में से वह नया शरीर धारण करता है और अपनी यात्रा को फिर से आरम्भ करता है। गुरु तेग़बहादुर की शहादत भी ऐसी ही थी। अपनी सम्पूर्ण आयु में वे संसार और सांसारिकता से विरक्त रहकर हरि को अपने ही हृदय में खोजने के गीत गाते रहे। लोगों को यह उपदेश देते रहे कि मन में अभिमान रखकर तीर्थ यात्रा करना, व्रत करना, दान करना उसी तरह निष्फल हो जाता है जैसे हाथी का स्नान—

तीरथ बरत दान करि मन महि धरै गुमान।
नानक निहफल जात तिहि जिउ कुंचर इसनानु।।

परन्तु एक स्थिति ऐसी आयी जब उन्होंने अन्याय और अत्याचार की अग्नि में स्वयं को न्योछावर करने का निर्णय लिया, क्योंकि वे जानते थे कि उनकी भस्म में से

उन्हीं का नव रूप, विद्रोह और सतत् संघर्ष का नया पक्षी उभरेगा। उनका बलिदान असंख्य पददलित और पीड़ित व्यक्तियों के आत्म-जागरण का प्रेरक बना जिसने शीघ्र ही व्यापक विद्रोह, एक दीर्घकालीन संघर्ष का स्वरूप ग्रहण कर लिया। गुरु तेग़बहादुर का यह सूत्र-वाक्य सभी ओर गूंजने लगा कि किसी को भयभीत मत करो, परन्तु किसी का भय भी मत मानो। अपनी सुदीर्घ परम्परा में किसी को भयभीत न करने की बात हमने अनेक बार कही थी, परन्तु गुरु तेग़बहादुर ने उसके साथ एक 'अस्वीकार' भी जोड़ा–किसी का भय स्वीकार मत करो। जब व्यक्ति में ज्ञान जन्म लेता है तो आत्मा जाग उठती है। वह अन्याय को जिसे वह स्वीकार करता आता है। सहने से इनकार कर देता हैं वह अपने आप इस नये अनुभूति सत्य के साथ, गहरा तादात्म्य स्थापित कर लेता है और उसके लिए हंसते-हंसते जीवन अर्पण करने को तत्पर हो जाता है। वह मानने लगता है कि घुटनों के बल जीवित रहने की अपेक्षा पैरों पर खड़े-खड़े मरना बेहतर है। गुरु तेग़बहादुर का बलिदान कुछ मूल्यों की रक्षा एवं प्रस्थापना के लिए किया गया बलिदान था। मूल्य सामान्यतः तथ्यों से अधिकारों की ओर संक्रमण का प्रतिनिधित्व करते हैं। कठोर तथ्यों से स्वाधिकारों की ओर अग्रसित होना विद्रोह का सूचक है। सत्ता कहती है–ऐसा होना चाहिए, विद्रोह करता है–मैं इसे इस तरह करना चाहता हूं। ऐसी स्थिति में संघर्ष स्वाभाविक रूप से उभरता है। गुरु तेग बहादुर ने अपना बलिदान देकर इस संघर्ष को मात्र स्वर ही नहीं दिया, बल्कि उसे एक ऐसा सातत्य प्रदान किया जो भावी पीढ़ियों के लिए सदैव प्रकाशित दीप-स्तंभ बन गया। गुरु गोबिन्द सिंह ने अपनी आत्म-कथा में पिता के इस अनोखे बलिदान का उल्लेख किया है–"उन्होंने तिलक और जनेऊ जैसे मूल्य प्रतीकों के लिए अपना बलिदान दे दिया दिल्लीश्वर के सम्मुख उन्होंने अपने जीवन को, बृहत्तर मूल्यों की रक्षा के लिए, एक ठीकरे की तरह फोड़ दिया...जैसा काम तेग़बहादुर ने किया, वैसा तो और किसी ने नहीं किया था। उनके परलोक गमन से सारा संसार चीत्कार कर उठा, और स्वर्ग के देवता उनकी जय-जयकार करने लगे"–

तिलक जूंज राखा प्रभु ताका।
कीनो बड़ो कलू महि साका।
ठीकरि फोरि दिलीस सिरि, प्रभुपुर कीयो पयान।
तेग बहादुर सी क्रिया करी न किन हूं आनि।
तेग़बहादुर के चलत भयो जगत को सोक।
है है है सभ जग भाये जै जै जसे सुर लोक।।

(दशम ग्रंथ, पृ 54)

जिस उद्देश्य से गुरु तेग़बहादुर ने इस प्रकार के बलिदान को आमंत्रित किया था वह उद्देश्य भी सफल हुआ। जनसाधारण में इस बलिदान की तीव्र प्रतिक्रिया हुई। डॉ. गोकुलचन्द नारंग के शब्दों में–"समस्त उत्तरी भारत में उन्हें (गुरु तेग बहादुर को)

सभी जानते थे। राजस्थान के राजपूत राजा उनकी पूजा करते थे। इसलिए सम्पूर्ण हिन्दू जाति ने उनकी हत्या को अपने धर्म के नाम पर एक बलिदान समझा। समस्त पंजाब में क्रोध और प्रतिकार की आग भड़क उठी। माझा तथा मालवा के बलवान जाटों को केवल एक नेता की आवश्यकता थी, जिसकी पताका के नीचे लड़कर वे उस अपमान का बदला ले सकते जो उनके धर्म का किया गया था। गुरु गोबिंद सिंह में उन्हें इस प्रकार का नेता दिखाई दिया।'' गुरु तेग़बहादुर की आत्माहुति से संप्रेरित जिस परम्परा ने जन्म लिया उसने भारतीय इतिहास में अनेक नये अध्याय को जोड़ा। उसने संतों, वीरों और बलिदानियों की ऐसी सुगुंफित परम्परा का विकास किया कि वे तीनों ही गुण अलग-अलग चरित्रों के सूचक न रहकर एक ही चरित्र के अवलम्ब बने।

(दैनिक जागरण, 20-12-2001)

गुरु गोबिंद सिंह ने युद्ध का दर्शन विकसित किया था

शान्ति की कितनी भी कामना क्यों न की जाए, युद्ध मनुष्य की नियति है। इसके बिना वह कभी जिया नहीं, न ही इसके बिना वह कभी जी सकेगा। पश्चिमी देशों में युद्ध के मनोविज्ञान पर बहुत काम किया गया है। हमारे देश में इस दृष्टि से विशेष चिंतन नहीं हुआ। जो थोड़ा-बहुत हुआ भी, वह गंभीर विचार या दर्शन के स्तर पर कभी नहीं उभरा। इस देश में भी बड़े-बड़े युद्ध हुए। महाभारत का युद्ध तो मानव इतिहास की अद्वितीय घटना है। शायद उस युद्ध में हुए विनाश का व्याघात इतना प्रबल था कि इस देश की पूरी मानसिकता युद्ध-कर्म से केवल विरत ही नहीं हुई, उससे विरक्ति भी अनुभव करने लगी। हमारा सम्पूर्ण चिंतन आत्मा, परमात्मा, मोक्ष, माया और सृष्टि की उत्पत्ति की गुत्थियों को सुलझाने की ओर मुड़ गया। यह चिंतन बढ़ते-बढ़ते इस स्थिति तक पहुंचा जहां सारा संसार और उसके सभी कार्य-कलाप मिथ्या दिखने लगे, केवल ब्रह्म ही एकमात्र सत्य रह गया।

इस देश में सुगठित होकर युद्ध-दर्शन का विकास न हो पाने का एक प्रमुख कारण यह है कि यहां जीवन-मृत्यु की सभी समस्याओं का अन्तर्भेदन व्यक्तिमुखी हुआ, समाजमुखी नहीं। आध्यात्मिक और भौतिक क्षेत्रों के विविध आयामों पर चिंतन-मनन करते हुए इस देश में अनेक शास्त्रों की रचना हुई, किन्तु युद्ध-दर्शन पर कोई उल्लेखनीय शास्त्र नहीं रचा गया। मनुष्य का इतिहास युद्धों से भरा हुआ इतिहास है। धार्मिक परिवेश में इस कर्म की भरपूर निंदा हुई है और मनुष्य को इस कर्म से विरत करने के बहुत-से प्रयास हुए हैं, किन्तु धर्म-क्षेत्र में इस कर्म को मान्यता भी भरपूर प्राप्त हुई और युद्ध-कार्य को

कभी धर्म-युद्ध, कभी ज़िहाद और कभी क्रूसेड के नाम से धार्मिक-नैतिक स्वीकृति निरन्तर मिलती रही है। युद्ध का अपना एक कौशल है, इससे आगे बढ़कर उसका एक पूरा दर्शन है। प्राचीन काल से यहां चार पुरुषार्थों की चर्चा होती रही, जिन्हें पुरुषार्थ-चतुष्ट कहा जाता है। ये हैं धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। यदि ध्यान से देखा जाए तो ये चारों पुरुषार्थ व्यक्ति के निजी जीवन से अधिक सम्बन्ध रखते हैं। इनका पूरे समाज, पूरे देश, पूरे राष्ट्र के साथ संबंध होना आवश्यक नहीं है। किन्तु युद्ध एकाकी संक्रिया न होकर सामूहिक कर्म है। युद्ध-कर्म पूरे समाज के साथ जुड़कर ही पूर्ण होता है। इस देश में धर्म पर बहुत कुछ सोचा और लिखा गया। मोक्ष की कामना से हमारे शास्त्र भरे पड़े हैं। अर्थ और कुटिल राजनीति पर चाणक्य जैसे मनीषी ने बहुत कुछ लिखा। काम की तो यहां पूजा होती रही। हमारे अनेक मंदिरों में निर्मित मिथुन-मूर्तियां इस बात का प्रमाण हैं। ऋषि वात्स्यायन का 'कामसूत्र' संसार की बेजोड़ रचना है परन्तु मुझे ऐसा कोई ग्रन्थ याद नहीं आता, जो युद्ध-कला और युद्ध दर्शन की व्यापकता को समाहित करता हो। इस देश की समाज-व्यवस्था में युद्ध-कर्म, जब वह अनिवार्य हो जाए, समाज के केवल एक वर्ग, क्षत्रियों, तक ही सीमित था। पूरे समाज में यह वर्ग कभी दस प्रतिशत से अधिक नहीं था। इस वर्ग में परम्परा के रूप में शस्त्र-पूजा अवश्य होती थी, किन्तु उसके लिए भी यह मात्र एक रूढ़ि बनकर रह गई थी। संसार के विभिन्न भागों में किस प्रकार के नए अस्त्र-शस्त्र बन रहे हैं और किस प्रकार उन्हें प्रयोग में लाया जा रहा है, इस विषय में इस देश में कभी गहरी रुचि व्यक्त नहीं की गई।

युद्ध एक पूरा दर्शन है, जीवन-दृष्टि है, इस बात को संभवतः सबसे पहले गुरु गोबिन्द सिंह ने, तीन सौ वर्ष पहले, आत्मसात किया था। उन्होंने अनुभव किया था कि कृपाण हाथ में लेकर युद्धभूमि में जाकर शत्रु से भिड़ जाना ही पर्याप्त नहीं है। यह काम तो इस देश की क्षत्रिय जातियां सदियों से करती आ रही थीं। आवश्यकता यह थी कि युद्ध-कर्म को किस प्रकार लोगों की मानसिकता का हिस्सा बना दिया जाए, उनके लिए यह एक पूरा जीवन-दर्शन बन जाए। सबसे बड़ी बात यह कि इस कर्म में केवल दस प्रतिशत लोगों की नहीं, शत-प्रतिशत लोगों की भागीदारी कैसे प्राप्त की जाए।

गुरु गोबिंद सिंह के युद्ध-दर्शन का पहला सूत्र था लोगों के अंदर सदियों से जड़ जमाए बैठी हीन भावना को दूर करना। उन्होंने निश्चय किया कि वे छोटी समझी जाने वाली जातियों को बड़प्पन देंगे। जिनकी जाति और कुल में कभी सम्मान नहीं आया, सरदारी नहीं आई, ऐसे कीड़े समझे जाने वाले लोगों को मैं शेर बनाऊंगा। इनके सामने तुर्कों के झुंड हाथियों की तरह भागेंगे। इन्हें मैं सरदार बनाऊगां। तभी मेरा गोविंद सिंह नाम सार्थक होगा। पथ प्रकाशन के रचियता के शब्दों में—

जिन की जाति और कुल माही।
सरदारी नहि भई कदाहीं।
कीटन तै इनको मृगिंदू।

करो हरन हित तुरक गजिंदू
इन ही को सरदार बनावों।
तबै गोबिंद सिंह नाम सदावों।।

यह विचार करके बैसाखी वाले दिन गुरु गोबिंद सिंह ने खालसा पंथ का निर्माण किया—

इहु विचार कर सतगुरु पंथ खालसा कीन।
भीरू जाति के तईं अती बड़प्पन दीन।।

गुरु गोबिंद सिंह ने छोटे और हीन समझे जाने वाले लोगों के मन में जिस आत्मविश्वास का संचार किया था, उनमें अपने अधिकारों के प्रति जो जागरूकता उत्पन्न की थी। इस कार्य के लिए उन्होंने सन् 1699 की बैसाखी के दिन देश-भर में फैले हुए लोगों का एक विशाल सम्मेलन बुलाया और उसमें एक कड़ी परीक्षा द्वारा पांच व्यक्तियों का चयन किया। इन पांच व्यक्तियों में एक खत्री, एक जाट, एक धोबी, एक कहार और एक नाई जाति का था। यह भी एक संयोग था और यह भी कि इनमें एक पंजाबी, एक पश्चिमी उत्तर प्रदेश का, एक गुजराती, एक उड़िया और एक कर्नाटक का था।

गुरु गोबिंद सिंह ने इन्हें पंज प्यारे कहा। इनके नामों के साथ सिंह शब्द जोड़ दिया। इन्हें नया गणवेश दिया। इनकी सहायता से लोहे के कढ़ाव में, लोहे के खंडे के स्पर्श से, गुरुवाणी का पाठ करते हुए गुरु-पत्नी द्वारा इस जल में मिलाए गए मीठे बताशे से एक अमृत तैयार हुआ।

उस दिन लगभग बीस हज़ार व्यक्तियों ने इस अमृत का पान किया। इनमें से ऊंच-नीच और बड़े-छोटे की भावना समाप्त हो जाए इसलिए गुरु गोबिंद सिंह ने स्वयं इनके हाथ से लेकर अमृतपान किया। हीनता की ग्रंथि को नष्ट करने का यह अद्भुत उपाय था कि स्वयं गुरु अपने शिष्यों के सम्मुख अंजुलि फैलाकर घुटनों के बल बैठ गया।

मुग़लों के शासनकाल में आम हिंदुओं को पगड़ी बांधने, शस्त्र धारण करने और घोड़े पर चढ़ने की अनुमति नहीं थी। गुरु गोबिंद सिंह ने इस शाही हुक्म को चुनौती देते हुए उन्हें केश रखने, पगड़ी बांधने, शस्त्र धारण करने और घोड़े पर चढ़ने की आज्ञा दी।

गुरु गोबिंद सिंह ने इस प्रकार युद्ध-कर्म को केवल क्षत्रिय वर्ग तक ही सीमित नहीं रखा। इस कार्य में उन्होंने उन वर्गों को भी शामिल कर लिया, जिन्होंने कभी इस बात की कल्पना भी नहीं की थी कि समाज उन्हें योद्धा और वीर सैनिक के रूप में भी देखेगा।

युद्ध एक सामूहिक क्रिया है। वह एकाकी कार्य नहीं है। हमारे देश में जो लोग युद्धकर्म को अपना जातीय गुण मानते थे, वे भी व्यक्तिगत वीरता को बहुत महत्व देते

थे किन्तु इस कार्य में वीरों की नहीं, वीर सैनिकों की आवश्यकता होती है। रणभूमि में व्यक्ति नहीं, सेनाएं युद्ध करती हैं और अंत में कोई व्यक्ति, वह कितना ही बड़ा पराक्रमी योद्धा क्यों न हो, विजयी नहीं होता, उसकी सेना विजय प्राप्त करती है। गुरु गोबिंद सिंह ने इस सत्य की पहचान की और अपना ध्यान इस बात पर केंद्रित किया कि किस प्रकार समाज के सभी वर्गों की भागीदारी प्राप्त करके पराक्रमी सेना का निर्माण किया जाए।

समाज में चाहे जितनी ऊंच-नीच और छुआछूत की भावना हो, एक योद्धा निजी तौर पर चाहे जितना इस भावना से ग्रसित हो, किन्तु सैन्य संचालन में ये बंधन पूरी तरह त्याज्य होते हैं। सेना में सभी सैनिक सामूहिक रूप में जीते हैं, सामूहिक रूप से खाते-पीते हैं। सामूहिक रूप से प्रशिक्षण लेते हैं और सामूहिक रूप से युद्ध करते हैं।

गुरु नानक के समय से ही सिखों में लंगर की प्रथा द्वारा खान-पान में से सभी प्रकार का भेदभाव नष्ट किया जा चुका था। गुरु गोबिंद सिंह ने पाहुल की प्रथा में सभी सिखों को एक ही पात्र से अमृत पिलाया और स्वयं भी पिया।

गुरु गोबिंद सिंह जानते थे कि एक अच्छा सैनिक युद्ध में तभी पूरी तन्मयता और उत्साह से भाग लेता है जब उसे यह विश्वास होता है कि वह किसी महान उद्देश्य की पूर्ति के लिए युद्ध कर रहा है और इस कार्य में ईश्वर उसका सहायक है। इस्लामी दुनिया के 'जिहाद' और ईसाई संसार के 'क्रूसेड' में युद्ध को धर्मभावना के साथ जोड़ा जाता है।

गुरु गोबिंद सिंह ने भी अपने अनुयायियों में यह विश्वास भरा कि वे जो कार्य कर रहे हैं, वह ईश्वरीय कार्य है। 'वाहिगुरू जी का खालसा-वाहिगुरु जी की फतेह' जैसे उद्घोष की पृष्ठभूमि में यही भावना है–खालसा वाहिगुरु की रचना है और वाहिगुरु की सदैव विजय होती हैं उन्होंने अपनी आत्मकथा 'विचित्र नाटक' में अपने जीवन का मन्तव्य स्पष्ट करते हुए कहा था–

धर्म चलावन संत उबारन
दुस्ट सभन को मूल उपारन
चाही काज धरा हम जनमं
समझु लेहु साधू सब मनमं

धर्म की स्थापना, संत पुरुषों का उद्धार और दुष्टों का समूल नाश करने के लिए मैंने जन्म लिया है। इसलिए गुरु गोबिंद सिंह के लिए युद्ध केवल एक सामान्य कर्म नहीं था, वह धर्मयुद्ध था। धर्मयुद्ध की आकांक्षा से प्रेरित होकर ही उन्होंने यह आयोजन किया था। अपनी रचना 'कृष्णावतार' में उन्होंने इस भाव को पूरे आग्रह से स्पष्ट किया था–मैंने भागवत के दशम स्कन्ध को जन-भाषा में अन्य किसी भाव से प्रेरित होकर नहीं लिखा है। हे प्रभु, मेरे मन में तो केवल धर्मयुद्ध का चाव है–

दसम कथा भागौत की भाषा करी बनाइ,
अवर वासना नाहिं प्रभु धरम जुद्ध को चाइ,

अपने एक सवैये में उन्होंने लिखा था—'जिस परम शक्ति ने सुंभ-निसुंभ जैसे करोड़ों निशाचरों का क्षण-भर में संहार कर दिया; धूम्रलोचन, चण्ड, मुंड और महिषासुर को पल-भर में नष्ट कर दिया; चामर और रक्तबीज जैसे राक्षसों को झटककर दूर फेंक दिया; ऐसे स्वामी का सहारा पाकर भला मुझे किसकी परवाह है—

सुम्भ निसुम्भ से कोट निसाचर जाहि छिनेक बिखे हनि डारे।
धूमर लोचन चंड औ मुंड से माहष से पल बीच निवारे।।
चामर से रन चिच्छुर से रकतिछन से झट दै झझकारे।
ऐसो सु साहिबु पाइ कहा परवाह रही इस दास तिहारे।

अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए गुरु गोबिंद सिंह ने वीर-काव्य का सृजन किया और देश के अनेक भागों से आए अपने दरबार के कवियों से करवाया। उन्होंने प्राचीन ग्रंथों को जनभाषा में रूपान्तरित किया और करवाया। चंडी, राम, कृष्ण तथा अन्य अवतार-कथाओं की रचना के पीछे उनका एक ही उद्देश्य था कि सदियों से दासता, निर्धनता और उत्पीड़न झेलती हुई जनता में उत्साह और वीरता की ऐसी ज्योति जगाई जाए जिससे वे अन्याय, अत्याचार और नित्य नये आक्रमणों का न केवल सामना कर सकें बल्कि उन्हें रणभूमि में परास्त कर सकें।

इस दृष्टि से दुर्गा की कथा ने उन्हें सबसे अधिक आकर्षित और प्रभावित किया। मार्कण्डेय पुराण में वर्णित चंडी की कथा को उन्होंने तीन बार जनभाषा में लिखा—दो बार ब्रज में और एक बार पंजाबी में। अवतार-कथाओं में उन भागों पर विशेष ध्यान दिया जिनमें युद्ध का विशेष वर्णन है। उदाहरण के लिए 'रामावतार' रचना में कुल 864 छंद हैं। इनमें से 400 से अधिक से केवल युद्ध-चित्रण हैं।

लोगों में वीर-भाव का निर्माण करने के लिए आम जनता में उन दिनों प्रचलित नाम—खैराती, फकीरा, घसीटा, निचक्कू, रुलदू, मंगतू आदि बदलकर उन्हें अजीत सिंह, जुझार सिंह, रणजीत सिंह, रणवीर सिंह, शेर सिंह, जोरावर सिंह, फतेह सिंह जैसे नाम दे दिये। उन्होंने केवल आम लोगों के ही नाम नहीं बदले, वरन् परमात्मा के भी वैष्णव परम्परा वाले कोमल नाम—हरि, बनवारी, गोपाल, केशव, माधव, वंशीधर, रणछोड़, रास-बिहारी के स्थान पर काल, महाकाल, सर्वकाल, सर्वलोह, चक्रपाणि, असिपाणि, खड्गकेतु, दुष्टहंता, अरिदमन जैसे युद्ध-प्रकृति के नामों से पुकारा। शस्त्रधारी होना तो ईश्वर का विशेष गुण है ही स्वयं अस्त्र-शस्त्र ही ईश्वर के प्रतीक हैं। शस्त्रों की स्तुति में गुरु गोबिंद सिंह ने 'शस्त्रनाम माला' जैसे ग्रन्थ की रचना की। 'विचित्र नाटक' ग्रन्थ का प्रारम्भ ही वे खड्ग की स्तुति से करते हैं—

नमस्कार स्री खड्ग कउ करौ सुहित चित लाइ।
पूरन करौ गिरंथ इह तुम मोहि करहु सहाइ।

यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस देश में साधारणतः सभी विचारों एवं रसों के कवि अपने ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती की स्तुति करते आए हैं और वीणापाणि से ही इस प्रकार का वरदान मांगते रहे हैं। किन्तु गुरु गोबिंद सिंह ने इस कार्य के लिए खड्ग, खड्गपाणि अथवा भगवती का ही स्मरण किया है। एक अन्य छंद में कवि ने कालरूप तेग़ की स्तुति करते हुए कहा–

खग खंड विहंडं खल दल खडं अति रण मंडं बरबंडं।
भुजदंड अखंडं तेज प्रचंडं जोति अमंडं भानु प्रभं।।
सुख संता करणं दुरमति दरणं किलबिख हरणं असि सरनं।।
जै जै जग कारण सृष्टि उबारण मम पति पारण जय तेगं।।

उनकी दृष्टि में शस्त्र भी शस्त्रधारी काल की भांति एकरूप एवं निर्विकार है–

नमो खड्ग खंडं कृपाणं कटारं।
सदा एक रूपं सदा निरविकारं।।

युद्ध का दर्शन मृत्युभय से मुक्त हुए बिना सार्थक नहीं हो सकता। एक सैनिक यदि मृत्यु से डरेगा तो वह सैनिक-कर्म का ठीक से निर्वाह नहीं कर सकता। सच बात तो यह है कि भयमुक्त हुए बिना तो संसार में मात्र जीवित रहने के लिए जो संघर्ष करना पड़ता है वह भी सार्थक रूप से नहीं हो पाता। गुरु नानक ने इस सच को अपनी वाणी में उजागर करते हुए कहा था–यदि तुम जीवन-संग्राम रूपी प्रेम का खेल खेलना चाहते हो तो अपने सिर को हथेली पर रखकर मेरे पास आओ। इस मार्ग पर पैर बढ़ाने की शर्त यह है कि बिना किसी दुविधा के सिर अर्पित करना होगा–

जउ तउ प्रेम खेलण का चाउ।
सिरु धरि तली गली मेरी आउ।।
इतु मारगि पैर धरीजै।।
सिर दीजै काणि न कीजै।।

पांचवें गुरु गुरु अर्जुन देव ने भी कहा था–पहले मरना स्वीकार कर लो, जीवन की आशा छोड़ दो, सबके पैरों की धूल बन जाओ, तभी मेरे पास आओ–

पहिलां मरणि कबूल करि जीवन की छडि आस
होउ सभनि की रेणका तउ आउ हमारे पासि।

सिख गुरुओं के माध्यम से जिस बलिदानी परम्परा का निर्माण इस देश में हुआ उसमें दस में से तीन गुरु–गुरु अर्जुन, गुरु तेग़बहादुर और स्वयं गुरु गोबिंद सिंह ने अपने जीवन की आहुति दी। गुरु गोबिंद सिंह के चारों पुत्र भी एक महान उद्देश्य की प्राप्ति के लिए शहीद हो गए। गुरु गोबिंद सिंह के काव्य में ऐसी उक्तियों को कई बार दोहराया गया है जिसमें वे जीवन-संग्राम में युद्ध करते हुए मृत्यु का वरण करना चाहते हैं। 'कृष्णावतार' में वे कहते हैं–

अब रीझकै देहु वहै हम कउ जोउ हउ बिनती कर जोर करौं।
जब आउ की अउध निदान बनै अति ही रन में तब जूझ मरौं।

इसी भाव को वे 'चंडी चरित्र' में दोहराते हैं–

अरु सिख हौं अपने ही मन को इह लालच हउ गुन तउ उचरौ।
जब आव की अउध निदान बनै अति ही रन मै तब जूझ मरौं।

'कृष्णावतार' में इस भाव को इस प्रकार व्यक्त करते हैं–

सस्त्रन सिउ अति हीन भीतर जूझ मरौं कहि साच पतीजै।
संत सहाइ सदा जग माहि कृपा करि स्याम इहै बरु दीजै।।

इसी रचना में वे कहते हैं–

जूझ मरो रन मै तजि भै तुमते प्रभु स्याम इहै बरु पावै।

गुरु गोबिंद सिंह ने एक ऐसा युद्ध-दर्शन विकसित किया जिससे पीड़ित, दलित और निरीह तथा निरुपाय बना भीरु समाज अपनी कायरता त्याग कर, भयमुक्त होकर रणभूमि में जूझने की आकांक्षा लेकर समाज में फैले हुए छुआछूत, जात-पांत और ऊंच-नीच के भाव को तिलांजलि देकर, एक नये प्रकार के अनुशासन में ढलकर अपने समय की संसार की सबसे बड़ी राज-शक्ति को चुनौती देने के लिए उठ खड़ा हुआ। इसी दर्शन का प्रभाव था कि मात्र एक सदी में पूरा परिदृश्य बदल गया। हज़ारों वर्षों से उत्तर-पश्चिम की ओर से इस देश में अबाध गति से हुई आक्रान्ता शक्तियों का मार्ग अवरुद्ध ही नहीं हुआ, बल्कि उन्हें खदेड़कर देश से बाहर निकाल दिया गया।

(दैनिक जागरण, 24-1-2002)

होली जब होला बन गई

होली इस देश का बहुत लोकप्रिय त्योहार है और सम्पूर्ण भारत में बहुत उत्साह से मनाया जाता है। किन्तु तीन सौ वर्ष पहले गुरु गोबिन्द सिंह ने इस त्योहार को एकदम नया रंग-रूप और अर्थ दे दिया। तब से पंजाब में यह होला अथवा होला महला के रूप में मनाया जाता है।

त्योहार किसी भी समाज और उसके घटकों में जीवन की नवस्फूर्ति लेकर आते हैं। यदि ये न हों तो जीवन एकरसता और नीरसता से भर जाता है। इस देश के अनेक उत्सव ऋतु के आगमन और परिवर्तन से जुड़े होते हैं। इनके साथ जब कुछ धार्मिक और ऐतिहासिक घटनाएं जुड़ जाती हैं तो इन्हें अतिरिक्त अर्थ और महत्व प्राप्त हो जाता है।

होली भी मूलतः वसंत की व्याप्ति और उसके विस्तार का उत्सव है। यह रंग का, आनंद का, गीतों का और नववर्ष के स्वागत का उल्लासमयी त्योहार है।

जिस समाज में जात-पांत और ऊंच-नीच की भावना जीवन के हर छोटे-बड़े कार्य में व्यक्त होती है वहां होली का त्योहार सभी कृत्रिम बाधाओं को नकारते हुए सभी वर्गों के लोगों को अपने रंग लेने की सामर्थ्य का सूचक है। किन्तु इसे भी एक विडम्बना ही कहना चाहिए कि इस समाज का वर्ण विभाजन इतना प्रबल है कि वह त्योहारों को भी विभाजित कर देता है। इसका उदाहरण यह मान्यता है कि रक्षा बंधन ब्राह्मणों का, विजयादशमी क्षत्रियों का, दीपावली वैश्यों का और होली शूद्रों का त्योहार है।

हमारे समाज में यह मानसिकता भी सदियों के अंतराल में विकसित हो गई कि जो कार्य भी बनी हुई मर्यादाओं का किंचित उल्लंघन करता हो, व्यक्ति की दमित भावनाओं को व्यक्त होने का अवसर देता हो, स्त्री-पुरुष के बीच की वर्जनाओं को तोड़ता हो और अपनी अभिव्यक्ति में स्तरहीनता और फूहड़ता की सीमाओं को छूता हो उसे शूद्रों

के खाते में डाल देना चाहिए।

होली सारे देश में मनाई जाती है, किन्तु इसका स्वरूप लगातार फूहड़ और अश्लील होता गया। रंग-अबीर का स्थान गोबर, कीचड़ और गंदगी ने ले लिया। गालियों की जैसी बौछार इस त्योहार पर सुनाई देती है, आम दिनों में उसकी कल्पना करना भी दूभर हो जाता है। होली की मस्ती में हिंदी प्रदेशों में जो फाग गाया जाता है, वह भी दमित और अव्यक्त भावों को प्रकट करने का एक माध्यम है। इसमें यह कम आश्चर्य की बात नहीं कि इस अवसर गाए जाने सभी अश्लील गीतों के साथ कबीर का नाम जुड़ा होता है, जैसे इन सभी गीतों की रचना संत कबीर ने की हो।

होली की उन्मुक्तता, उल्हास और आनन्द की अभिव्यक्ति को हमारे कवियों ने बड़ी तन्यमता और अंतरंगता से व्यक्त किया है। हमारे रीतिकालीन साहित्य का कितना बड़ा अंश वसंत और होली के मधुर वर्णन से भरा हुआ है।

इस त्योहार की जन-जीवन में कितनी व्यापक लोकप्रियता है, इसे सभी मानते हैं। तीन सौ वर्ष पूर्व गुरु गोबिंद सिंह ने भी इस लोकप्रियता के पीछे छिपी जन-शक्ति को देखा होगा। उनके जीवन के कुछ प्रारंभिक वर्ष पटना में गुजरे थे। वहां अपनी बाल्यावस्था में उन्होंने होली का विकृत रूप भी देखा होगा।

आनंदपुर लौटने, अपने पिता गुरु तेग़बहादुर का दिल्ली के चांदनी चौक में शहीद होने और शक्तिशाली मुग़ल साम्राज्य से टक्कर लेने की तैयारियों में गुरु गोबिंद सिंह के अनेक वर्ष व्यतीत हो गए। इसी बीच उन्हें कितनी बार अपने प्रतिपक्षियों से युद्ध करना पड़ा। जब वे तैंतीस वर्ष के हो गए थे तो उन्हें लगा कि जिस समाज को साथ लेकर वे चल रहे हैं, जिस समाज के व्यक्तियों को वे इतने बड़े साम्राज्य के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए खड़ा कर रहे हैं, जिस भीरू और पददलित समाज में वे नई स्फूर्ति और नई शक्ति का निर्माण करना चाहते हैं, उसकी सम्पूर्ण मानसिकता में एक गहरा परिवर्तन करने की बहुत आवश्यकता है। बैसाखी 1699 में इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने आनन्दपुर में एक विशाल सम्मेलन किया था। इसी अवसर पर उन्होंने एक नये, परिवर्तित मानसिकता वाले मनुष्य को जन्म दिया, जिसे उन्होंने 'खालसा' नाम दिया।

उन्होंने लोगों के नाम बदल दिये, वस्त्र बदल दिए, रूप-रंग बदल दिया, उन्हें नए अभिवादन के दिए, नया जयघोष दे दिया। इसी के साथ उन्होंने जन-जीवन में सबसे अधिक लोकप्रिय त्योहार होली को भी नया अर्थ और नई व्यंजना दे दी।

सन् 1701 की होली आनन्दपुर साहब में एक नया रंग और अर्थ लेकर आई। उन्होंने आदेश दिया कि अब से यहां होली नहीं होला मनाया जाएगा। होली मनाने वाले इसे रंग, अबीर से मनाते हैं। किन्तु होला मनाने वाले इसे दिन को युद्धाभ्यास के रूप मनाएंगे। इस दिन दूर-दूर से लोग अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित होकर यहां इकट्ठा होंगे। वे अपने आपको दो दलों में बांटकर कृत्रिम युद्ध करेंगे। नए से नए शस्त्रों के उपयोग की विधि सीखेंगे और सिखाएंगे। युद्ध की नई से नई नीतियों की जानकारी प्राप्त करेंगे।

इस प्रकार तीन सौ वर्ष पहले गुरु गोबिंद सिंह ने होली को होला में बदल दिया और शूद्रों के समझे जाने वाले त्योहार को वीर सैनिकों का त्योहार बना दिया।

तीन शताब्दियों से आनंदपुर साहब में इस अवसर पर एक बहुत बड़ा मेला लगता है जिसमें कई लाख लोग सम्मिलित होते हैं। सिखों में जिन्हें निहंग कहा जाता है वे अपने परम्परागत वेष में यहां एकत्र होते हैं। विशाल मैदान में अलग-अलग दलों में बंटकर वे अपने युद्ध-कौशल का प्रदर्शन करते हैं।

फिर आनन्दपुर साहब के तख़्त केशगढ़ से एक जुलूस चलता है, जिसमें गुरु ग्रंथ साहब को एक सुसज्जित पालकी में लाया जाता हैं पांच प्यारों और बाजे-गाजों के साथ नीला चोंगा पहने तलवार, भाला, और ढाल धारण किए हुए हज़ारों निहंग सिख इस शोभा यात्रा में भाग लेते हैं।

निहंग सिख शहीदी बाग स्थित 'निहंगों' के डेरे (जिसे ये अपनी छावनी कहते हैं) अपने युद्ध के करतब दिखाते हुए इसमें सम्मिलित होते हैं। निहंगों की छावनी गुरु द्वारा आनंदगढ़ के सामने हैं। वहां से होकर आनन्दपुर नगर के बाज़ारों से निकलता हुआ 'आगमपुर' गांव में पहुंचता है। इसी स्थान पर गुरु गोबिंद सिंह ने अपने सिखों के साथ पहली बार'होला' खेला था। उसकी स्मृति में यहां गुरुद्वारा होलगढ़ बना हुआ है। धीरे-धीरे शोभा यात्रा यहां पहुंचती है। पास के सरोवर के निकट के मैदान में घुड़सवारी, अस्त्र-शस्त्र संचालन तथा तंबू गाड़ने की प्रतियोगिताएं होती हैं। यह जुलूस मार्ग में पड़ने वाले अनेक गुरुद्वारों पर कुछ देर रुकता हुआ अपने गन्तव्य तक पहुंचता है। सारे नगर की परिक्रमा करता हुआ यह जुलूस अंत में तख़्त केशगढ़ वापस आ जाता है, जहां सामूहिक भोजन (लंगर) की पूरी व्यवस्था होती है।

गुरुवाणी में बसंत राग में ऐसे अनेक पद हैं जिनमें बसंत, फागुन और होली का अध्यात्मकपरक चित्रण है। बसंत के आगमन पर अपने आनन्द और उत्साह को व्यक्त करते हुए पांचवें गुरु अर्जुन देव ने अनेक पदों की रचना की थी। उनका एक पद है–

गुरु सेवहु करि नमस्कार।।
आजु हमारे मंगलचार।।
आजु हमारे महा आनन्द।।
चिंत लथी भेटे गोबिंद।।
आज हमारे गृह बसंत।।
गुन गाए प्रभु तुम बेअंत।।
आजु हमारे बने फाग।।
प्रभु संगी मिलि खैलन लाग।।
होली कीन्ही संत सेव।।

रंगु लागा अति लाल देव।।
मनु तनु मउलिओ अति अनुप।।
सूकै नाही छाव धूप।।
सगली रुति हरिआ होइ।।
सद बसंत गुर मिले देव।।
बिरखु जमिओ है पारजात।।
फूल लागे फल रतन भांति।।
तृपति अधाने हरि गुणह गाइ।।
जन नानक हरि हरि हरि धिआइ।।

इस पद में बसंत का सम्पूर्ण सौन्दर्य उसकी पूरी गरिमा के साथ उभर आया है। किसी समर्पित भक्त के लिए दृष्टदेव से उसकी भेंट ही सबसे अधिक मंगलकारी और आनन्द देने वाली होती है। परमेश्वर की भक्ति ही उसके लिए फागुन की होली है। प्रभु के सभी प्रेमी आपस में मिलकर यह अलौकिक होली खेलते हैं। संतों की सेवा ही उनकी होली है। उन पर अपने दृष्टदेव का गहरा लाल रंग चढ़ जाता है। इस प्रकार की होली से भक्त का मन पूरी तरह खिल जाता हैं फिर उसे दुःख हो या सुख हो, वह किसी भी स्थिति से विचलित नहीं होता। अब उसे सभी ऋतुएं हरी-भरी लगती हैं जैसे उसे पूरी तरह प्रफुल्लित पारिजात की प्राप्ति हो गई हो।

इस देश के संतों ने होली की मनोहरी व्याख्या की थी। इस देश की सांस्कृतिक परम्परा में बसंत और होली महोत्सव हैं। व्यापक जन-चेतना से जुड़े होने के कारण यह इस देश का सबसे बड़ा लोकोत्सव हैं। इस लोकोत्सव में रंग और गुलाल तो हो सकते हैं, कीचड़, गोबर, तारकोल तथा गंदगी और फूहड़ता नहीं हो सकती।

गुरु गोबिंद सिंह ने इस लोकोत्सव को वीरोत्सव में बदल दिया था। प्रत्येक जागरूक समाज अपनी सभी परम्पराओं की निरंतर पड़ताल करता रहता है और उन्हें युग की आवश्यकताओं के अनुरूप नई अर्थव्यंजना भी देता है। होली के साथ होला जोड़ने की नीति भी इस जागरूकता का परिणाम थी।

(दैनिक जागरण, 28-3-2002)

स्वामी विवेकानंद का हिन्दुत्व

27 मार्च को श्री के. आर. मलकानी की अंग्रेज़ी पुस्तक 'इंडिया फर्स्ट' के लोकार्पण के अवसर पर प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने हिंदुत्व के संबंध में जो टिप्पणी की थी वह महत्वपूर्ण भी है और मानवीय भी। वाजपेयी जी ने कहा कि स्वामी विवेकानंद जब हिन्दुत्व की बात करते हैं तो उन्हें कोई साम्प्रदायिक नहीं कहता। किन्तु आजकल कुछ लोग अपने वक्तव्यों/भाषणों में हिन्दुत्व की जो व्याख्या कर रहे हैं, उससे तो मैं दूर ही रहना चाहता हूं।

स्वामी विवेकानंद का स्मरण करना, पूरा एक शती पीछे जाना है। उस समय तक का भी मानवीय इतिहास साम्प्रदायिकता संकीर्णता, धर्मान्धता से भरा हुआ इतिहास था। 11 सितम्बर 1893 में शिकागो की सर्व धर्म-सभा में अपने अभिवादन के उत्तर में स्वामी विवेकानंद ने जो शब्द कहे थे, उन्हें आज स्मरण करना मुझे बहुत समीचीन लग रहा है। उन्होंने कहा था—"साम्प्रदायिकता, संकीर्णता और इनसे उत्पन्न भयंकर धर्म-विषयक उन्मतता इस सुंदर पृथ्वी पर बहुत समय तक राज्य कर चुके हैं। इनके घोर अत्याचार से पृथ्वी पर बहुत समय तक राज्य कर चुके हैं। इनके घोर अत्याचार से पृथ्वी भर गई, इन्होंने अनेक बार मानव-रक्त से धरणी को सींचा, सभ्यता नष्ट कर डाली तथा समस्त जातियों को हताश कर डाला। यदि यह सब न होता तो मानव समाज आज की अवस्था से कहीं अधिक उन्नत हो गया होता।"

स्वामी विवेकानंद द्वारा इस बात को कहे आज एक सौ ग्यारह वर्ष व्यतीत हो गए हैं। उस समय उन्होंने आशा की थी कि जो घंटे समय उस सभा के सम्मान के लिए बजाए गए थे उनके द्वारा धर्म-निषयक भ्रान्ति, खड्ग प्रहार अथवा लेखनी का विद्वेष एवं एक ही लक्ष्य की ओर चलने वालों में कूरभाव के विनाश की मानो घोषणा हुई थी।

क्या इतनी अवधि बीत जाने के बाद भी स्वामी विवेकानंद की आशा का शतांश

भी पूरा हुआ? बीसवीं शती में हुए दो विश्व युद्धों की बात छोड़ भी दें तो धार्मिक सांप्रदायिक, नस्ली, जातीय आधार पर जो हिंसा और विनाश सारे संसार में, इन वर्षों में, हुआ है उसे मनुष्य के अधिक समय सुसंस्कृत और उन्नत होने के कोई प्रमाण मिलते हैं?

अपने देश की ही बात लें। पिछली शती में धार्मिक/साम्प्रदायिक आधार पर यहां खून की जो होली नियमित रूप से खेली गई और आज भी खेली जा रही है, क्या उसकी कल्पना स्वामी विवेकानंद कर सकते थे। केवल 55 वर्ष पहले, देश के विभाजन के समय पांच लाख से अधिक लोग उन्माद की भेंट चढ़ गए थे। ऐसे दंगों में कुछ हज़ार व्यक्तियों की हत्या हो जाना, कुछ लाख व्यक्तियों का अपने घरों से बेधर हो जाना और कुछ करोड़ की सम्पत्ति का स्वाहा हो जाना आज का नियमित गणित बन गया है।

आज इस बात की सभी और चर्चा हो रही है कि हिंदुत्व का चरित्र तेज़ी से बदल रहा है। शांत, सहिष्णु, अहिसंक और व्यापक दृष्टि रखने वाले हिंदुत्व को अग संकीर्ण, आक्रामक, हिंसक और उन्मादी परिभाषा मिलने लगी है। तर्क यह भी है कि कुछ उन्मादी लोगों ने निरन्तर ऐसी स्थितियां उत्पन्न कर दी है कि हिंदुत्व को अपनी यह नई परिभाषा स्वीकार करने को बाध्य होना पड़ा है। उसका आक्रामक रूप प्रतिक्रियाजन्य अधिक है, मूलभूत नहीं है।

इसी स्थल पर किसी समाज अथवा धर्म-मत के नेतृत्व और उसमें सक्रिय बुद्धिजीवी वर्ग की सोच और भविष्य-दृष्टि की परीक्षा होती है।

मुझे एक घटना याद आती है, उस समय पंजाब में उग्रता और उन्माद की तेज़ हवाएं चल रही थीं, और निर्दोष लोगों की निर्मम हत्याएं हो रहीं थी, एक युवा अकाली नेता से मेरी भेंट हुई। ये सज्जन अपनी उत्तेजक भाषा और आक्रामक तेवर के लिए बहुत जाने जाते थे। मैंने उनसे पूछा—''आप गुरु साहबान का नाम लेकर और गुरुवाणी कहकर कुछ बातों को उद्‌धृत करते हुए सिखी को जैसी परिभाषा करते हैं, वह तो सिखी नहीं है।''

उन्होंने मुझे घूरकर देखा जैसे मुझे उनके ऐसा प्रश्न करने का अधिकार नहीं है।

मैंने पूछा, ''आप क्या समझते हैं...सिख धर्म का मूल चरित्र क्या है?

उन्होंने बड़े तैश और विश्वास से उत्तर दिया, ''मिलीटेन्सी...(लड़ाकूपन) हमारा मूल चरित्र है।''

मैंने कहा, ''आप गलत सोचते हैं। गुरु साहबान के उपदेश और गुरुवाणी से जो संदेश मिलता है उसका चरित्र मिलीटेन्सी नहीं है। यदि एक शब्द में ही उस चरित्र को बताना हो तो वह 'सेवा' है। सिखों में जो मिलिटेन्सी या लड़ाकूपन आया वह उस समय की आवश्यकता थी। गुरु गोबिंद सिंह ने जिस सिख की कल्पना की थी वह संत-सिपाही था। वह संत पहले था, सिपाही बाद में था। सिख चरित्र में से यदि संत के गुण निकल गए तो वह एक क्रूर और ज़ालिम सिपाही के अलावा और कुछ नहीं रहेगा।''

यही बात मुझे हिंदुत्व के संबंध में सही दिखाई देती है। ऐतिहासिक अनुभवों और तात्कालिक प्रतिक्रियाओं से धर्मों, सम्प्रदायों और समाजों की सोच और उनका आचरण

बदलता है और कई बार ऐसा बदला हुआ रूप उनके मूलरूप पर छा भी जाता है, किन्तु ऐसे आच्छादित रूप को आधार बनाकर उसके मूल चरित्र को परिभाषित करने का जब प्रयास होता है तो वह स्वयं उसी समाज के लिए घातक हो जाता है। शिकागो की धर्म सभा में अपना पहला भाषण देते हुए, संसार के अनेक भागों से आए विभिन्न धर्माचार्यों के सम्मुख भाषण देते हुए स्वामी विवेकानंद ने कहा था—''मुझको ऐसे धर्मावलम्बी होने का गौरव है जिसमें सहिष्णुता तथा विश्वबंधुत्व की शिक्षा है। हम लोग समस्त जगत् में केवल समदर्शन ही नहीं मानते, किन्तु समस्त धर्मों को सच्चा भी समझते हैं।

उसी धर्म सभा में 19 सितम्बर, 1893 में हिन्दू धर्म पर बोलते हुए स्वामी विवेकानंद ने बड़े गर्व से कहा था—''एक धर्मान्ध हिन्दू चाहे चिता पर अपने आपको जला डाले पर वह विधर्मियों को जलाने के लिए अग्नि कभी नहीं प्रज्वलित करेगा जैसा कि यूरोप में इन्क्यूजीशन के ज़माने में ईसाइयों ने किया था।

यहां 'इन्क्यूजीशन के विषय में कुछ जान लेना ठीक रहेगा। मध्य युग में यह शब्द ईसाई अदालतों के लिए प्रयुक्त होता था। जो लोग कट्टर ईसाई मान्यताओं से कुछ मतभेद रखते थे और स्थापित ईसाई विचारों का विरोध करते थे, ऐसे लोगों को 'हेरेटिक' कहा जाता था। ऐसे धर्मद्रोहियों को पकड़कर लाया जाता था। जो लोग अपनी भूल स्वीकार करके पश्चाताप कर लेते थे, उन्हें थोड़ा सा दंड देकर छोड़ दिया जाता था। जो लोग अपने मत पर अड़े रहते थे उन्हें ज़िंदा जला देने जैसी सज़ाएं दी जाती थीं। कई बार ऐसा भी होता था कि ऐसे धर्मद्रोहियों पर जब मुकदमा चल रहा होता था, धर्मान्ध लोगों की भीड़ जेल तोड़कर उन्हें बाहर निकाल लाती थी और सभी को मौत के घाट उतार देती थी।

आज यदि स्वामी विवेकानंद हमारे बीच होते तो देखते कि अब गर्व करने योग्य कोई बात नहीं बची है। सन् 1984 में कितने ही निरीह और निर्दोष लोगों के गले में जलते हुए टायर डालकर ज़िंदा जला दिया गया था और भीड़ ने आह्लाद करते हुए उस बर्बर दृश्य को देखा था, इसे घटे लम्बा समय नहीं व्यतीत हुआ है। अभी-अभी एक समुदाय के लोगों ने गोधरा स्टेशन पर एक-दो डिब्बों को आग लगाकर पचास से अधिक राम सेवकों को जलाकर मार डाला तो उसका बदला लेने के लिए राम के कथित सेवकों ने सैकड़ों लोगों पर पाशविकता का जैसा कहर ढाया वह एक हज़ार पहले की ईसाई अदालतों के कारनामों से किसी तरह कम नहीं है।

स्वामी विवेकानंद दोष-दर्शन भी कराते थे और समान मिलन भूमि की तलाश भी करते थे। एक भाषण में उन्होंने कहा था—''अंधविश्वास मनुष्य का महान शत्रु है, पर हठधर्मी तो उससे भी बढ़कर है।'' 18 नवम्बर, 1894 को न्यूयार्क से लिखे एक पत्र में उन्होंने लिखा था—''मेरी समझ में भारत वर्ष के पतन और अवनति का एकमात्र मुख्य कारण जाति के चारों ओर रीति-रिवाज़ों की एक दीवार खड़ी कर देना ही था, जिसकी भिति दूसरों की घृणा पर स्थापित थी और जिसका यथार्थ उद्देश्य प्राचीनकाल में हिन्दू-जाति को आस-पास वाली बौद्ध जातियों के संसर्ग से अलग रखा था।'' उसी पत्र में उन्होंने यह

भी लिखा था कि कोई भी बिना अपने को अधःपतित किए दूसरों से घृणा नहीं कर सकता—विस्तार ही जीवन है और संकोच मृत्यु। प्रेम ही जीवन है, घृणा मृत्यु। हमने उसी दिन से मरना शुरू किया जब से हम अन्यान्यजातियों से घृणा करने लगे और यह मृत्यु बिना इसके किसी दूसरे उपाय से नहीं रुक सकती कि हम फिर से विस्तार को अपनावें जो कि जीवन हैं।''

सन् 1897 में लाहौर में दिए अपने भाषण में उन्होंने कहा था—''मैं पूर्वी प्रान्त से अपने पश्चिमी भाइयों के पास इसलिए आया हूं कि उनके साथ—मित्र की तरह वार्तालाप करके अपने अनुभव उन्हें बताऊं और उनके अनुभव से स्वयं लाभ उठाऊं। मैं यहां यह देखने नहीं आया कि हमारे और आपके बीच क्या-क्या मतभेद हैं, वरन् मैं यह खोजने आया हूं कि आपकी और हमारी मिलन भूमि कौन-सी है। मैं यहां आया हूं यह जानने के लिए कि वह कौन-सा आधार है जिसके ऊपर हम आप सदा के लिए भाई का नाता बनाए रख सकते हैं, किस भिति पर प्रतिष्ठित होने से वह वाणी जो अनन्त काल से हमें आशा का संदेश सुनाती आ रही है, उत्तरोत्तर अधिक प्रबल होती रहेगी। मैं यहां आया हूं, आपके सामने कुछ विनाशक कार्यक्रम नहीं, वरन कुछ रचनात्मक कार्यक्रम रखने के लिए।''

भारत की आध्यात्मिक चिंतन धारा शीर्षक से दिए भाषण में उन्होंने कहा था—''अपनी संतानों को यह शिक्षा दीजिए कि सच्चा धर्म सदैव सकारात्मक है, नकारात्मक नहीं। अशुभ एवं असत् से बचे रहना मात्र धर्म नहीं, वास्तव में वह शुभ एवं सत्कार्यों में निरन्तर संलग्न रहने में है।

इस समय हिन्दुत्व की जो व्याख्या की जा रही है, जिस प्रकार से उसे प्रतिबिंबित किया जा रहा है, क्या यह नकारात्मक नहीं हैं? क्या यह उसका वह स्वरूप है जिसे स्वामी विवेकानंद ने संसार के सम्मुख प्रस्तुत किया था?

किसी भी समुदाय में कट्टरता और अन्धता ले आना कठिन काम नहीं है। भावनाओं को उभारने वाले कुछ मुद्दे लेकर कुछ लोग किसी भी धर्म-समुदाय में उत्तेजना उत्पन्न कर सकते हैं और उससे कैसे भी काम करवा सकते हैं। किन्तु ऐसी उत्तेजना तो भस्मासुर की तरह होती है जो पहले विधर्मियों/विरोधियों के सिर पर हाथ रखकर उसे भस्म करने की कामना करती है, फिर अपनों के ही सिरों पर मंडराने लगती है। पाकिस्तान में सुन्नियों और शियाओं के मध्य जो खूनी संघर्ष होता रहता है वह दो धर्मों के बीच का तो संघर्ष नहीं है।

किन्तु संकीर्ण कट्टरता के भस्मासुर को अपना राक्षसी हाथ रखने के लिए जब किसी विधर्मी का सिर नहीं मिलता तो वह कुछ मतभेद रखने वाले स्वधर्मियों के सिरों को ढूंढ़ना शुरू कर देता है।

अटल जी ने जिस संदर्भ में स्वामी विवेकानंद को स्मरण किया था और हिन्दुत्व में उभरती हुई जिन नकारात्मक प्रवृत्तियों की ओर संकेत किया था। वह हम सभी के लिए के लिए चिंतन योग्य हैं।

(दैनिक जागरण, 4-4-2002)

अंधविश्वासों से मुक्ति के लिए तर्कशील लहर

पिछले कुछ वर्षों से पंजाब में एक लहर उठी है जिसे तर्कशील लहर कहा जाता है। स्थान-स्थान पर 'तर्कशील सोसायटी' नाम की संस्था की शाखाएं खुल गई हैं और इनका प्रसार और प्रभाव लगातार बढ़ता जा रहा है।

तर्कशील लहर का मुख्य उद्देश्य है—आम लोगों को अंधविश्वास से मुक्त करके उन्हें तर्कयुक्त वैज्ञानिक सोच की ओर प्रेरित करना। इस देश में संभवतः सारे संसार में ही, अंधविश्वासों का जाल प्राचीन काल से ही छाया रहा है। सदा ही मनुष्य की समझ और शक्ति सीमित रही है। प्रकृति के अनन्त रहस्यों से वह परिचित नहीं होता। ऐसी स्थिति में वह उन्हें अलौकिक मानकर उनके सम्मुख सिर झुका देता है। मनुष्य की इस सीमा का लाभ उठाकर ऐसे लोग सामने आ जाते हैं जो अलौकिक और दैवी शक्तियों से सम्पन्न होने का दावा करते हैं और इस आधार पर लोगों को भ्रमजाल में डालकर उनके अंधविश्वास का पूरा लाभ उठाते हैं।

ऐसी तथाकथित अलौकिक शक्ति का स्वामी होने का दावा करने वाले पाखंडी साधु-संत, बाबा, औलिया आदि निस्संतानों को संतान देने, निर्धनों को धनवान बनाने, बीमारों को पूरी तरह निरोग करने और सभी प्रकार की आपदाओं से मुक्ति दिलाने का विश्वास दिलाते हैं।

इस माया जाल की सबसे मजबूत कड़ी प्रेत-योनियों की कल्पना है। भूत-प्रेत, पिशाच, डाकिनी, चुड़ैल, अगिया बैताल, जिन्न की कल्पना से संसार का कौन-सा समाज मुक्त है? सामान्य जन इनसे भयभीत भी होता है और इनकी कल्पित कथाओं में रुचि भी लेता है। भटकती आत्माओं को लेकर हालीवुड में भी बहुत-सी हारर फिल्में बनती है और बालीवुड का भी यह एक प्रिय विषय है। इन विषयों पर बने टी.वी. सीरियल बच्चों को भयभीत

तो करते हैं किन्तु वे उन्हें देखने से बाज नहीं आते। कौतूहल भरी अनहोनी का तत्व हम सभी को कहीं न कहीं तृप्त करता है।

भूत, प्रेत, चुड़ैल और जिन्न की काली छाया से हमारा समाज, विशेषरूप से ग्रामीण समाज भरा पड़ा है। यही कारण है कि गांव-गांव में झाड़-फूंक करने वाले बाबाओं, तांत्रिकों, काला इल्म के माहिरों की भरमार है। इन्हीं के कारण किसी ने टोना कर दिया है, ग्रहदशा बिगड़ गई है। चुड़ैल की छाया पड़ गई है, जिन्न ने पकड़ लिया है—जैसे विश्वासों से लोग सहज ही ग्रसित हो जाते हैं और घबराकर ढोंगी बाबाओं के चरणों में जा गिरते हैं।

पंजाब में तर्कशील लहर के कार्यकर्ताओं ने इन अंधविश्वासों और इसका लाभ उठाने वाले बाबाओं के सामने अब एक बड़ी चुनौती खड़ी कर दी है। जैसे ही इन्हें यह समाचार मिलता है कि किसी गांव या नगर में कोई बाबा या तांत्रिक किसी अबोध व्यक्ति या परिवार को किसी प्रकार की प्रेत-मुक्ति का विश्वास दिलाकर उसे भ्रमित कर रहा है और ठग रहा है, ये उस स्थान पर पहुंच जाते हैं और उसे चुनौती देते हैं कि वह अपनी तंत्र विद्या को सिद्ध करे और उसका प्रमाण दे। प्रायः ऐसे बाबा ढोंगी साबित होते हैं और फिर मैदान छोड़ कर भाग खड़े होते हैं।

बहुत लम्बे समय तक मिरगी जैसे रोगों के दौरों और अन्य मनोरोगों को लोग किसी न किसी प्रकार की प्रेत छाया मानते रहे हैं और उसके निदान के लिए वैज्ञानिक चिकित्सा का मार्ग न अपनाकर ओझाओं और बाबाओं के प्रपंचों का शिकार होते रहे हैं। तर्कशील लहर के लोग आम लोगों को केवल अंधविश्वासों के प्रति जागरूक ही नहीं करते हैं, वे यह भी करते हैं कि पीड़ित व्यक्ति को सही इलाज दिलाने का प्रयास करते हैं, उसे किसी मनोचिकित्सक के पास ले जाते हैं और अधिसंख्य मामलों में उन्हें सफलता भी मिलती है।

व्यापक रूप से फैले हुए ऐसे अंधविश्वासों के विरुद्ध उभरी तर्कशील मानसिकता के प्रेरणास्रोत डॉ. काबूर थे। केरल के तिरुवल्ला नगर के एक ईसाई पादरी परिवार में जन्मे डॉ. कावूर को उनके माता-पिता पादरी बनाना चाहते थे और उन्हें उसी प्रकार से शिक्षित करना चाहते थे किन्तु उन्होंने अपने लिए अलग मार्ग चुना। कोलकाता में रहकर उन्होंने उच्च शिक्षा प्राप्त की। वनस्पति और जीव विज्ञान के अध्ययन को उन्होंने अपना विशेष क्षेत्र बनाया। इसी विषय का अध्यापन उन्होंने केरल और श्रीलंका के अनेक कालेजों में किया। इन्हीं दिनों उन्होंने धर्म के क्षेत्र में फैले अनेक विश्वासों का अध्ययन किया और इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि किसी भी व्यक्ति का अलौकिक अथवा दैवी शक्तियों से सम्पन्न होने का दावा पूरी तरह निराधार है। प्रेत आत्माओं—भूत, प्रेत, जिन्न आदि का भी कोई अस्तित्व नहीं है। ये कपोल-कल्पित अवधारणाएं हैं जो सदियों से हो रही चर्चा के कारण मानव की मानसिकता का अंग बन गई है। इसलिए किसी पर प्रेत की छाया पड़ना, किसी की ग्रह-दशा खराब होना, किसी पर जादू-टोना होना, किसी व्यक्ति का किसी जिन्न के प्रभाव में आ जाना भी सच्चाई से बहुत दूर है। यह केवल भ्रम है। ऐसे मिथ्या भ्रमों से ग्रसित व्यक्ति मनोरोगी हो जाता है। इसका इलाज किसी ओझा या तांत्रिक के पास नहीं है। उसे मनोचिकित्सक के पास ले जाना चाहिए। अपने अध्ययन के आधार पर उन्होंने

'देवपुरुष चले गए (Begoul godmen) और देवता, दानव और आत्माएं' (Gods, Demons and Spritis) नाम की पुस्तकों की रचना की।

डॉ. कावूर जीवन भर अंधविश्वासों, अलौकिक शक्तियों के दावेदारों, चमत्कार प्रदर्शित करने वाले तथा कथित सिद्ध सिद्ध पुरुषों के विरुद्ध संघर्ष करते रहे। वर्षों पहले मैंने डॉ. कावूर का नाम तब सुना था जब उन्होंने चमत्कारों के लिए बहुचर्चित एक बाबा को यह खुली चुनौती दी थी कि वे उन्हें कोई चमत्कार करके दिखाएं। इसके लिए उन्होंने उस समय एक लाख रुपए की पेशकश की थी।

डॉ. कावूर ने अपने जीवन काल में स्थान-स्थान पर जाकर लोगों को अंधविश्वासों से बाहर निकलने और तर्कशील वैज्ञानिक दृष्टि अपनाने के संबंध में भाषण दिए और परिसंवाद किए। इस क्षेत्र में उनके योगदान के लिए अमेरिका के एक विश्वविद्यालय ने उन्हें ड्राक्ट्रेट की मानद उपाधि प्रदान की। लोगों में वैज्ञानिक सोच उत्पन्न करने के लिए क्रियाशील रहे डॉ. कावूर का निधन सन् 1978 में हुआ।

किसी परम शक्ति में आस्था रखना, उसका स्मरण, ध्यान, मनन और चिंतन करना, अपने आपको आत्म-केंद्रित करना योग-साधना करना एक बात है किन्तु अंधविश्वासों में फंसकर ढोंगी लोगों के पीछे लग जाना बिल्कुल दूसरी बात है। ऐसे ही एक ढोंगी बाबा की करतूतों का चित्रण गुरुनानक देव ने अपने एक पद में किया है। अपने साथी भाई मरदाना के साथ यात्रा करते उन्होंने देखा कि एक वृक्ष के नीचे एक साधू बैठा है। उसके सामने बहुत से लोग खड़े हैं। साधू दावा कर रहा है कि वह अनंत अलौकिक शक्तियों का स्वामी है वह भूत और भविष्य में झांककर सब कुछ बता सकता है। साधू लोगों को चमत्कृत करने के लिए आंखें बंद कर लेता है। एक हाथ से वह अपनी नाक पकड़ता है और कहता है—मुझे अब तीनों लोक दिखाई दे रहे हैं। साधू के आगे उसका कमंडल रखा हुआ था। मरदाना ने उसका कमंडल उठाकर उसकी पीठ के पीछे रख दिया। साधू ने जब आंखें खोलीं तो सामने कमंडल न देखकर घबराया और उसे इधर-उधर ढूंढ़ने लगा। गुरु नानक ने उससे पूछा—तुम तो दावा करते हो कि तीनों लोकों में जो कुछ हो रहा है, तुम्हें सब कुछ दिखाई देता है, फिर पीठ पीछे रखे कमंडल को तुम क्यों नहीं देख पा रहे हो? गुरु नानक ने कहा—ऐसे लोग संसार को ठगने के लिए आंखें बंद करते हैं नाक पकड़ते हैं और सभी प्रकार के आसन लगाने का पांखड करते हैं।

अखी तां मीटहि नाक पकड़हि ठगण कउ संसार।।

ज्योतिषियों और भविष्यवाणी करने वालों का इस समय बहुत बोलबाला है। असंख्य लोग इनकी बातों पर विश्वास करते हैं और निरन्तर इनके दुष्चक्र में फंसे रहते हैं। कुछ महीने पहले मैंने एक समाचार पत्र में पढ़ा कि पंजाब के तर्कशील सोसायटी के अध्यक्ष मास्टर राजिन्दर भदौड़ ने एक विशाल जनसभा में घोषणा कि यदि कोई ज्योतिषी सच्ची भविष्यवाणी करने का दावा करता है तो वह इस सोसायटी की चुनौती स्वीकार करे। उसे एक लाख रुपए का पुरस्कार दिया जाएगा। यदि उसकी भविष्यवाणी सच निकली तो तर्कशील सोसायटी को भंग कर दिया जाएगा और सोसायटी के सभी सदस्य उसके चेले बन जाएंगे।

अंध विश्वासों का एक विशाल मायाजाल है। यदि दो बातों से मुक्ति मिलती है तो दस नए अंधविश्वास जन्म ले लेते हैं। इस देश में कभी स्टोव से देवता प्रकट हो जाता है, कभी गणेश की मूर्ति दूध पीना प्रारम्भ कर देती है, कभी किसी अबोध लड़की में कोई देवी प्रकट हो जाती है और उसके चारों ओर कुछ दिनों के लिए दशर्नार्थियों की भीड़ जमा हो जाती है। कभी एक स्थान पर कोई 'चमत्कार' हो जाता है, कभी दूसरे स्थान पर। हमारे समाज का सामान्य जन इतना असुरक्षित और घबराया हुआ होता है कि प्रातः जब अखबार उसके हाथ में आता है तो सबसे पहले वह उसमें से अपना राशिफल पढ़ता है और दिन या सप्ताह के अच्छे या बुरे होने की संभावना का बोझ उठाए रहता है।

आस्था और अंध विश्वास में भेद करने वाली लकीर बहुत पतली होती है। क्षणभर में आस्था अपनी सीमाओं को लांघकर अंधविश्वास के संसार में प्रवेश कर जाती है। उस समय व्यक्ति विचार को, ज्ञान को, विवेक को, तर्क को झुठलाना शुरू कर देता है और सभी बातों का आधार विश्वास को बनाना शुरू कर देता है।

ईसाइयों में गुड फ्राइडे बहुत महत्व का दिन है क्योंकि उसी दिन ईसा मसीह को सूली पर चढ़ाया गया था। ईसाई बहुमत वाले देश फिलीपींस में कुछ लोग दो हज़ार पूर्व घटित उस याद को बड़े अनोखे ढंग से ताजा करते हैं। लगभग बीस लोग ठीक उसी तरह अपने हाथों और पैरों में कीलें ठुकवाकर सूली पर लटकते हैं। कैथोलिक चर्च इस प्रकार सूली पर लटकाए जाने की क्रिया को अंधविश्वास कहता हैं किन्तु फिलीपीन्स का एक ईसाई समुदाय का कहना है कि यह उनकी आस्था की एक प्रथा है और कोई इसे रोक नहीं सकता।

सूली पर लटकने वाले लोगों में कुछ ऐसे भी हैं जिन्हें कितनी ही बार इस क्रिया में सम्मिलित होने का अवसर मिला है। इस वर्ष एक व्यक्ति 17 वीं बार इस प्रथा में शामिल हुआ। जब उसे चार इंच लम्बी कीलों से ठोंककर सूली पर लटकाया गया तो वह जोर-जोर से चिल्ला रहा था—हे प्रभु मुझे क्षमा कर दो।

सभी धर्मों में ऐसी अंधविश्वास भरी मान्यताएं हैं। सभी धर्मों में ऐसे व्यक्ति उत्पन्न होते हैं जो ऐसी मान्यताओं में जकड़े लोगों को उससे बाहर निकालने का प्रयास करते हैं और उन्हें विवेक और तर्क की ओर जाने के लिए प्रेरित करते हैं। विडम्बना यह है कि धीरे-धीरे ऐसे सुधारवादी आन्दोलनों में भी अंधविश्वास पनपने लगते हैं।

अंधविश्वासों से लड़ना एक सतत प्रक्रिया है।

पंजाब की तर्कशील लहर इस दृष्टि से एक बहुत सार्थक जनान्दोलन है। इस आन्दोलन के कारण बहुत से ढोंगी बाबाओं की दुकानें तो बंद हो ही रही हैं। लोगों में अपने विश्वासों को तर्क श्री कसौटी पर परखने की वैज्ञानिक दृष्टि विकसित हो रही है और आत्म-विश्वास बढ़ रहा है।

(दैनिक जागरण, 2-5-2002)

धर्म स्थानों के प्रबंध के लिए विकल्प की तलाश होनी चाहिए

पिछली 30 जून (2007) को दिल्ली गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी की आम सभा के सदस्यों के जो चुनाव हुए उसने दिल्ली के दस लाख से अधिक सिखों में तो खूब हलचल पैदा की ही, गैर सिख जनता में कौतूहल और उत्सुकता पैदा कर दी। दिल्ली की गुरुद्वारा कमेटी नगर के नौ ऐतिहासिक गुरुद्वारों, तीस से अधिक शिक्षण संस्थाओं और कुछ अस्पतालों का प्रबंध करती हैं कमेटी का वार्षिक बजट 30 करोड़ रुपए से अधिक है। विभिन्न मुहल्लों की सिंह सभाएं और उनके द्वारा संचालित शिक्षण संस्थाएं इसके दायरे में नहीं आती हैं।

देश में इससे भी बड़ी संस्थाएं हैं जो धर्म-स्थानों का प्रबंध करती हैं। शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी का बजट एक सौ करोड़ से अधिक है। तिरुपति के देवस्थान की आय अरबों में है। ख़्वाज़ा मुइनुद्दीन चिश्ती की दरगाह (अजमेर) की परिधि में भी बहुत सा धन और सम्पत्ति आती होगी। इस देश में सभी धर्मों के अनन्त धर्म-स्थान हैं, जिनके साथ विशाल धन-सम्पत्ति जुड़ी हुई है।

परम्परा से इन धर्म स्थानों का प्रबंध और स्वामित्व पुजारियों, संतों, महन्तों के हाथ में ही रहा है। इन सबका अपना आचरण और माया लिप्सा को लेकर बहुत कुछ लिखा गया है। माया-मोह में निर्लिप्त होने और मोक्ष-साधना में ही संलग्न होने का दावा करने वाले पुजारी, साधु, संत कितनी बुरी तरह माया के व्यामोह में लिप्त होते हैं, जब कभी ये तथ्य सामने आते हैं तो पता लगता है कि धर्मक्षेत्र में फैला हुआ भ्रष्टाचार अन्य किसी भी क्षेत्र के भ्रष्टाचार से किसी तरह कम नहीं है।

बीसवीं सदी के प्रारंभिक वर्षों तक गुरुद्वारों की स्थिति भी ऐसी ही थी। सभी प्रमुख गुरुद्वारों के साथ अठारहवीं-उन्नीसवीं सदी के सिख राजाओं-महाराजाओं द्वारा दान में दी गई ज़मीन-जायदाद जुड़ी हुई थी। चढ़ावे में भी विपुल धनराशि आती थी। अधिसंख्य गुरुद्वारे किसी एक महंत और उसके परिवार के नियंत्रण में ही होते थे। सबसे बड़े तीर्थ स्थान अमृतसर के हरिमंदिर का प्रबंध अंग्रेज़ सरकार द्वारा नियुक्त सरबराह (मैनेजर) करता था जो पूरी तरह सरकार परस्त होता था।

गुरुद्वारों पर अधिकार स्थापित किए हुए ऐसे महंत पूरी तरह भ्रष्ट हो गए थे। वे गुरुद्वारों की धन-सम्पत्ति का केवल दुरुपयोग ही नहीं करते थे, अनेक अनैतिक कार्यों में भी लिप्त रहते थे। गुरु नानक देव के जन्म स्थान ननकाना साहब के महंत नारायण दास ने गुरुद्वारे की सीमा में वेश्याएं भी रखी हुई थीं और अपनी सुरक्षा के लिए सशस्त्र गुंडे भी पाल रखे थे।

उन्नीसवीं सदी के अंत में जब सिख-समाज में पुनर्जागरण की लहर आई तो सबसे पहले उसका ध्यान गुरुद्वारों के सुधार की ओर गया। सारे पंजाब में सिंह सभा आन्दोलन उभरा और भ्रष्ट महंतों/पुजारियों के काले कारनामों को उद्घाटित किया जाने लगा। इस सामूहिक लहर को अकाली लहर कहा जाने लगा। उस समय अकाली उन्हें कहा जाता था जो गुरुद्वारों को अवांछित तत्वों से मुक्त करने के लिए कटिबद्ध हो गए थे।

सन् 1920 से 1925 तक यह आन्दोलन पूरे वेग से चला। एक-एक करके सभी गुरुद्वारों से महंत हटने लगे और उनका प्रबंध स्थानीय सिख-संगत के हाथों में आने लगा। इस आन्दोलन की सबसे दर्दनाक घटना ननकाना साहब की है। महंत नारायण दास से गुरुद्वारे को मुक्त कराने के लिए भाई लक्ष्मण सिंह के नेतृत्व में जो जत्था वहां गया, उनकी महंत के भाड़े के गुंडों ने गुरुद्वारों में ही घेरकर सभी की हत्या कर दी। इस हत्याकांड में लगभग दो सौ लोग शहीद हो गए।

इसी प्रकार अमृतसर के गुरु का बाग नामक स्थान पर अकाली सत्याग्रहियों ने जो मोर्चा लगाया था उसे अंग्रेज सरकार ने दबाने की पूरी कोशिश की। सत्याग्रहियों को पुलिस द्वारा बड़ी बेदर्दी से पीटा जाता था। लाठियां खाते हुए वे बेहोश होकर धरती पर गिर जाते थे। इस मोर्चे में बहुत से लोग मारे गए और लगभग 6 हजार व्यक्ति बंदी बनाए गए।

लम्बे संघर्ष के बाद गुरुद्वारा सुधार का आंदोलन सफल हुआ। सभी स्थानों से भ्रष्ट महंत हटा दिए गए। गुरुद्वारों की चाबियां सिख-संगत को सौंप दी गईं। सन् 1925 में पंजाब विधान सभा ने एक कानून बनाया और शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी की स्थापना हुई।

सन् 1925 में पारित कानून के अनुसार सभी सिखों (स्त्री-पुरुषों) को यह अधिकार दिया गया कि वे बालिग मताधिकार के आधार पर सम्पूर्ण पंजाब से अपने प्रतिनिधि चुने और अपने ऐतिहासिक धर्म-स्थानों का प्रबंध स्वयं करें। सन् 1971 में भारत सरकार

ने दिल्ली के लिए भी ऐसा ही कानून पारित करके दिल्ली गुरुद्वारा मैंनेजमेंट कमेटी की स्थापना कर दी।

संसार के सभी धर्मों में समय पाकर एक पुरोहित वर्ग उभर आता है। यह वर्ग एक ओर कर्मकांड को बढ़ावा देता है, धर्म के नाम पर अंधविश्वासों को प्रोत्साहित करता है और धर्म-स्थानों को धन और यौन शोषण का केंद्र बना देता है। इन स्थानों पर अपना वर्चस्व बनाए रखने के लिए यह पुजारी वर्ग सभी प्रकार के नैतिक-अनैतिक कर्म करता है, कभी-कभी हत्याएं भी करवाता है और लम्बी मुकदमेबाजी भी करता है।

राजतंत्र की बुराइयों से त्रस्त होकर जब उसका विकल्प ढूंढा जाने लगा तो लोकतंत्र की अवधारणा सामने आई। राजा किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं होता था। उसकी इच्छा और उसका निर्णय ही सर्वोपरि होता था। लोकतन्त्र में शासक और उसके सहयोगियों को लोगों के प्रति जवाबदेह बनाया गया। गत चार सौ वर्षों में लोकतंत्र की व्यवस्था विकसित हुई। अभी तक इसका कोई विकल्प सामने नहीं आया है। कुछ तानाशाहों ने अपने ढंग से लोकतंत्र को तोड़ना-मोड़ना चाहा, किन्तु उनकी सफलता कुछ वर्षों तक ही सीमित रही। आज लोकतंत्र की मान्यता ही सर्वोपरि मान्यता है।

किन्तु क्या धर्म स्थानों के प्रबंध के लिए भी यह मान्यता सबसे उत्तम है? अपने धर्म स्थानों का लोकतांत्रिक आधार पर स्वयं प्रबंध करने का जो अधिकार उस समय सिखों को प्राप्त हुआ था, वह अपने आप में अद्वितीय था। संसार के किसी भी धर्म में इस प्रकार की पद्धति न उस समय थी, संभवतः आज भी नहीं है। उस समय पंजाब विधान सभा के सदस्य डॉ. गोकुल चंद्र नारंग के कहा—मुझे नहीं मालूम कि किसी भी देश में अथवा धार्मिक समुदाय में अपने धर्म स्थानों के संबंध में इतना सरोकार व्यक्त किया गया हो और उनकी पवित्रता और सुरक्षा के लिए इतनी बड़ी कुरबानी दी गई हो, जितनी सिखों ने दी है। विधानसभा के एक अन्य सदस्य मियां मोहम्मद शाहनवाज़ ने सदन में बोंलते हुए कहा था—ऐसा कानून सभी धर्म-समुदायों के लिए बनना चाहिए। सिखों ने बड़ी मात्रा में त्याग और बलिदान करके यह अधिकार प्राप्त किया है। हिन्दुओं और मुसलमानों के लिए यह एक आदर्श बन गया है।

इस बात की भी चारों ओर प्रशंसा हुई थी कि इस कानून द्वारा सिख महिलाओं को मत देने, चुने जाने और पद संभालने के पूरी तरह वही अधिकार प्राप्त हुए जो पुरुषों को प्राप्त थे। दलित वर्ग से आए सिखों को गुरुद्वारों के प्रबंध में समुचित प्रतिनिधित्व प्राप्त हो सके इसलिए कुछ हलकों को दोहरा हलका बनाया गया था, जिसमें एक दलित उम्मीदवार के लिए आरक्षित किया जाता था। हाल में ही एक संशोधन के अनुसार शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी (अमृतसर) के लिए चुने जाने वाले सदस्यों की संख्या 150 से बढ़ाकर 180 कर दी गई है। तीस हलके दोहरी सदस्यता वाले हो गए हैं, जिनमें एक महिला का होना अनिवार्य है। इस प्रकार 180 के सदन में कम से कम 30 महिलाओं का होना अनिवार्य हो गया है। लगभग आठ दशक पूर्व सिखों

ने लोकतंत्रीय प्रणाली को अपने धर्म-स्थानों के लिए स्वीकार किया। आज विश्लेषण इस बात का किया जाना चाहिए कि इन आठ दशकों का अनुभव कैसा रहा? इसमें कोई संदेह नहीं कि महंतों और उनके परिवारों का एकाधिकार समाप्त होने के बाद निर्वाचित कमेटियों ने अपने प्रबंध द्वारा अनेक उपलब्धियां प्राप्त की हैं। केवल धर्म स्थानों की पवित्रता और नियमित गुरुवाणी कीर्तन के क्षेत्र में ही नहीं, धर्म-प्रचार, साहित्य-प्रकाशन, विद्याप्रसार आदि अनेक क्षेत्रों में ये उपलब्धियां उल्लेखनीय हैं।

किन्तु लोकतंत्र की अपनी विपदाएं भी कम नहीं हैं। लोकतंत्र का अर्थ है चुनाव, चुनाव का अर्थ है अनेक पार्टियां, पार्टियों का अर्थ है गुटबंदी और धड़ेबाजी। राजनीति में चुनाव जीतने के लिए सभी प्रकार के हथकंडे अपनाए जाते हैं। इसके लिए नैतिक-अनैतिक उपाय अपनाने से न कोई पार्टी गुरेज़ करती है, ना कोई दल इससे बचा रहता है। किसी न किसी प्रकार चुनाव जीतना और सत्ता हथियाना चुनावी राजनीति का मूलमंत्र है। चुनाव में पैसा ख़र्च होता है, इसलिए अनेक भ्रष्ट उपायों से इसे जमा किया जाता है। इस प्रणाली में किसी उम्मीदवार की न योग्यता परखी जाती है, न उसके चरित्र को देखा जाता है। किसी भी उम्मीदवार की परख का प्रायः यह आधार होता है कि वह जीत सकने वाला उम्मीदवार है या नहीं।

जब धर्म-स्थानों के प्रबंध में ऐसी प्रणाली अपनाई जाएगी, तो लोकतंत्रीय प्रणाली के ये सभी पक्ष भी साथ-साथ आएंगे। गुरुद्वारा कमेटी के चुनाव में भी ये सभी दोष आ गए हैं। यहां भी निष्काम सेवाभाव तिरोहित हो गया है। इसमें सत्ता की कुर्सी प्रमुख हो गई है। चुनाव के मैदान में जब दल और उम्मीदवार आमने-सामने होते हैं तो ऐसा नहीं लगता कि ये धर्म-स्थानों के प्रबंध के लिए चुनाव लड़ रहे हैं। लगता यही है कि ये भी सत्ता की किसी बड़ी कुर्सी के लिए चुनाव लड़ रहे हैं।

भ्रष्ट महंतों का विकल्प सिख-संगत की ओर से चुने हुए प्रतिनिधियों की प्रबंध समिति बनी। किन्तु आज यह अनुभव भी सुख नहीं दे रहा है। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि एक प्रकार के महंत चले गए हैं, दूसरे प्रकार के आ गए हैं।

इस स्थिति का विकल्प क्या है? क्या धर्म-स्थानों के प्रबंध के लिए वैसी चुनाव प्रणाली उपयुक्त है जैसी राजनीति के क्षेत्र में चल रही है? क्या इसके लिए एक अन्य विकल्प की तलाश नहीं की जानी चाहिए?

सिख समाज के बुद्धिजीवियों को आज यह प्रश्न पूरी तरह मथ रहा है।

(दैनिक जागरण, 8-8-2007)

किस प्रकार हो धार्मिक स्थानों का प्रबंध

संपूर्ण सिख राजनीति का नाभि केंद्र गुरुद्वारे हैं। ऐसी स्थिति न मंदिरों की है, न मस्जिदों की और न ही गिरजाघरों की। सारे संसार में सिखों की गिनती ढाई करोड़ के आस पास होगी। बहुत थोड़ी गिनती होते हुए भी, वे जहां कहीं भी हैं अपना अच्छा खासा प्रभाव रखते हैं। भारत में उनकी जनसंख्या 2 प्रतिशत से अधिक नहीं है।

संसार के किसी भी भाग में, जहां सिखों के दस-बीस परिवार रहते हैं, तुरंत-फुरत एक गुरुद्वारा ज़रूर बन जाता है। सिख समाज में गुरुद्वारा मात्र एक पूजा स्थल नहीं है। वह एक समुदाय भवन का कार्य भी करता है। सामूहिक भजन, कीर्तन, कथा और व्याख्यान के साथ ही वह सामूहिक प्रसाद और भोजन (लंगर) का स्थान भी है। प्रसाद और लंगर के बिना किसी गुरुद्वारे की कल्पना नहीं की जाती। इस सामूहिक मिलन, सामूहिक कथा-कीर्तन, सामूहिक भोजन उन्हें सामूहिक रूप से विचार-विमर्श करने, एक दूसरे के सुख-दुख का भागीदार बनने का अवसर भी देती है। एक सिख केवल साइकिल खरीदे, मोटर साइकिल खरीदे, कार खरीदे, नया ट्रक मंगवाए, नया व्यापार शुरू करे या किसी अभियान पर जाए, गुरुद्वारे जाकर प्रसाद चढ़ाना, माथा टेकना, अरदास करना उसकी प्राथमिकता में होता है।

यह सामूहिकता अनेक संकटों को भी जन्म देती है। गुरुद्वारे के माध्यम से समाज में प्रतिष्ठा और सम्मान मिलता है, चौधराहट की भावना पनपती है, धड़े बनते हैं और गुरुद्वारे के प्रबंध के लिए चुनाव होते हैं। फिर वही सिलसिला शुरू हो जाता है जो चुनावी राजनीति का अनिवार्य तंत्र है।

ऐसा सभी धार्मिक और सामाजिक संस्थाओं में होता है। अपनी सीमित परिधि

में सभी संस्थाएं इस प्रक्रिया से गुज़रती हैं। किंतु सिखों के धर्म स्थानों के लिए यह प्रणाली स्थानीय सिंह सभाओं के लिए तो है ही, उन्होंने लगभग पूरे समाज को इस प्रक्रिया का अंग बना लिया है। सन् 1920 से पहले सभी प्रमुख ऐतिहासिक गुरुद्वारे अपनी-अपनी इकाइयों में चलते थे। हर गुरुद्वारे में एक बड़ा महंत होता था। उसके अधीन कुछ पुजारी होते थे। अमृतसर के हरिमंदिर और अकाल तख़्त में प्रबंध के लिए अंग्रेज सरकार एक 'सरबराह' (मैनेजर) नियुक्त करती थी ये सभी लोग बहुत भ्रष्ट हो गए थे। ऐसी भ्रष्टता सभी धर्मों के धर्म स्थानों के अगुवाओं में देखने को मिलती है। अब तो अनेक पीठों के शंकराचार्य भी अपनी पदवी के लिए अदालतों का सहारा लेते हैं। साधु-संतों में अपने मठों में स्वामित्व और उसकी आय को लेकर अनेक स्तरों पर संघर्ष होता रहता है।

सिख समाज में उन्नीसवीं शती में जब पुनर्जागरण की लहर आई तो सबसे पहले उनका ध्यान गुरुद्वारों के प्रबंध की ओर गया। अनेक ऐतिहासिक गुरुद्वारों के साथ सिख राजाओं द्वारा दी गई बड़ी-बड़ी जागीरें लगी हुई थीं। श्रद्धालुओं द्वारा चढ़ावा भी विपुल मात्रा में आता था। सन् 1920 से 1925 तक पंजाब में गुरुद्वारा सुधार का बहुत बड़ा आंदोलन चला। इस आंदोलन में शामिल होने के लिए गांव-गांव से स्वयं सेवक आते थे जिन्हें 'अकाली' कहा जाता था। इन्हीं वर्षों में शिरोमणि अकाली दल की स्थापना हुई। जब गुरुद्वारे भ्रष्ट महंतों और पुजारियों के चंगुल से मुक्त हुए तो इन सभी को एक प्रबंध के अंतर्गत लाने के लिए शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी अस्तित्व में आई।

सभी ऐतिहासिक गुरुद्वारों को सारी सिख-संगत के प्रबंध के अंतर्गत लाने के लिए सिखों को बहुत कुर्बानियां देनी पड़ी थी। इसमें सैकड़ों सिख शहीद हो गए थे, सैकड़ों बुरी तरह ज़ख्मी हो गए थे, हज़ारों को बंदी बनाया गया था, उनमें से अनेक कई-कई वर्ष तक जेलों में बंद रहे थे। अंत में तत्कालीन पंजाब सरकार ने सन् 1925 में गुरुद्वारा कानून बनाकर इस आंदोलन का पटाक्षेप किया। इस कानून द्वारा पंजाब के सभी सिखों को बालिक मताधिकार द्वारा सुविधा प्राप्त हो गई कि वे अपने-अपने निर्धारित क्षेत्रों से प्रतिनिधि चुनकर शिरोमणि प्रबंधक कमेटी की आम सभा के लिए भेजे। आम सभा का कार्यकाल पांच वर्ष निर्धारित हुआ। प्रति वर्ष कार्यकारिणी और पदाधिकारियों के चुनाव की व्यवस्था की गई।

कुछ समय पहले तक शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी के 140 चुने हुए, 15 नामित सदस्य होते थे। पों तख़्तों (अकाल तख़्त अमृतसर), तख़्त केस गढ़ (आनंदपुर साहब), तख़्त दमदमा साहब (बठिंडा), तख़्त पटना साहब (पटना) और तख़्त हजूर साहब (नांदेड) के जत्थेदार भी नामित सदस्य होते थे। 15 दोहरी सदस्यता के क्षेत्र थे, जिनमें एक अनुसूचित जाति के सिखों के लिए होता था। हाल में ही हुए एक संशोधन से सदस्यों की संख्या में तीस की अभिवृद्धि हो गई है यह स्थान महिलाओं के लिए सुरक्षित है।

सिख गुरुद्वारे के प्रबंध के लिए लोकतांत्रिक पद्धति अपनाई गई। सन् 1971 में

केंद्र सरकार ने एक विधेयक पास करके दिल्ली के नौ ऐतिहासिक गुरुद्वारों के लिए भी ऐसा ही कानून बना दिया। दिल्ली सिख गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी की आम सभा के 46 सदस्यों का चुनाव हाल में ही संपन्न हुआ है।

धर्म स्थानों के प्रबंध के लिए इस प्रकार की लोकतांत्रिक पद्धति संभवतः संसार के किसी अन्य धर्म के धार्मिक स्थानों के लिए नहीं हैं। गुरुद्वारों के प्रबंध की यह व्यवस्था संसार भर में अनूठी है। शिरोमणि कमेटी (अमृतसर) का वार्षिक बजट एक सौ करोड़ से अधिक है। दिल्ली की कमेटी का वार्षिक बजट तीस करोड़ से अधिक हैं। महंतों और उनके परिवारों की निजी संपत्ति बने हुए ये धर्म स्थान अब सिख संगत के चुने हुए प्रतिनिधियों के नियंत्रण में हैं। संभवतः यही कारण है कि इन कमेटियों द्वारा बहुत से कॉलेज, स्कूल और अस्पताल चलाए जाते हैं। गुरुद्वारों में नियमित रूप से सभी यात्रियों के लिए लंगर की व्यवस्था की जाती है। साहित्य प्रकाशित किया जाता है तथा अन्य अनेक प्रकार के जनापयोगी कार्य किए जाते हैं।

किन्तु गुरुद्वारों के प्रबंध की इस प्रकार की लोकतांत्रिक व्यवस्था के अपने संकट भी कम नहीं हैं। कमेटियों के चुनाव पूरी तरह राजनीतिक रंग ले चुके हैं। उम्मीदवार अपने चुनाव पर लाखों रुपए खर्च करते हैं। चुनाव लड़ने वाले विभिन्न दल चुनाव जीतने के लिए वे सभी प्रपंच करते हैं जो दूसरे राजनीतिक दल करते हैं। इस व्यवस्था में भ्रष्टाचार फैलने के लिए वे सभी स्थितियां सहज उत्पन्न हो जाती हैं जो राजनीति के क्षेत्र में आज पूरी तरह प्राप्त नज़र आती हैं।

धर्म स्थानों के साथ श्रद्धा तो जुड़ी होती है, किन्तु माया का व्यापक प्रसार भी इन्हें घेरे रहता है। यदि धार्मिक स्थानों के साथ जुड़ी हुई सम्पत्ति, उनकी नियमित आय और जनजीवन पर उनके गहरे प्रभाव को इस निर्धन और विपन्न देश में जनहित की ओर मोड़ा जाए तो जो काम सरकारें नहीं कर पाती हैं वे धार्मिक संस्थाएं बड़ी सहजता से कर सकती हैं।

सिखों ने इस देश की धार्मिक संस्थाओं के सम्मुख एक आदर्श अवश्य रखा है। गुरुद्वारों की आय को जनहित की दिशा में मोड़ना उनकी उपलब्धि है। किन्तु आज सिख-बुद्धिजीवियों के सम्मुख बड़ी गम्भीरता से यह प्रश्न उभर आया है कि वर्तमान चुनाव प्रणाली इस व्यवस्था को बहुत दूषित कर रही है। महंतों और उनके परिवारों के एकाधिकार को समाप्त करके, गुरुद्वारों को लोकतांत्रिक व्यवस्था की प्रबंध-प्रणाली के अंतर्गत लाया गया। अब चिंता इस बात की जा रही है कि क्या इस व्यवस्था का भी कोई बेहतर विकल्प है?

(नवभारत टाइम्स, भोपाल, 22-8-02)

यह संघर्ष वैचारिक है

पाठ्य-पुस्तकों को लेकर जिस प्रकार का संग्राम इस समय इस देश में छिड़ा हुआ है, वह बहुत अप्रत्याशित नहीं है। उन्नीसवीं शती के मध्य से, अंग्रेज़ी शासन द्वारा नियोजित शिक्षा प्रणाली के साथ ही यह प्रश्न शिक्षाविदों के मध्य चर्चा का विषय बन गया था कि इस देश में कैसी शिक्षा दी जानी चाहिए। अंग्रेजों की अपनी नीति थी। वे इस देश में अपनी सरकार चलाने के लिए अधिक से अधिक क्लर्कों का निर्माण करना चाहते थे। उनका दूसरा उद्देश्य था कि भारतीय नागरिकों में ब्रिटिश राज और उसके राजा-रानी के प्रति किस प्रकार स्वामिभक्ति की भावना का विकास किया जाए। स्कूलों का पाठ्यक्रम इसी आधार पर बनाया जाता था।

स्वतंत्रता मिलने के पश्चात् शिक्षा के लिए नई नीतियां बनाने का कार्य आरम्भ हुआ। इनका मुख्य आधार यह था कि छात्रों में किस प्रकार देशभक्ति की भावना जागृत हो, राष्ट्रीय एकता को वे महत्व दे सकें और सर्वधर्म समभाव की भावना का उनमें विकास हो। सन् 1986 में एक व्यापक राष्ट्रीय शिक्षा नीति बनाई गई जिसे सन् 1992 में संशोधित किया गया।

शिक्षा क्षेत्र में प्रारंभ से ही ऐसे तत्वों का प्रभुत्व था जो वामपंथी विचारधारा से प्रभावित थे। नूरुल हसन जब इस देश के शिक्षा मंत्री थे, यह प्रभाव बहुत बढ़ गया। राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद (NCERT) द्वारा तैयार की जाने वाली पुस्तकों पर ऐसे लेखकों का वर्चस्व बढ़ गया जो एक विशेष विचारधारा से संबद्ध थे और इतिहास, समाज विज्ञान तथा साहित्य को एक ख़ास नज़रिए से देखने और व्याख्यायित करने के आदी थे।

देश में नई सरकार आने के बाद पहले से चल रही पाठ्य-पुस्तकों का अवलोकन

और परीक्षण प्रारम्भ हुआ। उस समझ ऐसे तथ्य सामने आए जिसने सभी को चौंका दिया। उन पुस्तकों में इतिहास को बुरी तरह विकृत किया गया था। बामपंथी लेखकों तथा संस्थाओं ने नई व्यवस्था और नए बनने वाले पाठ्यक्रमों का घोर-विरोध किया। कारण बहुत स्पष्ट था। इस क्षेत्र से उनका वर्चस्व समाप्त हो रहा था वे अपने तर्क देश के सर्वोच्च न्यायालय में भी ले गए किन्तु वहां उनकी दलीलें और तर्क अस्वीकार कर दिए गए।

पिछले दिनों सर्वोच्च न्यायालय ने देश के सम्मुख उभरे एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विवाद पर अपना निर्णय देकर स्कूली स्तर पर शिक्षण जगत को बहुत बड़ी राहत दिलाई। राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान तथा प्रशिक्षण परिषद (एनसीईआरटी) द्वारा प्रभावित कुछ पुस्तकों के अनेक अंश ऐसे थे जो न केवल विवादास्पद थे, बल्कि इतने भ्रामक और दोषपूर्ण थे। ये पुस्तकें पिछले अनेक वर्षों से देश भर के स्कूलों में पढ़ाई जा रही थीं। इनमें से अधिक पुस्तकें प्राचीन और मध्ययुगीन इतिहास से सम्बन्धित थीं। जब इन त्रुटियों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ और अनेक मंचों से उनका विरोध मुखर होना प्रारम्भ हो गया तो सरकार ने यह आदेश दे दिया कि कतिपय अंश कक्षा में न पढ़ाए जाएं और आने वाली परीक्षाओं में उन अंशों के संदर्भ में प्रश्न न पूछे जाएं। इसी के साथ एनसीईआरटी ने अनेक शिक्षाविदों की सहायता से नई पुस्तकें लिखवाना प्रारम्भ कर दीं।

यहीं से सारा विवाद शिक्षा-संसार की सीधी सड़क से उतरकर राजनीति की गलियों में उतर गया और जिस विवाद को अकादमिक ढंग से अकादमिक हथियारों द्वारा सुलझाया जाना चाहिए था, उसके लिए लोगों ने तलवारें भांजनी शुरू कर दीं।

जैसा मैंने पहले लिखा है कि पिछले कुछ दशकों से इस देश की शिक्षा-नीतियों पर एक विशिष्ट विचारधारा के तथाकथित विद्वानों और शिक्षाविदों का वर्चस्व छाया रहा है, ये लोग इतिहास की अपने ढंग और स्वनिर्मित मान्यता के अनुसार व्याख्या करते हैं। इस सम्पूर्ण व्याख्या में बहुत 'प्रगतिशील' दिखने का प्रयास होता है और अनेक प्राचीन मान्यताओं, विश्वासों की परवाह नहीं की जाती, बल्कि उन्हें सीधी-सीधी चुनौती दी जाती है। इतिहास से खिलवाड़ करना और उसमें अपने ढंग से तोड़-मरोड़ कर लेना भी इस प्रगतिशीलता में आ जाता है।

वामपंथियों की दिक्कत यह है कि उनके सामने 'हिन्दू साम्प्रदायिकता' का हौवा सदा खड़ा रहता है। इसलिए वे किसी भी प्रश्न पर अपना नज़रिया वस्तुनिष्ठ (आब्जेक्टिव) नहीं रख पाते। उनकी हर क्रिया इस प्रतिक्रिया से प्रेरित होती है कि तथाकथित साम्प्रदायिकता की जो प्रेत छाया उन्हें सदैव पीड़ित करती रहती है, वह क्या सोचती या करती है।

नूरुल हसन में अपने कार्यकाल में ऐसे इतिहासकारों को विश्वविद्यालयों, अन्य शिक्षण संस्थाओं, पाठ्य-पुस्तकें तैयार करने वाले संस्थानों में प्राथमिकता दी जो उनके

दिशा निर्देश में कार्य कर सकें और इतिहास की वैसी व्याख्या कर सकें जैसी वे चाहते थे। पाठ्य-पुस्तकों को लिखने का कार्य भी ऐसे लोगों को ही सौंपा गया। वर्षों तक इनके द्वारा लिखित अथवा संपादित पुस्तकें बच्चों को पढ़ाई जाती रही। रायल्टी से ऐसे लेखकों को अतुल धनराशि तो प्राप्त हुई ही, विद्या के क्षेत्र में इनकी ऐसी धाक जमी कि कुछ को अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति का इतिहासकार घोषित किया जाने लगा। विदेशों में सम्पन्न होने वाले सम्मेलनों में वे सरकारी ख़र्च पर देश का प्रतिनिधित्व करने लगे।

उदाहरण के लिए यदि स्कूल में पढ़ने वाले बच्चों को उनकी प्राथमिक कक्षाओं में ही यह पढ़ाना प्रारम्भ कर दें कि प्राचीनकाल में आर्य गो मांस का भक्षण करते थे तो हम किस मन्तव्य को प्राप्त करना चाहते हैं? प्राचीन काल में गो मांस का भक्षण होता था या नहीं यह वैदिक विद्वानों के विवाद और खोज का विषय है किन्तु इस बात में तो किसी को संदेह नहीं है कि शताब्दियों से इस देश में बहुसंख्यक वर्ग द्वारा सम्पूर्ण गोवंश को पूज्य माना जाता रहा है। जो पूर्वरूप से शाकाहारी हैं उनके लिए तो सभी प्रकार का मांस वर्जित है, किन्तु जो मांसाहारी भी हैं, वे भी गो मांस भक्षण की बात नहीं सोचते।

जीवन में बहुत से प्रश्न हमारी आस्था से जुड़े होते हैं। वे समय पाकर तर्कातीत हो जाते हैं। कुछ वर्जनाएं हमारी सामूहिक सोच का हिस्सा बन जाती हैं। मुसलमान सुअर का मांस क्यों नहीं खाते हैं अथवा सिख तम्बाकू के सेवन से दूर क्यों रहते हैं, ये बहस के मुद्दे नहीं हैं। कोई लाल बुझक्कड़ यदि बच्चों को पढ़ाई जाने वाली किसी पुस्तक में इन मान्यताओं और वर्जनाओं के विपरीत लिख दे और दावा करे कि यह सब कुछ उसने बड़ी खोज के बाद लिखा है तो भी जनमानस उसे स्वीकार नहीं करेगा।

सबसे अधिक आश्चर्य श्री सतीश चंद्र की इतिहास-दृष्टि को लेकर होता है। कुछ लोग इन्हें बहुत बड़ा इतिहासकार मानते हैं, किन्तु अनेक वर्षों तक ग्यारहवीं कक्षा में पढ़ाई जाने वाली उनकी पुस्तक 'मध्यकालीन भारत' को देखकर यह नहीं लगता कि उन्हें इतिहास की कोई बुनियादी समझ भी है। किसी भी समय के इतिहास अथवा किसी भी इतिहास-पुरुष की जीवनी लिखते समय लेखक दो स्रोतों को अपना आधार बनाता है। एक स्रोत है बहिसाक्ष्य का जिनके माध्यम से उन सभी स्रोतों की पड़ताल की जाती है जो उसे तत्कालीन दस्तावेजों, कथनों, परम्पराओं से प्राप्त होता है। दूसरा स्रोत है अन्तःसाक्ष्य का। इतिहास में चित्रित व्यक्ति अथवा व्यक्तियों ने स्वयं क्या कहा और लिखा है। इनमें उनके आत्मीय जनों, जिन्होंने समय के घटना-क्रम को निकट से देखा या सुना है, का साक्ष्य बहुत महत्वपूर्ण होता है। 'मध्यकालीन भारत' में सतीश चंद्र ने यह लिखा था कि गुरु तेग़बहादुर ने असम से लौटने के बाद शेख अहमद सरहिंदी के एक अनुयायी हाफिज आदम के साथ मिलकर पूरे पंजाब में लूटमार मचा रखी थी और सारे प्रान्त को उजाड़ दिया था।

अपनी इस बात की पुष्टि के लिए सतीश चन्द्र ने जिस फारसी पुस्तक—'सियार-उल-

मुताखिदीन' को आधार बनाया उसके लेखक सैयद गुलाम हुसैन ने सन् 1783 में ईस्ट इंडिया कम्पनी के गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंगज की नौकरी करते हुए यह पुस्तक लिखी थी जो गुरु तेग़बहादुर जी के बलिदान के 108 वर्ष बाद लिखी गई थी। सतीश चंद्र ने पूरी एक शती में इस बलिदान के संबंध में जो कुछ भी लिखा गया था उसकी खोज करने और अध्ययन करने का कोई प्रयास नहीं किया था। गुरु तेग़बहादुर जी के बलिदान के कुल 25 वर्ष बाद उनके पुत्र गुरु गोबिंद सिंह ने अपनी आत्मकथा 'विचित्र नाटक' में उस सम्बन्ध में जो कुछ भी लिखा था, अपने आपको इतिहासकार मानने वाले सतीश चंद्र ने उसे देखने का कोई कष्ट नहीं उठाया था।

इसी प्रकार कश्मीर में हो रहे बलात् धर्म-परिवर्तन से त्रस्त कश्मीरी पंडितों के एक प्रतिनिधिमंडल का आनन्दपुर में गुरु तेग़बहादुर जी के पास आने को सतीश चंद्र पूरी तरह नकार देते हैं जबकि मध्यकाल के सर्वमान्य इतिहासकार सर जदुनाथ सरकार ने अपनी बहुचर्चित पुस्तक 'औरंगजेब' में इसका पूरा उल्लेख किया है।

सतीशचंद्र की यह पुस्तक न केवल भयंकर ऐतिहासिक त्रुटियों से भरी हुई है, बल्कि उनकी विकृत दृष्टि और ऐतिहासिक तथ्यों को जान-बूझकर तोड़ने-मरोड़ने की मंशा को भी स्पष्ट करती है। विकृतियों से भरी ऐसी पाठ्य-पुस्तकों को हटाकर उनके स्थान पर जब नई पुस्तकों के लिखवाए जाने का उपक्रम एनसीईआरटी ने किया तो कथित वामपंथी लॉबी ने जमकर शोर मचाना शुरू कर दिया कि सम्पूर्ण पाठ्यक्रम का भगवाकरण करने के प्रयास किया जा रहा है।

यह बात कभी मेरी समझ में नहीं आई है कि अपने आपको वामपंथी विचारक और बुद्धिजीवी होने का दावा करने वाले लोग इतिहास की ऐसी अक्षम्य त्रुटियों को क्यों नज़रअंदाज़ करते रहे हैं? उन्होंने स्वयं आगे बढ़कर इन त्रुटियों और भूलों की ओर क्यों नहीं संकेत किया? उन्होंने ऐसे अंशों को पाठ्य-पुस्तकों से हटाए जाने की मांग क्यों नहीं की? और जब यह कार्य कुछ अन्य व्यक्तियों और संस्थाओं ने करना प्रारम्भ किया तो उन्होंने लामबद्ध होकर इस प्रयास के विरुद्ध अभियान क्यों छेड़ दिया और इस पर रोक लगाने के लिए सर्वोच्च न्यायालय के द्वार पर जाकर गुहार मचाने लगे?

सर्वोच्च न्यायालय ने एनसीईआरटी द्वारा बनवाई गई पुस्तकों को विद्यार्थियों के लिए सुलभ कराने की अनुमति दे दी है। अब ये तथाकथित बुद्धिजीवी इन पुस्तकों में त्रुटियां ढूंढ़ने के लिए कमर कसे हुए हैं।

कुछ दिन पूर्व ही ऐसे लोगों ने एक पत्रकार सम्मेलन किया और शिक्षा जगत से जुड़े कुछ प्राचार्यों या अध्यापकों को अपने साथ जोड़कर सामाजिक विज्ञान की कुछ पुस्तकों की त्रुटियों की ओर पत्रकारों का ध्यान आकर्षित किया।

अपने आप में मुझे इस प्रयास में कोई बुराई नहीं दिखाई देती। मेरी शिकायत तो यह है कि इस देश में बहुत कुछ ऐसा होता रहता है जिसे लोग आंख मूंद कर सहते चले जाते हैं, उसके विरोध में कोई आवाज़ नहीं उठाते। एन.सी.ई.आर.टी. की पुस्तकों

में दोष ढूंढ़ने में इस समय सक्रिय वे लोग दिखाई दे रहे हैं जो पहले लगे पाठ्यक्रम के पूरी तरह सहभागी थे और इस समय उनके द्वारा लिखित अथवा संपादित पुस्तकें पाठ्यक्रम में नहीं है। यदि ये लोग वस्तुनिष्ठ होकर उस समय भी सक्रिय होते तो संभवतः भयंकर दोषों और त्रुटियों से भरी पुस्तकें वर्षों तक विद्यार्थियों को न पढ़ाई जातीं।

उदाहरण के लिए इन्हें किसी पाठ्यपुस्तक में इस समय यह भूल तो दिखाई दे गई कि मेडागास्कर द्वीप अफ्रीकी महाद्वीप का भाग है। वह, अरब महासागर में नहीं, हिन्द महासागर में स्थित है। किन्तु जब सतीशचंद्र ने 'मध्यकालीन भारत' में यह लिख दिया था कि गुरु हरिकृष्ण के पुत्र रामराय औरंगजेब के दरबार में थे तो पाठ्यक्रम से जुड़े लोगों को त्रुटि नहीं दिखाई दी थी कि गुरु हरिकृष्ण का देहावसान तो कुल आठ वर्ष की आयु में हो गया था, उनका युवा पुत्र औरंगजेब के दरबार में कैसे हो सकता था?

मुझे लगता है कि यह लम्बा संघर्ष है। इसके साथ कुछ आधारभूत बातें जुड़ गई हैं। हम अपने छात्रों को इस देश की परम्पराओं, विचारों, आस्थाओं के प्रकाश में शिक्षा देना चाहते हैं या उन्हें अपनी सम्पूर्ण परम्परा और थाती से तोड़कर ऐसी किसी विचारधारा से जोड़ देना चाहते हैं जिसमें वे अपने स्वत्व को पूरी तरह भूल जाएं। कुछ लोग बड़ी ऊंची आवाज़ में भगवाकरण की बात उठा रहे हैं। ये वहीं लोग हैं जो इतिहास के विकृतीकरण के दोषी हैं।

यह संघर्ष व्यक्तियों, संस्थाओं, व्यवस्थाओं के मध्य न रहकर विचारधाराओं के मध्य प्रारम्भ हो गया है इसलिए यह लम्बे समय तक चलेगा।

पाठ्य-पुस्तकों की परख को लेकर जिस प्रकार की तटस्थता, निष्पक्षता और वस्तुनिष्ठता की अपेक्षा की जानी चाहिए वैसी नहीं दिखाई दे रही है। आवश्यकता इस बात की है कि हमारे मानव संसाधन मंत्रालय के शिक्षा विभाग द्वारा सम्बद्ध विषयों के अधिकारी विद्वानों की एक समिति गठित की जाए तो सभी प्रकार के दोषों, त्रुटियों, भूलों और असंगतियों की निरन्तर जांच करती रहे। इस समिति के सम्मुख ही ऐसी बातें लाई जाएं और वहीं आपसी विचार-विमर्श और संवाद के माध्यम से उन्हें सुधारा जाए।

ये विषय मीडिया के माध्यम से सार्वजनिक विवाद के इतने नहीं है, जितने विद्वानों के आपसी विचार-विमर्श के हैं।

(दैनिक जागरण, 17-10-02)

पांच सदी बाद भी सार्थक संदेश

किसी भी महापुरुष की सार्थकता मुख्य रूप से दो बातों पर निर्भर करती है—एक उसका संदेश कितना सार्वजनीन और सार्वदेशिक है, दूसरे शताब्दियों के अंतराल के बावजूद वह अपनी कितनी संगति और उपयोगिता बनाए रख सकता है। इस पृष्ठभूमि में गुरु नानक देव का संदेश एक और सार्वजनीन और सार्वदेशिक है, दूसरी ओर लगभग पांच शताब्दियों के अंतराल के बाद भी अत्यन्त संगत, उपयोगी और सार्थक है। कई बार आधुनिक परिवेश में गुरुनानक देव के संदेश की संगति और सार्थकता पहले से कहीं अधिक मुखरित दिखाई देती है। आधुनिक चिंतन विचार और तर्क पर आधारित चिंतन है। कोई अवधारणा या विचार केवल इसलिए ही स्वीकार्य या मान्य नहीं है कि वह बहुत पुराना है और सदियों की लम्बी परम्परा द्वारा पोषित है। आधुनिक युग का वैज्ञानिक दृष्टिकोण चीज़ों को ज्ञान की कसौटी पर परखना सिखाता है। गुरु नानक देव ने सदा इस बात पर आग्रह किया था कि किसी बात को केवल इसलिए ही न स्वीकार कर लो, क्योंकि बहुत समय से लोग उसे स्वीकार कर रहे हैं। उन्होंने प्रत्येक मान्यता को तर्क और ज्ञान की कसौटी पर कसने का आग्रह किया। उनके जीवन से सम्बन्धित अनेक दृष्टान्त इस बात की पुष्टि करते हैं। जब उनका यज्ञोपवीत संस्कार होने लगा, जब हरिद्वार में उन्होंने गंगा में खड़े हुए लोगों को सूर्य की ओर जल देते देखा, जब गया में पण्डों ने उनसे पिंडदान करने को कहा और जब मक्का शरीफ में मौलवियों ने उनसे यह कहा कि वे खुदा के घर की ओर पैर करके न सोएं। इन सभी प्रसंगों में उन्होंने तर्क और विचार को आधार बनाकर अन्धविश्वास और संगतिहीन मान्यताओं और अवधारणाओं का खंडन किया और सत्य को पहचानने और उसे ग्रहण करने की प्रेरणा दी। अपनी एक रचना में उन्होंने एक स्थान पर कहा है—

सुण मुंधे हरणाखीए गुढ़ा वैण अपारि।
पहिला वसतु पछाणकै तउ कीजै वापारु।।

(हे आत्मारूपी हरिणाक्षी मुग्धे, मैं तुमसे एक गूढ़ बात कहता हूं...पहले वस्तु को तुम अच्छी तरह पहचान लो, फिर उसका व्यापार करो, पहले तथ्य को अच्छी तरह समझ लो, फिर उसका अनुगमन करो।)

हमारा आधुनिक परिवेश मानवीय स्वतंत्रता, एकता, बंधुता और समानता का समर्थक है। गुरु नानक के संदेश में इन मूल्यों का भरपूर प्रतिपादन है। वे बार-बार व्यक्ति को रूढ़ियों, अन्ध-विश्वासों, संकीर्णताओं, पाखंडों और अन्यायी शासकों से मुक्ति का संदेश देते हैं। पाखंडों से भरे एक सरकारी कर्मचारी को सुनाते हुए उन्होंने कहा था—तुम गऊ ब्राह्मण पर कर लगाते हो और गोबर का सहारा लेकर तर जाना चाहते हो। धोती, तिलक और माला धारण करते हो और दान म्लेच्छों का दिया खाते हो। घर के अन्दर पूजा करते हो और बाहर शासकों को प्रसन्न करने के लिए कुरान पढ़ते हो। यह सब पाखंड छोड़ क्यों नहीं देते।

गुरु नानक देव के संदेश का मुख्य बिंदु मानवीय बन्धुता, एकता और समता के भाव का प्रतिपादन रहा है। 'एक पिता के एकस में हम बारक' का सिद्धान्त उनकी मूल भावना है। हम सब का पिता परमेश्वर है। हम सब उसी की संतान हैं, इसलिए हम सब भाई-भाई हैं। इसीलिए गुरु नानकदेव ने जाति-पात, ऊंच-नीच और धनी-निर्धन के विभेद का कड़ा विरोध किया। उन्होंने कहा कि मनुष्य के अंदर की ज्योति को पहचानो, जाति को क्यों पूछते हो, क्योंकि आगे, मरणोपरान्त, जहां तुम्हारे सम्बन्ध में अंतिम निर्णय होगा, तुमसे कोई यह नहीं पूछेगा कि तुम्हारी जाति क्या है? गुरु नानक देव ने सभी को समान समझने, सभी में एक ईश्वरीय ज्योति के विद्यमान होने को सबसे बड़ी योग साधना माना।

उन्होंने कहा—'योग कंथा धारण करने, हाथ में डंडा ले लेने, शरीर पर भस्म रमा लेनें, कानों में मुद्रा पहन लेने, मूड़ मुड़वाने या श्रृंगी बजाने में नहीं है। वास्तविक योग संसार में रहते हुए भी सांसारिक बुराइयों से दूर रहने में है। वास्तविक योगी तो वह है जो सभी को समान समझता है, सभी को एक दृष्टि से देखता है। गुरु नानक ने इस देश के पतन के कारणों का सम्यक विश्लेषण किया। उन्होंने कहा सच बात यह है कि कोई भी देश अपनी अच्छाइयों को खो देने पर ही पतित होता है। मानो ईश्वर स्वयं जिसे नीचे गिराना चाहता है, पहले उसकी सारी अच्छाइयों को उससे छीन लेता है—

जि, नो आपि खुआए करता।
सुख ले चंगिआई।।

परन्तु इस देश की अच्छाइयों को, उसके गुणों को, उसकी एकता को ईश्वर ने क्यों छीन लिया? उसे पीड़ित और परतन्त्र होने के लिए क्यों छोड़ दिया? कारण स्पष्ट है। हमारे देश में एक ऐसी समाज व्यवस्था विकसित हो गई जिसमें कुछ लोग ऊंचे समझ लिए गए और असंख्य लोग नीचाई की उस सीमा तक ले जाए गए जहां उनका जीवन अपमान, घृणा, उपेक्षा, ताड़ना और हीनता की सतत् करुण कहानी भर बनकर रह गया। गुरु नानक देव ने कहा—ईश्वर तुमसे रुष्ट है, इसलिए उसने तुम्हारी सारी अच्छाइयां छीनकर तुम्हें इस स्थिति तक पहुंचा दिया है। उसकी कृपा दृष्टि चाहते हैं तो सबसे पहले इन कथित नीचों को संभालो, इन्हें गले-लगायो, इन्हें ऊपर उठाओ—

जित्थे नीच संभालियन
तित्थे नदरि तेरी बखशीस।

साथ ही गुरु नानक देव ने एक घोषणा की, मानो भावी भारत के समतामूलक समाज का वह घोषणा पत्र था—"नीचों में भी जो नीची जाति के हैं, उनमें भी जो नीची जाति के हैं, उनमें भी जो नीचे हैं, मैं सदैव उनके साथ हूं। अपने आप को दूसरों से बड़ा समझने वालों से मेरा कोई सम्पर्क नहीं है।" गुरु नानक ने अपने समय के समाज को, जो सम्मानहीन, लज्जाहीन होकर जीवन व्यतीत कर रहा था, झकझोर कर कहा—"अपना सम्मान खोकर जीना हराम है। उस जीवन को जीने के लिए जो कुछ भी खाया-पीया जाता है, वह सब हराम है।" स्त्रियों के संबंध में गुरु नानक देव ने एक प्रगतिशील और आधुनिक दृष्टिकोण को अपनाया। वह युग नारी-निंदकों का युग था। बड़े-बड़े संत-महात्मा नारी को मानवीय प्रगति की सबसे बड़ी बाधा समझते थे।

गुरु नानक देव ने ऐसे लोगों से पूछा—नारी से मनुष्य जन्म लेता है, उसी से उसका विवाह होता है। नारी के द्वारा ही अन्य लोगों से संबंध जुड़ता है, उसी के द्वारा संसार का क्रम चलता है। जब एक स्त्री मर जाती है तो दूसरी की खोज की जाती है, संसार के सभी बंधन उसी के माध्यम से उत्पन्न होते हैं। ऐसी नारी को बुरा क्यों कहा जाए जिससे बड़े-बड़े राजा जन्म लेते हैं—

भंडि जंमीऐ भंडि निमीऐ भंडि मंगणु वीआहु।
भंडहु होवै दोसती भंडहु चलै राहु।।
भंडु मूआ भंडु भालीऐ भंडि होवै बंधानु।
सो किउ मंदा आखीऐ जितु जंमहि राजान।

गुरु नानक देव अपने समय के एक अत्यन्त जागरूक जन-नायक थे। जन-नायक अपने लोगों में आत्मबोध का भाव उत्पन्न करता है, उन्हें अपनी समस्याओं के प्रति

सचेत करता है, उनमें समस्याओं से जूझने की शक्ति पैदा करता है। वह अन्याय का विरोध करता है और शोषक-अन्यायी शक्तियों का मुखौटा उतारता है। गुरु नानक देव ने अपने समय के शासकों और राज कर्मचारियों के स्वरूप और दुर्नीति का चित्रण करते हुए एक स्थान पर लिखा था—आज के राजा व्याघ्र के समान हिंसक हैं, उनके कर्मचारी कुत्तों के समान लालची हैं और शान्त जनता को बिना किसी कारण पीड़ित करते रहते हैं। उनके नौकर अपने पैरों के नाखूनों से लोगों को जख़्मी करते रहते हैं और उनका लहू कुत्तों की तरह चाट जाते हैं। जहां इनके कर्मों की परख की जाएगी, वहां इनकी नाक काट ली जाएगी।

राजे सींह मुकद्‌म कुत्ते।
जाई जगाइन बैठे सुत्ते।
चाकर नहंदा पाइन्हि घाउ।
रतु पितु कतिहो चटि जाहु।
जिथे जींआ होसी सार।
नकी वडी लाइत बार।।

उस समय के राजाओं, सामन्तों, राज कर्मचारियों द्वारा निरीह जनता पर किए जाने वाले अत्याचारों पर इतनी तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए जब वे इस स्थिति से अधिक द्रवित हो उठते थे तो अपना असंतोष व्यक्त करने के लिए उसके दरबार में पहुंच जाते थे जिसके प्रति रोष व्यक्त करने में सभी अपने आपको असमर्थ समझते थे। बाबर ने हिंदुस्तान पर आक्रमण किया। चारों ओर की भयंकर मारकाट में देश की जनता पीड़ित होने लगी। गुरु नानक के ही शब्दों में—''जिन स्त्रियों के सिर में सुंदर पट्टियां शोभित होती थीं, जिनकी मांग में सिंदूर भरा हुआ था, अत्याचारियों ने उनके केश काट डाले और उनको धूल में इस तरह घसीटा कि उनके गले तक धूल भर गई। जो महलों में निवास करती थीं, अब उन्हें बाहर बैठने की जगह भी नहीं मिलती। विवाहित स्त्रियां जो अपने पतियों के साथ सुशोभित थीं, जो पालकियों में बैठकर आई थीं, उन पर लोग जल न्योछावर करते थे, बहुमूल्य पदार्थों के जड़े पंखे आस-पास झूलते थे...सेजों पर रमण करती थीं, अब उनके गले की मोतियों की माला टूट गई है, और उसके स्थान पर अत्याचारियों ने रस्सियां डाल दी हैं। धन और यौवन उनके बैरी हो गए हैं। सिपाहियों को आज्ञा मिली और वे उनकी इज़्ज़त लूट कर चलते बने''—

जिन सिरि सोहनि पट्टीआं मांगी पाई संधूर।
से सिरकाती मुनीअन्हि गल विचि आवै घूड़।।
महलां अन्दरि होंदिआं हुणि बहणिन मिलन्ह हदूरि।।

धनु जोबनु दुइ बैरी होए जिन्ही रखे रंगु लाइ।।
दूता नू फूरमाइआ लै चलै पति गवाइ।।

जब चारों ओर करुणाजनक स्थिति उत्पन्न हो गई तो गुरु नानक ने परमात्मा को संबोधित करते हुए कहा–'हे परमात्मा, बाबर के खुरासान को तुमने अपना बना लिया, परन्तु हिन्दुस्तान को उसके आक्रमण से आतंकित कर दिया। तुम स्वयं इस स्थिति को उत्पन्न करते हो, अपने को दोष न देने के लिए तुमने मुगलों को यमदूत बनाकर इस देश में भेज दिया। चारों ओर इतनी मार-काट हुई कि लोग त्राहि-त्राहि कर रहे हैं। तुम्हारे मन में इन निरीह जनों के प्रति जरा भी दर्द नहीं उत्पन्न हो रहा है'–

खुरासान खसमाना कीआ हिन्दुस्तान डराइआ।
आपै दोस न देई करता जमु करि मुगल चढ़ाइआ।
एती मार पई करलाणै तैं की दरदु न आइआ।।

अपने देश पर विदेशियों द्वारा किए गए अत्याचारों से विक्षुब्ध होकर ईश्वर के प्रति ऐसी ताड़ना भरी शिकायत गुरु नानक देव के संदेश को आधुनिक सोच और परिवेश के एकदम निकट ले आती है। इसी प्रसंग में गुरु नानक देव उन लोगों को भी क्षमा नहीं करते जिनकी चरित्रहीनता, अकर्मण्यता और ऐशपरस्ती के कारण इस देश की ऐसी दुर्दशा हुई–

रतन बिगाड़ि विनोए कुत्ती
मोइआं सार न काई।

इन कुत्तों ने रत्न के समान इस सुंदर देश को बिगाड़कर नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। इनके मरने के बाद, इनकी कोई खोज ख़बर नहीं लेगा। आधुनिक परिवेश में गुरु नानक देव का संदेश उतना ही प्रभावशाली और सार्थक है जितना आज से पांच शताब्दी पूर्व था।

(दैनिक जागरण, 21-11-02)

कितना प्रसार है ज्योतिष के धंधे का

प्रातःकाल मेरी सबसे पहली आवश्यकता समाचार पत्र होती है, किन्तु उसी समय एक गहरी खीझ मेरे अंदर उतर जाती है। अखबार का पहला पन्ना पलटते ही मुझे उसके अंदर पड़ा हुआ एक विज्ञापन मिलता है जो किसी न किसी ज्योतिषी का होता हैं।

इन दिनों इस देश में दो धंधे बहुत फल-फूल रहे हैं। उनमें एक ज्योतिष का है और दूसरा साधु-संतों का है। इन धंधों को चलाने के लिए न्यूनतम भौतिक पूंजी की आवश्यकता होती है। इसके लिए कोई कल-कारखाना नहीं लगाना पड़ता, न किसी आकर्षक शोरूम की ज़रूरत पड़ती है। ये काम अपने घर से ही शुरू किए जा सकते हैं। एक टेलीफोन हो तो बहुत अच्छी बात है। ऐसे धंधे में यह सरकारी कानून भी लागू नहीं होता कि रिहायशी क्षेत्रों से आप कोई व्यावसायिक धंधा नहीं चला सकते। इसमें आयकर और बिक्री कर के अधिकारियों का भी कोई हस्तक्षेप नहीं होता। किसी प्रकार का बही-खाता या मुनीम रखना भी अनिवार्य नहीं है। किसी काम का 'रामभरोसे', चलना हमारी भाषा का प्रचालित मुहावरा है किन्तु ये धंधे पूरी तरह 'रामभरोसे' ही चलते हैं। इस भरोसे चलकर ही लाखों-करोड़ों का धंधा करते हैं।

ज्योतिष की बात लें। सड़कर पर बैठे हुए किसी सिखाई हुई चिड़िया को पिंजड़े में से निकालकर आपके भाग्य की पर्ची निकलवाने वाले ज्योतिष से लेकर बहुत स्थापित और ऊंचे स्तर के ग्राहकों—फिल्मी हस्तियां, बड़े व्यापारियों और राजनेताओं—में अपनी पहुंच रखने वाले सम्पन्न ज्योतिषयों तक यह धंधा खूब फैला हुआ है।

ज्योतिष की समस्या मूलतः मनोवैज्ञानिक समस्या है। मनुष्य-जीवन का सबसे बड़ा रहस्य यह है कि कोई भी व्यक्ति अपने भविष्य के बारे में नहीं जानता, किन्तु सभी जानना चाहते हैं कि उनका भविष्य क्या है। समाज में इतनी असमानता और अनिश्चितता

है कि लगभग हर व्यक्ति अपने 'कल' को लेकर चिंतित रहता है। एक परिवार के दो भाइयों में एक समृद्धिपूर्ण जीवन जीता है और दूसरे को रोजी कमाने के लिए दर बदर भटकना पड़ता है। भविष्य को 'भाग्य का खेल' मानकर स्वीकार कर लेते हैं। भविष्य की अनभिज्ञता और अनिश्चितता उसमें असुरक्षा उत्पन्न करती है। असुरक्षा का गहरा बोध आम व्यक्ति को ज्योतिषियों की ड्योढी पर नाक रगड़ने को मज़बूर कर देता है।

पिछले दिनों मुझ पर एक सनक सवार हुई। समाचार-पत्रों तथा अन्य माध्यमों से ज्योतिषियों का जो प्रचार-साहित्य, विज्ञापन, जिज्ञासुओं के प्रश्न-उत्तर प्रकाशित होते हैं उन्हें मैंने एकत्र करना प्रारम्भ किया। इन सभी में बहुत विचित्र सी समानताएं मुझे देखने को मिली। आम व्यक्ति की पहली चिंता रोटी है। जिसकी प्राप्ति के लिए वह व्यापार करता है या नौकरी। फिर उसकी अन्य समस्याएं प्रारम्भ हो जाती हैं। उसके वैवाहिक या पारिवारिक जीवन का संकट प्रारम्भ हो जाते हैं। जमीन-जायदाद के झगड़े उसे कोर्ट-कचहरी तक ले जाते हैं। व्यापार में वह लाभ प्राप्त करना चाहता है, किन्तु उसे घाटा हो जाता है। नौकरी में वह पदोन्नति चाहता है, किन्तु सभी को वह सहज रूप में प्राप्त नहीं होती। उसमें भी अनेक बाधाएं आ जाती हैं। संतान उसकी तीसरी बड़ी चिंता है। कभी वह मिलती नहीं, यदि मिलती है तो मनचाही नहीं मिलती। मनुष्य को स्वास्थ्य की चिंता भी सदा घेरे रहती है। कभी उसके अपने और कभी परिवार के किसी सदस्य के गिरते स्वास्थ्य के कारण उसका मानसिक और आर्थिक संतुलन विगड़ने लगता है।

एक बात और बहुत व्यापक है-मनचाहा वशीकरण। हर ज्योतिषी यह दावा करता है कि वह पलक झपकते आपको प्रेमिका अथवा प्रेमी को आपके वश में ला सकता है। उसके पास सिद्ध किया हुआ ऐसा मंत्र है कि उसे पढ़ते ही आपका मनचाहा व्यक्ति बस कुछ ही समय में आपकी आगोश में आ जाएगा।

एक और संकट से हमारे समाज के बहुत से व्यक्ति ग्रसित रहते हैं। चूंकि इस समाज में असुरक्षा का भाव बुरी तरह व्याप्त है, इसलिए ऐसे लोग लगातार यह महसूस करते हैं कि उनके दुश्मन चारों ओर फैले हुए हैं जो किसी न किसी प्रकार उन्हें नुकसान पहुंचाना चाहते हैं। नुकसान पहुंचाने का सीधा और सरल उपाय जादू-टोना है। कभी किसी के विरुद्ध 'मूठ' चलाई जाती है, कभी उसे समूल नष्ट करने के लिए चंडी पाठ कराया जाता है, कभी गुपचुप रूप से उसके घर के किसी कोने में जादू करने वाली कुछ चीज़ें गाड़ दी जाती है, कभी किसी तांत्रिक द्वारा उस पर टोना कर दिया जाता है, कभी किसी को अगिया बैताल पकड़ लेता है, कभी उसकी किसी गलती के कारण कोई जिन्न, भूत-प्रेत या डाकिनी उसकी जाने लेने पर उतारू हो जाते है।

किसी भी ज्योतिषी, तांत्रिक अथवा काला जादू का माहिर होने का दावा करने वाले बाबा के लिए ऐसे जादू-टोना ग्रस्त लोग सबसे अच्छे आसामी होते हैं इन सभी ज्योतिषयों और तांत्रिकों के विज्ञापन का अध्ययन करते समय मैंने पाया कि अधिसंख्य ज्योतिषी भक्तजनों की धार्मिक आस्थाओं का पूरा लाभ उठाते हैं। कोई माता दुर्गा का परम भक्त होने का दावा करता है, कोई हनुमान जी का अनन्य उपासक होने को प्रचारित

करता है, कोई शिवजी का सहारा लेता है तो कोई गायत्री मंत्र का और महाकाली का किसी ने अपनी दुकान का नाम गुवाहाटी की मां कामाख्या ने नाम पर रखे होता है तो किसी ने श्री भगवती, मां अम्बे, महालक्ष्मी के नाम पर। ऐसा धंधा चलाने के लिए इन देवी-देवताओं का सहारा लेना बहुत ज़रूरी है।

सभी ज्योतिषी और तांत्रिक अपना 'चमत्कार' दिखाने के लिए बहुत थोड़ा समय मांगते है। यह समय अधिक से अधिक 72 घंटे (3 दिन) का होता है। कुछ ज्योतिषी समय सीमा घटा कर दो दिन कर लेते हैं। कुछ तो यह दावा भी करते हैं कि समस्या लेकर आइए और समाधान लेकर जाइए। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि आप निस्संतान हैं तो ज्योतिष कार्यालय में आइए फीस दीजिए और संतान ले जाइए। ज्योतिष प्रचार के लिए वितरित होने वाले हर पर्चे में बाक्स बनाकर एक सूचना छपी होती है–''जिस बहन के संतान न होती है या होकर नष्ट हो जाती हो, एक बार अवश्य मिले।''

इन ज्योतिषियों-तांत्रिकों में आपसी होड़ और स्पर्धा भी किसी कपड़ा धोने वाला साबुन बनाने वाले कारखाने से कम नहीं होता। ऐसी किसी दुकान पर यह लिखा होना अनहोनी बात नहीं है–'नक्कालों से सावधान...देख-परख कर ही असली माल खरीदिए।' ज्योतिषी और तांत्रिक भी अपने विज्ञापनों में लिखते हैं–नक्कालों और धोखेबाजों से सावधान। झूठे ज्योतिषिओं व तांत्रिकों द्वारा किए हुए उपायों से निराश व असफल व्यक्ति हमसे एक बार अवश्य मिलें। हम उनकी समस्या का सामाधान करने की गारंटी देते हैं। लगभग हर ज्योतिषी 'गारंटी' शब्द का अवश्य प्रयोग करता है। जैसे एक डिटरजेंट बनाने वाली कम्पनी दावा करती है कि पहले इस्तेमाल करें, फिर विश्वास करें, वैसे ही कुछ ज्योतिषी यह कहकर ग्राहकों को आकर्षित करते हैं–पहले काम बाद में फीस। फीस भी सभी की एक सी है–श्रद्धानुसार। यह बड़ी लम्बी रस्सी है, जो जितना चाहे उतना उसमें बंध जाए। ग्राहक आएगा तो कुछ न कुछ दे ही जाएगा–ले तो कुछ जाएगा नहीं।

अपने दुःखों और कष्टों से पीड़ित एक व्यक्ति ऐसे ही किसी ज्योतिषी के पास गया। उसने उसे अपनी व्यथा बताई और पूछा–'महाराज मेरे कष्ट कब दूर होंगे?' ज्योतिषी ने उसका माथा देखा, हाथ देखा, गणित का कुछ हिसाब लगाया और बोला दो वर्ष अभी और कष्ट सहो, फिर सब ठीक हो जाएगा। वह व्यक्ति कुछ प्रसन्न हुआ। उसने पूछा–सचमुच महाराज, क्या दो वर्ष बाद मेरे सभी कष्ट दूर हो जाएगें? किसी कमज़ोर क्षण में ज्योतिषी के मुंह से सच निकल गया–'कष्ट तो दूर नहीं होंगे, लेकिन तुम्हें कष्ट सहने की आदत पड़ जाएगी।'

लगभग सभी ज्योतिषी यही काम करते हैं। उनसे किसी के कष्ट तो कदाचित ही दूर हों, हां, लोगों को भुलावे में रखकर उनमें कष्ट सहने की आदत अवश्य डाल देते हैं।

मैं सोचता हूं आखिर अपने देश में यह कैसा सर्व-व्यापी और सर्वग्रासी व्यापार चल रहा है? इस व्यापार में सबसे अधिक शोषण मध्य वर्ग का होता है। बड़े व्यापारी फिल्म वाले और राजनीति करने वाले तो बड़ी मछलियां हैं। उन्हें खाने वाले बड़े-बड़े

मगरमच्छ उन्हीं के आस-पास रहते हैं। अखबारों में पर्चे डालकर या दीवारों पर चिपकवाकर विज्ञापनबाजी करने वाले ज्योतिषियों और तांत्रिकों का शिकार तो वह मध्य वर्ग बनता है जो अपने छोटे से व्यापार, नौकरी, परिवार, बीमारी, मुकदमेबाजी जैसी मुसीबतों से दिन-रात जूझता रहता हैं। ऐसे ज्योतिषी-तांत्रिक उन्हें आश्वासनों और आशाओं से भरी ऐसी झूठी दुनिया में ले जाते हैं जो उन्हें अधिक निराश और कुंठित बना देती है।

मुझे अधिक आश्चर्य और दुःख उस समय होता है जब मैं यह देखता हूं कि लोगों को ऐसे अंधविश्वासों से दूर करके उन्हें अधिक स्वावलम्बी और कर्मठ बनाने की बजाय बहुत पढ़े-लिखे और समझदार दिखने वाले लोग ऐसी विधाओं को सार्थक सिद्ध करने के लिए उनकी व्याख्याएं करने लगते हैं। देश का ऐसा कौन सा समाचार-पत्र है जो किसी न किसी रूप में ज्योतिष-सम्बन्धी कोई कालम नहीं छापता, भविष्यवाणी नहीं करता, राशिफल नहीं प्रकाशित करता और किसी न किसी प्रकार उसे वैधता नहीं देता ।

क्या ज्योतिष के माध्यम के भविष्य में होने वाली घटनाओं को जाना जा सकता हैं? उनकी परख की जा सकती है? उनसे बचने के उपाय ढूंढे जा सकते हैं? यदि इनका उत्तर हां में है तो हज़ार पूर्व हमारे ज्योतिषियों ने यह बात क्यों नहीं जान ली थी कि ग़जनी (अफगानिस्तान) से लाव-लश्कर लेकर आने वाला सुल्तान महमूद हज़ारों कोस की यात्रा तय करके भगवान सोमनाथ के मंदिर की ओर क्यों आया था। वह वहां क्या करेगा? उसके आक्रमण को किस प्रकार रोका जा सकता है? भारत का इतिहास विदेशी आक्रमणों, अत्याचारों, संतापों और पराजयों से भरा हुआ इतिहास है। क्या हमारे सर्वगुण सम्पन्न ज्योतिषी इस देश को उसके आसन्न संकट से परिचित नहीं करा सकते थे? क्या ये सभी ज्योतिपी और तांत्रिक मिल कर यह बता सकते हैं कि इस देश को गरीबी, भुखमरी, बेकारी और अशिक्षा से कब मुक्ति मिलेगी? क्या ये उन राजनेताओं का भविष्य बता सकते हैं जो भ्रष्टाचार में आकण्ठ डूबे हुए हैं और देश में सभी साधनों को दीमक की तरह चाट रहे हैं। कम से कम इनकी विद्या इतना तो बता ही सकती है कि 13 दिसम्बर की भारतीय संसद पर आतंकियों द्वारा जो हमला हुआ था, उस जैसी पुनरावृति कब और कहां हो सकती है।

यह प्रश्न किसी ज्योतिषी या तांत्रिक को उद्वेलित नहीं करते।

गुठलीनुमा एक चीज़ होती है, जिसे पंजाब में गिद्धड़सिंगी कहा जाता है। ऐसी लोक मान्यता है कि जिस किसी के पास गिद्धड़सिंगी होती है, उसके सभी काम पलक झपकते हो जाते हैं । बहुत से ज्योतिषी भी अपने पास इस गुठली के होने का दावा करते हैं।

मैं समझता हूं कि सभी ज्योतिषियों और तांत्रिकों के पास एक 'गिद्धड़सिंगी' होती है। यह गिद्धड़सिंगी लोगों के बीच अन्धविश्वास और अज्ञान है। इसकी सहायता से वे सदियों से अपना धंधा चलाते आ रहे हैं और आगे भी चलाते रहेंगे।

(दैनिक जागरण, 12-12-02)

जनजागरण के प्रेरक थे गुरु गोबिंद सिंह

गुरु गोबिंद सिंह का व्यक्तित्व एक अद्‌भुत व्यक्तित्व था वे दो सौ वर्ष से चली आ रही गुरु-परम्परा के दसवें उत्तराधिकारी थे, स्वयं संत थे, अपने असंख्य अनुयायियों के धर्म गुरु थे, परन्तु उसी के साथ अपने समय की उभरती हुई जन-चेतना के नेता थे। अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध उन्होंने अपनी आवाज़ बुलन्द की, अपने शिष्यों को समय की आवश्यकता के अनुसार नये स्वरूप में ढाला, उनमें अपने स्वत्व और अपने अधिकारों की रक्षा का आत्मविश्वास उत्पन्न किया, संसार की बड़ी से वड़ी शक्ति से टकराने का उनमें साहस उत्पन्न किया इसीलिए उन्हें संत-सिपाही कहा जाता है।

गुरु गोबिंद सिंह का जन्म पांच सुदी सप्त की सम्वत 1723 विक्रमी अथवा 20 दिसम्बर सन् 1666 में पटना नगर में हुआ था। उनका जीवन जितनी विविधता और विशालता से भरा हुआ है, उतनी ही विविधता और विशालता उनके जन्म स्थान, कार्य क्षेत्र और देहावसान में भी दिखायी देती है। जन्म स्थान सुदूर पूर्व पटना में, कार्य क्षेत्र पंजाब, हरियाणा और हिमाचल प्रदेश में और देहत्याग महाराष्ट्र के नांदेड नगर में। उनके जीवन कार्यों की भांति मानो दैव में उनकी जीवनावधि को भी भारत की एकता का प्रतीक बना दिया था।

गुरु गोबिंद सिंह को मानवता का मसीहा कहा जा सकता है। मानवीयता की पहली शर्त है मनुष्य की गरिमा की रक्षा करना। मनुष्य को छोटा बनाकर कोई धर्म, कोई दर्शन, कोई विचार बड़ा नहीं बन सकता। मनुष्य का कल्याण, उसका सर्वपक्षीय विकास और उस विकास के लिए सामाजिक जीवन में अनुकूल वातावरण का निर्माण उस गरिमा को स्थिर रखने, पुष्ट करने और उसकी अभिवृद्धि करने के सहायक तत्व हैं। गुरु गोबिंद

सिंह ने अनुभव किया था कि मानवीय गरिमा की रक्षा के लिए मानवीय समता के विचार को कार्यरूप में बदलना चाहिए।

इस विचार को कार्यान्वित करने के लिए उन्होंने सन् 1699 की बैसाखी के दिन आनन्दपुर साहिब में एक विशाल आयोजन किया। उन्होंने लोगों से कहा कि मानवीय अधिकारों की रक्षा के लिए मुझे सिर चाहिए। शीश-दान की परीक्षा में जो पांच आत्मोसर्गी उत्तीर्ण हुए उनमें नाम थे दया राम, धर्मदास, मोहकम चंद, हिम्मत राय और साहब चंद। ये सभी अलग-अलग स्थानों और अलग-अलग जातियों के लोग थे। दया राम लाहौर का खत्री था, धर्म दास दिल्ली के पास हस्तिनापुर का जाट था, मोहकम चंद द्वारका (गुजरात) का धोबी था, हिम्मत राय जगन्नाथ पुरी (उड़ीसा) का कहा था और साहब चंद बीदर (कर्नाटक) का नाई था, गुरु गोबिंद सिंह ने इन्हें लोहे के कढाव में, लौह अस्त्रों से स्पन्दित और गुरुवाणी के पाठ से मंत्रित अमृत पिलाया। उस में गुरु-पत्नी ने थोड़े से बताशे डाल दिये। जिसका मतलब था कि ये सभी लौहपुरुष तो हों ही, साथ ही मिष्ट भाषी भी हों। इस अमृत को पीने के बाद ये प्रादेशिक विभिन्नता और जातिगत असमानता से ऊपर उठकर नयी मानवता की समतल भूमि पर आकर दया सिंह, धर्म सिंह, मोहकम सिंह, हिम्मत सिंह और साहब सिंह में रूपान्तरित होकर 'पंज प्यारे' बन गये।

इस प्रक्रिया से गुरु गोबिंद सिंह ने अपने आपको भी अलग नहीं रखा। 'पंज प्यारे' से उन्होंने स्वयं अमृत ग्रहण किया और गोबिंद राय से गोबिंद सिंह बन गये—स्वयं ही गुरु और स्वयं चेले।

उनके पंच प्यारों में चार ऐसे थे, जिन्हें इस देश की 'रूढ़ समाज व्यवस्था' 'शूद्र' कहकर नीची श्रेणी का व्यक्ति घोषित कर रही थी। गुरु गोबिंद सिंह की खुली हुई बांहों में वे सभी सिमट गये। उन्हें साथियों, सम्बन्धियों और अनुयायियों में ऊंची समझी जाने वाली जातियों के लोग भी थे। उन्होंने आपत्ति की "गुरु जी, आप यह क्या कर रहे हैं। नीच जाति के लोगों को आप हमारे बराबर का स्थान दे रहे हैं।"

उन्होंने बड़ी विनम्रता से कहा—"जिन्हें आप नीच कह रहे हैं, मैंने सभी युद्ध इन्हीं की कृपा से जीते हैं, मेरे सभी संकट इन्हीं की कृपा से दूर होते हैं। इन्हीं की कृपा से मेरा लुटा हुआ घर फिर से भर जाता है। मेरी विद्या इन्हीं की कृपा का प्रसाद है। मेरे शुत्र इन्हीं ही कृपा से पराजित होते हैं। मैं जो कुछ भी हूं, इन्हीं की कृपा से हूं, नहीं तो मेरे जैसे करोड़ों इस संसार में हैं—कौन पूछता है उन्हें। उन्हीं के शब्दों में—

जुद्ध जिते इनही के प्रसादि,
इनही के प्रसादि सु दान करे।
अध औध टरै इनही कि प्रसादि
इनही की कृपा पुन धाम भरे।।

इनही के प्रसादि सु विदिआ लई,
इनही की कृपा सभ सुत्र मरे।
इनही की कृपा से सजे हम है,
नाहि मो सों गरीब करोर परे।।

इसी प्रसंग में उन्होंने कहा कि समाज जिन्हें छोटा समझता है, जिनकी उपेक्षा करता है, जिन पर अन्याय और अत्याचार होता है, मैं उनका सेवक हूं। मेरा मन, मन, धन और घर सब इन्हीं का है।

सेव करी इनही की भावत,
और की सेव सुहात न जो को।
दान दियो इनही को भलो,
अरु आन को दान न लागत नीकी।
आगै फैले इनही को दियो।
जग में जसु और दियो सब फीकी।
मो गृह, मो तन से सिरलौं।
धन है सब ही इनही को।

इस देश की आजादी के लिए गुरु गोबिंद सिंह ने बहुत से युद्ध किये थे। आदर्शों की रक्षा और मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए व्यक्ति को अपने से भी और परायों से भी अनेक स्तरो पर संघर्ष करना पड़ता है। गुरु गोबिंद सिंह को भी करना पड़ा परन्तु सभी संघर्ष और झंझवातों के मध्य एक क्षण के लिए भी उन्होंने अपनी मूल्य-दृष्टि को खंडित नहीं होने दिया। व्यवहार के स्तर पर पीर बुद्धूशाह जैसे मुसलमान फकीर अपने पुत्रों और अनुयायियों सहित उनके साथ कंधे से कंधा मिलाकर अन्याय के विरुद्ध लड़े थे। सिद्धान्त के स्तर पर वे लगातार इस बात का आग्रह करते रहे कि इस दृश्यमान संसार के विभिन्न विभेदों के मध्य एक अभेद और अखंड शक्ति का निवास है। सब कुछ उसी से उत्पन्न होकर उसी में समा जाता है। अपने एक कविता में वे इस भाव को इस प्रकार व्यक्त करते हैं–

जैसे एक आग ते कनूका कोट आग उठे,
निआरे निआरे हुई के फेरि आग में मिलाहिंगे।
जैसे एक घूरते अनेक धूर पूरत हैं,
जैसे एक नद ते तरंग कोट उपजत है,
घूर के कनूगा फेर, घूर हो समाहिंगे

पानि के तरंग सबै पानि ही कहाहिंगे।
तैसे विस्व रूप से अभूत भूत प्रकट होइ,
ताहो ते उपज सबै ताही में समाहिंगे।।

यदि यह मानवीय सृष्टि उस एक विश्वरूप से ही उत्पन्न हुई है तो फिर भेदभाव कैसा? संसार में मानवीय भेदभाव को कभी वर्ण, कभी देश, कभी सम्पन्नता, विपन्नता आदि अनेक आधारों पर पाला-पोसा जाता रहा है परन्तु ये सभी आधार ग़लत हैं। सच्चाई तो यह है कि मनुष्य तो एक ही है। विभिन्न प्रभावों के कारण कुछ लोग मंदिरों में जाते हैं, कुछ मस्जिदों में, कुछ लोग एक प्रकार का जीवन व्यतीत करते हैं, कुछ दूसरे प्रकार का। गुरु गोबिंद सिंह कहते हैः—

देहरा मसीत सोई पूजा औ निवाज ओई,
मानस सबै एक पै अनेक को भ्रमाउ है।
देवता अदेव जच्छ गन्धर्व तुरक हिन्दू।
निआरे निआरे देसन के भेस को प्रभाउ है,
एकै नैन एकै कान, एकै देह एकै बान,
खाक सद आतश औ आब को रलाउ है।
अल्लाह अभेखुं सोई, पुरान औ कुरान ओई,
एक ही स्वरूप सबै एक ही बनाउ है।।

दिखने वाला सम्पूर्ण मानवीय अंतर जलवायु, परिवेश और वातावरण की उपज है। यह अंतर मूलभूत नहीं है। मुंडा संन्यासी होने या योगी बनने, ब्रह्मचारी या यति बनने से हिन्दू या मुसलमान होने से मानवीय स्वरूप तो नहीं बदल जाता। उन्होंने कहा—मैं इन सभी भेदों के रहते हुए भी मनुष्य मात्र को एक जैसा मानता हूं। मैं मानता हूं कि सभी मनुष्यों में एक ही ज्योति का निवास है। इसलिए मैं भूलकर भी मनुष्य और मनुष्य में किसी भेद को स्वीकार करने को तैयार नहीं हूं...

कोऊ भयो मुंडिया संन्यासी कोई जोगी भयो,
कोऊ ब्रह्मचारी कोऊ जति अनुमान बो?
हिन्दू तुरक कोऊ राफिजी इमाम शाफी,
मानस की जात सबै एकै पहचानबो।।
करता करीम सोई राजक रहीम ओई,
दूसरो न भेद कोई भूल भ्रम मानबो।।
एक ही कह सेव, सभ ही को गुरुदेव एक,
एक ही सरुप सबै एकै जोत जानबो।

गुरु गोबिंद सिंह का सम्पूर्ण जीवन देश भक्ति, मानव मूल्यों की रक्षा का जीवन है। इसके लिए वे जीवन भर संघर्ष करते रहे। इन्हीं मूल्यों की रक्षा के लिए उनके पिता, गुरु तेग़बहादुर जी ने दिल्ली के चांदनी चौक में अपना बलिदान दिया। इन्हीं मूल्यों की रक्षा में उनके चारों पुत्र शहीद हो गये। इन्हीं मूल्यों के लिए अंत में उन्होंने अपने प्राण भी न्यांछावर कर दिये। गुरु गोबिंद सिंह का सम्पूर्ण साहित्य उनमें जीवन, आदर्शों से अनुप्राणित साहित्य है। उन्होंने सदा यह कामना की, कि वे सदा शुभ कर्म करने को प्रेरणा ही अपनेअनुयायियों को दें। उन्होंने एक ही सीख दी कि व्यक्ति को गौरव और स्वाभिमान से जीना चाहिए और उसी स्वाभिमान के साथ जीवन के युद्ध में संघर्ष करते हुए मरना चाहिए। अपनी एक रचना में वे कहते हैं—

देह शिवा वर मोहि इहै सुभ करमन ते कबहूं न टरौं।
न डरौं अरि सों जब जाइ लरौ निसचै कर अपनी जीत करौं।
अरु सिखहौं अपने ही मन कउ इह लालच हौ गुन तउ उचरौं।।
जब आउ की निदान बनै अति की रण में तब जूझ मरौं।।

(दैनिक जागरण, 9-1-03)

कट्टरता से कोई धर्म बड़ा नहीं बनता

धर्म एक व्यापक संदेश है। यह ऋषियों, पैग़म्बरों, गुरुओं, संतों द्वारा और उनके संचित वचनों द्वारा प्रकाशित होता है। संसार के सभी धर्मों के सार तत्व यदि एक स्थान पर एकत्र किए जाएं तो वहुत थोड़े शब्दों में ये सिमट जाएंगे—मन, वाणी और शरीर से किसी को कष्ट न देना, सत्य पर दृढ़ रहना, काम, क्रोध और लोभ से बचना, मानव मात्र से प्रेम करना, किसी का शोषण न करना, पीड़ितों की सेवा करना, अहिंसा और संयम को आधार बनाना, श्रम करके जीविकोपार्जन करना, सब में बांटकर खाना—ये कुछ बातें हैं जिनके घेरे में सभी धर्मों के मूल संदेश आ जाएंगे।

किन्तु कितने आश्चर्य की बात है कि इन आदर्शों को अपना आधार बनाने वाले संसार के सभी धर्म हज़ार वर्षों से आपस में न केवल झगड़ते रहे हैं, वरन् एक-दूसरे को अपना घोर शुत्र मान कर उनका संहार करने में लगे रहे हैं। संसार में राज्य स्थापित करने और दूर-दूर तक के देशों में अपनी सत्ता का झंडा गाड़ने के लिए इतने संघर्ष नहीं हुए, उनमें इतनी जन हानि नहीं हुई, जितनी अपने धर्म का विस्तार करने, अपने को श्रेष्ठ सिद्ध करने और अपनी मान्यताओं से मतभेद रखने वालों पर अत्याचार करने, उनकी हत्या करने, उनसे युद्ध करने में हुई है।

सभी से प्रेम, सभी से मातृत्व, सभी की सेवा का दम भरने वाले धर्म क्यों एक-दूसरे से घृणा करने, उनकी निंदा करने, उनका विनाश करने की राह पर चलने लगते हैं? क्या कारण है कि किसी भी धर्म की जब तात्विक चर्चा होती है तो उसका बड़ा उदात्त रूप हमारे सामने आता है। किन्तु व्यवहार में सभी धर्मों के अनुयायियों के हाथ एक-दूसरे के खून से सने दिखाई देत हैं? यह विडम्बना, ऐसा विरोधाभास क्यों है?

प्रत्येक धर्म कालान्तर में पंथ, सम्प्रदाय या मज़हब बनने लगता है। उसमें स्मृतियां, शरियत और कोड बन जाते हैं। उसमें अनुयायियों के लिए विधि-विधान बन जाते हैं—ऐसा करो-ऐसा न करो, यह खाओ-यह न खाओ, इस ढंग की अपनी शक्ल सूरत रखो, इस ढंग से अपनी पूजा, अर्चना और इबादत करो। अपने जीवन में इस प्रकार का अनुशासन रखो, केवल इस ग्रंथ को पढ़ो, उस परम सत्ता की केवल इस नाम से पुकारो, उसे ढूंढने के लिए इन धर्म स्थानों और तीर्थों पर जाओ।

पंथ, मज़हब या सम्प्रदाय होगा तो उसमें निश्चित अनुशासन भी होगा। धर्म को अनुशासन की बहुत कम आवश्यकता होती ह। किन्तु पंथ, मार्ग या मज़हब का काम उसके बिना नहीं चलता। पंथ के रास्ते पर चलना है तो निर्दिष्ट मार्ग पर चलना पड़ेगा। धर्म जब पंथ का रूप धारण करेगा तो उसका दायरा अवश्य संकरा और संकुचित हो जाएगा। गुरु नानक ने 'जपुजी' में एक बड़ी महत्वपूर्ण बात कही है—'मनशील व्यक्ति कों संसार के विभिन्न पंथों के मार्ग पर चलने की आवश्यकता नहीं होती। उसका सीधा सम्बन्ध धर्म से होता है—

मंनै मगु न चलै पंथु।।
मंनै धरम सेती सनबंधु।।

धर्म के महत्तर मूल्यों को अपनाने वाले व्यक्ति को पंथ और सम्प्रदाय के अनुशासन में बंधने की बाध्यता नहीं होती।

पंथों के अनुशासन में कोई बुराई नहीं, यदि उनका स्वरूप सकारात्मक हो और अनुयायी इसे स्वेच्छा से स्वीकार करते हों। सारी गड़बड़ वहां से पैदा होनी शुरू हो जाती है जब वह नकारात्मक रूप लेकर अपनी व्यवस्था, अपने अनुशासन को ही श्रेष्ठ और गृहणीय मानता है और दूसरे पंथ अथवा मज़हब के अनुशासन की निंदा करने, उससे घृणा करने, उसका विरोध करने अथवा उसे नष्ट कर अपनी व्यवस्था उस पर थोपने का प्रयास करने लगता है। इसी के साथ वह अपने-अपने अनुशासन का अनुयायियों पर बलात लादने को प्रयास करता है।

पंथों और सम्प्रदायों के सम्बन्ध में स्वामी विवेकानंद ने सन् 1897 में लाहौर में दिए अपने व्याख्यान में कुछ बड़ी महत्वपूर्ण बातें कहीं थीं। उन्होंने कहा था—"सम्प्रदायों का होना आवश्यक है, परन्तु जिसका होना आवश्यक नहीं है वह है इन सम्प्रदायों के बीच के झगड़े-झमेले। सम्प्रदाय रहें, पर साम्प्रदायिकता दूर हो जाए। साम्प्रदायिकता से संसार की कोई उन्नति नहीं होगी, पर सम्प्रदायों के न रहने से संसार का काम नहीं चल सकता। एक ही दल के लोग सब काम नहीं कर सकते। संसार की यह अनंत शक्ति कुछ लोगों से परिचालित नहीं हो सकती।"

प्रत्येक धर्म संहिताबद्ध होकर अपने बनाए नियम और कानून के पालन पर आग्रह

करता है। वर्णाश्रम व्यवस्था हिन्दू धर्म को कुछ नियम देती है। अपेक्षा यह की जाती है सभी हिन्दू उसका पालन करें। हिन्दू धर्म में अनेक व्रतों, अनुष्ठानों, तीर्थ यात्राओं, उत्सवों का विधान है। इस्लाम में शरीअत के आदेश हैं जो कुरआन और हदीस के माध्यम से जाने जाते हैं। सिखों में कतिपय रहतनामे हैं। इनके माध्यम से सिखों को यह मार्ग दर्शन दिया जाता है कि वे जीवन में कौन से कार्य करें, कौन से न करें, किस प्रकार का जीवन जियें किस प्रकार के जीवन से दूर रहें।

इस प्रकार के विधि-निषेध सभी धर्मों में हैं। इन विधियों के निषेधों को आधार बनाकर धर्मों के अंदर उप धर्म अथवा सम्प्रदाय बन जाते हैं। संसार का कोई भी धर्म ऐसा नहीं है जो अनेक सम्प्रदायों और उप सम्प्रदायों में बंटा न हो। ये सम्प्रदाय भी आपस में गहरा मतभेद रखते हैं और लड़ते-झगड़ते रहते हैं। वैष्णवों और शैवों के मध्य, कैथोलिक और प्रोटेस्टो के मध्य, सुन्नियों और शियाओं के मध्य मतभेद सदियों से चले आ रहे हैं। ये सम्प्रदाय सिर्फ आपस में झगड़ते ही नहीं, प्रायः शुत्र भाव भी रखते आए हैं। इन्हीं की ओर लाहौर वाले व्याख्यान में स्वामी विवेकानंद ने संकेत किया था।

कोई भी धर्म जब संगठित रूप धारण करता है तब वह धर्म के सार्वभौम सिद्धांतों के समानान्तर अपने संगठित रूप—धर्ममत अथवा पंथमूलक आस्थाओं की ओर बढ़ जाता है। इसमें भी कोई बुराई नहीं है। जैसे सम्पूर्ण मानवता एक होते हुए भी राष्ट्रों, राज्यों, राजनीतिक विचारधाराओं, क्षेत्रीय विश्वासों में बंटी होती है, वैसी ही स्थिति धर्मों की है। सभी धर्म सार्वभौमिक भी हैं और मतवादी भी हैं।

सभी धर्मों के साथ एक पुरोहित वर्ग जुड़ा होता है किसी भी सार्वभौम विचार को पुरोहित की आवश्यकता नहीं होती किन्तु धर्म मत के लिए पुरोहित अनिवार्य हो जाता है। यह वर्ग उस मत के अनुयायियों के लिए विधि-नैषधों की व्याख्या करता है, उनके लिए कर्मकांड की व्यवस्था करता है, शास्त्रों पर आधारित प्रवचन करता है। स्थिति ऐसी बन जाती है कि यह पुरोहित वर्ग ही सभी प्रकार की धार्मिक व्यवस्थाएं देने का अधिकारी बन जाता है। पांडे उलेमा, प्रीस्ट, पुजारी ही यह आदेश देने लगते हैं कि उनके समुदाय के व्यक्तित्व को क्या करना चाहिए क्या नहीं यह वर्ग बहुत प्रभावशाली बन कर राजसत्ता में भी प्रभावी हस्तक्षेप करता रहा हैं। मध्ययुगीन यूरोप में पोप और ईसाई प्रीस्ट इतने प्रभावशाली थे कि राजा को बनाने और बिगाड़ने में उनकी वहुत महत्वपूर्ण भूमिका रहती थी। मुग़ल बादशाहों को उलेमाओं के आदेश का पालन करना पड़ता था। उनकी नाराज़गी राजनीतिक दृष्टि से कितनी महंगी पड़ सकती है, सभी बादशाह अच्छी तरह जानते थे। आज भी ऐसे उलेमाओं, इमामों, मुफ्तियों, काज़ियों का मुसलमान समुदाय पर असीम प्रभाव है। सिखों में तख़्तों के जत्थेदारों और ग्रंथियों की अवज्ञा करने का साहस बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ नहीं कर पाते हैं।

यह बात भी निश्चित है कि जिस धर्ममत में पुरोहित वर्ग जितना अधिक शक्तिशाली होता है, वह उतना ही रूढ़िग्रस्त, धर्मकांडी, कट्टर और अंधविश्वासी होता है। ये सभी

बातें पुरोहितों के हित में जाती हैं। उनके सारे कार्य-व्यवहार इन्हीं के सहारे चलते हैं। विचार, तर्क, वैज्ञानिक सोच और प्रगतिशील चिंतन पुरोहितों की पसंद की चीज़ें नहीं हैं।

धर्मों की कट्टरता के दो रूप स्पष्ट हैं। एक रूप यह है कि व्यक्ति पूरी तरह कर्मकांडी हो जाए, अपने धर्ममत में दिए आदेशों का पूरी तरह पालन करे और रूढ़िग्रस्त मान्यताओं पर कोई प्रश्न न उठाए। यह कट्टरता व्यक्ति केंद्रित होती है। शेष समाज का इससे विशेष संबंध नहीं होता।

दूसरे प्रकार की कट्टरता में बहिर्मुखी तत्व अधिक होते हैं। ऐसी कट्टरता यह चाहती है कि सभी लोग उन विधि-निषेधों का पूरी तरह पालन करें, जिनका निर्देश उन्हें अपने धार्मिक नेताओं अथवा पुरोहितों वर्ग से प्राप्त होता है। इन आदेशों का पालन न करने वालों पर वे अपना असंतोष और क्रोध व्यक्त करते हैं और अपने आपको उन्हें दंड देने का अधिकारी मानते हैं।

पिछले दिन कुछ कट्टरपंथी इस्लामी संगठनों ने जम्मू-कश्मीर में यह फ़तवा जारी किया कि जो स्त्रियां बिना बुर्के के बाहर निकलेंगी उन्हें मौत की सज़ा दी जाएगी। उनकी मान्यता के अनुसार बुर्का पहनना हर मुसलमान स्त्री के लिए, शरीअत के हिसाब से अनिवार्य है। उनके इस आदेश का परिणाम यह हुआ कि बिना बुर्के के स्कूल जा रही अनेक अबोध बालिकाओं की गर्दन इन कट्टरपंथियों ने काट दी।

इसी प्रकार का एक आदेश एक और कट्टरपंथी संगठन ने जारी किया। इसमें कहा गया है कि स्त्रियों का किसी भी संस्थान में नौकरी करना इस्लामी शरीअत के विरुद्ध है। इसलिए ऐसी स्त्रियां यदि एक निश्चित तिथि के बाद अपनी नौकरी नहीं छोड़ देंगी तो उनकी हत्या कर दी जाएगी।

कट्टरपंथी संगठन समय-समय पर ऐसे फ़तवे जारी करते रहे हैं और लोगों को इस्लाम के आदेशों के अनुसार नहीं, बल्कि शरीअत की अपने ढंग से की गई मान्यताओं के अनुसार मौत की धमकी देकर उसे मानने के लिए बाध्य करते रहे हैं।

कुछ वर्ष पूर्व जब पंजाब आतंक की छाया में जी रहा था, कुछ उग्रवादी सिख संगठनों ने भी इसी प्रकार के आदेश जारी किए थे। स्कूल-कालेज जाने वाले लड़के-लड़कियां किस प्रकार के कपड़े पहनने, किसी बारात में कितने लोग शामिल हों, बारातियों को कैसा भोजन खिलाया जाए इन विषयों पर उन संगठनों ने धमकी भरे आदेश जारी किए थे।

यह प्रसन्नता की बात है कि जिस प्रकार की बातें उग्रपंथी सिख संगठनों ने की थीं, किसी भी धार्मिक नेता, बुद्धिजीवी अथवा सार्वजनिक जीवन में काम करने वाले व्यक्ति ने उनका समर्थन नहीं किया था। कालान्तर में ऐसे सभी आदेश अपनी मौत आप मर गए। जिन मुस्लिम कट्टरपंथी संगठनों ने महिलाओं के संबंध में ऐसे फ़तवे जारी किए हैं उनका समर्थन भी कोई संगठन अथवा व्यक्ति नहीं कर रहा है। ऐसे मुस्लिम

विद्वान यह बात स्पष्ट रूप से कह रहे हैं कि ये सभी आदेश इस्लामी आदर्शों के विपरीत हैं, इस्लाम में उनकी कोई व्यवस्था नहीं है।

आखिर किसी भी धर्म के अनुयायियों में ऐसी तर्कहीन कट्टरता क्यों जन्म लेती और पनपती है? कारण यह है कि सभी धर्मों, सम्प्रदायों, मज़हबों और पंथों में धर्म की सार्वभौमिक और मानवतावादी आस्थाओं, उनके मूल्यों और उनकी मूल भावना की ओर कोई ध्यान नहीं देता। सभी लोग अपने धर्म के संगठित, मतवादी, साम्प्रदायिक रूप को ही मानते हैं। उनमें भी तत्व अपनी मानसिकता में अधिक धार्मिक हो जाने का भ्रम पालते हैं, रूढ़िग्रस्तता और कर्मकांड को ही धर्म समझते हैं और कट्टरता को अपने जीवन का आदर्श समझने लगते हैं वे धर्म को एक अनुकरणीय वस्तु न बनाकर उसे सभी प्रकार के सामाजिक विग्रह का केंद्र बना देते हैं।

इस समय की आवश्यकता एक-दूसरे की आलोचना और निंदा करने की नहीं है। यह समय एक बार फिर से धर्म के मानवीय मूल्यों पर आग्रह करने, विभिन्न मतावलम्बियों के मध्य संवाद उत्पन्न करने और उन्हें संकीर्ण दायरों से बाहर निकालने का है। शिकागो की सर्वधर्म परिषद के अंतिम दिन अपने व्याख्यान में स्वामी विवेकानंद ने कहा था—''यदि कोई केवल अपनी ही रक्षा तथा दूसरे के विनाश की कल्पना करे तो उसके विषय में हृदय से खेद प्रकट करता हूं और उसे यह बतलाए देता हूं कि उसकी अनिच्छा होते हुए भी प्रत्येक मत की पताका पर शीघ्र ही यही लिखा जाएगा—परस्पर सहायक हो, विरोध न करो, रक्षक हो, विनाशकारी न बनो, एकता तथा शान्ति रहे, विभेद और कलह दूर हो।''

(दैनिक जागरण, 30-1-03)

नानकशाही कलैण्डर ने सिखों को बांट दिया है

नानकशाही कलैण्डर को लेकर इस समय सिखों का धार्मिक क्षेत्र पूरी तरह विभाजित हुआ दिखाई दे रहा है। शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी (अमृतसर) की धर्म प्रचार समिति ने इस कलैण्डर को लागू करने का प्रस्ताव पास कर दिया है, किन्तु पंजाब के बाहर के दो तख़्तों-तख़्त हरिमंदिर पटना साहब और तख़्त सच-खंड हजूर साहब (नांदेड) के जत्थेदारों और वहां की प्रबंध समितियों ने इस नए कलैण्डर को स्वीकार करने से इनकार कर दिया है। सिखों के पांच तख़्तों में तीन—अकाल तख़्त (अमृतसर), तख़्त केशगढ़ (आनंदपुर साहब) और तख़्त दमदमा साहब (बठिंडा) पंजाब में हैं। पटना और नांदेड के तख़्त पंजाब से बाहर हैं। शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी के अधिकार क्षेत्र में पंजाब से बाहर के तख़्त नहीं आते हैं।

इसी प्रकार पंजाब का संत समाज भी बंटा हुआ है। बाबा सर्वजोत सिंह बेदी के नेतृत्व वाला संत समाज इस कलैण्डर के विरोध में है, जबकि संत कश्मीरा सिंह के नेतृत्व वाला संत समाज इसके पक्ष में है।

पिछले कुछ समय से सिखों के एक वर्ग में यह विचार पनप रहा था कि जैसे संसार के अनेक धर्मों, समुदायों और क्षेत्रों के अपने-अपने अलग पंचांग या कलैण्डर हैं वैसे ही सिखों का अपना अलग कलैंडर होना चाहिए और उनके सभी तिथि-त्योहार उसी के अनुसार होने चाहिए। इस विचार को ध्यान में रखकर कनेडा में बसे एक अप्रवासी भारतीय पाल सिंह पुरेवाल ने एक कलैण्डर तैयार किया है। आज सारी चर्चा इसी कलैण्डर को केंद्र में रखकर हो रही है।

सिख समाज में कुछ नेताओं और बुद्धिजीवियों को एक भय सदा सताता रहता है कि एक दिन हिन्दू समाज उन्हें पूरी तरह लील जाएगा और उनकी अपनी अलग

पहचान समाप्त हो जाएगी। उनके सामने भारत में जन्मे बौद्ध और जैन धर्मों के उदाहरण रहते हैं। एक समय बौद्धों का इस देश में बहुत प्रभाव था और समाज का पिछड़ा और दलित वर्ग इस धर्म का अनुयायी बन गया था। लम्बे समय तक इसे राजाश्रय भी प्राप्त रहा। फिर अनेक कारणों से उसका पतन हो गया। जैन धर्म के अनुयायी अपनी स्वयं की बनाई सीमा में रहे। वैदिक धर्मानुयायियों से उनके कुछ झगड़े भी हुए, फिर वे अपने आप में सिमट गए।

इसमें कोई संदेह नहीं कि आज सिख धर्म अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ रहा है। हिन्दुओं के छोटे-बड़े सभी नेता लगातार यह कहते रहते हैं कि सिखों का अपना कोई अलग धर्म नहीं है। वह हिन्दू धर्म की ही एक शाखा है, जैसे शैव, वैष्णव, शाक्त, लिंयागत, सनातनी, आर्य समाजी आदि। हाल में ही राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के सरसंघ चालक श्री सुदर्शन जी ने अमृतसर में जो विचार व्यक्त किए, उनके कारण पंजाब में फिर से यह विवाद उभर गया है।

जब सिख इन बातों को सुनते हैं तो उनकी शंकाएं फिर से ताजी हो जाती हैं और वे अधिक आग्रह से कहने लगते हैं—हम हिन्दू नहीं हैं, हम एक अलग 'कौम' हैं, हमारा स्वतंत्र धर्म है, हमारी अपनी परम्पराएं हैं, अपनी आस्थाएं और विश्वास है। हमारी अपनी अलग पहचान है।

इसमें भी कोई संदेह नहीं कि आज सिख धर्म एक अलग और स्वतंत्र धर्म-मत के रूप में अपनी पहचान बना चुका है। भारत का संविधान उसे पृथक धार्मिक समुदाय के रूप में मान्यता देता है। संसार के अनेक देशों में विद्यार्थियों को जिन छह धर्मों की शिक्षा देने की व्यवस्था है उसमें ईसाई, इस्लाम, यहूदी, बौद्ध और हिन्दू धर्मों के साथ सिख धर्म का नाम भी है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर इसके स्वतंत्र धर्म-मत होने की पूरी मान्यता प्राप्त है।

फिर भी बहुत से सिख नेताओं/बुद्धिजीवियों के सम्मुख यह भय रहता है कि इस देश में ऐसे तत्व हैं जो उनकी अलग पहचान को नष्ट करना चाहते हैं। हाल में ही अकाल तख़्त के जत्थेदार ज्ञानी जोगिन्दर सिंह वेदान्ती ने अपनी ब्रिटेन यात्रा के दौरान वहां के हाउस आफ कामन्स के सदस्यों के सम्मुख बड़े आग्रह से कहा कि सिख धर्म एक अलग धर्म है। उसकी अपनी परम्पराएं और आस्थाएं हैं।

नानकशाही कलैण्डर का मामला भी इसी विचार का एक अंग हैं।

अभी तक सम्पूर्ण सिख परम्परा का आधार विक्रमी संवत है। इसी प्राचीन दस्तावेज़ों, हुक्मनामों, आदेशों में जहां तिथि को अंकित किया है, वह संवतसर की गणना के अनुसार है। सदियों से गुरु नानक देव का जन्म दिन कार्तिक पूर्णिमा को मनाया जाता है और गुरु गोबिंद सिंह का अवतार-पर्व पौष सुदी सप्तमी को आता है क्योंकि विक्रमी संवत की गणना चंद्रमा की कलाओं से निर्धारित होती है इसलिए ईसवीं सन् के हिसाब से इसकी तिथि बदलती रहती है। संक्रान्ति सूर्य की गति के अनुसार आती

है, इसलिए लोहड़ी (मकर संक्रान्ति) और बैसाखी लगभग एक ही तिथि को आती है। सभी गुरुद्वारों और सिख परिवारों में पूर्णिमा, अमावस्या और संक्रान्ति का दिन उसी प्रकार महत्वपूर्ण होता है जैसे पूरे हिन्दू परिवेश में।

नानकशाही पंचांग सिखों के मानस को उस प्राचीन परम्परा से तोड़ देता है जिसके साथ उसका पूरा इतिहास जुड़ा हुआ है। नानकशाही कलैण्डर से सिखों की अलग पहचान बनती है, यह बड़ी सारहीन बात है। संसार में नए-नए धर्मों का प्रादुर्भाव होता रहा है और भविष्य में भी होता रहेगा, किन्तु अपनी अलग पहचान स्थापित करने के लिए किसी भी देश में जन्मा या अपनाया हुआ धर्म अपनी प्राचीन परम्पराओं से अपने आपको नहीं तोड़ लेता। बौद्ध धर्म का जन्म और विकास भारत में हुआ था। आज वह श्रीलंका जापान, कोरिया जैसे देशों का राजधर्म है और चीन में उसकी मान्यता सर्वोपरि है। ये सभी बौद्ध धर्म के अनुयायी हैं, किन्तु अपने-अपने देश की परम्पराओं से जुड़े हुए हैं। अपनी धार्मिक पहचान की दृष्टि से उन्हें अपने अलग पंचांग बनाने की ज़रूरत महसूस नहीं होती।

एक उदाहरण लें। हाथ जोड़कर अभिवादन करने, अपनी श्रद्धा व्यक्त करने, नमन करने की परम्परा अति प्राचीन है। अपनी अलग पहचान बनाने की आग्रही कोई भी सिख नेता इसे हिन्दू परम्परा कह सकता है। अपने आप को इस परम्परा से अलग करने के लिए क्या वह यह कहेगा कि हमें हाथ जोड़कर अभिवादन करने अथवा गुरु ग्रंथ साहब के सम्मुख नमन करने की इस पद्धति को छोड़कर अपनी अलग पद्धति का निर्माण करना चाहिए?

नानकशाही कलैण्डर को लागू करने का आग्रह करने वाले एक तर्क यह देते हैं कि पौष सुदी सप्तमी के कारण गुरु गोबिंद सिंह का जन्म दिवस कभी-कभी वर्ष में दो बार आ जाता है, कभी-कभी एक बार भी नहीं। इसलिए उन्होंने घोषित किया है कि इसे प्रतिवर्ष 5 जनवरी को मनाना चाहिए। किन्तु यह नानकशाही कलैण्डर कहां है? यह तो ईस्वी कलैण्डर है। ईस्वी कलैण्डर के अनुसार ही यह दिन कभी वर्ष में दो बार आ जाता है और कभी एक बार भी नहीं आता। पौष सुदी सप्तमी तो वर्ष में एक बार ही आती है क्योंकि हमारे मानस पर ईस्वी कलैण्डर छाया हुआ है, इसलिए हम अपनी तिथियों में ऐसे दोष ढूंढ़ने लगते हैं।

नानकशाही कलैण्डर की बात सारे संसार में, विशेष रूप से भारत के प्रत्येक भाग में बसे सिखों और गुरु-घर के असंख्य श्रद्धालुओं को बहुत भ्रमित कर देगा। जिन लोगों ने कार्तिक पूर्णिमा और पौष सुदी सप्तमी की तिथियों को अपने मानस में, अपने पूरे जीवन-काल से बसाया हुआ है, उन्हें नया कलैण्डर पूरी तरह भटका देगा और भावनात्मक रूप से बहुत बड़ी चोट पहुंचाएगा। इस कलैण्डर के लागू होने से सभी गुरुपर्व बंट जाएंगे। किसी स्थान पर वे परम्परागत तिथियों के अनुसार मनाएं जाएंगे और किसी स्थान पर नए कलैण्डर के अनुसार। इससे पूरा सिख समाज खंडित हो जाएगा।

अनेक परम्पराओं पर, भाषाओं पर, लिपियों पर किसी धर्म विशेष का एकाधिकार नहीं होता। पाकिस्तान के निर्माताओं ने जब पाकिस्तान की एक मात्र भाषा उर्दू घोषित की थी तो पूर्वी पाकिस्तान के लोगों ने इसका बहुत विरोध किया था और कहा था कि हमारी भाषा उर्दू नहीं बांग्ला है। पश्चिमी पाकिस्तान के नेताओं ने उन्हें यह समझाने की बार-बार कोशिश की थी कि बांग्ला तो हिन्दुओं की भाषा है, मुसलमानों की भाषा तो उर्दू है किन्तु बंगाली मुसलमानों ने इस दलील को पूरी तरह ठुकरा दिया था। पूर्वी बंगाल के पाकिस्तान से अलग होने में इस बात ने बड़ी अहम् भूमिका निभाई थी। एक समय पंजाब में भी यह दौर रहा है जब हिन्दी और देवनागरी को हिन्दुओं की और पंजाबी-गुरुमुखी को केवल सिखों के साथ नत्थी करने का प्रयास हुआ था। पंजाब को कुछ वर्षों तक जो दुर्दिन देखने पड़ें, उसमें इस मनोवृत्ति का भी बहुत बड़ा हाथ था।

नानकशाही कलैण्डर की बात न केवल सिखों को बांट देगी, वह हिन्दुओं और सिखों के मध्य भी दरारें उत्पन्न करेगी जो न केवल इस प्रदेश, बल्कि सम्पूर्ण देश के लिए घातक बात होगी।

(दैनिक जागरणख 20-2-03)

गुरु नानक ने बग़दाद यात्रा की थी

ईराक पर, विशेष रूप से उसकी राजधानी बग़दाद पर हुए अमरीकी आक्रमण से जहां संपूर्ण संसार में अनेक स्तरों पर अनेक चिंताएं उत्पन्न हुईं वहीं गुरु नानक देव के असंख्य श्रद्धालुओं के मन में यह चिंता भी उत्पन्न हुई है कि उनकी स्मृति में जो गुरुद्वारा वहाँ बना हुआ है, अमरीकी बम वर्षा से उसका क्या होगा। केन्द्र सरकार तथा पंजाब सरकार दोनों ही ने इस संबंध में अपनी चिंता व्यक्त की। भारत सरकार के विदेश मंत्रालय ने इस संबंध में जानकारी प्राप्त की है। आधिकारिक सूत्रों से ज्ञात हुआ है कि बग़दाद के गुरुद्वारे का अधिक नुकसान नहीं हुआ है उसके कुछ शीशे टूटे हैं।

इस बात के पुष्ट ऐतिहासिक प्रमाण हैं कि लगभग 500 वर्ष पूर्व गुरु नानक देव बग़दाद गए थे। गुरु नानक ने अपने साथी भाई मरदाना के साथ मक्का और मदीना की यात्रा की थी। वहां से वे बग़दाद गए थे, फिर काबुल-कंधार होते हुए पंजाब वापस आए थे। पश्चिम एशिया की यह यात्रा उन्होंने सन् 1518 से 1521 की अवधि में की थीं। गुरु नानक की प्राचीन जन्म साखियों में उनकी इन यात्राओं का उल्लेख मिलता है। इस दृष्टि से सर्वाधिक प्रामाणिक तथ्य भाई गुरदास की रचनाओं में प्राप्त होता है।

भाई गुरदास को सिखों का वेदव्यास कहा जाता है। वे उच्चकोटि के विद्वान और कवि थे। उनका जन्म गुरु नानक देव के देहावसान के 12 वर्ष पश्चात् (1551 ई.) हुआ था। उन्होंने अपनी एक बार (काव्यरूप) में गुरु नानक के मक्का जाने का उल्लेख करते हुए लिखा है कि गुरु नानक ने (सूरत से समुद्री यात्रा करने से पूर्व) अपना रूप हाजियों जैसा बनाकर नीले वस्त्र धारण कर लिए थे। उनके हाथ में छड़ी, बगल में पुस्तक, लोटा, नमाज़ पढ़ते समय नीचे बिछाने का वस्त्र था–

बाबा फिर मक्के गिआ नील वस्त्र धारे बनवारी।
आसा हत्थ किताब कच्छ कूजा बांग मुसल्ला धारी।।

इसी स्थान पर उस प्रसंग का उल्लेख है कि रात को गुरु नानक काबा की तरफ पैर करके सो गए। यह देखकर जीवन नाम के मुल्ला ने गुस्से में आकर उनके दोनों पैर घसीटकर दूसरी ओर कर दिए। किंतु उसे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि वह घसीटकर जिस ओर उनके पैर करता है, उसी ओर उसे काबा दिखाई देता है।

मक्का में ही गुरु नानक की काजियों-मुल्लाओं से विचार-चर्चा हुई। उन्होंने गुरु नानक से पूछा—आप यह बताइए कि हिंदू और मुसलमान में कौन बड़ा (श्रेष्ठ) है। गुरु नानक ने उत्तर दिया—छोटे-बड़े की कसौटी व्यक्ति के शुभकर्म हैं। इनके बिना दोनों ही रोएंगे। उन्हें प्रभु की दरगाह में स्थान नहीं मिलेगा—

पुच्छण खोहल किताब नू बड्डा हिंदू कि मुसलमानोई।
बाबा आखे हाजिया शुभ करमां बाझों दोवे रोई।।
हिंदू मुसलमान दोई दरगह अंदर लैन न ढोई।।

मक्का की यात्रा के बाद भाई गुरदास ने गुरु नानक देव की बग़दाद यात्रा की चर्चा की है। वे कहते हैं कि वहां से बाबा नानक बग़दाद गए। नगर के बाहर उन्होंने अपना डेरा जमाया। वहां अकाल रूप बाबा नानक थे। उनके साथ उनका साथी, रबाब बजाने वाला मरदाना था। उन्होंने उस स्थान से नमाज़ से पहले लगाई जाने वाली बांग (अजान) भांति ऊंचे स्वर में प्रभु का स्मरण किया। उनका स्वर सुनकर जैसे चारों ओर सुन्न छा गया। यह देखकर वहां के पीर को बहुत आश्चर्य हुआ। दस्तेगीर नाम के उस पीर ने पूछा—यह कौन फकीर है। वह नानक की ओर खिंचा चला आया—

बाबा गिआ बग़दाद नू बाहर जाई कीआ असथाना।
इक बाबा अकाल रूप दूजा रबाबी मरदाना।
दित्ती बांग निमाज़ कर सुन्न समान होआ जहाना।
वेखै धिआन लागाइ कर इक फकीर वडा मसताना।
पुछिआ फिरकै दसतगीर कौण फकीर किस का घराना

आगे के कुछ पदों में भाई गुरदास ने बग़दाद में गुरु नानक और वहां के पीरों से हुई विचार-चर्चा का वर्णन किया है। गुरु नानक की रचनाओं को पढ़ने से ज्ञात होता है कि उन्हें फारसी और अरबी भाषाओं का ज्ञान था। गुरु ग्रंथ साहब की उनकी ऐसी कुछ रचनाएं संगृहीत हैं। इसलिए वहां के पीरों से बातचीत करने में उन्हें अधिक कठिनाई नहीं हुई होगी। आश्चर्य इस बात का होता है कि पांच शती पहले, जब आवागमन के

साधन बहुत सीमित थे, एक फकीर अपने एक साथी को लेकर इतनी दुर्गम यात्रा पर किस प्रकार निकला पड़ा था।

लंबे समय तक यह संपूर्ण घटना केवल कथा-वाचकों तक ही सीमित रही। उस स्थान की खोज की ओर किसी का ध्यान नहीं गया। सन् 1917 में, इस स्थान की खोज का कार्य सिख सैनिकों ने किया जो प्रथम विश्व युद्ध के समय ब्रिटिश सेना का अंग बनकर वहां गए थे। इन सैनिकों को बग़दाद में गुरु नानक द्वारा की गई यात्रा की कुछ स्मृतियां प्राप्त हुईं। वहां के कुछ लोगों ने उन्हें बताया कि यहां के लोगों में इस मान्यता की एक लंबी परंपरा है कि कुछ सदी पहले भारत से नानक नाम का एक फकीर यहां आया था। वह यहां कुछ समय रहा था। उसने यहां के पीरों-फकीरों से संवाद किया था।

बग़दाद के लोग और वहां के सूफी फकीर गुरु नानक के व्यक्तित्व और उपदेशों से बहुत प्रभावित हुए होंगे। उन्होंने उनकी स्मृति में वहां एक चबूतरा बनवाया था, जहां बैठकर उन्होंने ज्ञान-चर्चा की थी। बाद में वहीं के लोगों ने उनकी स्मृति में एक कमरा बनवाया और तुर्की भाषा में पत्थर पर खुदाई करके एक इबारत लिखाई। सिख सिपाहियों ने वह शिलालेख देखा। पत्थर पर उभरे अक्षर बहुत धूमिल हो गए थे। फिर भी उन्हें प्रयत्न पूर्वक पढ़कर समझा गया। महानकोश के रचयिता भाई कहन सिंह ने शिलालेख का जो अनुवाद प्रकाशित किया है वह इस प्रकार है–

"देखो हज़रत परवदगार बुजुर्ग ने किस प्रकार मुराद (इच्छा) पूरी की कि बाबा नानक की यादगार नए सिरे से वन गई। सात बड़े वलियों ने इसमें सहायता की और उसकी रहमत से धरती से पानी का चश्मा फूट निकला।"

इस संदर्भ में यह भी प्रचलित है कि जिस समय गुरु नानक बग़दाद गए थे, वहां के सभी कुओं का पानी खारा था। गुरु नानक जहां रुके थे, वहां उन्होंने एक कुआं खुदवाया, जिसमें से मीठा पानी निकला। आज भी केवल उसी कूए का पानी मीठा है।

लंबे समय तक उस स्थान की व्यवस्था वहां के पीर ही करते रहे। सदियों तक उन्होंने बड़ी श्रद्धा से गुरु नानक की स्मृतियों को संभाले रखा। उस स्थान की पहचान होने के पश्चात् वहां एक गुरुद्वारा बनवाया गया।

बग़दाद नगर का इतिहास भी दिल्ली जैसा है। प्रारंभिक बग़दाद टिगरिस नदी के बाएं किनारे पर बसा हुआ एक ईरानी नगर था। 762 ई. में अब्बासी सिलसिले के खलीफा मंसूर की आज्ञा से नदी के दूसरी ओर एक वृत्ताकार नगर बसाया गया। आने वाले वर्षों में इस नगर का बहुत विस्तार एवं विकास हुआ। 500 वर्षों तक यह अरबी संस्कृति और कला का सर्वप्रमुख केंद्र रहा। नौंवी सदी में खलीफा हारून-अल-रशीद के समय यह नगर आर्थिक प्रगति के शिखर पर था। फारस की खाड़ी के माध्यम से ईरान, भारत तथा अन्य अनेक देशों के मध्य बहुत बड़ा व्यापारिक केंद्र था। सन् 1258 में मंगोलों ने इस पर आक्रमण करके इसे तहस-नहस कर दिया। चौदहवीं सदी में मंगोल आक्रांता

तैमूरलंग ने भारत पर आक्रमण करके लाखों लोगों का संहार किया था और दिल्ली को लूटा था। उसके बाद उसकी सेनाएं ईरान-ईराक की ओर बढ़ी थीं और उसने बग़दाद पर अधिकार कर लिया था। पंद्रहवीं सदी में यह नगर ईरान के अधिकार में आया। लंबे समय तक ईरानियों और तुर्कों के मध्य इस नगर को अपने अधिकार में लेने के लिए युद्ध होता रहा। सत्रहवीं सदी के पूर्वार्द्ध में इस पर तुर्कों का अधिकार हो गया जो सन् 1917 तक बना रहा। प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात् यह नगर अंग्रेजों के अधिकार में आया। उन्होंने इसे ईराक की राजधानी बनाकर एक स्वतंत्र राजशाही की स्थापना की। सन् 1958 में ईराक में राजतंत्र की समाप्ति हुई और इसे गणतंत्र घोषित किया गया।

लंबे समय तक बग़दाद एक स्वप्न प्रदेश की भांति रहा। बहुचर्चित 'अरबियन नाइट्स' की कहानियां इसी नगर के आस-पास घूमती हैं। बग़दाद और बसरा को केंद्र बनाकर कितनी ही हिंदी फिल्में बनीं और लंबे समय तक लोगों का मनोरंजन करती रहीं।

ईराक के ही एक नगर करबला में हज़रत मोहम्मद के नवासे इमाम हुसैन की शहादत हुई थी। इसलिए यह नगर संसार भर में बसने वाले सभी शिया मुसलमानों का अत्यंत पवित्र नगर है।

इस समय अमरीकी सेनाओं द्वारा इस नगर पर की गई बमबारी का सबसे घृषित पक्ष यह है कि इस नगर के ऐतिहासिक संग्रहालय को सबसे अधिक क्षति पहुंची है। यह बातें हमने इतिहास की पुस्तकों में पढ़ी हैं कि बर्बर प्रकृति की आक्रमणकारी सेनाएं जब किसी प्राचीन सभ्यता वाले देश पर आक्रमण करती हैं तो वहां लूट-मार और जनसंहार करने के साथ ही वे वहां की सांस्कृतिक थातियां भी बर्बाद कर देती हैं। वहां के शिक्षण-केंद्र और पुस्तकालय भी नष्ट कर दिए जाते हैं। इक्कीसवीं शती में बगदाद में अमरीकी आक्रमणकारियों ने वही काम किया है, जो मध्य युग में बर्बर आक्रान्ता किया करते थे।

500 वर्ष पहले गुरु नानक देव इस नगर में आए थे। उनकी स्मृतियों को इतने लंबे समय तक कोई क्षति नहीं पहुंची। अब समाचार मिले हैं कि अमरीकी बमबारी से यह स्थान भी बुरी तरह प्रभावित हुआ है।

(नवभारत टाइम्स, भोपाल, 9-5-03)

तल्हण की घटना ने सिख मर्यादाओं को झकझोर दिया

पंजाब के जालन्धर जिले के तल्हण गांव में कुछ दिन पूर्व जो घटना हुई उसने इस देश की जाति व्यवस्था के घृणित रूप को एक बार फिर से उजागर तो किया ही, जाति और वर्ण व्यवस्था को पूरी तरह नकारने वाले सिख आन्दोलन के कितने ही अन्तर्विरोधों को प्रकट कर दिया। सिख समाज के दो प्रमुख अंशों—जाट और दलित—के बीच हुई हिंसक घटनाओं ने पांच सौ वर्ष पूर्व गुरु नानक देव द्वारा चलाए अभियान को न केवल लज्जित किया बल्कि सम्पूर्ण सिख नेतृत्व, शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी, चीफ़ खालसा दीवान, दमदमी टकसाल आदि सभी पक्षों को अपने अंदर झांकने के लिए बाध्य कर दिया।

गुरु नानक खत्री कुल में जन्मे थे, किन्तु जाति और वर्ण की मानसिकता के विरुद्ध जो अभियान उन्होंने शुरू किया था, उसमें उन्हें सबसे पहली आवश्यकता यह महसूस हुई कि गर्व और दंभ उत्पन्न करने वाली इस मानसिकता को त्याग कर अपने आपको सीधे-सीधे उस वर्ग से जोड़ लो, जो इस पीड़ा को लम्बे समय से झेल रहा है। उन्होंने कहा—समाज में जिन्हें नीच जाति का समझा जाता है, उनमें जिन लोगों को नीचों से भी नीचा माना जाता है, मैं उनके साथ खड़ा हूं। जो लोग अपनी ऊंची जाति का गर्व करते हैं, मेरा उनसे कोई सरोकार नहीं है—

नीचां अंदरि नीच जाति नीची हूं अत नीच
नानक तिनके संग साथ वडियां सू किआ रीस।।

किन्तु वे इस बात को भी अच्छी तरह जानते थे कि जाति और वर्ण का जो कोढ़ भारतीय समाज के अंगों में फैला हुआ है, वह सरलता से दूर नहीं होता। इसीलिए

उन्होंने यह भी कहा था कि ऐसे लोग संसार में विरले ही हैं जो जाति वर्ण के अभिमान से मुक्त हैं, जिन्हें इनकी ममता और इनका लोभ न सताता हो। ऐसे लोग कम ही हैं जिन्हें इस दृष्टि से परख कर खजाने में रखा जा सके–

ऐसे जन विरले जग अंदरि परखि खजाने पाया।।
जाति वरन ते भए अतीता ममता लोभ चुकाया।।

सिखों के सामाजिक ढांचे को देखा जाए तो अनेक तथ्य सामने आते हैं। सभी सिख गुरु खत्री परिवारों–बेदी, त्रेहप, मल्ले, सोढी–में जन्मे थे। प्रारम्भ में सभी जातियों के लोग उनके शिष्य वर्ग में सम्मिलित हुए, किन्तु इनमें उच्च वर्णों द्वारा उपेक्षित शूद्र जातियों–जाट, कलवार, बढ़ई, सुनार, लोहार, सैणी आदि से अधिक लोग उनके निकट आए। उनके समता मूलक सिद्धान्त के कारण दलित समाज के बहुत से लोग उनकी ओर आकर्षित हुए और उन्हें सम्मान का स्थान भी मिला। गुरु गोबिंद सिंह ने जब खालसा सेना का निर्माण प्रारम्भ किया तो उनमें बड़ी संख्या में शूद्र और दलित जातियों के लोग शामिल हुए। उनके पांच प्यारों में एक खत्री था। शेष चार में जाट, कहार, धोवी और नाई जाति के लोग थे। जो व्यक्ति (भाई जतो) दिल्ली के चांदनी चौक से नवम गुरु-गुरु तेग़वहादुर का कटा हुआ सिर लेकर गुरु गोबिंद सिंह के पास आनन्दपुर (माखोवाला) पहुंचा था वह जाति का रंगरेटा (भंगी) था। गुरु गोबिंद सिंह ने उसे गले से लगा कर कहा था–रंगरेटा-गुरु का बेटा।

इन सभी तथ्यों के बावजूद सिखों में से जाति-पाति और छूत-छात कभी भी पूरी तरह समाप्त नहीं हुई। दाद के खजैले कीड़ों की तरह कभी यह कुछ समय के लिए दब जाते थे, किन्तु अवसर मिलते ही फिर सजीव होकर अपना रंग दिखाने लगते थे।

जाति-वर्ण के अभिमान को बार-बार उभारने में पुरोहित वर्ण का बहुत बड़ा योगदान होता है। शूद्र जातियों और दलितों में खाई उत्पन्न करने में यह वर्ग बड़ी चतुराई से काम लेता है। इस देश में सत्ता जब शूद्र जातियों–जाटों, मराठों, अहीरों–के हाथों में आने लगी तो इन्होंने इन जातियों में उच्चता का बोध तो उत्पन्न किया ही, दलितों के लिए वही घृणा और भेदभाव भी उत्पन्न करना प्रारम्भ कर दिया जो स्वर्ण जातियों में लम्बे समय से बना हुआ था।

पंजाब में मुग़लों-पठानों का शासन समाप्त होने के बाद सत्ता जाट सिखों के हाथों में आ गई। महाराजा रणजीत सिंह तथा पूर्वी पंजाब की रियासतें जाट सिखों द्वारा शासित रहीं। इनमें केवल कपूरथला राज्य एक अपवाद थी, जिसका शासक कलवार (अहलूवालिया) था।

यह कुछ कम विडम्बना की बात नहीं थी कि जाति-पाँति, छूआ-छूत समाप्त करने वाले सिख-गुरुओं की स्मृति में बने हुए गुरुद्वारों में सन् 1920 तक दलित वर्ग से आए सिखों का लाया हुआ प्रसाद स्वीकार नहीं किया जाता था। उस वर्ष, पुरोहितों-पुजारियों की इस नीति के विरुद्ध आन्दोलन हुआ और कुछ संघर्ष के बाद दलित सिखों को गुरुद्वारों

में समानता का अधिकार प्राप्त हुआ।

सन् 1920 में जब गुरुद्वारा सुधार आन्दोलन प्रारम्भ हुआ था, उसके नेतृत्व में गैर जाट सिखों की भागीदारी बहुत प्रमुख थी। उत्तर भारत के जाट समुदाय में मुसलमान भी हैं, सिख भी हैं और हिन्दू भी हैं। मूलतः यह कृषक समाज है और कृषि भूमि पर इनका व्यापक स्वामित्व है। बीसवीं सदी के प्रारम्भ में तीनों ही धर्मों के जाटों ने संगठित होकर यह कानून पारित करवा दिया कि गैर खेतिहर जातियों ज़मीन के मालिकाना हक प्राप्त नहीं कर सकेंगी। इसका परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मणों, राजपूतों सहित, रामगढ़िए (बढ़ई आदि) तथा दलित खेती करने और खेती योग्य ज़मीन के स्वामी बननें के अधिकार से वंचित हो गए। एक समय सर सिकन्दर हैयात खान, सर छोटू राम और सर सुंदर सिंह मजीठिया (तीनों जाट) का संयुक्त पंजाब में बहुत बोलवाला था।

इस समय पंजाब की सिख राजनीति पर जाट सिखों का पूरी तरह वर्चस्व है। सरकार चाहे अकाली दल की हो या कांग्रेस की, मुख्यमंत्री इसी वर्ग का बनता है। केवल ज्ञानी जैल सिंह (राम गढ़िया) इसके अपवाद थे। ऊंचे पदों पर भी अधिकतर इन्हीं की नियुक्ति होती है। एक समय प्रिंसीपल तेजा सिंह, बावा हरिकशन सिंह, प्रिंसीपल निरंजन सिंह, भाई जोध सिंह जैसे विद्वान और अकादमिक लोग अध्ययन और अध्यापन क्षेत्र में बहुचर्चित नाम थे। ये सभी गैर जाट थे। आज इस क्षेत्र में भी जाट सिखों का ही बोलबाला है।

पंजाब में दलित वर्ग की संख्या 28 से 30 प्रतिशत है जितनी इस देश के किसी भी राज्य में नहीं हैं शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी के 175 सदस्यों में से 20 स्थान दलित वर्ग के लिए सुरक्षित हैं। लोक सभा, विधान सभा तथा नौकरियों में भी इस वर्ग के लिए आरक्षण है। पंजाब के दोआबा क्षेत्र (जालन्धर, होशियारपुर, कपूरथला) में अनुसूचित जातियों के लोगों की बड़ी संख्या है। इस क्षेत्र के बहुत से लोग अच्छी सरकारी नौकरियों में हैं और विदेशों में भी बसे हुए हैं। इससे इनकी सामाजिक स्थिति सुधरी है, इसमें समृद्धि आई है इनमें शिक्षा का विकास है। लोकतंत्र ने इन्हें अपने मत और अधिकारों के प्रति जागरूक भी किया है। इसलिए अब वे निर्धन, पीड़ित, खेतिहर मज़दूर और ऊंची जातियों के लोगों के सम्मुख सदैव हाथ जोड़कर खड़े होने वाले निरीह प्राणी नहीं रह गए हैं। इन्हें अब बराबरी के अधिकार चाहिए और सम्पूर्ण तंत्र के संचालन में पूरी भागीदारी भी चाहिए।

तिल्हण में जो संकट पैदा हुआ उसके पीछे भी तो वहां के एक गुरुद्वारे की प्रबंध समिति में भागीदारी का प्रश्न ही प्रमुख था।

जो समाज अनेक शताब्दियों तक पीड़ित रहा, घृणा और उपेक्षा की मार सहता रहा, संसार की छोटी-छोटी सुख-संविधाओं से वंचित रहा और रोटी के जूठे टुकड़े खाकर जीवन का निर्वाह करता रहा, वह समाज अब अंगड़ाइयां लेकर जाग रहा है। अब वह किसी जाट जमींदार का सीरी (खेतों में काम करने वाला मज़दूर) मात्र नहीं रह गया है। वह जाटों अथवा सवर्ण जातियों के नेताओं के साथ सत्ता में बराबर का हिस्सेदार बन गया है। उसकी युवा पीढ़ी को यह अहसास हो गया है कि उसकी शिराओं में जो

खून बह रहा है वह भी गुणवत्ता में किसी से कम नहीं हैं

पीड़ित समाज के लोग जब जागते हैं तो उनके तेवर बहुत उग्र हो जाते हैं और उनकी मुद्रा भी अधिक आक्रामक हो जाती है। जालन्धर और उसके आस-पास के क्षेत्रों में दलित वर्ग के लोगों ने जैसी आक्रामकता दिखाई है, वह इस बात की ओर संकेत करती हं।

इस घटना ने सम्पूर्ण सिख चिंतन को बुरी तरह झकझोर दिया है। एक दशक पूर्व के हिंसक आतंकवादी दौर के बाद, पंजाब की यह सब से अधिक उत्तेजक घटना थी। सिख समाज के कुछ लोगों की समझदारी और संयम का ही परिणाम है कि समस्या का तुरन्त निदान ढूंढ लिया गया और दलित वर्ग के सिखों को गुरुद्वारे के प्रबंध में ऐसी भागीदारी दे दी गई है जिससे वे संतुष्ट है।

ज्ञानी ज्ञान सिंह ने अपनी सुप्रसिद्ध रचना 'पंथ प्रकाश' में एक स्थान पर लिखा है कि दलित और पीड़ित लोगों का पक्ष लेते हुए गुरु गोबिंद सिंह ने एक बार कहा था कि जिन लोगों की जाति और कुल में कभी सरदारी लेने का विचार भी नहीं आया था, जो कभी सिर उठाकर चलने योग्य नहीं समझे जाते थे, जिनमें स्वाभिमान की कोई पहचान नहीं थी, मैं ऐसे लोगों को 'सरदार' बनाऊंगा, उनमें स्वाभिमान पैदा करूंगा, उन्हें पातशाही दूंगा—

जिनकी जाति और कुल माही, सरदारी नहीं भई कदाई
तिनको मैं सरदार बनाऊं तवै गोविंद सिंह नाम सदाऊं।।

पंजाब में जाट और दलित सिखों के बीच जो यह स्थिति उत्पन्न हुई है, उसका तात्कालिक समाधान तो ढूंढ लिया है किन्तु इसने विभेद की एक गहरी लकीर खींच दी। यह लकीर भविष्य में बारूद की विस्फोटक लकीर न बन जाए इसके प्रति सतर्क रहने की बहुत आवश्यकता है। सभी ओर यह बात लगातार कही जा रही है कि पिछले कई महीनों से तल्हण के गुरुद्वारे में चल रहे विवाद को यदि सरकार समय रहते संभाला लेती तो संभवतः स्थिति इतनी न बिगड़ती।

किन्तु मैं मानता हूं कि वहां जो कुछ भी हुआ इससे शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी की निष्क्रियता और अयोग्यता पूरी तरह उजागर हो जाती है। शिरोमणि कमेटी सिखों की सर्वोच्च संस्था है। सिख आदर्शों और मर्यादाओं की रक्षा करना उसकी पहली प्राथमिकता में आता है। क्या उसके किसी पदाधिकारी या सदस्य को इस बात का ज्ञान नहीं था कि वहां लंबे समय से चला आ रहा विवाद कैसा रूप ले सकता है? शिरोमणि कमेटी के सम्पूर्ण ढांचे को गंदी राजनीति का घुन लगातार खाता चला जा रहा है। ऐसी समस्याओं के प्रति यदि ऐसी कमेटी जागरूक नहीं रहेगी तो ऐसी या इससे अधिक विस्फोटक और चिंताजनक स्थितियां उत्पन्न हो सकती हैं।

(26-6-03)

सहजधारी भी सिख समाज का अभिन्न अंग

सिख परंपरा में दो शब्द प्रचलित हैं—अमृतधारी सिख व सहजधारी। गुरु नानक देव से लेकर गुरु तेग़बहादुर तक, दो सौ वर्ष की परंपरा में इन शब्दों का अस्तित्व नहीं था, जो कोई भी गुरु की शरण में जाता, गुरुवाणी का पाठ करता, गुरु के आदेश को स्वीकार करता, गुरुओं द्वारा बताए ढंग से अपना जीवन-यापन करता उसे सिख या गुरु-सिख कहा जाता था।

गुरु गोबिंद सिंह ने इस परंपरा को नया रूप दिया। उन्होंने, भाई गुरदास (द्वितीय) के शब्दों में, 'गुरु संगत किन्हीं खालसा' अर्थात् गुरु-सिखों को खालसा रूप में परिवर्तित कर दिया। सन् 1699 की बैसाखी के दिन उन्होंने आनंदपुर की पहाड़ियों में एक बड़ा सम्मेलन बुलाया। कड़ी परीक्षा के उपरांत उनमें से पांच व्यक्तियों का चयन किया। पहले गुरु का सिख बनने के लिए गुरु का चरणामृत चखना होता था। गुरु गोबिंद सिंह ने लोहे के दुधारे खंडे को लोहे के जल-पात्र में चलाकर गुरुवाणी के पाठ के साथ, लोहे संस्पर्श वाला जल तैयार किया और उसे अमृत कहा। सिख बनने के लिए अब चरणामृत के स्थान पर यह अमृत चखाया जाने लगा। उन्होंने सभी अनुयायियों को पांच ककार (केश, कृपाण, कड़ा, कंधा व कच्छ) धारण करने की आज्ञा दी। दो शताब्दियों की अवधि में गुरुओं का संदेश काबुल-कंधार से लेकर भारत के सभी लोगों में पहुंच गया था। देश के सभी भागों में 'संगतें' बन गई थीं, जिनमें वहां के सिख एकत्र होते थे। आज भी वाराणसी, आगरा, पटना, ढाका, डिब्रूगढ़, बुरहानपुर की संगतें जीवित हैं।

गुरु गोबिंद सिंह जी ने जो परिवर्तन किया था, उसका संदेश सुद्दूर प्रदेशों में जाने में बहुत समय लगना ही था। उसका संदेश सुदूर प्रदेशों में जाने में बहुत समय लगना

ही था। परिणामस्वरूप दो प्रकार के सिख हो गए। एक, जिन्होंने अमृतपान किया वे केश धारण किए। इन्हें अमृतधारी अथवा केशधारी सिख कहकर पुकारा जाने लगा। जिन्होंने सिख धर्म में पूरी आस्था रखी मगर न केश, न पांच ककारों का पूरी तरह पालन किया, उन्हें सहजधारी सिख कहा जाने लगा। इसका अर्थ यह भी था कि ऐसे सभी लोग सहज-सहज केशधारी हो जाएंगे। बहुत से सहजधारी परिवारों में दो-एक सदस्य केशधारी होने लगे। ऐसे मिश्रित परिवारों की बड़ी संख्या आज भी है किंतु अब धीरे-धीरे यह परंपरा विलुप्त होती जा रही है। अब खालसा रूप में सज्जित सिखों को ही सामान्यतया सिख समझा जाता है। पहले गुरुद्वारों में आने वाले श्रद्धालुओं में सहजधारियों की बहुत बड़ी गिनती होती थी। सिंधी समाज में सहजधारियों का ही बहुमत आज भी है। कुछ नगरों में उन्होंने अपने अलग गुरुद्वारे बना लिए हैं। सन् 1925 में जब तत्कालीन पंजाब सरकार ने गुरुद्वारा अधिनियम बनाया था, उसमें सिख होने की परिभाषा में कहा गया था कि जो व्यक्ति दसों गुरुओं को मानता है, गुरु ग्रंथ साहब को अपना इष्ट स्वीकार करता है, किसी अन्य धर्म का अनुयायी नहीं है, वह सिख है। इस परिभाषा के अनुसार उसका केशधारी होना अनिवार्य नहीं है। इसलिए उस अधिनियम के तहत बनी शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी के चुनाव में सहज-धारियों को मत देने का अधिकार प्राप्त है। सन् 1977 में दिल्ली के ऐतिहासिक गुरुद्वारों के प्रबंधक के लिए, केंद्र सरकार के एक अधिनियम द्वारा, दिल्ली सिख गुरुद्वारा मैनेजमेंट कमेटी की स्थापना हुई। उसके चुनाव में सहजधारियों को मत देने के अधिकार से वंचित कर दिया गया। दिल्ली कमेटी के चुनाव में केवल केशधारी सिख ही भाग ले सकते हैं। पिछले कुछ वर्षों में सिखों के एक वर्ग में यह रुझान बढ़ता जा रहा है कि सिख वही है जो केशधारी है। इस रुझान के कारण शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी (अमतृसर) ने केंद्र सरकार को यह लिखा है कि सन् 1925 में बने अधिनियम में संशोधन करे व सहजधारियों को चुनाव में भाग लेने में वंचित कर दे। केंद्र सरकार ने शिरोमणि कमेटी के इस प्रस्ताव को अभी तक स्वीकार नहीं किया है। इस कमेटी की आम सभा में चुनाव आगामी वर्ष के प्रारंभ में होने वाले हैं। वहां नई मतदाता सूचियां बन रही हैं। इस सूची में ऐसे सहजधारियों के नाम सम्मिलित हैं जो अपने आपको सिख कहते हैं। इस कमेटी के चुनाव में सन् 1966 में पुनर्गठित पंजाब जिसमें वर्तमान पंजाब, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश शामिल थे, के बालिग सिख मतदाता भाग लेते हैं।

सिख समाज में बढ़ता यह रुझान बहुत दुर्भाग्यपूर्ण है। सहजधारी संपूर्ण सिख समाज के अविभाज्य अंग हैं। यह स्वीकृति उन्हें स्वयं गुरु गोबिंद सिंह जी द्वारा प्राप्त है। भाई नंद लाल जी उनके अनन्य सिख थे। सिखों को किस प्रकार का जीवन-यापन करना चाहिए, इस दृष्टि से जितने 'रहतनामे' बने उनमें भाई नंद लाल का रहतनामा सबसे अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। भाई नंद लाल केशधारी सिख नहीं थे। 18वीं सदी

में, जब सिख अपने अस्तित्व की भयंकर लड़ाई तत्कालीन शासकों से लड़ रहे थे, उस समय सहजधारियों ने उन जुझारू सिखों की बहुत सहायता की थी। चूंकि उनकी वेशभूषा संघर्षरत सिखों जैसी नहीं होती थी, उन पर शासकीय कोप भी उतना नहीं होता था। इस प्रकार की अलगाववादी वृत्ति ने असंख्य सहजधारी परिवारों को सिखों के विशाल घेरे से दूर कर दिया है। अनेक सिख संस्थाएं व विद्वान शिरोमणि गुरुद्वारा कमेटी द्वारा केंद्र सरकार को भेजे गए प्रस्ताव का विरोध कर रहे हैं। केंद्र सरकार इस प्रस्ताव को स्वीकार करेगी, ऐसी आशा नहीं है।

(दैनिक जागरण, 1-7-2003)

गुरुद्वारों की मर्यादाओं में एकरूपता लाने के लिए अखिल भारतीय गुरुद्वारा कानून आवश्यक है

सिखों के पांच तख़्त हैं, लम्बे समय तक केवल चार तख़्तों को ही यह मान्यता प्राप्त थी। बहुत बाद में बठिंडा जिले में स्थापित तलवंडी साबू के गुरुद्वारे 'दमदमा साहब' को यह मान्यता प्राप्त हुई। तख़्त फारसी का शब्द है जिसका अर्थ है बड़ी चौकी अथवा बादशाह के बैठने की गद्‌दी, जिसे राज सिंहासन कहा जाता है। गुरु नानक ने एक स्थान पर कहा है कि तख़्त राज सिंहासन पर उसी को बैठना चाहिए जो उसके योग्य हो (तखति बहै तखते की लाइक)।

छठे गुरु-गुरु हरिगोबिंद ने दिल्ली में मुग़ल तख़्त के मुकावले अमृतसर में अकाल तख़्त (ईश्वरीय राज सिंहासन) की स्थापना की थी। बाद में यही स्थान सिखों की सभी गतिविधियों का केन्द्र बन गया। केश गढ़ (आनंदपुर) में गुरु गोबिंद सिंह ने सन् 1699 में सिख आन्दोलन को नया रूप दिया और खालसा पंथ का निर्माण किया। यह स्थान दूसरे तख़्त के रूप में सम्मानित हुआ इसे तख़्त केश गढ़ कहा जाने लगा। पटना में गुरु गोबिंद सिंह का जन्म हुआ था और नांदेड़ (महाराष्ट्र) में उनका देहावसान हुआ था। इन दोनों स्थानों की बहुत मान्यता थी, इसलिए इन्हें तख़्त के रूप में मान्यता मिल गई। इस प्रकार इन पांच तख़्तों में तीन पंजाब में एक पूर्वी भारत और एक दक्षिणी भारत में हैं।

सिख जगत में किसी तख़्त के जत्थेदार की ओर से जारी किए गए हुक्मनामे को लेकर इस समय जैसा विवाद उत्पन्न हो गया है, वैसा कभी इससे पहले कभी नहीं हुआ। श्री हरिमंदिर साहब पटना के जत्थेदार भाई इकबाल सिंह ने अपनी प्रबंध समिति के अध्यक्ष श्री महेन्द्र सिंह रूपाणा के विरुद्ध एक हुक्मनामा जारी करके सिख प्रथा से

निष्कासित करते हुए 'तनखाइआ' घोषित करके धार्मिक दण्ड का अपराधी बना दिया हैं। श्री रूपाणा पंजाब से हैं और शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी के निर्वाचित सदस्य है। भाई इकबाल सिंह की इस कारवाई ने अकाल तख़्त के जत्थेदार को बहुत विचलित कर दिया है। उनका कहना है कि हुक्मनामा जारी करने का अधिकार केवल अकाल तख़्त की है, इसलिए श्री रूपाणा के विरुद्ध पटना के तख़्त के जत्थेदार का हुक्मनामा वैध नहीं है।

हुक्मनामा क्या है, इसे कौन जारी करता रहा है, उनका अधिकार क्षेत्र क्या है, उसकी शक्ति और सीमाएं क्या हैं, इस विषय में सिख समाज सदैव दुविधाग्रस्त रहा है, और गत कुछ दशकों में पंजाब की अकाली राजनीति ने अपने हितों की पूर्ति के लिए जिस प्रकार इसका दुरुपयोग किया है, उससे इसका सत्कार और मर्यादा बहुत कम हो गई है और यह मात्र एक हौवा बनकर रह गया है। गुरु-काल में गुरु साहबान द्वारा जो पत्र अपने सिखों को लिखे या लिखवाए जाते थे, उन्हें हुक्मनामा (आज्ञापत्र) कहा जाता था। जब किसी व्यक्ति या संगत के पास ऐसा हुक्मनामा पहुंचता था तो उसे बहुत सत्कार से स्वीकार किया जाता था और उसमें दिए गए निर्देशों का श्रद्धापूर्वक पालन किया जाता था। काल के प्रवाह में बहुत से हुक्मनामे नष्ट हो गए। कुछ वर्ष पूर्व इनकी खोज की गई। जो हुक्मनामे प्राप्त हुए उन्हें शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी (अमृतसर) तथा पंजाबी विश्वविद्यालय (पटियाला) द्वारा पुस्तक रूप में प्रकाशित किया गया। इन हुक्मनामों में छठे गुरु-गुरु हरिगोबिंद जी (1595-1644) के पहले का कोई हुक्मनामा उपलब्ध नहीं हैं। अधिक हुक्मनामे गुरु तेग़बहादुर तथा गुरु गोबिंद सिंह के लिखे या लिखवाए हुए हैं। इन संग्रहों में बाबा बंदा सिंह तथा गुरु-पत्नियों (माता गूजरी, माता सुंदरी और माता साहब देवां) हुक्मनामें भी हैं। अंत में ऐसे दो और हुक्मनामे है जो अकाल तख़्त और तख़्त पटना साहब के जत्थेदारों द्वारा लिखे गए हैं।

अधिसंख्य हुक्मनामों में कुछ निर्देश दिए जाते थे और कुछ मांगे भी की जाती थीं। ये मांगें गुरु-घर की ज़रूरतों और गुरु-धामों के रखरखाव से संबंधित होती थीं। किसी व्यक्ति पर तनखाह (धार्मिक दण्ड) लगाने या किसी को तनखाहिया (पंथ से निष्कासित करने) की कोई विशेष घटना गुरु साहबान के जीवन काल की उपलब्ध नहीं है न ही गुरुवाणी में इसका कोई उल्लेख है। गुरु गोबिंद सिंह जी के देहावसान के पश्चात् कुछ श्रद्धालु सिखों द्वारा रहतनामों की रचना की गई। ये रहतनामें एक प्रकार की संहिताएं हैं, जिनमें यह वर्णित है कि किसी सिख को क्या करना चाहिए और क्या नहीं। भाई नंद सिंह लाल द्वारा लिखित 'तनखाहनामा' की चर्चा इस सम्बन्ध में की जाती है।

गुरु साहबान के पश्चात् हुक्मनामा जारी करने या किसी व्यक्ति को तनखाहिया घोषित करने की घटनाएं अत्यन्त विरल हैं। अकाल तख़्त या अन्य किसी तख़्त द्वारा जारी किए हुक्मनामों अथवा किसी को तनखाहिया घोषित करने की बात भी इक्का-दुक्का ही है। किन्तु पिछले चार दशकों में हुक्मनामे जारी करने और कितने ही लोगों को

तनखाहिया घोषित करने की जैसे बाढ़ सी आ गई हैं। इसके पीछे भी दलगत राजनीति भारु हो गई है। शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी पंजाब में स्थित तीन तख़्तों (अकाल तख़्त, तख़्त केश गढ़ और तख़्त दमदमा साहब) के जत्थेदारों की नियुक्ति करती है। सन् 1925 में तत्कालीन पंजाब सरकार द्वारा पारित पंजाब गुरुद्वारा एक्ट द्वारा शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी की स्थापना हुई थी। इसके अधिकार क्षेत्र में केवल अविभाजित पंजाब के ऐतिहासिक गुरुद्वारे आते हैं। इस प्रकार अन्य दो तख़्तों-तख़्त हरिमंदिर साहब (पटना) और तख़्त सचखंड हजूर साहब (नांदेड़) इसके अधिकार क्षेत्र में नहीं हैं। वहां की अपनी अलग प्रबन्ध-समितियां हैं।

शिरोमणि कमेटी के संविधान के अनुसार देश भर के पांचों तख़्तों के जत्थेदार इस कमेटी के पदेन सदस्य हैं, किन्तु इस कमेटी पर जिनका नियन्त्रण है उन्होंने पंजाब से बाहर के दोनों जत्थेदारों को कभी महत्व नहीं दिया। सिख परम्परा यह है कि कोई भी महत्वपूर्ण निर्णय पंचायती व्यवस्था से होना चाहिए। इस परिपाटी के अनुसार कोई भी हुक्मनामा तब तक जारी नहीं हो सकता जब तक उसमें पांचों तख़्तों के जत्थेदार शामिल न हो और सर्व-सम्मति न हो किन्तु इस प्रक्रिया में कभी पटना और नांदेड़ के जत्थेदारों को शामिल नहीं किया जाता। पांच की संख्या पूर्ति के लिए पंजाब के तीन जत्थेदारों के साथ हरिमंदिर साहब (अमृतसर) और अकाल तख़्त के मुख्य ग्रंथियों को शामिल कर लिया जाता है।

सभी पांचों तख़्तों की महत्ता एक समान है, किन्तु अकाल तख़्त उनमें सर्वप्रथम है। इसे यूं भी कहा जा सकता है कि वह पंचों में सरपंच है। किन्तु यह भी सच है कि अकाल तख़्त का जत्थेदार अकेले न कोई हुक्मनामा जारी कर सकता है, न किसी पर 'तनखाह' लग सकता है।

चार वर्ष पहले जब भाई रणजीत सिंह अकाल तख़्त के जत्थेदार थे तो उन्होंने इस परम्परा को तोड़ने का प्रयास किया था। उन्होंने अकाल तख़्त के जत्थेदार की सर्वोच्चता का दावा करते हुए, बिना अन्य तख़्तों के जत्थेदारों की भागीदारी के, स्वयं हुक्मनामे जारी करने प्रारम्भ कर दिए थे, जिसका सिख पंथ में व्यापक विरोध हुआ था।

यह कहना कि अकाल तख़्त के सिवा अन्य कोई तख़्त हुक्मनामा जारी नहीं कर सकता ऐतिहासिक दृष्टि से सही नहीं है। पटना और नांदेड़ के तख़्तों से हुक्मनामे जारी होते रहे हैं, इसके पुष्ट प्रभाव हैं।

पटना तख़्त के जत्थेदार ने श्री रूपाणा पर यह आरोप लगाया है कि उन्होंने सार्वजनिक रूप श्री हरिमंदिर साहब (पटना) की मर्यादा की आलोचना करके उसकी प्रतिष्ठा को ठेस पहुंचाई है। पटना के हरिमंदिर में गुरु-ग्रंथ साहब के साथ ही दशम ग्रंथ का भी प्रकाश होता हैं यह परम्परा नांदेड़ के तख़्त सचखंड हजूर साहब में भी है। शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी (अमृतसर) ने जो रहत मर्यादा प्रकाशित की है उसमें गुरु ग्रंथ साहब के साथ किसी भी अन्य ग्रंथ को रखने या उसका प्रकाश करने का

स्पष्ट निषेध है। पटना और नांदेड़ जैसे कुछ अपवादों को छोड़ कर देश-विदेश के किसी भी गुरुद्वारे में न दशम ग्रंथ का प्रकाश होता है और न ही उसका अखंड पाठ किया जाता है।

सभी तख़्तों और गुरुद्वारों की मर्यादा एक जैसी हो, इस बात की सिख संसार में बहुत चर्चा होती रहती है। सारे देश के लिए एक अखिल भारतीय गुरुद्वारा कानून बने, इस बात की मांग भी लम्बे समय से की जा रही है। इसमें कोई संदेह नहीं कि ऐसा कानून बनने पर सभी तख़्तों और गुरु-धामों के बीच चल रही मर्यादाओं में एकरूपता लाई जा सकेगी।

किन्तु ऐसा लगता है कि पंजाब की अकाली राजनीति के अगुवा ऐसे किसी कानून को बनवाने के लिए विशेष आतुर नहीं हैं। शिरोमणि कमेटी पर एक वर्ग विशेष का वर्चस्व छाया हुआ है। अ. भा. गुरुद्वारा कानून बनने से उसमें सभी क्षेत्रों और वर्गों की भागीदारी होगी और इससे शिरोमणि कमेटी का वह चरित्र नहीं रहेगा। जो आज है। यह बात कुछ तत्वों के गले से नीचे नहीं उतरती।

पंचायती व्यवस्था में किसी सरपंच का निर्णय उस समय तक मान्य नहीं होता जब तक अन्य पंचों की उसमें सहभागिता न हो। अमृतसर में अकाल तख़्त के जत्थेदार के नेतृत्व में जब पांच सिंह साहबान मिलते हैं और कोई निर्णय लेते हैं तो उसमें पटना और नांदेड़ के जत्थेदार शामिल नहीं किए जाते हैं। इसलिए अकाल तख़्त के जत्थेदार द्वारा इन तख़्तों के जत्थेदारों को किसी प्रकार का आदेश देने का नैतिक अधिकार नहीं रहता। यदि इस व्यवस्था को सार्वदेशिक बनाना है तो और सभी ऐतिहासिक गुरुद्वारों में प्रचलित मर्यादाओं में एकरूपता लानी है तो शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी के कार्यक्षेत्र का विस्तार होना चाहिए। इसके लिए अखिल भारतीय गुरुद्वारा क़ानून बनना बहुत आवश्यक है।

(दैनिक जागरण, 31-7-03)

नंद बाबा का दुःख किसी से कम नहीं था

संपूर्ण कृष्ण कथा में मुझे कृष्ण के पालक—पिता नंद का चरित्र अपनी मूक करुणा के कारण बहुत प्रभावित करता है। मेरे ध्यान में यह बात भी आती है कि इस कथा में बाबा नंद का चरित्र बहुत उपेक्षित रह गया है। कृष्ण के मथुरा चले जाने के बाद विरह प्रसंग प्रारंभ होते हैं। इनका संबंध तीन पक्षों से है—माता यशोदा, पिता नंद और ब्रज-भूमि की गोपियां। इनमें सबसे अधिक चर्चा गोपियों के विरह की है। हिंदी के कृष्ण काव्य में सूरदास का 'भ्रमरगीत', नंददास का 'भंवरगीत' और जगन्नाथ दास रत्नाकर का 'उद्धव शतक' जैसी रचनाएं गोपियों के विरह से ही संबंधित हैं, यद्यपि इनके माध्यम से निर्गुण पर सगुण की, निराकार पर साकार की, ज्ञान पर भक्ति की विजय की भरपूर चर्चा भी की गई है।

विरह चर्चा में यदा-कदा माता यशोदा की मानसिकता पर भी कवियों ने थोड़ा बहुत लिखा है किंतु कृष्ण के वियोग में नंद बाबा की मनोदशा कैसी है इस ओर बहुत कम कवियों ने ध्यान दिया है।

गुरु गोबिंद सिंह विरचित 'कृष्णावतार' नामक रचना 'दशम ग्रंथ' में संग्रहीत एक बड़े आकार की रचना है। इस रचना की छंद संख्या 2472 है। कृष्ण चरित्र पर हिंदी में प्रबंध काव्य लिखने की कोई पुष्ट परंपरा नहीं है, जैसी कि राम-चरित्र पर है। इस रचना का महत्व इस दृष्टि से भी बढ़ जाता है कि यह ब्रज भाषा में कृष्ण के जीवन पर आधारित रीतिकालीन युग का एक विशिष्ट प्रबंध काव्य है।

गुरु गोबिंद सिंह कृष्ण-भक्त कवि नहीं थे। वे गुरु नानक मार्गी निर्गुण-निराकार परब्रह्म की भक्ति-परंपरा के दसवें उत्तराधिकारी थे। किंतु इससे भी अधिक महत्वपूर्ण उनका स्वरूप एक राष्ट्रनिर्माता का था, जिसे अपने समय के पीड़ित, गुलाम और

आत्मविश्वास रहित समाज में नई चेतना का निर्माण कर उसमें विश्वास, शक्ति और पराक्रम का संचार करना था। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने भारतीय वाङ्मय के एक बड़े भाग का भाषानुवाद किया था। कृष्णावतार की रचना के पीछे भी उनका यही उद्देश्य था, जिसकी पुष्टि उन्होंने स्वयं इस रचना में की है—"मैंने भागवत के दशम स्कंध की (ब्रज) भाषा में रचना की है। इसके पीछे मेरी और कोई इच्छा नहीं है। मेरे मन में तो धर्मयुद्ध का चाव है—

दसम कथा भागौत की भाषा करी बनाइ।।
अवर वासना नाहि प्रभु धरम जुद्ध की चाइ।।

यही कारण है कि ब्रजभाषा के अन्य कृष्ण चरित्रों से हटकर इस रचना में युद्ध प्रसंगों का बहुत व्यापक वर्णन है। स्वाभाविक है कि इस कारण इसमें करुणा-कोमल प्रसंग अधिक महत्व नहीं प्राप्त कर सके हैं। विरह खंड में कृष्ण का मथुरा चले जाना, उद्धव का गोपियों को समझाने के लिए आना, गोपियों का उन्हें कृष्ण के प्रति अपने अनन्य प्रेम से परिचित कराना लगभग परंपरा के अनुरूप ही है। यहीं पर कृष्णावतार के रचयिता ने नंद बाबा की मनःस्थिति का चित्रण करते हुए कुछ छंद लिखे गए हैं जो अपने आप में अद्भुत हैं। माता यशोदा, प्रेमिका गोपियों के विलाप और विरह पर कृष्ण साहित्य में उक्तियों का अभाव नहीं है परंतु मां और प्रेमिका के अतिरिक्त भी एक व्यक्ति है जो पुत्र वियोग की पीड़ा से पीड़ित है। पिता अपने मुंह से बहुत कम बोलता है। वह स्त्रियों की भांति अधिक रो भी नहीं सकता।

कृष्ण के आदेशानुसार उद्धव ब्रज में आए हैं। पुत्र वियोग से व्याकुल नंद उनसे यही प्रश्न करते हैं कि मैया कभी कृष्ण उनको याद करते हैं। यह कहते-कहते वे मूर्छित हो जाते हैं—

प्रात भए तै बुलाइकै उधव पै ब्रज भूमिहि भेज दयो है।
सो चलि नंद के धाम गयी बतियां कहि सोक असोक भयो है।
नंद कहयो संगि उधव के कबहूं हरि जी मोहि चित क्यों है।
यो कहि कै सुध स्यामहि कै धरनी पर मुरझाहि पयो है।

जब नंद बाबा इस प्रकार मूर्छित होकर भूमि पर गिर गए तो उद्धव ने कह दिया कि कृष्ण आ गए हैं। यह सुनकर वे उठकर खड़े हो गए। उनके मन से सारा दुख जाता रहा। किंतु जब उन्होंने सारी बात समझी तो जान लिया कि उनके साथ छल किया गया है, क्योंकि जब से कृष्ण ब्रज से गए हैं वे वहां वापस नहीं आए हैं—

जब नंद परयो गिर भूमि बिछै तब साहि कइयों जदुबीर अए।
सुनिकै बतियों उठ ठाट भयो मन के सभ सोक पराइ गए।
उठिकै सुधि सो इह भांति कहयो हम जानत उधव पेच कए।।
तज कै ब्रिज को पुर बीच गए फिर कै ब्रिज मैं नहि स्याम अए।।

विधि की क्या विडंबना है कि नंद बाबा को उसने एक पुत्र दिया, फिर बिना किसी अपराध के उनसे छीन भी लिया। निरीह पिता विधि के इस विधान पर रोदन न करे तो क्या करे। नंद बाबा उद्धव से कहते हैं–

स्याम गए तजिकै ब्रिज को ब्रिज लोगन को अति ही दुःख दीनो।।
उधव बात सुनो हमारी तिहके बिनु भ्यो हमरो पुर हीनो।।
दै विधिनै हमरे गृह बालक पाप बिना हमते फिर छीनो।।
यों कहि सीस झुकाई रहयो बहु सोक बढ़यो अति रोदन कीनो।।

नंद बाबा रुदन करते हुए उद्धव से कहने लगे कि ब्रज को छोड़कर श्याम मथुरा चले गए, मुझे इसका पूरा कारण बताओ। मैं तुम्हारे पैर पड़ता हूं इस संबंध में जो कुछ हुआ है वह मुझे बताओ। मेरे जिस पाप के कारण कृष्ण मेरी सुधि नहीं लेते हैं–

कहिकै इह बात परयो-धरि पै उठ फेरि कहयों संग उधव इउ।।
तजि कै ब्रिज स्याम गए मथुरा हम संग कहो अब कारनि किउ।।
तुमरे अब पाइ लगो उठिकै सु भई बिरथा सु कहो सभ जिउ।।
तिहते नहीं लेत कछू सुधि है मोहि पाप पछान बछू रिस सिउ।।

नंद बाबा की मनोदशा ऐसी हो गई है कि वे समझते हैं कि उनके ही किसी अपराध के कारण कृष्ण ब्रज छोड़कर मथुरा चले गए हैं। इससे अधिक करुण स्थिति क्या हो सकती है कि पिता यह समझे कि उसका पुत्र उसी के किसी पाप के कारण उसे छोड़कर चला गया है। यह सोचकर नंद बाबा के मन में ग्लानि भी उत्पन्न होती है और पश्चाताप भी।

अब उद्धव उन्हें उस क्रूर वास्तविकता से परिचित कराते हैं जिसे सुनकर नंद बाबा की स्थिति में बैठा कोई भी व्यक्ति अत्यंत विचलित हो जाएगा। उद्धव उन्हें बता देते हैं कि प्रभु ने कृष्ण को तुमने नहीं छीना है। कृष्ण के असली पिता तो वसुदेव हैं। वे उन्हीं के पास गए हैं। नंद ने यह सुनकर ठंडी सांस ली। उनका धैर्य-छूट गया और वे फिर रुदन करने लगे–

सुनिकै तिन उधव यों बतियों इह भांतनि सिउ तिह उत्तर दीनों।।
थे सुत सो बसुदेविहि को तुम ते सभ पै प्रभुजू नहीं छीनी।।
सुनिके पुरि को पति यों बतिया कबि स्याम उसास कहै तिन लीनो।।
धीर गयो छूट रोवत भ्यो इन हूं तिह देखत रोदन कीनो।।

जब नंद बाबा अत्यंत दुःखी होकर रोने लगे तो उद्धव ने उन्हें समझाया कि आप किसी प्रकार का शोक न कीजिए। कृष्ण ने मुझसे कुछ बातें कही थीं वे मैं आपको सुनाता हूं। जिन कृष्ण की बात सुन कर मन प्रसन्न हो जाता है और जिनके मुख को

देखकर ही सभी जीवित रहते हैं उस कृष्ण ने कहा है कि आप लोग चिंता का त्याग करें! आपको कुछ भी हानि नहीं होगी–

> हठि उधव के इह भांति कहयो पुर के पति सो कछु सोक न कीजै।।
> स्याम कहो मुहि जो बतियों तिह की बिरथा सभ ही सुनि लीजै।।
> जाकी कथा सुनि होत खुसी मन देखत ही जिसको मुख लीजै।।
> वाहि कह्यो नहि चिंत करो न कछू इहते तुमरो फन छीजै।।

उद्धव की ऐसी आश्वासन भरी बातें सुनकर नंद बाबा को कुछ शांति मिली। वे उद्धव से सब कुछ पूछने लगे। कृष्ण की कथा सुनकर उनका दुःख दूर भाग गया तथा मन आनंद से भर गया। वे सब कुछ भूलकर कृष्ण की बातों में ही डूब गए। जिस प्रकार योगी समाधिस्थ हो जाते हैं उसी प्रकार नंद बाबा का ध्यान भी कृष्ण में रम गया–

> सुनिकै इस उधव ते बतिया फिर उधव को सोइ पूछन लाग्यो।।
> कान्हे कथा सुनि चित के बीच हुलास बदयो सभ ही दुख भाग्यो।।
> अउर दई सभी छोर कथा हरि बात सुनैबै बिखै अनुरागयो।।
> ध्यान लगावत जिउ जुगिया इह तउ हरि ध्यान के भीतर पाग्यो।

अपने देश में कृष्ण-कथा के अनेक रूप हैं और कृष्ण कथा को विभिन्न कवियों ने अपने-अपने ढंग से लिखा है। दृष्टिकोणों का भी अंतर है। यह भी सही है कि कृष्ण जैसे विराट और बहुआयामी चरित्र को किसी एक पक्ष के साथ जोड़ देखना उस चरित्र के साथ अन्याय करना है। हिंदी में कृष्ण चरित्र को मुख्यतः भक्ति और श्रृंगार में बांधकर देखा गया है। उनके वीर रूप की प्रतिष्ठा की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है। गुरु गोबिंद सिंह ने उनके वीर रूप की ओर विशेष ध्यान दिया। यह उन परिस्थितियों की महती आवश्यकता थी, जिनमें गुरु गोबिंद सिंह ने एक महान अभियान का सूत्रपात किया था। वह समय यह विचार करने का नहीं था कि निर्गुण धारा ठीक है या सगुण धारा। ज्ञान अधिक महत्वपूर्ण है या भक्ति। वह समय इस देश की अस्मिता की रक्षा का समय था। इसी कारण गुरु गोबिंद सिंह ने सभी अवतार कथाओं और मारकंडेय पुराण में वर्णित चंडी की कथा को ब्रज भाषा और पंजाबी में लिखकर इस देश की दुर्वल और आत्मविश्वास हीन जनता में नई चेतना का संचार करने का उधम किया था।

कवि ने कृष्णावतार में कोमल और करुण प्रसंगों की ओर विशेष रुचि नहीं दिखाई है किंतु नंद बाबा के पुत्र विछोह की स्थिति को बड़ी मार्मिकता से लिखा है।

पिता की वेदना क्या होती है, इसे गुरु गोबिंद सिंह से अधिक कौन जानता था, जिनके अपने चारों पुत्र, आगे चलकर, उन उद्देश्यों के प्रति समर्पित होकर अपना बलिदान दे गए थे, जिन्हें उन्होंने अपने जीवन का लक्ष्य बनाया था।

(अजीत समाचार, 22-8-03)

सत् संतोष और विचार का ग्रंथ

कुछ दिन पूर्व ही गुरु ग्रंथ साहब का प्रकाशोत्सव मनाया गया। इस दिन 399 वर्ष पूर्व पंचम गुरु, गुरु अर्जुन देव ने इस ग्रंथ का संपादन कार्य पूर्ण किया था। आगामी वर्ष में इसके संपादन की चौथी शताब्दी मनाई जाएगी।

गुरु ग्रंथ साहिब के अंत में मुंदावणी शीर्षक से एक पद उपसंहार के रूप में दिया गया है–

थाल विचि तिंनि वसतू पइयो संतु संतोखु वीचारो।
अमृत नामु ठाकुर का पइयो जिसका सभसु अधारो।
जे को खावे जे को भूंचै तिसका होइ उधारो।
एह वसतु तजी नह जाई, नित नित रखु उरि धारो।
तक संसार चरन लगि तरीऐ, सभ नानक ब्रहम पसारो।

इस पद को इस ग्रंथ के समूचे संदेश का सार कहा जा सकता है–"मनुष्य के मन रूपी थाल में तीन वस्तुएं डालें–सत्, संतोष और विचार। इन्हें एक रस करने के लिए परमात्मा का अमृतरूपी नाम रस मिलाएं जो सभी जीवों का आधार है। थाल में बनी इस भोज्य सामग्री का जो सेवन करता है उसका उद्धार होता है। यह सामग्री तजी नहीं जा सकती इसलिए इसे नित्य से अपने हृदय में धारण करें। नानक कहते हैं–इस नाम पदार्थ के साथ जुड़कर ही संसार के अंधेरे से बाहर निकल कर ब्रह्म के व्यापक पसार को अनुभव किया जा सकता है।"

मानव जीवन के लिए गुरु ग्रंथ साहब में एक दृष्टि है। एक ओर जीवन में, उसके दैहिक सुखों के लिए इतनी आसक्ति है कि मनुष्य जीवन के सभी महत्तर मूल्यों को

भूलकर धन, सम्पत्ति, सत्ता और ऐश्वर्य की दौड़ में अंधा होकर दौड़ता है। इस दौड़ में सफल होने के लिए वह अपना नाम-सम्मान, प्रतिष्ठा, गौरव, दया-धर्म छोड़कर सभी प्रकार के नैतिक-अनैतिक काम करता है। वह किसी का शोषण करता है तो किसी की चाटुकारिता करता है। परन्तु किसी कारण जब उसे कोई चोट लगती है तो वह गहरी आसक्ति का उत्तर विरक्ति में ढूंढता है और सभी प्रकार के दायित्वों से भाग कर कहीं मुंह छिपाना चाहता है। इन दोनों प्रकार की अतिवादी दृष्टियों के बीच गुरुवाणी संसार से, समाज से सक्रिय होकर जुड़ने की बात कहती है। वह जीवन को कुछ मूल्यों का अहसास कराती है और चाहती है कि व्यक्ति समाज में सत् को अपना आधार बनाए, संतोष को धारण करे और विचार का दामन न छोड़े। धन-सम्पत्ति के पीछे अंधे होकर दौड़ना या उसे एकदम त्याग कर बैरागी बन जाना इस मूल्य दृष्टि को स्वीकार नहीं। इसलिए मेहनत करना, उधम द्वारा जीविका कमाना, व्यापक मानवीय हितों के लिए अपनी कमाई को दूसरों के साथ बांटना और सब के सुख में अपने सुख की तलाश करना इस मूल्य दृष्टि का केन्द्रीय बिन्दु हैः—

घाल खाए किछु हत्यहुं देइ।
नानक राह पछानसि सेइ।।

(मेहनत करके जो कमाता-खाता है, उन्हीं हाथों से दूसरों के साथ बांटता है, वही सही राह को पहचानता है।)

इस सही और संतुलित राह की खोज में गुरु नानक या परवर्ती गुरु अकेले नहीं चलना चाहते थे। गुरु नानक की दृष्टि अकेले व्यक्ति की दृष्टि नहीं थीं। वह अपने साथ लोगों को लेकर चलने वाली दृष्टि थी। इसलिए उनकी दृष्टि में अकेला साधनारत् व्यक्ति मोक्ष का इतना सहज अधिकारी नहीं हैः—

मिलि सत संगत हरिगुण गाए,
जगु भउ जलु दुसतरु तरीए जीउ।

गुरु ग्रंथ साहब के संकलन-संपादन में भी यही ''संगतवादी'' दृष्टि काम करती दिखाई देती है। गुरु नानक अपने जीवन में पच्चीस वर्ष अपने साथी मरदाना को लेकर दूर-दूर जाकर साधु-संतों, सज्जनों-दुर्जनों, अमीरों-गरीबों, हाकिमों-रैयतों की संगत करते रहे, उनके साथ गोष्ठियां करते रहे, विचारों का आदान-प्रदान करते रहे। जहां भी गए वहां उन्होंने 'संगतें' बना दीं, जहां लोग उनके उपदेशों के प्रकाश में निरन्तर मिलते रहे। बनारस, पटना आगरा, ढाका के गुरुद्वारे आज भी 'संगत' नाम से पुकारे जाते हैं।

गुरु ग्रंथ साहब में संगृहीत रचनाओं का कलेवर इस देश की सांस्कृतिक-साहित्यिक

गतिविधियों के पांच सौ वर्ष के इतिहास को अपने में समेटता है। इस इतिहास में धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक उथल-पुथल और उससे उपजी बहुमुखी समस्याओं का लेखा-जोखा है। इस ग्रंथ में बारहवीं सदी के बंगाल के बहुचर्चित भक्त कवि 'गीत गोबिंद' के रचयिता जयदेव (जन्म 1170 ई.) और मुलतान के सुप्रसिद्ध सूफी संत शेंख फरीद (जन्म 1172 ई.) से लेकर सत्रहवीं सदी के गुरु तेगबहादुर (जन्म 1675 ई.) तक की रचनाएं संगृहीत हैं। इन पांच सौ वर्षों की अवधि में फैले 36 भक्त, संत, सूफी और भट्ट कवि इस ग्रंथ में स्थान पाकर उस महान देश व्यापी प्रयास का अंग बन गये जिसे गुरु अर्जुन देव ने मूर्तरूप दिया था।

गुरु ग्रंथ साहब अपने समय की सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक चेतना का प्रतीक है। मानव मात्र की एकता, एक ईश्वर में विश्वास, पाखंड का खंडन, श्रम की महत्ता, ऊंच-नीच की भावना का खंडन, खुद की कमाई और लोगों के साथ मिल बांटकर खाने की भावना का प्रोत्साहन, अन्याय का विरोध, अत्याचार का मुकाबला और फिर लक्ष्य की प्राप्ति के लिये जुझने की तैयारी ये सब बातें इस ग्रंथ के सम्पूर्ण भाव-जगत का निर्णय करती हैं। गुरु अर्जुन देव कहते हैः–

उद्यम करेदियां जीउ तू
कमावंदिआं सुख भुंच
धिआदीआं तू प्रभु मिलि
नानक उतरी चिंत।

(तुम उद्यम करते हुए जियो, कमाते हुए सुख प्राप्त करो, ध्यान करते हुए प्रभु से मिलो, तुम्हारी चिंता दूर हो जाएगी) ध्यान देने की बात है कि गुरु अर्जुन के प्राथमिकता के क्रम में उद्यम और कामना पहले आते हैं और प्रभु का ध्यान बाद में आता है।

शेख फ़रीद पराधीनता और परावलम्बन से मुक्त होने की कामना करते हैं–

फरीदा बारि पराए बैसणा साई मुझे न देहि।।
जे तूं एवें रखसी, जीउ सरीरहु लेहु।।

(हे ईश्वर मुझे दूसरे के द्वार पर मोहताज बनाकर मत बैठाना। यदि तुम मुझे इस तरह रखना चाहो तो मेरे प्राण ले लेना।)

कबीर की साफगोई और व्यंग्य तो बहुचर्चित है। श्राद्ध का मजाक उड़ाते हुए वही कहते हैः–

जीवत पीतर न मानै कोउ मुए सिराध कराही।।
पितर भी बपुरे कहु किउ पावहि, कउआ कूकर खाही।।

गुरु ग्रंथ साहब में उच्च वर्ण वाले संत कवि हैं, परन्तु प्रमुखता उनकी है जिन्हें सामाजिक दृष्टि से छोटा माना जाता था। नामदेव, रविदास, धन्ना, सधना, सैण आदि संत इन्हीं श्रेणियों में से थे। शेख फ़रीद, कबीर और भीखन जैसे लोग मुसलमान थे। कबीर का दर्द इसलिए बहुत गहरा था कि वे जुलाहा थे और काशी में रहकर एक ओर मुल्लाओं का सामना करते थे दूसरी ओर पोंगा पंडितों का। रविदास की मान्यता थी कि उनके स्वामी का सबसे बड़ा गुण यह है कि वह नीचों को ऊंचा बना देता है और इस काम में वह किसी से डरता नहीं—

नीचहुं ऊच करे मेरा गोबिंद
काहू ते न डरै।

संत नामदेव ने ऊंची जाति के ब्राह्मणों द्वारा अपने प्रति किये गये अन्याय को स्पष्ट शब्दों में लिखकर बड़ी करुण पुकार की है—

हसत खेलत तेरे देहुरे आया।
भगति करतत नामा पकरि उठाया।
होनड़ी जाति मेरी जादिम राया।
छीपे के जनमि काहे कउ आया।।

गुरु नानक अपने समय के समाज को अंदर-बाहर से जागृत करना चाहते थे। देश की आत्मा पर पड़े कायरता के कपड़े को टुकड़े-टुकड़े कर देना चाहते थे—और चाहते हैं कि हिन्दुस्तान अपनी आवाज़ को पूरी तरह पहचाने—

काया कपड़ टुक-टुक होसी
हिन्दुस्तान संभालसी बोला

गुरु ग्रंथ साहब में जैसी व्यापक दृष्टि व्याप्त है, वैसी व्यापकता अन्यत्र ढूंढ पाना बहुत मुश्किल है। चार सौ वर्ष पहले किसी ऐसे धर्म ग्रंथ की परिकल्पना करना जो एक ओर समय की धड़कन को व्यक्त कर सके, दूसरी ओर अपनी परिधि में जाति, वर्ण, धर्म ओर प्रदेश की सीमाओं को पीछे छोड़कर एक सांझा मंच बना सके—बहुत अनहोनी सी बात दिखती है, परन्तु गुरु अर्जुन देव ने इस अनहोनी को होनी कर दिया था।

गुरु गोबिंद सिंह जी ने अपनी जीवन-यात्रा पूर्ण करने से पहले इस महान ग्रंथ को अपना उत्तराधिकारी बनाकर इसे गुरु पद पर प्रतिष्ठित कर दिया। इस निर्णय से सिखों में देहधारी गुरु का स्थान शब्द गुरु को प्राप्त हो गया। यह शब्द गुरु ही जीवन की दिशा निर्धारित करने का कार्य करने लगा।

(दैनिक जागरण, 18-9-03)

अकाल तख़्त से जारी हुक्मनामों को चुनौती

26 अक्टूबर को मोहाली (पंजाब) में विवादों से घिरा हुआ विश्व सिख सम्मेलन सम्पन्न हुआ। पंजाब की अनेक सिख संस्थाओं-विशेष रूप से सिख स्टूडेण्ट फेडरेशन के अनेक धड़ों ने एकत्र होकर यह निश्चय घोषित किया था कि वे किसी भी स्थिति में यह सम्मेलन नहीं होने देंगे। उनका कहना था कि यह सम्मेलन श्री अकाल तख़्त की प्रतिष्ठा, सर्वोच्चता तथा मर्यादा को चुनौती देता है इसलिए इसका आयोजन किसी भी प्रकार उचित नहीं है।

पिछले कुछ समय से सिख-क्षेत्रों में यह चर्चा होती रही है कि अकाल तख़्त से जो हुक्मनामे जारी किए जाते हैं, जिस प्रकार लोगों को वहां बुलाया जाता है, जिस प्रकार कुछ लोगों पर पंथ विरोधी होने का दोष लगा कर उन्हें तनखाहिया घोषित किया जाता है और उन्हें (धार्मिक) दंड का भागी बनाया जाता है, क्या यह सिख परम्पराओं और आदेशों के अनुरूप हैं? क्या इससे ऐसे पुरोहितवाद को बढ़ावा नहीं दिया जा रहा है जिसका सिख धर्म में कोई महत्व नहीं है?

इस समय इस विवाद के उभरने का एक तात्कालिक कारण हैं कनाडा में बसे एक सिख विद्वान श्री गुरबख़्श सिंह काला अफगान की चार खंडों में प्रकाशित पुस्तक-विप्रन की 'रीति तों सच का मारग (विप्रों की नीति से सत्य का मार्ग) को लेकर कुछ लोगों ने अकाल तख़्त के जत्थेदार के पास यह शिकायत की कि इस पुस्तक में लेख द्वारा दी गई अनेक व्याख्याएं तथा मान्यताएं गुरुमत विरोधी हैं और स्वीकृत मर्यादाओं को चोट पहुंचाती हैं। इसलिए अकाल तख़्त पर बुलाकर उससे स्पष्टीकरण मांगा जाना चाहिए। अकालतख़्त के जत्थेदार ने इस शिकायत को उचित मानकर गुरबख़्श सिंह काला अफगान

को अकाल तख़्त पर तलब किया। वह स्वयं तो यहां नहीं पहुंचे। उन्होंने वीडियो कान्फ्रेसिंग के माध्यम से अपना स्पष्टीकरण दिया उसे स्वीकार नहीं किया गया और उन्हें तनखाहिया घोषित कर दिया गया।

इस घटना ने उन लोगों के मन में फिर इस प्रश्न को उभार दिया कि क्या अकाल तख़्त के नेतृत्व में तख़्तों के जत्थेदारों, जिन्हें सम्मानपूर्वक सिंह साहब कहा जाता है, को किसी व्यक्ति को उसके किसी कार्य या किसी विचार के कारण धर्मदण्ड का भागी घोषित करने का अधिकार है? क्या यह आदेश सिख परम्पराओं के अनुरूप है?

इस बात को लेकर काला अफगान के विचारों से अपनी सहमति व्यक्त करने वाले चंडीगढ़ के कुछ बुद्धिजीवियों तथा खालसा पंचायत जैसी कुछ संस्थाओं ने मोहाली में विश्व सिख सम्मेलन का आयोजन किया। प्राप्त सूचना के अनुसार इस सम्मेलन में देश भर के अनेक प्रतिनिधि आए और संसार के कुछ अन्य देशों से आए व्यक्ति भी इसमें शामिल हुए।

शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी, शिरोमणि अकाली दल, सिख स्टूडेन्ट फेडरेशन जैसी संस्थाओं ने इस सम्मेलन का विरोध करते हुए कहा कि यह प्रयास सिखों की सर्वोच्च संस्था-अकाल तख़्त की प्रभुता को चुनौती दे रहा है जो स्वीकार्य नहीं है।

इस संदर्भ में मूल प्रश्न यह है कि सिख-परम्परा में पुरोहित वर्ग की क्या स्थिति है और क्या सिखों में यह वर्ग फिर से पनप रहा है?

इसमें कोई संदेह नहीं कि सिख परम्परा में पुजारी वर्ग की अनिवार्यता को कभी स्वीकार नहीं किया गया।

संसार के लगभग सभी धर्मों में इस संस्था का विशेष महत्व है। धर्म क्या है, उसके विधि-विधान क्या हैं, कर्मकाण्डों का परिपालन किस प्रकार किया जाना चाहिए, एक गृहस्थ के लिए क्या स्वीकार्य है, क्या स्वीकार्य नहीं है-इन सभी बातों की व्याख्या पुजारी वर्ग ही करता है। ईसाइयों में उनका धर्म गुरु पोप मध्य युग में राजनीति का भी नियंता भी होता था। खलीफा का मुल्ला वर्ग से अपने सभी कार्य का अनुमोदन कराना सभी मुसलमान बादशाहों के लिए उत्पन्न आवश्यक होता था। सनातनी हिन्दु समाज का कोई भी संस्कार पंडित की उपस्थिति के बिना सम्पन्न नहीं होता। सिख गुरुओं ने इस स्थिति को मान्यता नहीं दी थी। उनकी दृष्टि में हर गुण-सम्पन्न और आचरणवान व्यक्ति पंडित या पुजारी बन सकता है। पांचवें गुरु-गुरु अर्जुन देव ने जब अमृतसर के हरिमंदिर में आदि ग्रंथ को स्थापित किया था तो वहां का पहला ग्रंथी या पुजारी बाबा बुड्ढा को बनाया था जिनका जन्म जाट परिवार में हुआ था।

गुरु गोबिंद ने भाई मनी सिंह को हरिमंदिर का पुजारी नियुक्त किया था। सिखों में यह कार्य करने वाले को ग्रंथी या भाई कहा जाने लगा है। किसी भी जाति या वर्ग का व्यक्ति यह दायित्व संभाल लेता है। उसका काम इतना ही है कि वह धर्म स्थान की सेवा संभाल करे, श्रोताओं को गुरुवाणी सुनाए, उसका अर्थ समझाए, आपस में

कोई विवाद हो तो उसे सुलझाने में सहायता करे और बैसाखी-दीवाली गुरुपर्व जैसे अवसरों पर बड़े आयोजन करे।

लम्बी सिख परम्परा में पुजारी को जत्थेदार कहने की कोई प्रथा नहीं थी। जुझारू सिखों की टोलियों के नायक को सरदार सा जत्थेदार कहा जाता था।

छठे गुरु-गुरु हरिगोविंद जी ने सन् 1006 में हरिमंदिर के सामने कुछ अंतर पर 12 फुट ऊंचा एक चबूतरा बनवाना प्रारम्भ किया, जिसके साथ कुछ समय पश्चात एक भवन भी बन गया। प्रारंभ में उस स्थान को 'अकाल बुंगा' कहा जाता था। फिर इसे अकाल तख़्त कहा जाने लगा। यह एक प्रकार से दिल्ली के शाही तख़्त को चुनौती थी। गुरु हरिगोबिंद जी इस ऊंचे चबूतरे या तख़्त पर बैठकर आदेश देते थे और सिखों में प्रवेश कर रही सैनिक वृति का निर्देशन करते थे। आगे चलकर यह स्थान सिखों की राजनीतिक-सामाजिक गतिविधियों का केन्द्र बन गया। 18 वीं सदी में जुझारू सिख जत्थे जब अमृतसर आते थे तो पहले वे हरिमंदिर की ओर आकर अमृत सरोवर में स्नान करते थे, अंदर बैठकर गुरुवाणी सुनते थे, फिर अकाल तख़्त पर इकट्ठे होकर अपनी राजनीतिक गतिविधियों की चर्चा करते थे और भावी योजनाएं बनाते थे। उस समय अकाल तख़्त के पुजारी का काम इन सभी जत्थों के मध्य समन्वय और संयोजन करना होता था, इन्हें किसी प्रकार की आज्ञा या निर्देश देना नहीं।

सन् 1925 में शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी के गठन तक हरिमंदिर तथा अकाल तख़्त में पुजारी ही होते थे। देश के अन्य भागों के तख़्तों में भी पुजारी ही होते थे। उसके बाद तख़्तों के पुजारियों को जत्थेदार कहा जाने लगा। सन् 1932 में शिरोमणि कमेटी की आम सभा में अकाल तख़्त के जत्थेदार की नियुक्ति के प्रश्न पर एक प्रस्ताव पारित किया गया सामने आए तो आचरण और योग्यता को सम्मुख रखते हुए, यदि वेतन के बिना अच्छा काम करने वाला योग्य सज्जन मिल सके तो बेहतर, अन्यथा वेतन भोगी व्यक्ति नियुक्ति कर लिया जाए। उसकी विशेष योग्यता के साथ ही यह देखा जाए कि वह पहले से निष्पक्ष रहकर सेवा करने वाला व्यक्ति हो।

इसे दुर्भाग्य ही कहा जाएगा कि बाद में अकाल तख़्त के जत्थेदार के पद का निरन्तर राजनीतिकरण होने लगा। इस पद को पोप के पद की भांति पुजारी-प्रतिष्ठा का शिखर बनाया जाने लगा। शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी दलों और धड़ों को राजनीति में आकंठ डूबने लगी और अकाल तख़्त के जत्थेदार के पद को धड़ों की स्वार्थी की पूर्ति के लिए इस्तेमाल किया जाने लगा।

किसी व्यक्ति को पंथ से निष्कापित करने अथवा उस पर तनखाह लगाने की न कभी परम्परा थी, न प्रथा थी। धीरे-धीरे यह प्रथा इस प्रकार विकसित हो गई कि अकाल तख़्त की नैतिक सत्ता सांसारिक सत्ता में बदलती हुई दिखाई देने लगी। अकाल तख़्त के जत्थेदार सम्पूर्ण सिख पंथ के अगुवा न बन कर अकाली दल के किसी धड़े के अगुवा बनकर उभरने लगे। आचरण, योग्यता और निष्पक्षता के स्थान पर किसी

व्यक्ति अथवा धड़ की पक्षधरता उनकी नियुक्ति का आधार बनने लगी।

गुरु हरिगोबिंद जी द्वारा स्थापित अकाल तख़्त सिखों के लिए सर्वोच्च है। किन्तु अकाल तख़्त व्यक्ति नहीं, एक संस्था है और संस्था की मर्यादा की रक्षा की चिंता उसकी सेवा के लिए नियुक्ति किसी भी व्यक्ति की मर्यादा से ऊपर है।

अकाल तख़्त से जारी किए गए हुक्मनामों की गत कुछ वर्षों में आपाधापी रही है और उन्हें जिस प्रकार से लागू करने की रिवायत चल पड़ी है, वह सचमुच चिंता का विषय है। कुछ दिन पूर्व शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी ने 25 विद्वानों की एक समिति गठित की है जो अकाल तख़्त पर आने वाली हर शिकायत की पहले पूरी पड़ताल करेगी, फिर उसे अकाल तख़्त पर विचारार्थ भेजेगी। यह एक अच्छा कदम है।

मोहाली में हुए सम्मेलन में पारित किए गए कुछ प्रस्ताव अत्यन्त विवादास्पद हैं। इनसे आपसी टकराव और बढ़ेगा। यह सम्पूर्ण समस्या गंभीर चिंतन और आपसी संवाद की मांग करती है। क्या शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी इस सम्बन्ध में कोई सार्थक पहल करेगी?

(दैनिक जागरण, 30-10-03)

गुरु नानक ने गाई बाबरवाणी

गुरु नानक देव की वाणी में उनके रचे चार पद ऐसे हैं, जिन्हें सम्मिलित रूप में 'बाबरवाणी' कहा जाता है। इन पदों में गुरु नानक ने बाबर के आक्रमण के समय इस देश की जो स्थिति हुई और सामान्य जनता को जिन यातनाओं में से होकर गुजरना पड़ा उसका मार्मिक वर्णन किया है।

बाबर जब अपने पैतृक राज्य, मध्य एशिया के फरग़ना से निष्काषित हो गया तो सन् 1504 ई. में उसने काबुल पर अधिकार कर लिया। वह अपने पैतृक राज्य को वापस लेना चाहता था जिसमें वह सफल नहीं हुआ। उस क्षेत्र में खुरासान उसकी सीमा बन गई। उस समय उसकी दृष्टि हिन्दुस्तान की ओर गई। सन् 1519 में उसने खैबर दर्रा पार किया और पेशावर तक आ गया। सन् 1520 में उसने सिंध नदी पार की और बिना किसी विरोध के स्यालकोट पर कब्ज़ा कर लिया। वहां से सैदपुर (ऐमनाबाद) की ओर बढ़ा। इस शहर में बाबर के सैनिकों ने निरीह नागरिकों पर भयंकर अत्याचार किए। असंख्य लोग मौत के घाट उतार दिए गए। अगणित लोग बंदी बना लिए गए। सन् 1524 में उसने लाहौर पर आक्रमण करके उसे बुरी तरह तहस-नहस किया और उसके सैनिकों द्वारा निरीह लोगों पर भयंकर अत्याचार किए गए। बाबर का अंतिम आक्रमण 1526 में हुआ। पानीपत के मैदान में इब्राहीम लोधी को पराजित करके उसने दिल्ली पर अधिकार कर लिया और भारत में मुग़ल राज की नींव डाल दी।

गुरु नानक बाबर के समकालीन थे। उन्हीं दिनों वह अपने साथी भाई मरदाना के साथ मक्का, मदीना और बगदाद की यात्रा करते और काबुल होते हुए हिन्दुस्तान वापस आए थे। जब बाबर के सिपाही सैदपुर पर कहर ढा रहे थे गुरु नानक और मरदाना उसी नगर में थे। वहां उन्हें भी मुग़ल सैनिकों द्वारा बंदी बना लिया गया था। गुरु नानक ने उस स्थिति को अपनी आंखों से देखा था। बाबरवाणी कहे जाने वाले

पदों में उन्होंने उन अत्याचारों की चर्चा गहरी मानवीय संवेदना से की है।

एक पद में उन्होंने कहा है—जिन सुंदर स्त्रियों के सिरों पर बालों की सुंदर पट्टियां बनी हुई थीं, जिनकी मांगों में सिंदूर पड़ा था, बाबर के क्रूर सिपाहियों ने उन्हें काट दिया है और उनमें धूल भर दी है। जो महलों में निवास करती थीं, अब उन्हें कहीं बैठने का स्थान भी नहीं मिलता है। जब ये विवाह करके आई थीं, उनके दूल्हे इनके साथ शोभायमान थे, ये डोली में बैठकर आई थीं, इन्होंने हाथी दांत के बने हुए सुंदर चूड़े पहने हुए थे। उनकी सासें उन पर जल-न्योछावर करती थीं, दासियों उन पर पंखें डुलाती थीं। उन पर बैठते-उठते रुपयों का शगुन पड़ता था। वे गिरी-छुहारे खाती थीं, मोती की माला पहनती थीं। जिस धन और यौवन ने उन्हें आनन्द के रंग में डूबो रखा, वही अब उनके बैरी हो गए थे। अब बाबर के सिपहसालार उनकी इज्ज़त लूट कर चले गए हैं। यहां के शासक रंगरलियों में डूब कर अपनी सुध-बुध खो बैठे थे। यदि ये पहले से चेत जाते तो इन्हें ऐसी सज़ा क्यों मिलती। अब तो चारों ओर बाबर का आदेश ही चल रहा है। अब तो शाहजादों और राजकुमारों को रोटी भी नसीब नहीं हो रही है। मुसलमानों को नमाज का वक्त नहीं मिल रहा है। हिन्दू पूजा नहीं कर पा रहे हैं। जिन्हें कभी राम-नाम का भी स्मरण नहीं होता था, उन्हें अब खुदा को याद करने की इज़ाज़त नहीं रही है। कुछ स्त्रियों के आदमी तो घर आ गए हैं, किन्तु कितनी ऐसी हैं जो अपने घर वालों को इधर-उधर पूछती फिरती हैं।

नानक वाणी में यह पद आसा राग में संकलित है। इसमें एक पंक्ति आती है—"बाबरवाणी फिर गई, कुंइरु न रोटी खाई।" अर्थात् चारों ओर बाबर का हुक्म ही गूंज रहा है। नवाबों-राजाओं की दुर्दशा हो गई है, उन्हें रोटी भी नहीं नसीब हो रही।

आसा राग में दूसरा पद अधिक मार्मिकता से स्थिति का चित्रण करता है। ऐशो आराम में डूबे हुए लोगों से गुरु नानक पूछते हैं—अब तुम्हारे खेल-तमाशे कहां चले गए, तुम्हारे घोड़े कहां हैं, तुम्हारे द्वार पर सदा भेरी और शहनाई बजती रहती थी। वह अब कहां है, तुम्हारे रक्षकों का क्या हुआ जिनकी कमर से हमेशा तलवार लटकती रहती थी।

वे दर्पण कहां हैं जिनमें तुम्हारी स्त्रियां अपने सुंदर मुख देखती थी? तुम्हारे सुंदर घर कहां गए, मंडप और महल कहां गए। तुम्हारे हरम, पान देने वाली दासियां—सब कहां गए। इस धन के कारण मनुष्य की कड़ी दुर्गति होती है। इसके कारण उसे बेहिसाब भटकन प्राप्त होती है। बिना पाप किए धन इकट्ठा नहीं होता और मर जाने पर वह साथ नहीं जाता। परमात्मा जिसे दण्ड देता है, उसकी अच्छाइयां पहले ही छीन लेता है।

इब्राहीम लोधी ने जब यह सुना कि बाबर अपनी फौज़ लेकर आ रहा है तो उसने असंख्य पीरों-फकीरों की सहायता लेकर बाबर को रोकने का प्रयास किया किन्तु उनकी दुआओं का कोई असर नहीं हुआ। बाबर की सेनाओं ने अनेक पवित्र स्थान नष्ट कर दिए। बड़े-बड़े शाहजादों को दुख से रुलाया गया। बहुत से पीरों फकीरों ने बाबर पर

जादू-टोने किए, किन्तु उसका कोई लाभ नहीं हुआ। काई मुग़ल अंधा नहीं हुआ, कोई करामात काम नहीं आई।

पानीपत के मैदान में मुग़लों और पठानों की लड़ाई हुई। मुग़लों ने उस लड़ाई में तोपें चलाई। पठानों ने मुग़लों पर हाथी चढ़ा दिए किन्तु जिनके भाग्य की चिट्ठी परमात्मा के दरबार में ही फट गई थी, उन्हें तो मरना ही था।

हिन्दुआनियों, तुरकानियों, भटिआनियों, ठकुरानियों—सभी के वस्त्र फाड़ दिए गए। कुछ स्त्रियों ने मसानों में जाकर मुंह छिपा लिया। जिन स्त्रियों के पति घर वापस नहीं आए, उनकी रातें सूनी हो गईं।

इस पद में गुरु नानक ने एक अत्यन्त महत्वपूर्ण बात कही कि अपार धन बिना भ्रष्ट ढंग अपनाए एकत्र नहीं होता और मर जाने पर पाई भर भी साथ नहीं जाता। उन्होंने मुसलमानों में फैले हुए अंध-विश्वास पर भी चोट की। मुसलमानों में युद्ध-भूमि की ओर जाते हुए सिपाहियों की पताकाओं पर कुरान शरीफ की आयतों को लिख कर टांक दिया जाता है। इब्राहीम लोधी की सेनाओं के साथ भी यही हुआ था। गुरु नानक ने कहा कि पताकों पर टांकी हुई ऐसी कोई भी पर्ची काम नहीं आई। कोई भी मुग़ल सिपाही अंधा नहीं हुआ। जादू-टोने, तंतर-मंतर का कोई प्रभाव शुत्र सेनाओं पर नहीं हुआ।

आसा राग में ही गुरु नानक देव ने बाबर के आक्रमण सम्बन्ध में एक और पद लिखा था—"खुरासान खसमाना कीआ हिन्दुस्तान डराया।" यह पद उन्होंने ईश्वर को संबोधित करते हुए लिखा था—"हे प्रभु, तुमने खरासान को तो अपना बना लिया। और हिन्दुस्तान को डरा दिया। अपने आपको दोष न देने के लिए तुमने मुग़लों को यमदूत बना कर यहां भेज दिया। इस देश के लोगों की ऐसी दुर्दशा हुई कि वे पीड़ा से चीत्कार करने लगे। उनका यह चीत्कार सुनकर भी तुम्हारे मन में कोई दर्द पैदा नहीं हुआ। तुम तो सभी के पालनहार हो। यदि एक बलवान व्यक्ति दूसरे बलवान व्यक्ति को मारे तो मन में रोष नहीं उत्पन्न होता, किन्तु यदि एक बलशाली शेर निरीह गाय पर आक्रमण कर दे तो स्वामी से उसकी पूछ होनी चाहिए। सच बात तो यह है कि इस देश के शासकों ने रत्न के समान सुंदर देश को बिगाड़ कर रख दिया। मृत्यु के बाद कोई इनकी सार नहीं लेगा।

इस पद में गुरु नानक ने 'हिन्दुस्तान' शब्द का प्रयोग किया। सम्पूर्ण मध्ययुग में संभवतः अन्य किसी कवि ने इस शब्द का प्रयोग नहीं किया।

बाबर वाणी का चौथा पद तिलंग राग में है। यह पद गुरु नानक देव ने अपने शिष्य भाई लालो को संबोधित करते हुए लिखा था। इस पद में भी बाबर की सेनाओं की बर्बरता तथा आम लोगों की गहन पीड़ा का चित्रण है। गुरु नानक कहते हैं—हे लालो, मुझे मेरा परमेश्वर जो कुछ कहने का आदेश देता है, मैं वही कहता हूं। देखो, बाबर पाप की बारात लेकर काबुल से इस ओर चढ़ दौड़ा है और वह जबरदस्ती इस

देश का कन्यादान मांग रहा है। शर्म और धर्म दोनों ही कहीं छिप गए हैं। चारों ओर झूठ की प्रधानता दिखाई दे रही है। अब ब्राह्मणों और काज़ियों को कोई पूछता नहीं, विवाह को सम्पन्न करने का कार्य शैतान कर रहा है। मुसलमान स्त्रियों पर इतने जुल्म हो रहे हैं कि वे कष्ट में खुदा को पुकार रही हैं। हिन्दू स्त्रियों का भी ऐसी ही हाल हो रहा है। ऐसी विषम स्थिति में नानक खून के गीत गा रहा है। उसके मस्तक पर रक्त का केसर लगा हुआ है। नानक मनुष्य की लाशों से पटे इस नगर में ईश्वर की स्तुति कर रहा है।

इस पद में गुरु नानक देव ने एक आशापूरित भविष्यवाणी की थी–''एक दिन ऐसा आएगा, जब इस देश की काया पर पड़ा हुआ कायरता का कपड़ा टुकड़े-टुकड़े हो जाएगा और हिन्दुस्तान अपनी आवाज़ को पहचानेगा। एक मर्द का चेला इस कार्य को सम्पन्न करेगा। नानक सच की वेला में सच की वाणी को सुनाता है।''

काया कपड़ु टुक-टुक होसो हिन्दुस्तानु संभालसी बोला।

गुरु नानक के ये पद उनके विशाल व्यक्तित्व के उस पक्ष को उजागर करते हैं जो उनके समकालीन संतों-भक्तों में कहीं दिखाई नहीं देता है। मध्ययुगीन भक्तिकाल का समय इस देश पर विदेशी आक्रान्ताओं के निरन्तर आक्रमण का समय था। उस समय संभवतः गुरु नानक ही ऐसे संत-कवि थे जिन्होंने उस संकटपूर्ण समय को सामने होकर देखा था और उस पर अपनी गहरी प्रतिक्रिया व्यक्त की थी। बाहर से आने वाले आक्रमणकारी-चंगेज़ खान, हलाकूखान, महमूद ग़ज़नवी, शहाबुदीन गोरी और बाबर-चाहे इस्लाम के अनुयायी हों, किन्तु उनके आक्रमणों से हिन्दू जनता भी पीड़ित होती थी और मुसलमान जनता भी। बाबरवाणी में इस सच को पूरी तरह व्यक्त किया गया है।

(दैनिक जागरण, 6-11-03)

करुणा की प्रतिमूर्ति थे ईसा मसीह

ईसा मसीह के संदर्भ में एक कथा कही जाती है एक बार कुछ लोग एक स्त्री को बड़ी निर्दयता पूर्वक घसीटते हुए उनके सम्मुख ले आए और बोले—यह स्त्री पापिन है। इसने पुरुषों से अनैतिक सम्बन्ध बनाए हैं। इसने मर्यादाओं का उल्लंघन किया है। हम पत्थरों से मार-मार कर इसकी हत्या कर देंगे। यही इसके लिए उचित दण्ड होगा।

ईसा ने बड़ी शांति से उनकी बात सुनी और बोले-इस स्त्री ने पाप किए हैं, इसे दण्ड मिलना चाहिए। तुम लोग इसे पत्थरों से मार-मार मृत्यु दंड देना चाहते हो। ठीक है। ऐसा ही करो। किन्तु मेरी एक शर्त है। इस स्त्री पर सबसे पहले वही व्यक्ति पत्थर मारेगा। जिसने जीवन में कोई पाप न किया हो। ऐसा व्यक्ति आगे आए और इसे पत्थर मारे।

सब लोग अवाक होकर उनकी बात सुन रहे थे। जो लोग उस स्त्री को पकड़ कर लाए थे वे एक-दूसरे का मुंह ताक रहे थे। कोई आगे नहीं बढ़ रहा था। कोई ऐसा नहीं था, जिसने कोई पाप न किया हो।

इस एक छोटी सी कहानी से ईसा के मानस का पूरा बिम्ब हमारे सामने उभर आता है।

दो हज़ार वर्ष पूर्व ईसा का जन्म एक यहूदी मां की कोख से फिलस्तीन में हुआ था, जो उस समय रोमन सामाज्य का एक भाग था। उनके उपदेश तत्कालीन धर्म व्यवस्था और राजनीतिक सत्ताधिकारियों की मान्यताओं कें अनुरूप नहीं थे। इसलिए उन्हें मृत्यु दंड दिया गया। उन्हें उनके दोनों हाथों में कीले ठोक कर सलीब पर लटका दिया गया। ईसाई मान्यता है कि दूसरे ही दिन वे पुनर्जीवत हो उठे। उनके उपदेशों का चारों ओर प्रसार होने लगा। आज इस धर्म को मानने वालों की संख्या संसार में सबसे अधिक है। लगभग एक तिहाई मानवंता ईसा की अनुयायी है।

ईसाई धर्म एक ईश्वर में विश्वास करता है, जो मानवीय वर्णन से परे है, साथ ही मानव मात्र के अति समीप है। वह सृष्टि का कर्ता भी है और मुक्तिदाता भी है। ईश्वर सभी सीमाओं से ऊपर है। वह कालातीत हैं उसने शून्य से अपनी इच्छानुसार सृष्टि की रचना की है। वही सभी का पिता है और उसने ईसा को अपना (विशेष) पुत्र बनाकर संसार को पाप मुक्त करने के लिए भेजा है। ईसाइयत यह मानती है कि संसार किसी मशीन की भांति स्थिर तत्व नहीं है जो पूर्वनिश्चित योजना के अनुसार चलता है। वह एक गतिशील तत्व है जिसकी निरन्तर प्रगति और उन्नति होती रहती है। इस प्रकार का सम्पूर्ण विकास, मनुष्य के माध्यम से, ईश्वर की सर्जनात्मक प्रेरणा से होता है।

इस मान्यता के अनुसार ईश्वर केवल कर्ता ही नहीं हैं, वह उद्धारकर्ता और मुक्ति दाता भी है। संसार में अनिष्टकारी शक्तियां भी हैं जो देवी योजनाओं में बाधा डालती रहती हैं। मुक्तिदाता के रूप में ईश्वर ऐसी अनिष्टकारी शक्तियों को नष्ट करता है।

ईसा मसीह का बहुत अधिक आग्रह प्रेम पर है। ईश्वर अपनी सम्पूर्ण प्रकृति में मात्र प्रेम है। ईश्वर सभी प्राणियों के लिए गहरे प्रेम और सरोकार से जुड़ा हुआ है। उसकी चिंता और सरोकार में यह प्रश्न नहीं उठता कि इसे प्राप्त करने वाला प्राणी इसके योग्य है अथवा नहीं । बाईबल का कथन है कि ईश्वर की अनुकम्पा के सभी अधिकार हैं, वे लोग भी जो ग़लतिया करते हैं। ईश्वर ने अपने पुत्र ईसा को सब का मुक्तिदाता बना कर पृथ्वी पर भेजा है। ईश्वर सभी प्राणियों का पिता है, विशेष रूप से मनुष्यों का। वह सभी पर अपनी कृपा की वर्षा करता है।

संसार के लगभग सभी धर्मों की मान्यता है कि सत् और असत् की शक्तियां निरन्तर कार्यरत रहती हैं। इनके मध्य का संघर्ष शाश्वत है। ईसाइयत भी मानती है कि ईश्वर ने जिस संसार का निर्माण किया है वह उत्तम और सुंदर है किन्तु अनुभव यह है कि उसमें बुराई, पाप और पीड़ा जैसे तत्व शामिल हो जाते हैं। इस प्रकार अच्छाई और बुराई में संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। संसार में दो प्रकार की बुराइयां हैं। एक है नैतिक बुराई और दूसरी है प्राकृतिक बुराई। नैतिक बुराई व्यक्ति के आत्म केन्द्रित स्वार्थ और अपने हमसाया लोगों की उपेक्षा के साथ जुड़ी होती है। ऐसी बुराई का प्रसार व्यक्तियों में भी होता है और राष्ट्रों के मध्य भी। व्यक्ति अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए सामाजिक हितों की बलि चढ़ा देता है और राष्ट्र अपनी प्रभुता स्थापित करने के लिए दूसरे राष्ट्र का शोषण करते हैं।

ईसाइयत कहती है कि सभी प्रकार की बुराइयां और पाप जीवन पर ईश्वर की प्रभुसत्ता को अस्वीकार करने से उत्पन्न होते हैं। ईश्वर का संसार के सभी प्राणियों से सरोकार होता है। जो लोग इस प्रभुसत्ता को भुलाकर संसार में अपनी प्रभुसत्ता स्थापित करने का प्रयास करते हैं, वे ईश्वर के कार्य में बाधा उपस्थित करते हैं।

ईसाई धर्म में पाप स्वीकृति अथवा दोष स्वीकृति का बड़ा महत्व है। व्यक्ति ने

कितने ही पाप क्यों न किए हों, यदि वह ईश्वर या ईसा मसीह के सम्मुख उन्हें स्वीकार कर ले तो उसकी मुक्ति हो जाती है। ईश्वर के दण्डदाता रूप की अपेक्षा उसके मुक्तिदाता अथवा क्षमादाता का रूप कहीं अधिक महत्वपूर्ण है।

संसार में इस धर्म की इतनी व्यापक स्वीकृति का रहस्य क्या है? ईसा तथा प्रारम्भ में उनके उपदेशों का प्रचार करने के लिए दूर-दूर के प्रदेशों में जाने वाले ईसाई संत एशिया मूल के थे। किन्तु यूरोपीय देशों के लोगों ने इस विचार को बड़ी व्यापकता से स्वीकार किया। एशिया में इस धर्म को मानने वालों की संख्या 5 प्रतिशत से अधिक नहीं है, जबकि यूरोप में 80 प्रतिशत और अफ्रीका में 15 प्रतिशत लोग ईसाई है।

यह सच है कि राज सत्ता के विस्तार के साथ धर्मों का विस्तार होता है। यूरोप की सभी जातियों के लोगों में संसार के अज्ञात क्षेत्रों को ढूंढने, उन पर अधिकार करने उनमें अपने उपनिवेश स्थापित करने की भावना, उत्साह, और जोखिम उठाने की भावना बहुत प्रबल थी। अंग्रेज़, फ्रान्सीसी, स्पेनी, पुर्तगाली, डच जैसी जातियों के लोग संसार के विभिन्न भागों को खोजने, व्यापार के नये माध्यमों की तलाश करने के जोख़िम उठाते हुए बाहर निकले। पुर्तगाली वास्कोडिगामा भारत की ओर आया तो स्पेनीमूल का कोलम्बस भारत की खोज करता हुआ अमेरिका के तट पर पहुंच गया। लम्बे समय तक अफ्रीका को अंध महाद्वीप स्वीकार किया जाता था। इन यूरोपीय जातियों ने उस अंधकार को भी भेदा और वहां अपना प्रभुत्व स्थापित किया।

ये जातियां जहां भी गई, अपने साथ ईसाइयत भी लेती गईं। उस समय जिन देशों में व्यवस्थित धर्मों का विकास हो चुका था, उनमें ईसाइयत का प्रवेश सरलता से नहीं हुआ, परन्तु अमेरिका, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया जैसे देशों में बसने वाले आदिवासियों में आदिम विश्वास प्रचलित थे। ईसाई मिशनरियों ने उनके बीच जाकर एक ईश्वरीय दूत, एक धर्म पुस्तक की आस्था, एक विचार दर्शन का संदेश दिया और उन्हें ईसाइयत के रंग में रंगा।

यह कहना बहुत सही नहीं होगा कि अपने राजनीतिक प्रभाव के कारण मसीह का संदेश संसार के बड़े भाग में पहुंचा। ईसा ने अपनी प्रेम भावना, करुणा, सेवा और मुक्तिदाता के बिम्ब का जो रूप अपने उत्साही धर्म प्रचारकों में उत्पन्न किया था उसके कारण ये लोग उन लोगों के बीच पहुंचे जो विद्या, ज्ञान, दर्शन से पूरी तरह वंचित थे और घोर आदिम जीवन जी रहे थे। अपनी सेवा से इन पादरियों ने उन्हें नया जीवन दिया। उनमें शिक्षा का प्रसार किया, उनकी बीमारियों में उनका उपचार किया, उन्हें सुख और स्वाभिमान का जीवन दिया।

इसमें संदेह नहीं कि संसार के अनेक भागों में यूरोपीय जातियों ने वहां के मूल निवासियों को जंगलों में खदेड़ दिया और उन प्रदेशों को पूरी तरह यूरोपीय रंगत दे दी। आज का उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड जैसे देश इस बात का प्रमाण है।

आज न उपनिवेशवादी युग है, न बलात् धर्म परिवर्तन का। आज यह बात भी अधिक महत्वपूर्ण नहीं रह गई है कि कौन ईश्वरवादी है, कौन निरीश्वरवादी है और धर्म पोषक है, कौन धर्मद्रोही, कौन मोमिन है और कौन काफ़िर है। आज सारे संसार में यह भावना विकसित हो रही है कि धर्म किसी व्यक्ति की अपनी निजी आस्था की वात है और उसमें किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप अनुचित है। सह अस्तित्व के इस युग में अब यह कहने का अधिकार किसी के पास नहीं रह गया कि तुम्हारे धर्म-मार्ग से मेरा मार्ग श्रेष्ठ है और इस मार्ग को स्वीकार किए बिना तुम्हारी मुक्ति नहीं हैं।

इन सबके बावजूद आज भी ऐसे स्वर सुनाई देते हैं जब संसार के अनेक राजनीतिक संकटों को धर्मों के साथ जोड़ दिया जाता है और उन्हें देशों के मध्य का विरोध या कलह न मानकर दो धर्मो के मध्य का कलह मान लिया जाता है।

भारत में आज धर्मान्तरण को लेकर बड़ी चर्चा है। जैसे आज किसी भी धर्म में आस्था या अनास्था व्यक्ति की निजी समस्या बन गई है, उसी प्रकार किस धर्म को स्वीकार करना है, किस धर्म में अपने आप को परिवर्तित करना है अथवा पूरी तरह से धर्मविहीन हो जाना है, व्यक्ति की निजी समस्या है। धन बल से, लोभ या लालच देकर धर्म परिवर्तन कराना अनुचित ही नहीं, घोर अनैतिक कर्म है।

ईसा मसीह मुक्ति और प्रेम का संदेश लाए। इस प्रेम की परिधि में केवल वे लोग नहीं आते जो अपने आपको ईसाई घोषित करते है, इसमें उन सभी का प्रवेश है जो ईश्वर की अनुकम्पा के अभिलाषी हैं। स्वामी विकेकानंद ने सौ वर्ष से अधिक हुए शिकागों की धर्म संसद में कहा था—"प्रत्येक मत की पताका पर शीघ्र ही यही लिखा जाएगा-परस्पर सहयोग हो, विरोध न करो, रक्षक बनो, विनाशकारी न बने, एकता तथा शान्त रहे, विभेद और कलह दूर हो।"

(दैनिक जागरण, 25-12-03)

कार सेवा एक भावना है।

26 मार्च से अमृतसर में हरिमंदिर के सरोवर की जो कार सेवा प्रारम्भ हुई है उसने देश-विदेश के असंख्य लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है। कीचड़ और गारे से पूरी तरह सने हुए लोग सिर पर मलबे का तसला उठाए सरोवर से बाहर आने वालों के चित्र अनेक समाचार पत्रों में प्रकाशित हुए हैं।

अमृतसर नगर को चौथे गुरु-गुरु रादास ने सन् 1577 में बसाने का कार्य प्रारम्भ किया था। प्रारम्भ में इसे रामदास नगर या गुरु का चक कहा जाता था। उस समय वहां जल का एक पोखर था। इस सम्वन्ध में एक कथा प्रचलित है। उस क्षेत्र के एक बड़े जमींदार दुनी चंद ने किसी बात से रुष्ट होकर अपनी लड़की रजनी का विवाह एक अपाहिज कोढ़ी से कर दिया। रजनी ने इसे ईश्वरेच्छा मानकर स्वीकर कर लिया। वह अपने अपाहिज पति को एक टोकरी में डालकर और उसे सिर पर रखकर यात्रा पर निकल पड़ी। वह उस पोखर के पास लगे एक बेरी के नीचे टोकरी रख कर भोजन के प्रबंध के लिए पास के गांव की ओर चली गई। रजनी के पति ने एक अदभूत दृश्य देखा। एक कौवे ने पोखर में घुस कर स्नान किया। जब वह बाहर निकल कर उड़ा तो उसका रंग श्वेत हो गया था। अपाहिज कोढ़ी भी टोकरी से निकल कर घिसटता हुआ पोखर के पास गया। उसने उसमें डुबकी लगाई तो उसका रोग जाता रहा। रजनी वापस आई तो अपने पति को पूरी तरह निरोग देखकर आश्चर्य में पड़ गई। गुरुदास दास वही एक नयी बस्ती बसा रहे थे। उन्हें यह समाचार मिला तो उन्होंने पोखर के जल को अमृत कहते हुए वहां तालाब बनवाना प्रारम्भ कर दिया। वही तालाब अमृतसर अमृत का बेरी तालाब नाम से प्रसिद्ध हुआ। हरिमंदिर की परिक्रमा में बेर का एक पुराना वृक्ष है जिसे दुःख भंजनी बेरी कहा जाता है। कहते हैं कि यह वही वृक्ष है जिसके नीचे रजनी ने अपने कोढ़ी पति की टोकरी रखी थी।

पांचवें गुरु-गुरु अर्जुन देव (1563-1606) ने इस नगर का बहुत विकास किया।

उन्होंने सरोवर के किनारे पक्के कराए, उसकी गहरी खुदाई कराई और सरोवर के मध्य में हरिमंदिर (दरबार साहब) का निर्माण करवाया, उस तक पहुंचने के लिए पुल बनवाया। यह बात भी कही जाती है कि गुरु अर्जुन देव ने हरिमंदिर की नींव अपने समय के सुप्रसिद्ध सूफी फकीर मिया पीर से रखवाई थी।

गुरु अर्जुन देव ने अमृत सरोवर के पास ही दो और सरोवर-संताख सर और रामसर बनवाए थे। राम सर के किनारे ही उन्होंने आदि ग्रंथ का संपादन-संकलन किया था, जिसे 16 अगस्त 1604 को हरिमंदिर में स्थापित किया था। सन् 1708 में गुरु गोबिंद सिंह ने अपने देहावसान के पूर्व गुरुगद्दी पर स्थापित कर दिया था। उस समय से इसे गुरु ग्रंथ साहब कहा जाता है।

छठे गुरु-गुरु हरिगोबिंद (1595-1644) ने इस नगर में दो और सरोवर-कौलसर और बबेकसर खुदवाए थे। इस सभी सरोवरों की कारसेवा भी इस समय हो रही है।

अमृत सरोवर की पहली कार सेवा गुरु अर्जुन देव ने कराई थी। फिर लगभग एक शती तक अन्य किसी कार सेवा का उल्लेख नहीं प्राप्त होता। 18 वीं शती के प्रारम्भ के अनेक दशकों तक लाहौर के मुग़ल और अफगान द्वारा सिख आन्दोलन की कुचलने के लिए किए गए प्रयासों की दारुण कथा है। सन् 1746 में लाहौर के सूबेदार याहिया खान के दीवान लखपत राय ने, सूबेदार की आज्ञा से सिखों के विरुद्ध अभियान चलाया। उसने अमृत सरोवर में मिट्टी भरवा दी और हरिमंदिर को नष्ट कर दिया। अगले ही वर्ष सिखों ने इस स्थान पर अपना अधिकार स्थापित करके कार सेवा द्वारा फिर से हरिमंदिर का निर्माण किया और सरोवर की मिट्टी निकाल कर उसमें जल भर दिया।

मई सन् 1757 में लाहौर के एक अफगान फौज़दार जहान खान ने फिर इस सरोवर में मिट्टी भरवा दी। जंगलों, पहाड़ों और राजस्थान में छितरे हुए सिखों ने एकत्र होकर इस स्थान पर अपना अधिकार किया और सरोवर की सफाई करके उसे जल से भर दिया।

हरिमंदिर और अमृत सरोवर पर सबसे घातक आक्रमण अफगान आक्रान्ता अहमद शाह अब्दाली ने सन् 1762 में बैसाखी के अवसर पर किया। उसने बारूद से हरिमंदिर के भवन को नष्ट कर दिया और सरोवर में मिट्टी भरवा दी। सिख निरन्तर अफगानों से संघर्ष करते रहे। उन्होंने फिर इस स्थान से आक्रमणकारियों को खदेड़ दिया। हरिमंदिर और अमृत सरोवर की कार सेवा फिर प्रारम्भ हुई। सिख सेनाएं युद्ध-कार्यों में बहुत लिप्त थीं इसलिए इस बार कार सेवा का पूरा दायित्व एक सहजधारी सिख भाई देस राज ने स्वीकार किया। सन् 1776 में यह कार्य सम्पन्न हुआ।

इस समय तक पंजाब की धरती से मुग़ल और अफगान शासन समाप्त हो गया था और सारा प्रदेश सिख वर्चस्व में आ गया था। महाराजा रणजीत सिंह ने अपने कार्यकाल में हरिमंदिर को भव्य रूप दिया। उन्होंने इस स्थान की अंदर की दीवारों पर सुनहरी चित्रकला और मीनाकारी का काम करवाया और बाहरी भाग पर छह फुट तक संगमरमर और उसके ऊपर तांबें के पत्रों पर सोना चढ़ाया गया। उस समय से इसे स्वर्ण मंदिर भी कहा जाने लगा। महाराजा रणजीत ने यह सेवा-कार्य सन् 1830 में करवाया था।

मंदिर के प्रवेश द्वार पर सोने के पत्र पर गुरु नानक देव द्वारा रचित 'जपुजी' के मूल मंत्र के बाद ये शब्द अंकित है–"श्री महाराज गुरु साहिब जी ने आपणे परम सेवक सिख जान कर दरबार साहिब जी की सेवा श्री महाराजा सिंघ साहिब रणजीत सिंह जी पर दया करके कराई।"

यद्यपि वह सम्पूर्ण कार्य कार सेवा द्वारा नहीं हुआ होगा, किन्तु इससे महाराज महाराजा रणजीत सिंह का विनम्र भाव तो प्रकट होता ही है।

महाराजा रणजीत सिंह के पश्चात् सन् 1842 ई. में भाई गुरमुख सिंह के निर्देशन में सरोवर की कार सेवा हुई थी। सन् 1923 में जब गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी की स्थापना हो चुकी थी, सरोवर की कार सेवा का आयोजन हुआ। इस वर्ष 17 जून को पांच प्यारों ने अरदास करके यह सेवा प्रारम्भ की। पटियाला के महाराजा भूपेन्द्र सिंह ने इसमें भरकर सिर पर उठाकर वे अनेक बार बाहर आए।

इसके पश्चात् सन् 1973 में कार सेवा में कार सेवा हुई थी जिसमें श्रद्धालुओं ने भाग लिया था।

अक्टूबर सन् 1984 में अमृत सरोवर की हुई कार सेवा का विशेष महत्व है। जून सन् 1984 में इंदिरा गांधी की सरकार ने अमृतसर में आप्रेशन ब्लू स्टार करवाया था। उस समय सरोवर की परिक्रमा और अकाल तख्त पूरी तरह युद्धभूमि बन गए थे। सेना के टैंकों ने सरोवर की परिक्रमा में घुस कर अकाल तख़्त पर गोले बरसाए थे, जिसमें अकाल तख़्त के भवन का बड़ा भाग तो नष्ट हुआ ही था, हरिमंदिर की ओर जाने वाले पुल के मुख्य द्वार (दर्शनों ड्योढ़ी) का भी एक भाग नष्ट हो गया था। नष्ट हुए भवनों का बहुत सा मलबा तो सरोवर में गया ही था, उग्रवादियों और सेना के बहुत से सिपाहियों की लाशें भी सरोवर में चली गई थीं। उस समय पंजाब पूरी तरह आतंक की छाया में था। इसके बावजूद उस कार सेवा में हजारों श्रद्धालुओं ने भाग लिया था।

कार सेवा एक भावना है। इस भावना से जब व्यक्ति प्रेरित होता है तो उसमें किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं रहता। कीचड़ में सन कर व्यक्ति को जो आनन्द प्राप्त होता है, उसके सम्मुख सभी सांसारिक सुविधाएं तुच्छ हो जाती हैं।

अमृतसर के सरोवर की सफाई के लिए जो सेवा की जाती है वह कोई सामान्य सेवा नहीं है। वैसे तो किसी भी प्रकार की सेवा की गुरुवाणी और सिख परम्परा में विशेष महत्व है। गुरु नानक देव ने कहा था कि जो व्यक्ति सेवा करता है उसे परमेश्वर के दरबार में पूर्ण स्वीकृति मिलती है–

विचि दुनिया सेव कमाइए
तां दरगह वैसण पाइए।

गुरु अर्जुन देव ने भी अपनी एक रचना में कहा है–"सेवा करतु होइ निहकामी। तिसं कउ परापत सुआमी।"

किन्तु अमृत सरोवर की सेवा की पृष्ठभूमि में एक लम्बा इतिहास छिपा हुआ है। गुरु गोबिंद सिंह और बंदा सिंह बहादुर के पश्चात् मुग़ल शासकों द्वारा सिखों पर अनंत अत्याचार ढाए गए। तत्कालीन शासकों की मान्यता थी कि इस प्रकार के शक्ति प्रदर्शन से यह आन्दोलन पूरी तरह समाप्त हो जाएगा। उस समय केश रखना, दाढ़ी रखना, शस्त्र रखना हुकूमत की दृष्टि में खुला विद्रोह था। सम्पूर्ण-सिख आन्दोलन में उस समय कोई ऐसा नेता नहीं था जो उनका मार्ग दर्शन करता। गुरु गोबिंद सिंह द्वारा दिया हुआ मंत्र ही उनका मार्ग दर्शक था। सिख समाज में उन संकटमयी दिनों में अनेक लोकतांत्रिक परम्पराएं विकसित हुईं। उनमें एक थी 'सरबत खालसा' (सम्पूर्ण समाज) और दूसरी थी गुरुमता। आवश्यकता पड़ने पर सरबत खालसा बुलाया जाता था। संकट का सामना किस प्रकार किया जाना है इस पर सभी मिलकर विचार-विर्मश करते थे और फिर एक निर्णय पर पहुंचते थे। इस पद्धति को 'गुरुमता'—गुरु द्वारा अनुमोदित प्रस्ताव कहा जाता था। इस गुरुमते के अनुसार वे अनेक दलों में बंट कर जंगलों, पहाड़ों में चले जाते थे और संकट का समाचार मिलते ही इकट्ठे हो जाते थे।

उस समय इन जत्थों का सबसे बड़ा प्रेरणा स्रोत हरिमंदिर और अमृत सरोवर होता था। कितनी हो संकटपूर्ण स्थितियां क्यों न हों, सभी जत्थे वर्ष में दो बार अमृतसर आकर हरिमंदिर में माथा टेकने और अमृत सरोवर में स्नान करने का अवसर नहीं चूकते थे। ये अवसर थे बैसाखी और दिवाली। अनेक बार तो ऐसा होता था कि शासक इन अवसरों पर अमृतसर में सिपाहियों की चौकी बैठा देते थे, जिससे ये जत्थे वहां तक न पहुंच सकें। उस स्थिति में बहुत से जत्थे घोड़े दौड़ाते हुए आते थे और उन्हीं पर चढ़े-चढ़े सरोवर पार कर जाते थे। सरोवर के जल का स्पर्श ही उनकी नवस्फूर्ति के लिए पर्याप्त होता था।

संसार का शायद ही कोई ऐसा धर्म स्थान और सरोवर हो जिसे नष्ट करने के इतने प्रयास शासक वर्ग और विदेशी आक्रमणकारियों ने किए हों। कितनी ही बार शासन की सेनाओं ने इस मंदिर को तोड़ा, बारुद से उड़ाया और पवित्र सरोवर को मिट्टी से भर दिया। वे मानते थे कि यह वही स्थान और जल है जिससे सिख आन्दोलन सभी प्रकार के अत्याचारों को सहता हुआ प्रेरणा और शक्ति प्राप्त करता है, इसलिए इसका अस्तित्व अवश्य नष्ट किया जाना आवश्यक है किन्तु जितने निश्चय के साथ आक्रमणकारी सेनाएं इस स्थान को नष्ट करने का प्रयास करती थीं, उससे कहीं अधिक दृढ़ निश्चय के साथ इस मंदिर को फिर से उतारा जाता था और सरोवर को शुद्ध किया जाता था।

अमृतसर में चल रही कार सेवा, मात्र सरोवर की सफाई की ही सेवा नहीं है, यह उस उत्कर्ष्ट भावना और निश्चय का प्रतीक भी है, जो इसकी पृष्ठभूमि में गत तीन सौ वर्षों से समाया हुआ है।

संभवतः इसी विशेषता के कारण कहा जाता है— 'अमृतसर सिफ्ती दा घर' (अमृतसर परमेश्वर की स्तुति का घर है।)

(दैनिक जागरण, 01-04-04)

उत्साह और उमंग का वैशाख

इस देश में बारहमासा लिखने की प्राचीन परंपरा है। यह लोकगीतों का वह प्रकार है जिसमें किसी विरहिणी स्त्री के वर्ष के प्रत्येक मास में अनुभूत दुःखों तथा मनोवेदनाओं की विवृत्ति प्राप्त होती है। चूंकि इन गीतों में वर्ष के बारह मासों के दुःखों का वर्णन होता है इसलिए इनको बारहमासा कहा जाता है। हमारे संतों ने बारहमासा में व्यक्त विरहिणी के दुःखों को अध्यात्मपरक रूप दे दिया। आत्मारूप विरहिणी प्रभुरूपी पति को प्राप्त करने के लिए किस प्रकार व्याकुल रहती है, इसका चित्रण संत कवियों ने किया है। बारहमासों में चैत्र वैशाख का विशेष महत्व है। गुरु नानक ने तुखारों राग में बारह माह में चैत्र का वर्णन करते हुए लिखा है :

चैत बसंतु भला भवर सुहावड़े।
बन फूले मंझ बारि में पिरु घरि बाहड़े।
पिरु घरि नहिं आवै, धन किउ सुख पावै बिरहि बिरोध तनु छीजै।
कोकिल अंबि सुहावी बोलै, किउ दुख अंकि सहीजै।
भवरु भवंत फूली डाली जीवा मरु माए।।
नानक चेति सहजि सुख पावै, जे हरि वरु धरि धन पाए।।

"चैत्र मास की वसंत ऋतु है, भंवरे शोभा प्राप्त कर रहे हैं। चारों ओर फूल खिले हुए हैं, मैं (जीवात्मा) चाहती हूं कि मेरा पति (परमेश्वर) घर आ जाए। यदि मेरा प्रिय घर वापस नहीं आएगा तो स्त्री वियोग में दग्ध रह कर किस प्रकार सुख प्राप्त करेगी। आम के वृक्ष पर बैठी हुई कोयल बड़े सुरीले स्वर में बोल रही है, किन्तु विरहिणी तो दुःखों को सहेज रही है। फूली हुई डालियों पर भंवरे मंडरा रहे हैं। हे मां, मैं किस प्रकार जीवित रहूं। हे नानक, चैत्र मास में तभी सहज सुख प्राप्त हो सकता है जब पति रूपी

परमेश्वर का घर में आगमन हो जाए।'' वसंत ऋतु, चारों ओर प्रफुल्लित प्रकृति, पति का विछोह, उसके आगमन की तीव्र प्रतीक्षा और विरहिणी की मनोदशा इस देश में सांस्कृतिक मानस की सहज अभिव्यक्ति है। वैशाख मास के संबंध में गुरु नानक ने अपने बारह मास में लिखा है : ''वैशाख में वृक्षों की शाखाएं नया रूप धारण करती हैं। इसलिए बड़ी भली लगती हैं। विरहिणी की दृष्टि सदैव अपने प्रिय की प्रतीक्षा में द्वार पर लगी रहती है। वह प्रार्थना करती है, मुझ पर दया करके आ जाओ। हे प्रिय, तुरंत घर आ जाओ क्योंकि तुम्हारे बिना मेरा कुछ भी मोल नहीं है। यदि कोई प्रिय के दर्शन करा दे, मैं उसे भा जाऊं तो उसकी कीमत का क्या अनुमान किया जा सकता है। हरि को दूर न जानकर, अपने अंदर उसे मानकर ही मैं उसके निवास की पहचान करूं। हे नानक, सुरति को शब्द को जोड़कर मन से स्वीकार कर लिया जाए तो वैशाखी सभी के लिए सुहावनी हो जाती है।''

वैशाखी का दिन सूर्य-पर्व का प्रथम दिन माना जाता है। इस दिन सूर्य-परिभ्रमण का रथ विशाख नक्षत्र में प्रवेश करता है। वैशाखी का पर्व वैशाख मास की संक्रांति-दिवस के रूप में मनाया जाता है। वैसे तो देश के विभिन्न भागों में वैशाखी का पर्व अपनी स्थानीय विशेषताओं के साथ लोकप्रिय है, किंतु पंजाब के जन-जीवन में इसका विशेष महत्व है। पंजाब का हर व्यक्ति, वह किसी भी वर्ग, जाति और धर्म का हो, वर्ष भर इस दिन की प्रतीक्षा करता है और अपने अनेक निश्चयों अथवा आरंभ किए जाने वाले नए कार्यों को इस दिन के लिए स्थगित रखता है। वैशाखी का कृषक जीवन के साथ जुड़ाव बहुत गहरा है। इस देश की संपूर्ण अर्थव्यवस्था कृषि पर आधारित है। इन दिनों फसल पककर तैयार हो जाती है और उसकी कटाई प्रारंभ हो जाती है। गेहूं को पंजाबी कणक कहते हैं।

संस्कृत में कनक का अर्थ है सोना। किसान जब कणक की कटाई करता है तो वह सचमुच सोने की कटाई करता है। सुनहरे दानों से भरी हुई कणक की बालियां देखकर किसान आनंद विभोर हो उठता है। वह भांगड़ा जैसे ओजस्वी नृत्य और बोलियों, माहिया तथा अन्य लोकगीतों की मधुर धुनों द्वारा अपना उल्लास प्रकट करता है। खेतों की रखवाली का काम समाप्त हो जाता है। वह झूमकर गा उठता है—

ओ जट्टा आई विसाखी
कणकां दी मुक गई राखी...
ओ जट्टां दी आई विसाखी...

वैशाखी के दिन के साथ कुछ ऐतिहासिक महत्व की घटनाएं भी जुड़ गई हैं। इनके कारण इस पर्व का स्मरण कहीं अधिक गहरा हो गया है। इसी दिन सन् 1699 में शिवालिक की पहाड़ियों में बसे हुए आनंदपुर में गुरु गोबिंद सिंह ने दो सौ वर्ष पूर्व गुरु नानक देव द्वारा चलाए गए सिख-आंदोलन को नया रूप दिया था।

वहां देश के अनेक भागों से आए लोगों की अपार भीड़ में गुरु गोबिंद सिंह ने यह आह्वान किया था कि मुझे देश और धर्म की रक्षा के लिए कुछ सिर चाहिए। उनके इस आह्वान से लोग आश्चर्य में पड़ गए, किन्तु उनकी पुकार पर एक-एक करके पांच व्यक्ति बाहर आए। उनमें दया राम खत्री लाहौर का था, धरमदास जाट हस्तिनापुर का था, मोहकम चंद छीपा द्वारिका का था, हिम्मत राय धीवर जगन्नाथपुरी का और साहेब चंद नाई बोदर का था। ये पांच आत्मोत्सर्गी देश के पांच विभिन्न भागों से आए थे। गुरु गोबिंद सिंह ने इनकी परीक्षा ली थी। इतिहास में ये सभी गुरु गोबिंद सिंह के पांच प्यारे नाम से विभूषित हुए। उन्हें और उनके साथ हज़ारों व्यक्तियों को नए पंथ, नए अनुशासन, नई वेशभूषा, नए मंतव्य में दीक्षित किया गया। बैसाखी के दिन खालसा पंथ की स्थापना ने इस दिन को अधिक उल्लासमयी बना दिया है।

इसी दिन के साथ सन् 1919 की वैशाखी की अविस्मरणीय घटना से जुड़ी हुई है। अंग्रेज सरकार ने देश में स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए एक काला कानून बनाया था, जिसे रोलैट एक्ट के नाम से जाना गया।

इस कानून का विरोध करने के लिए अमृतसर के जलियांवाला बाग में एक विशाल सभा का आयोजन किया गया था। वह वैशाखी का दिन था। आसपास के क्षेत्रों से श्रद्धालुओं की वड़ी संख्या हरिमंदिर के दर्शन करने और अमृत-सरोवर में स्नान करने अमृतसर आई हुई थी। इनमें से बहुत से लोग उस सभा में भी आ गए थे। चारों ओर काला कानून वापस लो, रोलैट एक्ट मुर्दाबाद के नारे लग रहे थे। अंग्रेज सेनाधिकारी जनरल डायर ने बाग के एकमात्र द्वार पर अपने सैनिक खड़े कर दिए। सड़क पर आरर्ड कारें लगा दी गईं। आज्ञा दी गई कि सभी लोग केवल तीन मिनट में बाग छोड़कर भाग जाएं। तीन मिनट बाद उसने सभा में उपस्थित लोगों पर गोली चलाने का आदेश दे दिया। जनरल डायर के सैनिकों ने 1600 राउंड गोलियां चलाईं जिसमें 500 से अधिक लोग मारे गए और 1000 से अधिक बुरी तरह से घायल हुए। बाद में सरकार द्वारा इस हत्याकांड की जांच के लिए हंटर कमीशन बनाया गया।

हंटर कमीशन के सम्मुख अपना बयान देते हुए जनरल डायर ने कहा था—"मैंने और भी गोली चलवाई होती यदि मेरे पास कारतूस होते। मैंने सोलह सौ बार ही गोली चलवाई क्योंकि मेरे पास कारतूस खत्म हो गए थे।" जलियांवाला बाग हत्याकांड का दोषी जनरल डायर कुछ समय बाद ही इंग्लैंड में ही अपने ही घर में पश्चाताप की आग में जलकर मरा। उसकी पीठ पर वरदहस्त रखने वाला उस समय पंजाब का लेफ्टीनेंट गवर्नर ओडवयार वैशाखी और भांगड़े की भूमि के नवयुवक ऊधम सिंह द्वारा कुछ वर्ष बाद इंग्लैंड में गोली का शिकार बनाया गया। चैत्र और वैशाख के मास एक ओर वसंत, नवसंवत्सर, नई फसल और नई उमंग का संदेश लेकर आते हैं तो उसी के साथ रामनवमी, महावीर जयंती, गुड फ्राइडे, खालसा सृजन दिवस और जलियांवाला बाग की स्मृतियां भी लाते हैं। संस्कृति, धर्म और इतिहास एक साथ हमें आलोड़ित करते हैं।

(दैनिक जागरण, 15-04-04)

बहुत विरल था संत कबीर का व्यक्तित्व

मध्य युगीन संतों में संत कबीर का अनन्य स्थान है। अपने जीवन काल और उसके पश्चात् कई सदियों तक संत कबीर भक्ति संसार पर पूरी तरह छाए रहे। उनके समकालीन संतों में उनकी असीम प्रशंसा भी हुई और एक पक्ष की ओर से उनकी भरसक निंदा भी हुई। स्तुति और निंदा के मध्य, किसी की चिंता न करते हुए एक फक्कड़ संत की भांति वे बीच बाज़ार में अपनी लुकाटी लिए उद्घोष करते रहे–

कबिरा खड़ा बाज़ार में लिए लुकाटी हाथ।
जो घर जालै आपना सो चले हमारे साथ।।

कबीर और उनके समकालीन निर्गुण संतों में एक विशेष बात दिखाई देती है। वे अपने पूर्ववर्ती संतों को बड़ी श्रद्धा और सम्मान से स्मरण करते हैं, भक्ति क्षेत्र में उनके अवदान की प्रशंसा करते हैं। कबीर ने अपने पूर्ववर्ती जयदेव (बंगाल) और नामदेव (महाराष्ट्र) का स्मरण करते हुए कहा कि गुरु की कृपा से इन्होंने भक्ति के प्रेम की पूरी पहचान कर ली थी–

गुरु परसादी जैदेउ नामा।
भगति के प्रेमि इन ही है जाना।

नामदेव और त्रिलोचन समकालीन थे और एक ही क्षेत्र के रहने वाले थे। उनके आपस में बहुत संबंध थे। इन दोनों संतों के आपसी संवाद का संत कबीर ने अपनी रचनाओं में उल्लेख किया है और उसके माध्यम से सांसारिक कर्म करते हुए प्रभु-भक्ति

में निमग्न होने के विचार की पुष्टि की है। नामदेव के भक्त मित्र त्रिलोचन कहते हैं कि नामदेव तो माया में लिप्त हो गए है। वे तो कपड़े छीपते रहते हैं। राम नाम में उनका चित नहीं लगता–

नामा माया मोहिया, कहै त्रिलोचन मीतु।
काहे छीपहु छाइलै, राम न लावहु चीत।।

कवीर के शब्दों में त्रिलोचन की शंका का उत्तर देते हुए नामदेव कहते हैं–हे, त्रिलोचन भक्त को सदा मुंह में राम-नाम का स्मरण करना चाहिए। उसे अपने हाथ-पांव से सदा जीविकोपार्जन के लिए काम करना चाहिए। उसका चित सदैव निरंजन से लगा रहना चाहिए–

नामा कहै त्रिलोचन मुख ते राम संभालि।
हाथ पाउ करि काम सभु चीतु निरंजन नालि।

संत कबीर और मध्य युग के निर्गणिए संत ईश्वर भक्ति के लिए संसार से उदासीन होकर विरक्त हो जाने के पक्ष में नहीं थे। उनका मत था कि संसार में रहते हुए, सभी सांसारिक दायित्वों का पालन करते हुए मनुष्य सदैव अपने ध्यान में प्रभु को रख सकता है और परम पद की प्राप्ति कर सकता है। ये संत कर्मठ जीवन व्यतीत करने का उपदेश देते हैं। संत रविदास इसी भाव की पुष्टि करते हुए कहते हैं–

जिहवा सों ओंकार जप हाथन सों करकार।
राम मिलहिं घर आइकर, कह रविदास विचार।।
रविदास श्रम कर खाइहि जो लहु पार बसाई।
नेक कमाई जउ करइ कबहुं न निस्फल जाई।।

इस देश में साधुओं-संन्यासियों के लिए भिक्षा मांग कर जीवन यापन करने की वृत्ति को स्वीकार किया जाता है। भिक्षा मांग कर खाना माया मुक्त होकर जीने का प्रतीक रहा है। किन्तु संत कवि भिक्षा को प्रश्रय नहीं देते। कबीर कपड़ा बुनने को काम करते हैं, रविदास जूते गांठते हैं, नामदेव कपड़े छापते हैं, सैण नाई का काम करते हैं, गुरु नानक ने अपने एक पद में कहा था–जो व्यक्ति मेहनत करके कमाता है और उसमें से कुछ दान-पुण्य करता है, वही सही मार्ग को पहचानता है–

धाल खाइ किछु हत्थहु देइ।।
नानक राहु पछाणिहि सेइ।।

उस युग के अधिसंख्य निर्गुण संत समाज द्वारा तिरस्कृत छोटी जातियों से आए थे। प्राचीन परम्परा में इन्हें भक्ति का भी अधिकार नहीं था। स्वामी रामानंद ने ब्राह्मण

होते हुए भी भक्ति के द्वार अद्विज जातियों के लिए खोल दिए थे। इसलिए कबीर सहित अन्य संतों ने अपनी रचनाओं में उनका स्मरण बड़ी श्रद्धा से किया है।

इस संतों ने अद्विज जातियों से आए संतों का बार-बार स्मरण इसलिए भी किया है कि छोटी समझी जानी वाली जाति के होते हुए भी उन्होंने अपनी अनन्य भक्ति के कारण प्रभु की निकटता प्राप्त की। एक पद में संत कबीर के समकालीन संत रविदास ने नामदेव, कबीर, त्रिलोचन, सधना और सैण जैसे संतों का स्मरण इसी संदर्भ में किया है—

नामदेव, कबीर, त्रिलोचन, सधना, सैन तरे।।
कह रविदास सुनहु रे संतहु।।
हरि जिउ ते सभै सरे।।

धन्ना भगत ने अपने एक पद में नामदेव, कबीर, रविदास, सैण और अपनी जाट जैसी पिछड़ी जाट का भक्त होने की चर्चा की है। ये सभी ईश्वरीय कृपा प्राप्त करने में सफल हुए।

गोविंद गोबिंद गोबिंद संगि नामदेव मन लोणा।।
आढ़ दाम को छीपरों होइओ लाखीणा।।
बुनना तनना तिआगि के प्रीति चरन कबीरा।।
नीच कुला जोलाहरा भयो गुनी गहीरा।।
रविदास ढुवन्ता ढोर नीति तिन तिआगी माया।।
परगट होआ साथ संगि हरि दरसन पाया।।
सैन नाई बुतकारिया उह घर घर सुनिया।।
हिरदे वसिया पारब्रह्म, भगतां महि गणिया।।
इह विधि सुनिकै जाटरो उठि भगति लागा।।
मिलै प्रतखि गुसाईआं धंना वडभागा।।

ये सभी संत एक दूसरे का स्मरण करते हैं और उन्हें इस तथ्य के आदर्श के रूप में करते हैं कि उन्होंने नीच समझे जाने वाले कुलों में जन्म लेकर भी, अपनी भक्ति द्वारा प्रभु की कृपा प्राप्त की और भक्ति क्षेत्र में इनकी उपलब्धियों को स्वीकार किया गया। चतुर्थ गुरु रामदास ने तो यह भी कहा कि जिन्हें लोग छीपा कह कर बुलाते थे, ऐसे नामदेव ने प्रभु से ऐसी प्रीति जोड़ी कि उन्होंने स्वर्ण जातियों के ब्राह्मणों और क्षत्रियों को छोड़कर नामदेव को स्वीकार कर लिया—

नामदेव प्रीति लगी हरि सेती लोकु छीपा कहै बुलाई।।
खत्री-ब्राह्मण पीठि दे छोड़े नामदेव लीआ मुखि लाइ।।

तृतीय गुरु, गुरु अमरदास कहते हैं कि नामदेव छीपा थे, कबीर जुलाहा थे, परन्तु

पूरे गुरु की कृपा से उन्हें सद्गति प्राप्त हुई। उन्हें ब्रह्म का ज्ञान हो गया। उन्होंने शब्द की सही पहचान कर ली। उनमें से अहंकार की जाति नष्ट हो गई। अब तो सुर और नर उनकी रची वाणी का गायन करते हैं। उनके महत्व को मिटाया नहीं जा सकता

नामा छीपा कबीर जुलाहा पूरे गुरु ते गति पाई।।
ब्रह्म के बेते सबदु पछाणहि उहमै जाति गवाई।।
सुर नर तिन की वाणी गावहि कोइ ने मेटे भाई।।

कबीर और रविदास जैसे संतों की ख्याति देश व्यापी थी। नामदेव की ख्याति उत्तर भारत में भी बहुत थी। महाराष्ट्र के संत एकनाथ रविदास की चर्चा करते हुए कहते हैं–

रविदास चमार सब कुछ जाने,
कठोरे गंगा देख।।

तुकाराम ने अपने एक पद में कहा है–

निवृति ज्ञान देव सोपान चांगजी,
मेरे जी के है जो नामदेव।।
नागाजन मित्र नरहरि सुनार।।
रविदास कबीर सगै मेरे।।

संत कबीर का समय अत्यन्त संकट का समय था। तुर्कों और पठानों का शासन स्थापित हुए चार शति से अधिक समय व्यतीत हो चुका था। चारों ओर गहरा अवसाद छाया हुआ था। स्वामी वल्लभाचार्य ने इस अवसाद को व्यक्त करते हुए कहा था– ''देश मलेच्छा क्रान्त है, गंगादि तीर्थ भ्रष्ट हो रहे है, अशिक्षा और अज्ञान के कारण वैदिक धर्म नष्ट हो रहा है, सत्पुरुष पीड़ित तथा ज्ञान विस्मृत हो रहा है, ऐसी स्थिति में एकमात्र कृष्णाश्रय में ही जीवन का कल्याण है।''

किन्तु संत कबीर को ऐसे विकल्पहीन समर्पण में ही समस्या का पूर्ण निदान नहीं दिखाई दिया था। वह निराशा भरी स्थिति उन्हें उद्वेलित करती थी, आक्रोश से भरती थी। एक ओर वे अपने समय के पंडों, पुरोहितों, काज़ियों, मुल्लाओं को उनके पाखंडपूर्ण चरित्र के लिए खरी-खोटी सुनाते थे तो दूसरी ओर भविष्य में उभरने वाले किसी संभावित प्रतिरोध और संघर्ष की मनोभूमिका भी तैयार करते हैं। संत कबीर के जीवन पर चर्चा करते हुए उनके व्यक्तित्व का यह पक्ष अनदेखा सा रह जाता है।

कबीर का एक पद है–

गगन दमामा बाजियों, परयों निसानै घाउ।।

खेत जो मांडियो सूरमा, अब जुझन को दाउ।।
सूरा सो पहचानिए, जु लरै दीन के हेत।।
पुरजा-पुरजा कटि मरै, कव्हूं न छोड़ै खेत।।

इस पद की शव्दावली पूरी तरह वीर रस से भरपूर दिखती है और भक्ति काल के अन्य संतों-भक्तों से बहुत भिन्न दिखाई देती है। यह शव्दावली किसी भी सूरमा को इस बात के लिए प्रेरित करती है कि वह दीन (गरीब और पीड़ित) जनों की रक्षा के लिए युद्ध करे। इस कार्य में चाहे उसके टुकड़े-टुकड़े हो जाएं, किन्तु वह रणभूमि त्यागने का भाव अपने मन में न आने दे।

आकाश का नगाड़ों की ध्वनि से गुंजारित होना, शस्त्र-द्वारा ठीक निशाने पर घाव लगना। सूरमा द्वारा रणभूमि को खेत की भांति गोड़ना और उसमें जूझने का अवसर ढूंढना, दीन-दुखियों के लिए सूरमा बनकर लड़ना और टुकड़े-टुकड़े होकर मर जाना किन्तु रणभूमि को न छोड़ने के निश्चय पर दृढ़ रहना-ऐसी आकांक्षा है जो भक्ति काल की सम्पूर्ण मनोभूमिका से सर्वथा अलग दिखाई देती है।

संत कवीर का व्यक्ति बहुत विरल था। उनके समकालीन संत उनसे वहुत प्रभावित हुए थे। अपनी भक्ति की अनन्यता पर उन्हें पूरा विश्वास था। इसी विश्वास के आधार पर उन्होने कहा था कि जीवन रूपी सफेद चादर ऋषियों-मुनियों ने भी ओढ़ी थी, किन्तु वे भी उसे निष्कलुश नहीं रख सके थे, किन्तु कवीर दास ने उस पर कोई दाग नहीं लगने दिया। उन्होंनें उसे उसी तरह पवित्र रख कर प्रभु को वापस कर दिया—

सो चादर सुन नर मुनि ओढ़ी।
ओढ़ि कैमैली कीनी चदरिया।।
दास कबीर जतन से ओढ़ी,
ज्यों की त्यों घर दीनी चदरिया।

(दैनिक जागरण, 10-6-04)

सेवा के पुंज थे गुरु अंगद

भाई लहणा का गुरु नानक देव के संपर्क में आकर गुरु अंगद बन जाना अपने आप में बहुत अद्भुत लगता है। वह देवीभक्त थे। अपने कुछ साथियों के साथ वह ज्वाला देवी जा रहे थे। मार्ग में करतारपुर था, जहां गुरु नानक देव संसार के अनेक भागों का भ्रमण करने के पश्चात् अपने परिवार—पत्नी सुलक्खिणी और दो पुत्रों श्री चंद और लखमी चंद के साथ रह रहे थे। गुरु नानक की ख्याति चारों ओर फैल चुकी थी। असंख्य लोग दूर-दूर से उनके दर्शन करने व उपदेश सुनने के लिए वहां आते थे। करतारपुर उनके लिए तीर्थ स्थान बन गया था।

भाई लहणा ने करतारपुर आकर गुरु नानक के दर्शन किए, उनका उपदेश सुना, गुरुवाणी का कीर्तन सुना और करतारपुर का वातावरण देखा। यहां पर प्रातः और सायंकाल वाणी गायन, कथा-कीर्तन में व्यतीत होता था। दिन में सभी लोग खेतों में काम करते थे। सबके लिए लंगर की व्यवस्था होती थी। वे किसी भेदभाव, ऊंच-नीच का विचार किए बिना पंगत में बैठकर भोजन करते थे। वहां प्रभु-चिंतन, उद्यम, सेवा, समता और संपूर्ण समर्पण का अद्भुत संयोग था।

भाई लहणा जी वह सब देखकर अभिभूत हो गए। उन्हें लगा, वे अपने गंतव्य पर आ गए हैं, अब और कहीं जाने की आवश्यकता नहीं है। उन्होंने अपने साथियों को आने जाने दिया, स्वयं वहीं रह गए। भाई लहणा का जन्म, आज के जिला फिरोजपुर के एक गांव 'मते दी सरा' में 30 मार्च, 1504 ई. (बैसाख बदी, संवत् 1561) के दिन हुआ था। उनके पिता का नाम फेरुमल और माता का नाम सभराई था।

गुरु नानक देव ने उनकी सेवा की अनेक बार परीक्षा ली। एक बार जब गुरु नानक अपने खेतों से पशुओं के खाने के लिए तीन गट्ठर चारा इकट्ठा कर चुके तो

लहणा जी वहां पहुंच गए। गुरु नानक के दोनों पुत्र भी वहां उपस्थित थे। गट्ठरों में बंधे चारे से कीचड़ चू रहा था। कपड़े खराब हो जाने के डर से गुरुपुत्र उन गट्ठरों को उठाने से संकोच कर रहे थे। भाई लहणा ने आगे बढ़कर गट्ठर उठाकर सिर पर रख लिए और उन्हें घर ले आए।

अनेक बार ऐसी घटनाएं हुई। लहणा जी हर समय गुरु की सेवा में निमग्न रहते थे। देखभाल का पूरा ध्यान रखते थे। उनका समर्पण भाव—उनकी निष्ठा, आध्यात्मिक विषयों में उनकी गहरी रुचि और सांसारिक दायित्व के प्रति तत्परता देखकर गुरु नानक देव ने यह अनुभव कर लिया कि लहणा जी में उनका उत्तराधिकारी बनने की पूरी योग्यता है।

लहणा जी की सेवा और समर्पित भावना के कारण गुरु नानक देव ने उन्हें अपना उत्तराधिकारी बनाने का निश्चय कर लिया। यह कार्य उन्होंने अपने जीवन काल में ही कर दिया। अपनी लोकलीला समाप्त करने (22 सितंबर 1539) से लगभग तीन माह पूर्व (14 जून 1539) को उन्होंने लहणा जी को अपना अंगभूत बनाकर 'अंगद' नाम दे दिया। उन्हें गुरु अंगद के रूप में अपनी गद्दी पर बैठाकर सामने एक नारियल और पांच पैसे रखकर उन्हें माथा टेका। भाई लहणा के लिए अंगद नाम का चयन करना, उस युग के परिवेश की दृष्टि से कम आश्चर्यजनक नहीं है।

गुरु नानक देव के देहावसान के कुछ समय पश्चात् गुरु अंगद देव करतारपुर से खंडूर आ गए और इसी स्थान को उन्होंने अपना केंद्र बना लिया। यहां आकर उन्होंने अनेक महत्वपूर्ण कार्य किए। उस समय गुरु नानक की कुछ वाणी लिखित रूप में थी, कुछ उनके शिष्यों की स्मृति में थी। गुरु अंगद ने इसे एकत्र करने का कार्य प्रारंभ किया। गुरु नानक देव के जीवन के अनेक प्रसंग व कथाएं जनश्रुति का भाग बन गई थीं। गुरु अंगद देव ने वे सभी वृत्तांत, प्रसंग और कथाएं एकत्र करने और उन्हें लिपिबद्ध करने का कार्य किया।

गुरु नानक के समय से ही सहभोज की प्रथा प्रारंभ हो गई थी। जाति-पाति और ऊंच-नीच की भावना से बुरी तरह ग्रस्त समाज में, सभी वर्गों के लोगों का, बिना किसी भेदभाव के साथ बैठकर भोजन करना तो बहुत दूर की बात थी, लोग एक-दूसरे का छुआ पानी भी नहीं पीते थे।

गुरु नानक ने अपने शिष्यों को इस प्रकार के भेदभाव से मुक्त कर दिया। अपनी यात्राओं में उन्होंने नीच समझी जाने वाली जातियों के लोगों का आथित्य ग्रहण किया था और खानपान में हिंदू-मुसलमान, ऊंच-नीच का कोई भेदभाव स्वीकार नहीं किया था। गुरु अंगद देव ने लंगर की प्रथा को अपनी गतिविधियों में प्रमुख स्थान दिया। इस कार्य में उनकी सहायक उनकी पत्नी खीवी थी। माता खीवी की देखरेख में सारा लंगर बनता था और खंडूर आने वाले श्रद्धालुओं को बड़े प्रेम से खिलाया जाता था।

लोगों की शारीरिक शिक्षा की ओर भी गुरु अंगद ने ध्यान दिया। विदेशी शासन

और बाहरी आक्रमणकारियों के अत्याचार के कारण सामान्य जनता का मनोबल टूट गया था। मानसिक हताशा को दूर करने और आत्मबल की अभिवृद्धि के लिए गुरुवाणी और गुरु उपदेश संजीवनी का काम करते थे। शारीरिक शक्ति के संचालन के लिए उन्होंने युवकों के नियमित व्यायाम की व्यवस्था की। उन्होंने खंडूर में एक मल्ल अखाड़ा स्थापित किया, जहां युवक व्यायाम करते और कुश्ती लड़ते थे।

सिख आंदोलन भक्ति आंदोलन मात्र नहीं था, उन्होंने उसे जीवन में चरितार्थ करके दिखाया था। करतारपुर में गुरु नानक स्वयं खेती करते थे।

इसी प्रकार गुरु अंगद और उनका परिवार अपना भरण-पोषण करने के लिए मूंज बंटते थे। गुरु अंगद देव ने बहुत थोड़ी, किंतु हृदयग्राही वाणी का सृजन किया। उनके लिखे 61 सलोक (श्लोक) गुरु ग्रंथ साहब में संग्रहीत हैं।

(दैनिक जागरण, 3-8-2004)

गुरु ग्रंथ साहिब का अद्भुत स्वरूप

इस वर्ष गुरु ग्रंथ साहब के प्रथम प्रकाशोत्सव की चार सौवीं वर्षगांठ मनाई जा रही है। गुरु ग्रंथ साहब में संग्रहीत वाणी के श्रद्धालु संसार भर में फैले हुए हैं। इस ग्रंथ के मानवीय संदेश के प्रति अधिक जागरूक होने की दृष्टि से अनेक समारोह आयोजित किए गए हैं। इसी सिलसिले में वैंकुवर, कनाड़ा की कुछ संस्थाओं ने मुझे आमंत्रित किया। ब्रिटिश कोलंबिया, आंटालिया तथा मांट्रियल प्रांतों में तो गुरुद्वारों का जाल बिछा हुआ है। ब्रिटिश कोलंबिया की सरकार ने इस संदर्भ में आधिकारिक स्तर पर बहुत सुंदर ढंग से एक उद्घोषणा प्रसारित की जो वहां की विधानसभा में सुनाई गई। चार सौ वर्ष पूर्व वर्ष सन् 1604 में ग्रंथ को पांचवें गुरु—गुरु अर्जुन देव ने संपादित किया था। उस समय इसमें पांच गुरुओं, देश भर में फैले हुए पंद्रह संतों, चौदह भाट तथा अन्य कवियों की वाणियों को सम्मिलित किया गया है।

इस ग्रंथ के बनने के लगभग एक सौ वर्ष बाद दसवें गुरु—गुरु गोबिंद सिंह जी ने इसमें अपने पिता गुरु तेग़बहादुर जी की वाणी शामिल की। वर्ष 1708 में नादेड़, महाराष्ट्र में अपनी जीवन लीला पूर्ण करने से पूर्व उन्होंने इस ग्रंथ को गुरुपद पर प्रतिष्ठित किया। उस समय से इसे 'गुरु ग्रंथ साहब' कहा जाने लगा। आदि ग्रंथ के अंत में गुरु अर्जुन देव ने उपसंहार के रूप में एक पद 'मुंदावणी' शीर्षक से लिखा है।

थाल विधि तिनि वसतू पइयो सत संतोख वीचारो।।
अमृत नाम ठाकरु का पइओ जिनका समस आधारो।।
जेको खावै जेको भुंचे तिस का होई उधारो।।
यह वसतु तजी नह जाई नित नित कर उरि धारो।।
तम संसार चरन लगि तरीऐ सभु नानक ब्रह्म पसारो।।

इस पद का भावार्थ है : ग्रंथ रूपी थाल में सत्य, संतोष और प्रभु नाम का अमृत रखा गया है जो सभी का आधार है। जो कोई इसका सेवन करेगा और इसके विचारों को आत्मसात करेगा, उसका उद्धार होगा। इस ग्रंथ में जो वस्तु (विचार) है उसे छोड़ा नहीं जा सकता। इसलिए इसे सदा अपने हृदय में धारण करना ही उचित है। इस ग्रंथ में दिए गए उपदेश के चरणों से लगकर अज्ञान के अंधेरे से मुक्ति पाई जा सकती है। इसका मूल उद्‌देश्य यह है कि परब्रह्म की व्याप्ति सभी ओर है। अनेक पक्षों से यह ग्रंथ अनुपम एवं अद्वितीय है। इसमें बारहवीं शती के शेख फरीद और जयदेव से लेकर सत्रहवीं शती के गुरु तेग़बहादुर तक पांच शतियों में अवतरित गुरुओं, संतों, सूफियों और भाट कवियों की भक्ति पूर्ण रचनाएं संग्रहीत हैं। इस दृष्टि से इस ग्रंथ को पांच शताब्दियों की भारत की सांस्कृतिक, धार्मिक और साहित्यिक पाती के एक प्रतिनिधि ग्रंथ के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

आदि ग्रंथ में जिन संतों की वाणियां संग्रहीत हुई हैं वे गुरु नानक देव के पूर्ववर्ती अथवा समकालीन थे। भारत पर महमूद गज़नवी के आक्रमण और विदेशी शासन की स्थापना के लगभग पांच सौ वर्ष पश्चात् पंजाब में गुरु नानक पहले ऐसे संत थे जिनकी वाणी में भारतीय जीवन की आकांक्षाओं का स्वर सुनाई दिया था। देश के अनेक भागों में भक्ति की जो धारा प्रवाहित हो रही थी, गुरु नानक ने उसका परिचय ही प्राप्त नहीं किया था, बल्कि उससे तादात्म्य भी स्थापित किया था। उन्होंने सभी प्रमुख संतों-भक्तों, उनकी परंपरा, उनकी रचनाओं तथा विभिन्न मतों के धर्माचार्यों से संबंध स्थापित किया था। उन्होंने अनेक बार संपूर्ण देश का भ्रमण किया। इस भ्रमण में वे अनेक तीर्थ-स्थानों पर गए। अनेक संतों-सूफियों से उनका संवाद हुआ। जयदेव, रामानंद, नामदेव, त्रिलोचन, परमानंद, कबीर, रविदास, सैण, पीपा, धन्ना आदि अनेक संतों की रचनाओं का उन्होंने स्वयं संग्रह किया, जिन्हें बाद में गुरु अर्जुन देव ने आदि ग्रंथ में संग्रहीत किया।

आदि ग्रंथ में रागबद्ध वाणियों के प्रारंभ होने से पहले तीन वाणियां हैं : जपु, सोदर-सोपुरखु और सोहिला। आम-तौर पर इन्हें जपुजी साहब, रहिरास और कीर्तन सोहिला कहा जाता है। ये सिख श्रद्धालुओं के नित्य पाठ (नितनेम) की वाणियां हैं। इनमें जपुजी का पाठ प्रातःकाल, रहिरास संध्या में और सोहिला को रात्रि को शयन के पूर्व पढ़ा जाता है। इन तीनों वाणियों में पहली 'जपु' गुरु नानक की रचना है। शेष दो में एक से अधिक गुरुओं के पद हैं। ये तीनों रचनाएं एक प्रकार से आदिग्रंथ का उपक्रम हैं जो प्रारंभ के 14 पृष्ठों तक सीमित है। शेष ग्रंथ लगभग रागबद्ध हैं। सभी गुरु संगीत विद्या में निष्णात थे। इसलिए जब से वाणी रची जाने लगी तथा अन्य संतों की वाणियों का संग्रह किया जाने लगा, उसके राग का निर्धारण उसी समय से प्रारंभ हो गया।

गुरु ग्रंथ साहब की लगभग संपूर्ण संरचना का विभाजन विभिन्न रागों के आधार पर किया गया है। गुरु नानक ने स्वयं अपने आपको अनेक स्थानों पर 'ढाढी' (गायक) कहा है। इस ग्रंथ के विभाजन का आधार वाणी का रचनाकार नहीं है, वरन् वह राग है जिसमें उसने वाणी की रचना की। इस ग्रंथ में 31 रागों का उपयोग हुआ है। ये

हैं सिरी (श्री), माझ, गउड़ी, आसा, गूजरी, देवगंधारी, बिहागड़ा, वडहंस, सोरठ, धनासिरी, जैतसरी, टोड़ी, वैराड़ी, तिलंग, सूही, घिलावल, गौंड, रामकली, नर-नारायण, माली गउड़ी, मारु, तुखारी, केदारा, भैरउ, बसंत, मलार, कानड़ा, कलियाण, प्रभाती, जैजैवंती। इन रागों के साथ ही कुछ रागों के आपसी मेल से 27 और रागों का विधान किया गया है। रागबद्ध वाणियों के पश्चात् 77 पृष्ठों में रागमुक्त रचनाएं हैं। संत कबीर ने अपनी एक साखी में लिखा है कि संतों का लक्षण उनका निर्वर तथा निष्काम होना है। वे प्रभु प्रेम में निमग्न और विषयों से विरक्त होते हैं। चौथे गुरु—गुरु रामदास ने कहा है कि जिसे श्वास-प्रश्वास में अपने हृदय से हरि नाम विस्मृत नहीं होता, वह धन्य है, वही पूर्ण संत है।

विषयों से निरपेक्ष रहते हुए केवल सत्कर्म करना, हर समय हरिनाम में लिप्त रहना, किसी के प्रति वैर भाव न रखना तथा प्रत्येक कार्य निःसंग होकर निष्काम भाव से करना संतों के लक्षण हैं। गुरु ग्रंथ साहब संतवाजी का संग्रह है। चाहे वे गुरु साहबान हों, मुलतान से लेकर बंगाल तक और सिंध से लेकर महाराष्ट्र तक फैले हुए संत और सूफी हों, ब्राह्मण हों या अतिशूद्र हों, सभी की रचनाओं को गुरु ग्रंथ साहब में स्थान प्राप्त हुआ, सभी समादृत हुए, सभी पूज्य हुए। कालक्रम की दृष्टि से जयदेव और शेख फरीद बारहवीं शती के संत थे। इनमें एक बंगाल के और दूसरे पश्चिमी पंजाब (मुलतान) के थे। एक के संस्कार पूरी तरह वैष्णव थे और दूसरा सूफी सिद्धांतों की पृष्ठभूमि में जन्मा-पला था। त्रिलोचन, नामदेव, सधना और वेणी तेरहवीं शती के संत थे। रामानंद, रविदास, कबीर, पीपा, सैण, धन्ना, भीखण और सूरदास ये सभी संत पंद्रहवीं शती के थे। गुरु ग्रंथ साहब में संग्रहीत वाणीकारों का आग्रह परमात्मा के निर्गुण स्वरूप की ओर है। वे अवतारवाद के समर्थक नहीं हैं। वर्ण व्यवस्था, जाति-पांत, ऊंच-नीच में उनका विश्वास नहीं है। वे मूर्तिपूजा का खंडन करते हैं और सर्वत्र परमात्मा की ज्योति को प्रसारित देखते हैं। इनके द्वारा व्यक्त किया गया धार्मिक भाव सीधा-सादा, आडंबरहीन एवं व्यापक है। परंपरागत रूढ़ अवधारणाओं की उपेक्षा करते हुए उन्होंने धर्म के मूल तत्व को पहचानने और उसे स्पष्ट करने का प्रयास किया।

गुरु ग्रंथ साहब में संग्रहीत सभी वाणीकार इस बात पर आग्रह करते हैं कि प्रभु-भक्ति से नीच-से-नीच समझा जाने वाला व्यक्ति उच्चता प्राप्त करता है। चौथे गुरु रामदास तो यह लिखते हैं कि नामदेव की हरि से ऐसी प्रीति लगी कि जिसे लोग छीपा कहकर बुलाते थे, हरि ने उसे खत्री और ब्राह्मण जैसी सवर्ण जातियों को त्याग कर स्वीकार कर लिया। तीसरे गुरु-गुरु अमरदास कहते हैं कि नामदेव छीपा थे, कबीर जुलाहा थे, परंतु गुरु की कृपा से उन्हें सद्गति प्राप्त हुई। उन्हें ब्रह्म का ज्ञान हो गया। उनमें अहंकार नष्ट हो गया। अब तो सुर और नर उनकी रची वाणी का गायन करते हैं। उनके महत्व को मिटाया नहीं जा सकता। अर्जुन देव ने ऐसे संतों का अनेक बार स्मरण किया है। इस ग्रंथ का निर्माण उस युग की एक विलक्षण घटना थी। आज भी इसकी अलौकिकता असंदिग्ध है।

(दैनिक जागरण, 23-9-04)

आस्था में अर्थ की भूमिका

संसार भर की अर्थव्यवस्था में एक शब्द बहुत प्रचलित है—वह है महंगाई। देश चाहे अविकसित हो या विकासशील या बहुत विकसित, महंगाई की चर्चा से मुक्त नहीं है। इस महंगाई की चपेट में स्वयं भगवान भी आ गए हैं। मुझे याद है, बचपन में हम भगवान से कोई मनौती मानते थे तो उन्हें प्रलोभित करने के लिए पांच पैसे का प्रसाद चढ़ाने का वायदा करते थे। आज भगवान भी यह आशा करने लगे हैं कि महंगाई को देखते हुए भक्तगण भी अपनी मनौती राशि में समुचित बढ़ावा करें। इसलिए पृथ्वी पर भगवान के स्वयंभू प्रतिनिधियों को लोग चढ़ावे में जो-जो वस्तुएं अर्पित करते हैं उसे देखकर आश्चर्य होता है। अभी मैंने किसी समाचार-पत्र में पढ़ा कि दक्षिण भारत के अति विशिष्ट और अति समृद्ध तिरुपति के मंदिर में भगवान वेंकटेश्वर की मूर्ति के लिए एक अति सुंदर मुकुट बनवाया गया है। सोने का यह मुकुट हीरे-मोतियों से जड़ा हुआ है और इसका अनुमानित मूल्य डेढ़ करोड़ रुपयों से अधिक है। कांचीपुरम के शंकराचार्य जयेंद्र स्वामी किसी शुभ मुहूर्त में इस मुकुट को भगवान की मूर्ति को पहनाएंगे।

मैं सोचता हूं कि कितना सुंदर होगा यह जगमगाता हुआ वैभवशाली मुकुट। हमने साहित्य में पढ़ा है कि भगवान कृष्ण मोर पंखों का मुकुट धारण करते थे। मोर पंखों का मुकुट बनाने में न उस समय एक पैसा खर्च होता होगा, न आज होता है। भगवान कृष्ण से लेकर आज तक भारत इतनी सुख समृद्धि में आ गया है कि मोर मुकुट अब डेढ़ करोड़ के मुकुट में परिवर्तित हो गया है। हाल में ही गुरु ग्रंथ साहब के प्रथम प्रकाश की चौथी शताब्दी मनाई गई। इस संबंध में अमृतसर में एक विशाल आयोजन हुआ जिसमें राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री सहित लगभग 25 लाख लोगों ने भाग लिया। इस विशेष अवसर के लिए गुरु ग्रंथ साहब को प्रतिष्ठित करने के लिए एक विशेष पालकी बनवाई गई। गुरुद्वारा रामसर जहां चार सौ वर्ष पहले गुरु अर्जुन देव ने इस ग्रंथ का संपादन किया था, में गुरु ग्रंथ साहब को एक साधारण पालकी में रखा जाता

था। इस अवसर के लिए सागवान जैसी मूल्यवान लकड़ी के ढांचे पर चार क्विंटल तांबा जड़ा गया और उस पर 14 किलो सोने के पत्र लगाए गए। इस पालकी को बनाने में लगभग एक करोड़ रुपए खर्च हुए। गुरु ग्रंथ साहब को 'शब्द गुरु' कहा जाता है। गुरुवाणी में कहा गया है कि बिना प्रभुशब्द के मनुष्य के हृदय में अंधकार रहता है "बिनु सबदै अंतरि आनेरा" शब्द तो अक्षरा होता है। वह कभी नष्ट नहीं होता। क्या ऐसे शाश्वत शब्द के भंडार को आसन देने के लिए इतनी बहुमूल्य पालकी की जरूरत है?

हमारे संपूर्ण भक्ति साहित्य में परमात्मा के लिए ऐसे अनेक शब्दों का निरंतर प्रयोग हुआ है जो उसके दीन, हीन, गरीब, दुर्बल और बेबस जन के प्रति गहरे लगाव, सरोकार और प्रेम भाव को व्यक्त करता है। दीनबंधु, दीन दयाल, दीना नाथ, द्ररिद्र नारायण, गरीब नवाज, निर्बल के बल और पतित पावन आदि ऐसे शब्द हैं, जिनके माध्यम से हम उस परम सत्ता का स्मरण करते हैं। आदिकाल से ही संसार में ऐसे लोगों की प्रचुरता रही है जो निर्धनता, बीमारी तथा अन्य अनेक प्रकार की व्याधियों से ग्रसित रहते हैं। इसलिए परमात्मा के लिए संकट मोचन, दुःख निवारण, कष्ट हरण, विघ्न विनाशक आदि संबोधन भी प्रचलित हो गए। इसलिए भक्तों ने उसे द्ररिद्र नारायण या गरीब नवाज के रूप में देखा। किसी ने उसे समृद्धि नारायण या अमीर नवाज नहीं कहा, किंतु हम सभी जानते हैं कि संसार में दुंदुभी तो उसकी ही बजती है जिसके पास समृद्धि है। ऐसे व्यक्ति को भगवान की आवश्यकता भी सबसे अधिक पड़ती है। वे पूरी तरह से प्रयास करते हैं कि द्ररिद्र नारायण समृद्धि नारायण बनकर उनके सिर पर अपना वरद हस्त अवश्य रखें।

भक्तगण सदा यह चाहते हैं कि भगवान सदा सोने की चकाचौंध में निमग्न रहें। वह डेढ़ करोड़ का मुकुट पहने और एक करोड़ की पालकी में विराजमान रहें। हमारे समाज में सोने का अद्‌भुत आकर्षण है। व्यक्ति का स्तर इस बात पर निर्भर करता है कि उसके पास कितना सोना है। हमारे राजा, महाराजा, बादशाह, नवाब सोने के आभूषण धारण करते थे और स्वर्ण जड़ित मुकुट के जरिए अपनी समृद्धि की खुली घोषणा करते थे। अभावग्रस्त सामान्य जनता सोने का ऐसा वैभवपूर्ण प्रदर्शन देखकर चमत्कृत हो जाती थी।

कविवर बिहारी ने अपने एक दोहे में व्यक्ति पर सोने के प्रभाव को दर्शाने वाले एक दोहे में कहा था, "सोने में धतूरे से सौ गुना अधिक नशा होता है।" व्यक्ति धतूरा खाकर बौराता है, किंतु वह थोड़ा-सा सोना पाकर ही पागल हो जाता है। भौतिक दृष्टि से ऐसा माया जाल उत्पन्न करने वाला सोना सांसारिक कार्यों में यदि अपनी असीम शक्ति का प्रदर्शन करे तो कुछ भी अनहोना नहीं है, किंतु धर्म और आध्यात्मिकता के क्षेत्र में वह इतना महत्वपूर्ण हो उठे, यह कितनी विचित्र बात है इस देश के संपूर्ण अध्यात्मिक चिंतन में माया की अनंत चर्चा है। माया क्या है? सभी लोग अधिक-से-अधिक धन-संपत्ति एकत्र कर जीवन में सुख और आनंद प्राप्त करना चाहते हैं। ऐसे लोगों

की भी कमी नहीं है जो ऐसी माया एकत्र करने के लिए किसी प्रकार का कार्य करने को तैयार हो जाते हैं। धर्म का कार्य है कि व्यक्ति को वह माया के अर्जन और उसके उचित उपयोग की नियमित दिशा की ओर ले जाए। इसके विपरीत माया से विरक्त होने का उपदेश देने वाले असंख्य साधु, संत, उपदेशक स्वयं माया के जाल में इस प्रकार फंसे दिखाई देते हैं कि लगता है कि इसकी प्राप्ति ही उनके जीवन का परम उद्देश्य है। यही उनका साध्य है। उनकी सारी मुद्रा, क्रियाकलाप, वेशभूषा और प्रवचन तो इसे प्राप्त करने के साधन मात्र हैं।

कुछ वर्ष पूर्व मुझे लंदन में बने स्वामी नारायण मंदिर को देखने का अवसर मिला। इतना सुंदर और वैभव संपन्न मंदिर संसार के किसी भी धर्म के पूजा-स्थल का हो सकता है, यह मेरी कल्पना से बाहर है। इस मंदिर के निर्माण में कहीं भी लोहे का उपयोग नहीं किया गया है। हजारों टन बुल्गेरियाई लाइम स्टोन और इतालवी संगमरमर को भारत लाकर 1500 शिल्पकारों की सहायता से इस मंदिर के विभिन्न भागों का निर्माण किया गया। फिर उन्हें लंदन ले जाकर मंदिर को मूर्त रूप दिया गया। ऐसा मंदिर देखकर मनुष्य में परमात्मा के प्रति कितनी आस्था और भक्ति का संचार होता है, मैं नहीं जानता। इतना अवश्य जानता हूं कि इसके वैभव को देखकर व्यक्ति चमत्कृत अवश्य हो जाता है। आजकल इस देश में समृद्धि प्रदर्शन की होड़-सी लगी दिखती है। महंगी-से-महंगी कारें या तो कुछ धनपतियों के पास अनंत संपत्ति भी इन्हीं दो वर्गों के बीच बंटी हुई है। लक्ष्मी पूजक धनपति समृद्धि के वैभव में जिएं तो कोई अस्वाभाविक या अनहोनी बात नहीं है, किंतु यदि हमारे भगवान भी डेढ़ करोड़ का मुकुट धारण करें अथवा एक करोड़ की पालकी में आसन ग्रहण करें तो उन करोड़ों लोगों का क्या होगा जिनके लिए उन्हें द्ररिद्र नारायण, दीन बंधु और गरीब नवाज कहा जाता है।

प्रगति के सभी दावों के बावजूद हमारे देश में अभी एक तिहाई जनता ऐसी है जो गरीबी रेखा से नीचे है। इस देश में असंख्य स्कूल ऐसे हैं जिनके पास पक्की छत नहीं है। अस्पतालों का उससे भी बुरा हाल है। ग्रामीण और आदिवासी क्षेत्रों में हजारों लोग इसलिए मर जाते हैं कि उन्हें समय से चिकित्सा की सुविधा प्राप्त नहीं हो पाती। परमात्मा को प्रसन्न करने के नाम पर उसकी अनुकंपा प्राप्त करने के लिए अरबों रुपए खर्च करके मंदिर बनाना, रत्नजड़ित मुकुट बनाना, सोने की पालकी तैयार करना क्या उसका घोर अपमान करना नहीं है जिसे हम द्ररिद्र नारायण और गरीब नवाज कहते हैं? इस देश में यह भाव कैसे विकसित होगा कि द्ररिद्र की सेवा ही परमात्मा की सबसे बड़ी उपासना है। मध्य युग के बांग्ला कवि चंडीदास की एक उक्ति है—शुनो मानुष भाय, सबाय उपरे मानुस सत्य, तहार उपरे किछु नाय। अर्थात् हे मनुष्य भाइयों सुनो, मनुष्य ही सबसे बड़ा सत्य है। उससे ऊपर कुछ नहीं।

(दैनिक जागरण, 30-9-04)

अहमदिया आंदोलन : अंतर्व्यथा

अनेक धर्मों में इस प्रकार की कल्पना है कि इस संसार का अंत होने से पूर्व किसी अवतार, नबी, पैगंबर का जन्म होगा जो संसार में अन्याय का शासन नष्ट करके न्याय का शासन स्थापित करेगा। पौराणिक हिंदू मान्यता के अनुसार युगांत के समय संभल नामक ग्राम में किसी ब्राह्मण के घर में एक शक्तिशाली बालक का जन्म होगा जिसका नाम विष्णुयशा कल्की होगा। वही कल्की अवतार होगा जो कलयुग का अंत कर पुनः सतयुग की स्थापना करेगा।

इस्लाम में भी इसी प्रकार की एक धारणा है। इसके अनुसार 'महदी' नाम का पैगंबर संसार के अंतिम दिनों में आएगा। महदी का अर्थ होता है—'निदेश प्राप्त व्यक्ति' जो निदेश प्राप्त करने के कारण दूसरों को भी निदेश दे सकता है। वह शासक जैसा व्यक्ति होगा जो पृथ्वी के अंतिम दिनों में प्रकट होगा। इस मसीहा के आगमन की दृष्टि से शिया और सुन्नियों की अवधारणा में अंतर है। शिया लोगों का कहना है कि महदी बारहवें इमाम मुहम्मद अबुल कासिम के रूप में प्रकट हो चुका है। इस बारे में विश्वास किया जाता है कि वह किसी गुप्त स्थान पर छिपा हुआ है। विश्व के अंत से पहले वह प्रकट होगा, पर सुन्नी लोगों का कहना है कि वह अभी प्रकट नहीं हुआ है। इतिहासकार अल-बुखारी और अन्य हदीसों के अनुसार हज़रत मुहम्मद कहते हैं—जब तक मेरे कबीले और मेरे नाम का आदमी पूरे अरब का शासक नहीं होगा, विश्व का अंत नहीं होगा। महदी मुझसे अवतरित होगा। वह खुले मुख मंडल का ऊंची नाक वाला आदमी होगा। वह विश्व को निष्पक्षता और न्याय से परिपूर्ण कर देगा, जिस प्रकार आज वह क्रूरता और दमन से भरा हुआ है। वह पृथ्वी पर सात वर्ष तक राज्य करेगा।

शिया हदीसों के अनुसार हज़रत मुहम्मद ने कहा था—"ओ, संसार के लोगों, मैं पैगंबर हूं और अली मेरा उत्तराधिकारी है। हम लोगों से ही उल-महदी अवतरित होगा।"

जैसे आज अपने आपको कोई कल्की अवतार कहने का दावा न भी करे किंतु अवतारों और भगवानों की कोई कमी हिंदू परिवेश में नहीं हुई। किंतु इस्लाम में यह स्वीकार किया जाना (लगभग) असंभव ही है कि हज़रत मुहम्मद के बाद भी कोई नबी या पैगंबर हो सकता है। इस्लाम यह तो स्वीकार करता है कि समय-समय पर ईश्वरीय संदेश लेकर पैगंबर आते रहे हैं, किंतु वह यह भी मानता है कि इस क्रम में हज़रत मुहम्मद अंतिम पैगंबर या नबी थे—(खतीमुन्नबीवह) अब और कोई नबी नहीं आएगा।

किंतु इस्लामी संसार में ऐसे लोगों का आगमन भी होता रहा है जो यह दावा करते रहे हैं वे महदी हैं, अर्थात् नए युग के पैगंबर हैं। उन्नीसवीं सदी में सूडान में एक व्यक्ति ने दावा किया कि वह महदी है, उसे दैवी आदेश (इल्हाम) हुआ है और वह अंग्रेजों तथा मिशनरियों के विरुद्ध जेहाद करने के लिए मुसलमानों को संगठित करने आया है।

कुरान मजीद में दो शब्दों का प्रयोग हुआ है—नबी और रसूल। इस्लाम में हज़रत मुहम्मद के लिए इनका प्रयोग होता है, उनके पैगंबर और अल्लाह के संदेशवाहक के रूप में। यह भी स्वीकार किया जाता है कि वे अंतिम पैगंबर थे। एक अन्य शब्द है—मुजद्दिद। इसका अर्थ है सुधार करने वाला, वह व्यक्ति जो इस्लाम धर्म में सुधार करे। इस्लाम में शेख अहमद सरहिंदी और शाह वली उल्लाह जैसे व्यक्ति मुजद्दिद के रूप में स्वीकार किए जाते रहे हैं।

किंतु अहमदिया संप्रदाय की स्थिति इनसे भिन्न हो गई। पंजाब के गुरदासपुर जिले के कादियां गांव में सन् 1835 में अहमदिया आंदोलन के प्रवर्तक मिर्जा गुलाम अहमद का जन्म हुआ। कादियां गांव से संबंधित होने के कारण इनके अनुयायियों को कादियानी भी कहा जाता है। गुलाम अहमद ने बचपन में कुरआन और हदीस की शिक्षा प्राप्त की थी। कुछ बड़े होने पर उन्होंने दावा किया कि उन्हें अल्लाह की ओर से सीधा इल्हाम हुआ है और वह नबी के रूप में अवतरित हुए हैं। उन्होंने उर्दू, फारसी और अरबी में अनेक पुस्तकों की रचना की।

धीरे-धीरे पंजाब में ग्रामीण क्षेत्रों में बसने वाले मुसलमानों में उनकी लोकप्रियता बढ़ने लगी और लोग उन्हें महदी के रूप में स्वीकारने लगे। मिर्जा गुलाम अहमद का दावा था कि प्रत्येक (हिज़री) सन् के प्रारंभ में अल्लाह किसी ऐसे व्यक्ति को भेजता है जो इस्लाम को पुनर्जीवित और पुर्नस्थापित करता है। अपनी रचित पुस्तक 'फत-ई-इस्लाम' में गुलाम अहमद ने दावा किया कि वह इसलिए दुनिया में भेजे गए हैं कि वह इस्लाम का फिर से स्थापन करें। अपनी पुस्तकों में उन्होंने बार-बार इस बात पर ज़ोर दिया कि इस्लामी जीवन में कितना पतन हो गया है और उसे नए मसीहा की ज़रूरत है। अपने लिए वे नबी अथवा पैगंबर शब्द का निरंतर प्रयोग करते रहे।

उनके इस दावे से मुसलमानों में बहुत विवाद उठ खड़ा हुआ। किसी का यह दावा करना कि वह नबी है, इस्लाम की उस मान्यता के विपरीत जाता है जिसमें यह

विश्वास किया जाता है कि हज़रत मुहम्मद के बाद कोई नबी या पैगंबर नहीं होगा। किंतु मान्यता यह भी है कि भविष्य में, विश्व का अंत होने से पहले महदी का आगमन होगा। मिर्ज़ा गुलाम मुहम्मद और उनके अनुयायियों का दावा यह था कि वे जो कुछ कह रहे हैं कि वह कुरान और इस्लामी मान्यताओं के विपरीत नहीं है। महदी का आगमन होना है और मिर्ज़ा गुलाम अहमद के रूप में वह हो गया है।

सन् 1909 में मिर्ज़ा गुलाम अहमद का 74 वर्ष की आयु में निधन हुआ था। उस समय तक उन्हें नवी मानने वालों की संख्या बहुत बढ़ गई थी। वह दावा यही करते थे कि वे इस्लाम का पुनर्स्थापन कर रहे हैं, किंतु व्यापक मुस्लिम समाज में उनकी मान्यताओं का विरोध भी बड़ी तेज़ी से उठने लगा।

सन् 1889 में अहमदिया समुदाय का पहला जलसा (सम्मेलन) कादियां में हुआ था जिसमें जम्मू और पंजाब के उनके बहुत से अनुयायी एकत्र हुए थे। बाद के जलसों में दिल्ली और उत्तर प्रदेश से आए लोगों ने भी भाग लिया। सुन्नी इस्लाम से उनका अलगाव बढ़ने लगा। बीसवीं सदी का प्रारंभिक वर्षों में उनकी ओर से अपने आपको सुन्नी इस्लाम से जुदा घोषित किया और अहमदिया संप्रदाय के रूप में अलग पहचान बनाने का दावा किया जाने लगा।

मिर्ज़ा गुलाम अहमद के देहावसान के पश्चात् उनके पुत्र मिर्ज़ा बशीर उद्दीन महमूद अहमद ने इस आंदोलन की कमान संभाली। सईद अंजुमान अहमदिया नाम की एक केंद्रीय संस्था भी अस्तित्व में आ गई। पूरे पंजाब में अपने आपको अहमदिया मानने वालों की संख्या जिस गति से बढ़ रही थी कि सुन्नी इस्लाम का पालन करने वाले बहुत चिंतित होने लगे। मिर्ज़ा गुलाम अहमद को धर्म विद्रोही कहकर प्रचारित किया जाने लगा।

अहमदिया आंदोलन पहले मध्य वर्ग और निम्न मध्य वर्ग के मुसलमानों में ही लोकप्रिय था। धीरे-धीरे बहुत पढ़े-लिखे मुसलमान भी इससे प्रभावित होने लगे। लाहौर के मुहम्मद अली जो एक अंग्रेज़ी पत्रिका के संपादक थे और पैगंबर के एक वकील ख़्वाजा कमालुद्दीन अहमदिया आंदोलन के बहुत बड़े हिमायती थे। सन् 1947 में जब पाकिस्तान अस्तित्व में आया तो मुहम्मद अली जिन्ना ने एक सेवानिवृत्त न्यायधीश सर जफरुल्ला खान को वहां का विदेश मंत्री बनाया, जिन्होंने बड़ी कुशलता से संयुक्त राष्ट्र संघ में पाकिस्तान का पक्ष रखा था। वह एक अहमदिया थे।

किंतु पाकिस्तान बनने का एक परिणाम यह हुआ कि सुन्नी इस्लाम मानने वालों के बहुमत और प्रभुत्व का एक देश अस्तित्व में आ गया। इसका यह परिणाम भी हुआ कि पाकिस्तान में अहमदिया जमात के लोगों के विरुद्ध सुन्नियों का विरोध उग्र रूप धारण करने लगा। वहां यह आवाज़ भी उठने लगी कि क्योंकि इस जमात के लोग मिर्ज़ा गुलाम अहमद को नबी मानते हैं और उन्हें हज़रत मुहम्मद के साथ बराबरी का दर्जा देते हैं, इसलिए वे मुसलमान नहीं हैं। यह आवाज़ भी उठने लगी कि अहमदिया

समुदाय के लोगों को पाकिस्तान में गैर-मुसलमान घोषित कर दिया जाए।

सन् 1953 में जब ख़्वाजा निजामुद्दीन के प्रधानमंत्री थे, वहां के उलेमाओं ने उन्हें यह चेतावनी दी कि यदि अहमदियों को गैर-मुस्लिम अल्पसंख्यक नहीं घोषित किया गया और जंफरुल्ला खान तथा अन्य अहमदियों को सरकारी पदों से नहीं हटाया गया तो वे सरकार के खिलाफ सीधी कार्रवाई प्रारंभ कर देंगे, उस समय वहां दो लाख से अधिक अहमदिया थे, उसके बाद वहां की सरकार ने इस समुदाय के लोगों को गैर-मुसलमान घोषित कर दिया। आज भी इस समुदाय के लोग अपने आपको मुसलमान कहते हैं किन्तु उलेमा उन्हें मुसलमान नहीं मानते।

आधुनिक विश्व की एक बड़ी विशेषता यह है कि उसमें सह अस्तित्व और सहिष्णुता पर बहुत बल दिया जाता है। किंतु धर्म क्षेत्र में इन दोनों मूल्यों की निरंतर अवहेलना होती रही है। ऐसी बातें हमारे देश में भी हुई हैं तथा संसार के अन्य धर्मों में भी। जिस समय यूरोप में पोप की प्रभुता को कुछ लोगों ने चुनौती दी थी, उन्हें पोप के अनुयायियों के हाथों बहुत कष्ट झेलने पड़े थे। अहमदिया समुदाय के लोग भारत में, कादियां में प्रतिवर्ष अपना वार्षिक सम्मेलन करते हैं, किंतु पाकिस्तान में उन्हें ऐसी सुविधाएं उपलब्ध नहीं है। इस असहिष्णुता का ही परिणाम है कि आज उस देश में मुस्लिम समाज के दो वर्ग—सुन्नी और शिया—आपस में खूनी जंग लड़ रहे हैं।

(दैनिक जागरण, 7-10-04)

धर्माचार्य कानून से बाहर नहीं

कांची कामकोटि पीठ के शंकराचार्य आचार्य जयेंद्र सरस्वती की गिरफ्तारी और उनके साथ किए गए व्यवहार पर इन दिनों खूब चर्चा हो रही है और धर्म प्राण व्यक्ति बहुत आंदोलित भी हो रहे हैं। शंकराचार्य पर यह आरोप है कि उन्होंने अपनी पीठ में काम करने वाले शंकर रमण की हत्या में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। ऐसी घटनाएं इस देश में निरंतर होती रहती हैं, किंतु यह घटना सामान्य नहीं हैं। इसकी चपेट में एक ऐसे धर्म पुरुष आ गए हैं जो असंख्य लोगों की पूज्य भावना और श्रद्धा के केंद्र हैं। वे उस पीठ के आचार्य हैं जिसके संदर्भ में यह धारणा है कि उसकी स्थापना स्वयं आदि शंकराचार्य ने की थी। इस समय मैं इस घटना के कानूनी पक्ष पर विचार नहीं कर रहा हूं। इसकी चिंता करने के लिए इस देश की न्यायिक व्यवस्था सक्षम है, किंतु इस प्रसंग ने अनेक ऐसे प्रश्न उत्पन्न कर दिए हैं जिनका प्रभाव सामयिक नहीं है। ये प्रश्न हमारे देश के बहुधर्मी चरित्र पर अपना चिह्न छोड़ेंगे, जिससे देश की कानून एवं व्यवस्था पर दूरगामी प्रभाव पड़ेगा।

मैं एक प्रसंग का उल्लेख करना चाहता हूं। कुछ महीने पहले मेरे पास पंजाबी के एक दैनिक पत्र के संपादक की ओर से एक टेलीफोन आया। उसके कुछ दिन पूर्व ही चंडीगढ़ की एक अदालत ने श्री अकाल तख्त के जत्थेदार को किसी व्यक्ति की याचिका के संदर्भ में एक सम्मन भेजा था और एक निश्चित तिथि पर अदालत ने उन्हें वहां उपस्थित होने का आदेश दिया। यह बात सभी जानते हैं कि सिख परंपरा में अकाल तख्त के जत्थेदार का स्थान सर्वोपरि माना जाता है। बहुत से लोग यह भी मानते हैं कि अकाल तख्त का जत्थेदार किसी भी सांसारिक न्यायिक प्रक्रिया से ऊपर है। उस पत्र के संपादक ने पूछा था कि क्या आप यह मानते हैं कि अकाल तख्त का जत्थेदार का पद किसी भी सांसारिक न्याय व्यवस्था से ऊपर है? क्या आप यह मानते हैं कि जत्थेदार को कोई अदालत अपने समक्ष उपस्थित होने का आदेश नहीं

दे सकती है? क्या आप मानते हैं कि यदि किसी न्यायालय ने उन्हें अपने समक्ष उपस्थित होने का आदेश दिया है तो उन्हें उस आदेश की अवहेलना करनी चाहिए? उस संपादक ने ये प्रश्न कुछ अन्य व्यक्तियों से भी पूछे थे। अन्य तीनों का विचार था कि किसी भी अदालत को श्री अकाल तख्त के सर्वसम्मानित जत्थेदार को अपने समक्ष उपस्थित होने का आदेश देने का अधिकार नहीं है। यदि जत्थेदार को किसी अदालत से ऐसा आदेश मिलता है तो उसे स्वीकार नहीं करना चाहिए।

मेरा कहना था कि सिखों में अकाल तख्त के जत्थेदार का स्थान, उनकी मान्यता और हैसियत को देखते हुए यदि इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न हो जाए तो वह बहुत दुर्भाग्यपूर्ण होगी, किंतु यदि ऐसी स्थिति आ ही जाए तो उन्हें अदालत के आदेश को स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि मैं मानता हूं कि इस देश का प्रत्येक नागरिक, उसकी स्थिति कुछ भी हो, कानून से ऊपर नहीं है। कांची कामकोटि के शंकराचार्य की स्थिति भी ऐसी ही है। उन पर ऐसा आरोप लगना दुर्भाग्यपूर्ण है, किंतु यदि अदालत यह स्वीकार करे कि आरोप के संबंध में पुख्ता प्रमाण हैं और इस दृष्टि से देश की सहज न्यायिक प्रणाली को अपनाया जाना आवश्यक और कानून सम्मत है तो उसे अपना काम करने देना चाहिए। किसी भावावेश में आकर इस प्रक्रिया को बाधित नहीं करना चाहिए। इस स्थिति की सबसे दुःखद और दुर्भाग्यपूर्ण बात यह है कि इस प्रसंग को विश्व हिंदू परिषद के कुछ नेता हिंदुओं की मान-प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाकर धार्मिक रंगत देने का कार्य कर रहे हैं। एक नेता ने अपने वक्तव्य में कहा कि इस समय देश की 'सुपर प्राइम मिनिस्टर' सोनिया गांधी ईसाई हैं, इसलिए हिंदुओं के प्रति अपना द्वेष व्यक्त करने के लिए वे ऐसी कार्रवाई को प्रोत्साहित कर रही हैं। गनीमत है कि उन्होंने सीधे-सीधे यह आरोप प्रधानमंत्री डॉ. मनमोहन सिंह पर नहीं लगाया।

देश में उठे किसी प्रकार के अंतर्राष्ट्रीय, राष्ट्रीय, न्यायिक विवाद को धार्मिक/सांप्रदायिक सीमाओं में घेर कर देखना, एक गलत परंपरा को प्रोत्साहित करना है। विश्व हिंदू परिषद के नेता प्रायः इस प्रकार के प्रश्नों को 'हिंदू विरोधी द्वेषपूर्ण, हिंदुओं के लिए घातक' आदि कहकर ईसाइयों और मुसलमानों को कोसते रहे हैं और ऐसा कर समस्या के मूल चरित्र को भ्रष्ट करते रहते हैं। इसी ढंग की सोच देश के अल्पसंख्यक धार्मिक समुदाय के कुछ लोगों में भी है।

मैं ऐसे कुछ सिख नेताओं को जानता हूं जो सिख पंथ पर आए किसी भी संकट के लिए केंद्र की 'हिंदू सरकार' को दोषी मानते हैं। किसी भी समस्या को धार्मिक/सांप्रदायिक रंगत देने में दिल्ली की जामा मस्जिद के शाही इमाम सबसे आगे होते हैं। अमेरिका ने इराक पर आक्रमण किया तो उन्होंने इसे एक अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक और आर्थिक समस्या न मानकर इस्लाम के विरुद्ध ईसाइयों और यहूदियों का सामूहिक षड्यंत्र माना और इस संबंध में खूब प्रचार किया। अमेरिका में यदि इस्लामी आतंकवादी विश्व व्यापार केंद्र पर आक्रमण कर दें अथवा भारत की संसद को अपना निशाना बना लें तो भी वे इसे ईसाई, यहूदी, हिंदू शक्तियों के विरुद्ध इस्लामी प्रतिक्रिया मानते हैं। इस दृष्टि

से सर्वाधिक हास्यास्पद बात उस समय हुई, जब कुछ वर्ष पूर्व गुजरात के कुछ भागों में भयंकर भूकंप आया था। उस दुर्घटना के कारण सौराष्ट्र के कुछ भागों में बहुत बर्बादी हुई थी। उस समय एक इस्लामी धार्मिक नेता ने कहा था कि चूंकि भारत की हिंदू सरकार कश्मीर के मुसलमानों पर बहुत जुल्म कर रही है इसलिए इस भूकंप के जरिए अल्लाह ने उस बात का बदला लिया है।

कांची कामकोटि के शंकराचार्य की गिरफ्तारी के प्रकरण में मुझे भाजपा के एक नेता की यह टिप्पणी भी अच्छी नहीं लगी थी कि जामा मस्जिद के शाही इमाम के विरुद्ध कई आपराधिक मामले हैं, पर उन्हें अभी तक गिरफ्तार नहीं किया गया। केवल शंकराचार्य पर ही यह गाज क्यों गिरी? यदि शाही इमाम के विरुद्ध कोई आपराधिक मामला है तो उनके लिए भी पूरी कानूनी प्रक्रिया अपनाई जानी चाहिए, किंतु क्या एक गलत काम का आसरा लेकर किसी दूसरे गलत काम को न्यायोचित ठहराया जा सकता है? मैंने प्रारंभ में ही लिखा है कि शंकराचार्य के इस प्रकरण से देश में बहुत-सी गलत परंपराएं स्थापित हो जाएंगी। इस प्रश्न को गलत माध्यम बनाकर जिस प्रकार विश्व हिंदू परिषद के नेता, हिंदू संत समाज तथा अन्य धार्मिक संस्थाएं आंदोलनकारी रुख बना रही हैं और पूरे प्रश्न को न्यायिक प्रक्रिया से दूर करके धार्मिक/सांप्रदायिक रंगत दे रही है उससे अन्य धर्मों के आचार्यों के लिए एक उदाहरण बन जाएगा। यह भी दुर्भाग्यपूर्ण है कि स्वतंत्रता के पश्चात् से ही हम इस देश में स्वस्थ परंपराओं का विकास नहीं कर रहे हैं। इस अवधि में हमारी राजनीति निरंतर दूषित हुई है। उसमें भ्रष्टाचार और अपराधीकरण निरंतर बढ़ा है। जेलों में हिरासत में रखे गए अनेक व्यक्ति, जिनके विरुद्ध अनेक गंभीर आपराधिक केस चल रहे होते हैं, सींखचों के पीछे से चुनाव लड़ते हैं और जीत जाते हैं। उनमें से अनेक मंत्रिपद भी प्राप्त कर लेते हैं। देश की न्यायिक व्यवस्था की निरंतर अवहेलना हुई है और उसका अवमूल्यन भी हुआ है। जयेंद्र स्वामी का उदाहरण भी एक ऐसी अस्वस्थ परंपरा को जन्म दे रहा है।

कुछ मूलभूत प्रश्नों के प्रति देशव्यापी सहमति उभरनी चाहिए। उसमें सबसे पहली बात यह है कि कोई व्यक्ति धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक या आर्थिक दृष्टि से कितना ही महत्वपूर्ण हो, वह कानून से ऊपर नहीं है। इस दृष्टि से न्यायिक प्रक्रिया को अपने कर्तव्य का पूरी तरह निर्वाह करना चाहिए। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि यदि किसी प्रसंग में किसी धर्माचार्य, धार्मिक-स्थान, धार्मिक मान्यता की बात आती हो, उसे सदैव धार्मिक/सांप्रदायिक चश्मे से नहीं देखना चाहिए। उस संबंध में सहमति उभारनी चाहिए अथवा अदालती निर्णय को स्वीकार किया जाना चाहिए। मुझे यह भी लगता है कि देश के सभी राजनीतिक दलों को ऐसे प्रश्नों के प्रति बहुत सजगता बरतनी चाहिए। शंकराचार्य की गिरफ्तारी को लेकर प्रारंभ में भाजपा ने यह सतर्कता दिखाई थी और संयम भी बरता था। अब उसका इस आंदोलन में सक्रिय रूप से कूद पड़ना दुर्भाग्यपूर्ण है।

(दैनिक जागरण, 25-11-04)

दशम ग्रंथ में राम कथा

राम के चरित्र को जैसा गौरव और व्यापक महत्ता प्राप्त हुई उसके कारण संपूर्ण भारत और भारत के बाहर भी उसकी लोक-प्रसिद्धि हुई। वाल्मीकि ने राम के रूप में एक महामानव की सृष्टि की थी। आगे चलकर राम के चरित्र में नारायण का समावेश हो गया और राम का व्यक्तित्व अलौकिकता से समन्वित हो गया। सोलहवीं सदी में गोस्वामी तुलसी दास ने राम के प्रति अनन्य भक्ति प्रकट करते हुए उनके चरित्र का जो निर्माण किया, वह उनके चरित्र विकास का चरम कहा जा सकता है। भारत का कोई भी ऐसा प्रदेश नहीं है जिसमें राम-कथा अपने-अपने ढंग से न लिखी गई हो और इस देश में जन्मा ऐसा कोई धर्ममत नहीं है जिसमें राम-कथा का प्रचलन न हो। बौद्धों ने ईसा से कई शती पूर्व राम को बोधिसत्व मानकर राम काव्य को अपने जातक साहित्य में स्थान दिया। बौद्धों की भांति जैनियों ने भी राम-कथा को अपनाया और इसकी लोकप्रियता शताब्दियों तक बनी रही।

सिखों में राम का नाम दो रूपों में प्राप्त है। परंपरागत राम कथा का समावेश गुरु गोबिंद सिंह विरचित दशम ग्रंथ में है। दशम ग्रंथ में चंडी के अतिरिक्त विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र के अवतारों का भी वर्णन है। विष्णु के अवतारों में राम और कृष्ण की कथा अधिक विस्तार से कही गई है। राम कथा के संबंध में कवियों के दृष्टिकोण में पर्याप्त विविधता रही है। वाल्मीकि राम महामानव है और सर्वत्र मानवोचित व्यवहार करते हैं। आध्यात्म रामायण में राम के चरित्र का दैवीकरण हो जाता है। जिसका समग्र विकास 'रामचरित मानस' में दिखाई देता है। इस समय तक राम के प्रति भक्ति-भावना चारों ओर व्याप्त हो गई थीं।

गुरु गोबिंद सिंह इस अर्थ में रामभक्त नहीं थे। गुरु ग्रंथ साहब में राम का

नाम असंख्य बार आया है किंतु नानकमार्गी भक्ति निर्गुण और निराकार की भक्ति है। अवतारवाद में उसकी आस्था नहीं है और वह परब्रह्म को अयोनि मानती है, जो जन्म-मरण विहीन है। 'जपुजी' में गुरु नानक ने उसे अकाल पुरुष कहा है और यह भी कहा है कि वह 'अजूनी' (अयोनि) है।

नानकमार्गी भक्ति राम नाम का प्रचुर प्रयोग करती है। गुरु ग्रंथ साहब में परब्रह्म के लिए राम शब्द का सबसे अधिक प्रयोग हुआ है। वैसे उसमें वैष्णव, शैव और इस्लामी परंपरा के शब्द भी आए हैं। ये सभी शब्द अपने संप्रदायगत, पंथगत, मज़हबगत अर्थों से ऊपर उठकर एक 'अकाल पुरुष' का ही अर्थ दें, ऐसे संकेत गुरु ग्रंथ साहब में हैं। किंतु गुरु गोबिंद सिंह ने नानकमार्गी भक्ति परंपरा के दसवें उत्तराधिकारी का दायित्व लेने के साथ ही एक वहुत ही महत्तर कार्य भी अपने कंधों पर ले लिया था। जब उनका जन्म हुआ था, इस देश पर संकट के ऐसे बादल सघन हो गए थे कि ऐसा लगने लगा था कि इन बादलों से बरसने वाली अग्नि वर्षा इस देश की सभी धार्मिक और सांस्कृतिक परम्पराओं को जलाकर नष्ट कर देगी। वे समाज को ऐसे अत्याचारी शासन के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए तैयार करना चाहते थे, जो उस समय संसार का संभवतया सबसे अधिक शक्तिशाली शासन था और औरंगजेब जैसा असीम शक्ति का स्वामी उस शासन का नायक था। इस वृहत्तर कार्य को संपन्न करने के लिए उन्होंने कुछ सूत्र खोजे। उनमें एक महत्वपूर्ण सूत्र था संपूर्ण प्राचीन भारतीय साहित्य को इस प्रकार लोक भाषा में लाना जिससे लोगों में साहस, वीरता और बलिदान का भाव जागृत हो सके। संपूर्ण दशम ग्रंथ और उसमें संग्रहीत 'राम कथा' इस विशाल आयोजन की एक महत्वपूर्ण कड़ी थी। दशम ग्रंथ संगृहीत 'कृष्णावतार' में उन्होंने अपने मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए एक स्थान पर कहा है कि मैं भगवान के दशम स्कंध को लोकभाषा में अन्य किसी भावना से प्रेरित होकर नहीं, केवल आततायियों से धर्मयुद्ध करने की इच्छा से प्रेरित होकर लिख रहा हूं–''दशम कथा भागौत की भाषा करी बनाई। अउर वासना नाहि प्रभु-धरम जुद्ध को चाइ।''

सभी राम कथाओं में राम जन्म का मुख्य उद्‌देश्य दुष्टों का नाश और साधुजनों की रक्षा करने का है। गुरु गोबिंद सिंह तो उनके इसी रूप को विशेष रूप से उजागर करना चाहते थे। दशम ग्रंथ में संग्रहीत 'रामावतार' में वे कहते हैं–

राम परम पवित्र हैं रघुबंस के अवतार।
दुष्ट दैतन के संघारक संत प्रान अधार।।

वे योद्धा, दुष्टों और आततायियों को नष्ट करने के लिए प्रतिबद्ध राम को लोगों के सामने रखना चाहते थे। वे राम के अलौकिक दैवी रूप से इतने प्रभावित नहीं थे जितने उनके उस रूप से जो हाथ में धनुष-वाण लेकर शत्रुओं का संहार करता है। रावण से युद्ध करते हुए राम का रूप इस प्रकार का है, ''रोष भरे रणमो रघुनाथ कमान

लै बाण अनेक चलाए। बाज गजी गजराज घने रथराज बने करि रोष उड़ाए। जे दुख देह कटे सिय के हित ते रस आज प्रतच्छ दिखाए। राजीव लोचन राम कुमार घनौं रन घाल घनकर घाए।।"

'रामावतार' में कवि ने एक स्थान पर राम को 'श्री असुराररदन' नाम से संबोधित किया—

> श्री असुराररदन के करको जिन एक ही बान बिखै तन चाख्यो।
> भाज सक्यो न भिरयो हठ कै भट एक ही घाइ धरा पर राख्यो।।
> छेद सनाह सुबाहन कौ सर ओटन कोट करोटन नाख्यो।
> सुआर जुझार अपार हठी रन हार गिरे धर हाइन भाख्यो।।

राम कथा के माध्यम से लोगों में युद्ध-भाव जागृत हो सके यह गुरु गोबिंद सिंह का प्रयास था। 'रामावतार' में कुल 864 छंद हैं। इनमें से 400 से अधिक छंदों में केवल युद्धों का ओजस्वी वर्णन है। करुण, भक्ति, शृंगार आदि अन्य किसी रस पर कवि की दृष्टि नहीं टिकती। उनकी रुचि युद्ध चित्रण में है और जहां कहीं भी उन्हें यह सुयोग मिलता है, वह इसका पूरा लाभ उठाते हैं।

(दैनिक जागरण, 12-4-2005)

क्या धर्म में आस्था के लिए चमत्कार आवश्यक है?

इस संसार का चिंतन कितना भी वैज्ञानिक क्यों न हो जाए चमत्कारों और करामातों से हमारा विश्वास कम नहीं होता। हमारे पास संतान का अभाव हो, धन की कमी हो, हमें कोई असाध्य रोग लग गया हो या अन्य किसी प्रकार की व्याधि ने हमें घेर लिया हो हमारा ध्यान किसी चमत्कार की ओर जाता है। हम समझते हैं कि बाबा, संत, महात्मा, गुरु औलिया के चमत्कारी प्रभाव से हमारा संकट देखते-देखते दूर हो जाएगा।

चमत्कार क्या है? कोई ऐसी बात या घटना जो प्राकृतिक नियमों का भाग अथवा परिणाम न हो, जिसे तर्क द्वारा प्रमाणित न किया जा सके, जिसका आधार केवल (अंध) विश्वास होता है।

कुछ समय पूर्व मेरे पास हिंदी में एक पत्रिका आई—"यीशू पुकारता है।" इस पत्रिका में अनेक चामत्कारिक घटनाओं का उल्लेख है। एक लड़की जन्म से बहरी थी। वह ईसा मसीह की शरण में आई। उनकी कृपा से वह बोलने लग गई। एक लड़के को कुछ दिखाई नहीं देता था, ईसा की उस पर कृपा हुई और वह देखने लग गया। एक व्यक्ति गठिया से बुरी तरह पीड़ित था। वह चल फिर नहीं सकता था, ईसा के वरदान से वह दौड़ने लगा। इस प्रकार की अनेक चामत्कारिक घटनाओं का उल्लेख उस पत्रिका में है।

संसार का ऐसा कोई धर्म नहीं जिसमें इस प्रकार के चमत्कारों की बात न कही गई हो। इस्लाम में भी बहुत-सी करामातों की चर्चा होती है। ईद-उल-जुहा, जिसे आम तौर पर बकरीद कहा जाता है, में भेड़ों-बकरियों की कुर्बानी दी जाती है। इस प्रकार

की कुर्बानी की इस्लाम में बड़ी मान्यता है। यह माना जाता है कि हज़रत इब्राहीम ने अल्लाह को प्रसन्न करने के लिए अपने पुत्र इस्माइल की कुर्बानी देने का फैसला कर लिया। जब वे अपने पुत्र की गर्दन पर छुरी चलाने वाले थे गैब्रिअल नामक फरिश्ते ने इस्माइल को एक भेड़ में तब्दील कर दिया। इस प्रकार भेड़ की कुर्बानी हो गई, इस्माइल बच गया।

बड़े-बड़े औलियों और फकीरों की दरगाहों पर अगणित लोग जाकर चादरें चढ़ाते हैं और दुआएं मांगते हैं। उनका विश्वास है कि ऐसे औलिए उनकी मुरादें पूरी कर सकते हैं। बादशाह अकबर का अजमेर शरीफ जाकर ख़्वाजा मोइउद्दीन चिश्ती की दरगाह से अपने पुत्र सलीम की प्राप्ति की बात इतिहास प्रसिद्ध है। संतान की प्राप्ति के लिए आज भी हज़ारों लोग इस दरगाह की ज़ियारत करते हैं। बहुत-से मुसलमानों का यह विश्वास भी है कि कुरान मजीद में अनेक ऐसी आयतें हैं जिनको पढ़कर झाड़-फूंक करने से बड़े-बड़े रोग दूर हो जाते हैं।

इस्लाम में यह विश्वास है कि पैगंबरों को ईश्वरीय शक्ति प्राप्त होती हैं जिससे वे किसी भी प्रकार का चमत्कार कर सकते हैं।

हिंदू धर्म की मान्यताएं तो चमत्कारों से भरी हुई हैं। वेदों और उपनिषदों में चमत्कारों का वर्णन नहीं मिलता किंतु पुराणों में चमत्कारों का अभाव नहीं है। मार्कण्डेय पुराण की दुर्गा सप्तशती में काली द्वारा अनेक राक्षसों के वध में चमत्कार भरे हुए हैं। रामायण और महाभारत जैसे महाकाव्यों के मूल स्वरूप में चमत्कारों की अधिक चर्चा नहीं थी किंतु उनके बदलते स्वरूप में चमत्कारों का प्रवेश होता गया।

सिखों में करामात या चमत्कार को कहर (पीड़ा या दुःख) कहा गया और चमत्कारों पर विश्वास न करने को कहा गया। गुरु तेग़बहादुर को जब बंदी बनाकर दिल्ली लाया गया, तो उनके सामने तीन बातें रखी गईं—(1) धर्म परिवर्तन कर लें, (2) या कोई चमत्कार दिखाएं, (3) या मृत्यु दंड स्वीकार करें। गुरु तेग़बहादुर का उत्तर था—बलात् धर्म परिवर्तन मुझे स्वीकार नहीं है। चमत्कार दिखाना प्रकृति के नियम में बाधा डालना है। तीसरी बात मृत्युदंड—मुझे स्वीकार है।

सिख चिंतन चमत्कार के विरुद्ध है, फिर भी असंख्य चमत्कार भरी कथाएं सिखों में प्रचलित हैं। गुरु नानक देव की जन्म साखियों उनसे संबंधित कितने ही चमत्कारों से भरी हुई हैं।

प्रकृति के अपने कुछ नियम हैं। अग्नि का धर्म है जलाना। कोई भी व्यक्ति या वस्तु जब आग में डाली जाएगी तो वह अवश्य जलेगी, बशर्ते उसे किसी ऐसे रसायन युक्त वस्त्र से न लपेटा गया हो जिस पर आग का प्रभाव न होता हो। इसी प्रकार जल का अपना धर्म है, ऊंचाई और नीचाई का अपना धर्म है।

बहुत-सी अलौकिक समझी जाने वाली चीज़ों को विज्ञान ने लौकिक सिद्ध कर दिया है। ज्वाला देवी से निरंतर निकलने वाली अग्नि को सैंकड़ों वर्षों तक अलौकिक

समझा जाता रहा था। वैज्ञानिकों ने खोज की तो पता लगा कि उसके नीचे गंधक है जो एक प्रक्रिया से निरंतर जलती रहती है।

अलौकिकता या चमत्कार व्यक्ति को दुर्बल बनाते हैं। अपने सभी कष्टों और संकटों में वह सोचने लगता है कि कोई चमत्कार होगा और सब कुछ ठीक हो जाएगा। जब महमूद ग़जनवी अपनी सेना लेकर भगवान सोमनाथ के मंदिर की ओर बढ़ रहा था तो मंदिर के बहुत से पुजारियों का यह विश्वास था कि एक चमत्कार होगा, शिव अपना तीसरा नेत्र खोलेंगे और आक्रमणकारी यवन अपनी सेना सहित भस्म हो जाएगा। किंतु उस समय हुआ क्या था, हम सभी जानते हैं। यवन शिवलिंग को भंग करके और अपार धन राशि लूटकर ग़जनी वापस लौट गया था।

चमत्कारों की कथाएं बहुत विचित्र भी हैं और चमकृत करने वाली भी। संसार के अनेक धर्मों और संप्रदायों में यह विश्वास है कि उनका देव पुरुष अथवा प्रवर्तक उस प्रक्रिया से जन्म लेकर धरती पर अवतरित नहीं हुआ जैसे मनुष्य का जन्म होता है। वह एक दैवी पुरुष के रूप में संसार के प्राणियों का कल्याण करने के लिए सीधा धरती पर आया। ईसा मसीह और मदर मेरी की कथा ऐसी ही कही जाती है। संत कबीर, दादू दयाल और स्वामी रामकृष्ण परमहंस के अधिसंख्य अनुयायी भी ऐसा ही मानते हैं।

इसी प्रकार अनेक गुरुओं-संतों-महात्माओं के देहावसान को लेकर ऐसी कथाएं प्रचलित हैं। उनका किसी प्रकार का सांसारिक अंतिम संस्कार नहीं हुआ, वे सशरीर स्वर्गारोहण कर गए।

चमत्कारपूर्ण घटनाओं में भी काफी होड़ है। किसी धर्म या संप्रदाय का प्रवर्तक चाहे अपने नाम के साथ चमत्कारों को न जोड़ना चाहता हो, उसके अनुयायी ऐसी बातें उसके साथ अवश्य जोड़ देते हैं। अनुयायियों को लगता है कि यदि अमुक धर्म अथवा संप्रदाय का प्रवर्तक चमत्कार कर सकता है तो मेरा क्यों नहीं? इस कारण भी अनेक चामत्कारिक घटनाएं उनके नाम के साथ जुड़ जाती हैं।

अपने देश में इस समय ऐसे बाबाओं, संतों और औलियों की बाढ़ आई हुई है जो यह दावा करते हैं कि उनके पास सभी प्रकार की सिद्धियां हैं और वे पलक झपकते ही व्यक्ति की सभी समस्याओं का निदान निकाल सकते हैं। ऐसे बाबा लोग आजकल अपनी अलौकिक शक्तियों का विज्ञापन भी बहुत करते हैं।

कुछ वर्ष पूर्व मुझे पंजाब के एक डेरे में जाने का अवसर मिला था। चमत्कारी शक्तियों के लिए इस डेरे की बड़ी प्रसिद्धि है। प्रतिवर्ष होली के अवसर पर यहां लाख-दो लाख की भीड़ जमा होती है।

इस डेरे में दो प्रकार के लोग आते हैं। एक वे जिन्हें यह लगता है कि किसी शत्रु ने उन पर जादू-टोना कर दिया है जिसके कारण वह किसी खास बीमारी से पीड़ित हो गया है। दूसरे वे जो निस्संतान होते हैं। जादू-टोने को दूर करने के लिए यहां कुछ

लोग होते हैं जिन्हें मसंद कहा जाता है। ये मसंद भोले-भाले ग्रामीण लोगों को मानसिक दृष्टि से वशीभूत करते हैं, फिर उनके अंदर से भूत-प्रेत निकालने का दावा करते हैं।

सबसे बड़ा प्रपंच निस्संतानों को लेकर होता है। होली समारोह के अंतिम दिन यह घोषणा की जाती है कि यहां के बाबा जी ने इस वर्ष अमुक संख्या में लड़के और अमुक संख्या में लड़कियों को देने का निश्चय किया है। दिए जाने वाले बच्चों में लड़कों की संख्या कम और लड़कियों की ज़्यादा होती है। फिर यह घोषणा की जाती है कि जिन्हें लड़का चाहिए वे इतना धन (कुछ अधिक धन राशि) डेरे के मुख्य प्रबंधक के पास जमा करवाकर अपने नाम की अरदास करवा ले। जिन्हें लड़की चाहिए वे इतनी धन राशि (उससे कम धन राशि) जमा करके अपने नाम की अरदास करवा लें।

यहां के बाबा जो अपने पास अलौकिक शक्ति होने का दावा करते हैं और इस प्रकार लड़के और लड़कियों के बेचने का व्यवसाय करते हैं।

ऐसे बाबाओं की इस देश में कमी नहीं है। चमत्कार और अलौकिकता के नाम पर इस देश में क्या कुछ नहीं होता?

दक्षिण भारत के एक बाबा चमत्कार प्रदर्शन के लिए बहुत प्रसिद्ध हैं। उनकी लोकप्रियता भी अद्भुत है। बहुत से पढ़े-लिखे लोग उनके शिष्य हैं। कहा जाता है कि वे अपने लंबे चौगे में करंसी नोटों की गड्डियां निकाल देते हैं, जिसे घड़ी चाहिए उसे कीमती सोने की घड़ी दे देते हैं, जिसे अपनी भूति देते हैं वह मालामाल हो जाता है।

कई वर्ष पहले की बात है। दक्षिण के ही एक वैज्ञानिक डॉ. कयूर ने उन्हें चुनौती दी कि वे उनके सम्मुख कोई चमत्कार करके दिखाएं, वे बाबा को एक लाख रुपए नकद देंगे।

किसी भी प्रकार का चमत्कार अनैसर्गिक है और अवैज्ञानिक भी है। सबसे बड़ा चमत्कार तो मनुष्य स्वयं है। मनुष्य के अनवरत श्रम ने संसार का भूगोल इतना व्यापक बना दिया। उसका द्रुतगति से आकाश में उड़ना और संचार माध्यमों से संसार के किसी भी भाग में बैठे हुए व्यक्ति से प्रत्यक्ष बातचीत करना किसी चमत्कार से कम है।

मनुष्य एक दुर्बल प्राणी है। वह अनेक प्रकार के संकटों से घिरा रहता है। धर्म और ईश्वर में आस्था उसे बल प्रदान करती है। किंतु चमत्कार का ढोंग करने वाले कुछ स्वार्थी लोग मनुष्य की दुर्बलता और सीमाओं का लाभ उठाते हुए उन्हें अपने मोहपाश में जकड़कर लाभ उठाते हैं।

धर्म का चमत्कार से कोई सीधा संबंध नहीं है। धर्म व्यक्ति को सबल बनाता है, जबकि चमत्कार उसे दुर्बल बनाते हैं। जैसे-जैसे मनुष्य में अपनी शक्ति, अपनी योग्यता और अपनी सक्रियता में विश्वास बढ़ेगा, वह तथा कथित चमत्कारी बाबाओं, ज्योतिषियों और तांत्रिकों के मायाजाल से मुक्ति प्राप्त करता जाएगा।

(दैनिक जागरण, 6-10-05)

बड़ी श्रद्धा से स्मरण किया जाता है शेख फरीद को

इस देश की धार्मिक और साहित्यिक परिवेश में सूफी संतों की बड़ी पुष्ट परंपरा है। इस्लाम के रहस्यवादी कवि सूफी नाम से विख्यात हैं। ये ऐसे साधक थे जो विरक्त संसार त्यागी, परमात्मा के प्रेम में बेसुधा रहते थे। इनके दर्शन को 'तसव्वुफ' कहा जाता है।

इस दर्शन का विकास ईरान में हुआ। यह भी कहा जाता है कि तसव्वुफ की आत्मा आर्य है और उसकी देह इस्लामी है। अरबी इस्लाम का प्रवेश जब ईरान में हुआ और युद्ध में पराजित हो जाने के पश्चात् वहां के लोगों ने इस्लाम को स्वीकार कर लिया तो भी वहां के विद्वानों की मानसिकता में आर्य प्रभाव जीवित रहा। उन्होंने प्राचीन ईरानी मान्यताओं का इस्लाम की मान्यताओं से समन्वय कर लिया। इस समन्वित मान्यता से तसव्वुफ के विचार का विकास हुआ। ईरान से ही बारहवीं शती में इस विचार के साधकों का भारत में प्रवेश हुआ।

भारत के चार प्रमुख सूफी संप्रदाय हैं—चिश्तिया, कादरिया, सहरवदिया और नक्शवंदिया। इस देश में चिश्ती सम्प्रदाय की लोकप्रियता सबसे अधिक है। यहाँ इस सम्प्रदाय का प्रवेश ख्वाजा मुईनुददीन चिश्ती के साथ हुआ। अजमेर में इनकी दरगाह पर विभिन्न देशों से लाखों मुसलमान अपनी श्रद्धा अर्पित करने आते हैं।

सूफी साधकों की भक्ति का मुख्य आधार प्रेम है। इसीलिए इन कवियों की रचनाओं को प्रेमाश्रयी-भक्तिधारा कहा जाता है। इस शाखा के सबसे प्रमुख कवि मलिक मुहम्मद जायसी हैं। इसी शाखा के कुतबन, मंझन, उस्मान, कासिमशाह और नूर मुहम्मद के नाम आते हैं।

इन सूफी संतों ने भारतीय जीवन, यहां की भाषा, यहां की लोक कथाओं के साथ पूरी तरह तादात्म्य स्थापित किया। यहां के आख्यानों को इन कवियों ने अपने रंग में रंगा। सूफी साधक बहुत उदार थे और सामान्य जनता से इनका घनिष्ठ संबंध था। इसी कारण सामान्य हिंदू जनता में भी ये बहुत लोकप्रिय थे।

इन कवियों ने अपनी बात के लिए लौकिक कहानियों को अपना आधार बनाया था। ये आध्यात्मिक प्रेम लौकिक प्रेम को सहायक मानते थे। एक सूफी कवि ने लिखा था—इस संसार में तुम सैकड़ों उपाय कर सकते हो लेकिन एकमात्र प्रेम ही ऐसा है जो तुम्हारे लिए मुक्ति के द्वार खोलता है।

सूफी संतों और उनकी रचनाओं का प्रभाव हिंदी, पंजाबी, सिंधी और कश्मीरी भाषाओं पर अधिक है। हिंदी में इन्होंने प्रेमाख्यान काव्य लिखे, किंतु अन्य भाषाओं में इनकी रचनाएं प्रबन्धात्मक न होकर स्फुट अधिक है।

शेख फरीद को पंजाबी भाषा का आदि कवि कहा जाता है। उनका पूरा नाम फरीदुद्दीन मसूद था। जन्म पश्चिमी पंजाब के मुलतान जिले के गांव खोतवाल में हुआ था।

शेख फरीद ने इस्लामी विद्या चार वर्ष की आयु से प्रारंभ की। शीघ्र ही उन्हें संपूर्ण कुरान शरीफ, कंठस्थ हो गया। सोलह वर्ष की आयु में वे अपने माता-पिता के साथ मक्का शरीफ जाकर हज भी कर आए।

उन्होंने दिल्ली के ख़्वाजा कुतबुद्दीन बख्तिआर काकी, जो सूफियों के चिश्ती सिलसिले के विद्वान थे, का शिष्यत्व ग्रहण कर लिया कुछ समय तक वे हांसी में रहे। अपने मुरशिद (गुरु) की मृत्यु के पश्चात् वे पाक पट्टन में आ गए।

शेख फरीद अरबी-फारसी भाषाओं के विद्वान थे। इस्लामी देशों की उन्होंने व्यापक यात्राएं की थीं। किंतु अपनी काव्य रचना के लिए उन्होंने (लहिंदी) पंजाबी का प्रयोग किया। वे जानते थे कि अपने मत के प्रचार के लिए उन्हें जन भाषा का उपयोग करना चाहिए।

शेख फरीद के 4 शब्द (पद) और 118 श्लोक (दोहे) गुरु ग्रंथ साहिब में संगृहीत हैं। उनकी रचनाओं को पढ़कर लगता है कि उन्हें भारतीय धार्मिक मान्यताओं का अच्छा परिचय था। उन्हें ईसाई विचारधारा का भी ज्ञान था और वे उससे प्रभावित भी थे। इस तथ्य को प्रमाणित करने के लिए, ईसा मसीह के सुप्रसिद्ध कथन कि यदि कोई आपके एक गाल पर थप्पड़ मारे तो उसके सामने अपना दूसरा गाल कर दो, शेख फरीद के इस कथन को उद्धृत किया जाता है—

फरीदा जे ते मारनि मुकीआं तिना न मारे धुम्मि
आपनड़े घरि जाईऐ, पैर तिना के चुम्मि।।

(हे फरीद, यदि कोई तुम्हें मुक्के मारे तो उलटकर उसे मत मारो। इसके उत्तर में तुम उसके घर जाकर उसके चरणों को चूमो)

शेख फरीद की समय गुरु नानक से दो सौ वर्ष पूर्व का है। जैसी परिमार्जित उनकी भाषा है, उसे देखकर कुछ विद्वान यह मत व्यक्त करते हैं कि गुरु ग्रंथ साहब में संग्रहीत उनकी रचनाएं उनकी गद्दी के बारहवें उत्तराधिकारी शेख इब्राहीम की हैं जो गुरु नानक के समकालीन थे और जिनसे गुरु नानक को अनेक बार भेंट हुई थी। किंतु अधिसंख्य विद्वान इसे शेख फरीद की ही रचना मानते हैं।

शेख फरीद का रचनाओं में हिंदू विश्वास और इस्लामी धारणाओं का मिलाजुला रूप हमारे सामने आता है। यह संसार और यह मानव देह नश्वर है, मानव जीवन में किए गए कर्मों से ईश्वर की प्राप्ति होती है, उसके लिए इंद्रिय निग्रह आवश्यक है। सदैव सत्य और धर्म का सहारा लेना चाहिए और गुरु द्वारा बताए मार्ग पर एक निष्ठावान शिष्य की तरह चलना चाहिए, संतजनों के मार्ग का अनुगमन करना चाहिए। माया का मोह मनुष्य जीवन में अनेक संकट लाता है। संस्कार चक्र अनवरत चलता रहता है, इस संसार से वे बड़े-बड़े लोग भी चले गए जिन्हें अपने अगुवा होने का अभियान था। अपने कर्मों का फल जीव को भुगतना पड़ता है।

ये ऐसी बातें हैं जिन्हें प्राचीन काल से भारतीय ऋषि-मुनि अवतार, आचार्य और संत-भक्त कहते आए हैं। किसी भी संत की वाणी में ऐसे उदगार प्राप्त हो जाएंगे।

शेख फरीद मुसलमान थे, सूफी औलिया थे, इस्लामी मान्यताओं के अध्येता और प्रचारक थे। मृत्यु के बाद कब्र में दफनाया जाता है, मनुष्य को जीवन केवल एक बार ही प्राप्त होता है। (इस्लाम का पुनर्जन्म में विश्वास नहीं है) और कयामत के दिन अल्लाह के सम्मुख जीव का कर्मों के अनुसार फैसला होना-इस्लाम की आस्थाएं हैं।

गुरु ग्रंथ साहब में संगृहीत शेख फरीद के 118 श्लोकों में उसी विचारधारा का विस्तार है जो उनके 4 पदों में व्यक्त हुई हैं। प्रत्येक श्लोक अपने आप में एक पूर्ण इकाई है और एक विशिष्ट विचार को व्यक्त करती है। उदाहरण के लिए नीचे उद्धृत श्लोक में वे कहते हैं--में समझता था कि दुःख केवल मुझे है, किंतु सारा संसार ही दुखी हैं। मैंने ऊंचे चढ़कर देखा, हर घर में यही (दुःख) की आग लगी हुई है--

फरीदा मैं जानिआ दुख मुझ कू दुख समाइए बगि।
ऊंचे चढ़ के देखिया ता घरि-घरि यही अगि।।

इसी प्रकार एक श्लोक में उन्होंने प्रिय से विरह व्यथा का चित्रण किया है--विरह को विरह मत कहो, विरह तो सुल्तान (अति श्रेष्ठ) है। जिस तन में अपने प्रिय का विरह नहीं उत्पन्न होता, उसे मसान की तरह समझाना चाहिए--

विरहा-बिरहा आखीऐ, बिरहा मू सुलतान।।
फरीदा जितु तनि बिरहु ने उपजै, सो तनु जाणु मसान।।

बिरह की महत्ता पर ऐसी अभिव्यक्तियां अनेक संतों की रचनाओं में मिल जाएंगी। लगभग इसी शब्दावली में संत कबीर की एक साखी है–

बिरहा बुरहा जिनि कहौ, बिरहा है सुलतान।।
जिस घरि बिरह न संचरै, सो घट सदा मसान।।

स्त्री रूपी जीव की कामना है कि उसे पति रूपी प्रभु की प्राप्ति हो। जीवात्मा प्रश्न करती है कि मैं कौन-से शब्द बोलूं, कौन-से गुण धारण करूं कौन-सा मणि समान मंत्र पढ़ूं, कौन-सा वेश धारण करूं, जिससे प्रभु रूपी पति मेरे वश हो सके–

कवणु सु अक्खरू गुणु, कवणु सु मणीआ मंतु।।
कवणु सु वेसी हउ करी, जितु वसि आवै कंतु।।

इस जिज्ञासा का उत्तर भी वे स्वयं देते हैं–हे जीवात्मा रूपी बहन, नम्रता वह शब्द है, सहनशीलता वह गुण है, जिह्वा मणि समान मंत्र है। यदि इन तीन गुणों को अपना वेश बना लो तो प्रभु रूपी पति तुम्हारे वश में आ जाएगा–

निवण सु अखरू गुण जिहवा मणीआं मैतु।।
ए त्रै मैणो वेत करि ता वस आवी कंतु।।

शेख फरीद की रचनाओं में इस्लामी मान्यताओं और शरीयत के प्रति पूरी निष्ठा व्यक्त की गई है। नित्य नमाज़ न पढ़ने वाले मुसलमान को ताड़ना देते हुए वे कहते हैं–जो व्यक्ति नमाज़ नहीं पढ़ते, पांच वक्त मस्जिद में नहीं आते, वे ठीक काम नहीं करते। वे तो कुत्तों के समान हैं–

फरीदा बेनिमाजा कुतिया, एह ना भी रीति।।
कब ही चलि नआइआ, पंजे वख़त मसीत।।

ऐसे बेनमाज़ी को प्रेरित करते हुए वे कहते हैं–उठो, मुंह-हाथ धोओ और सुबह को नमाज़ पढ़ो। जो सिर सांई के आगे नहीं झुकता उसका तो कट जाना ही अच्छा है–

उठु फरीदा, ऊजू साजि सुबह निवाज गुजारि।।
जो सिर साई न निवै सो सिर कपि उतारि।।

शेख फरीद को उनकी मधुर उपासना शैली के कारण शेख फरीद 'शकरगंज' कहा जाता है। आदर और श्रद्धा के कारण उन्हें बाबा फरीद कहकर स्मरण किया जाता है।

(दैनिक जागरण, 3-11-05)

सर्वधर्म समभाव की अनूठी पहल

इस वर्ष गुरु नानक देव के जन्म-उत्सव के समय में इलाहाबाद में था। वहां की सिख संगत द्वारा उस प्रकाशोत्सव को मनाने के लिए आयोजित कार्यक्रम में दोपहर से पहले का समय शब्द-कीर्तन और व्याख्यानों का था। उसी स्थान पर शाम को एक विचार गोष्ठी आयोजित की गई थी। विषय था—'मानवता के उत्थान में धर्म की भूमिका।' इस गोष्ठी में नगर के सभी धर्मों के प्रतिनिधि आमंत्रित थे और वहां के गण्यमान्य नागरिकों को भी निमंत्रित किया गया था। यह आयोजन बहुत विशिष्ट था। महापुरुषों की जयंतियां मनाते समय विभिन्न धर्मों और वर्गों के लोगों की यदि ऐसी संगोष्ठियां की जाएं तो समाज में आपसी समझ और सद्भाव उभारने में महत्वपूर्ण योगदान किया जा सकता है। गोष्ठी में इस्लाम का प्रतिनिधित्व कर रही थी डॉ. केजी नसरीन, जो इलाहाबाद विश्वविद्यालय में संस्कृत विभाग की अध्यक्ष हैं। इसी क्षेत्र के ईसाई बिशप इसीडोर फर्नांडीज, पारसी महिला मेहर ढीडी तथा डॉ. आनंद प्रकाश पांडेय, जगदीश खत्री, गुरुमत विचार केंद्र के कुलदीप सिंह भी थे।

उपरोक्त संगोष्ठी की अध्यक्षता महाप्रबंधक रेल विद्युतीकरण बुध प्रकाश कर रहे थे। मुझे भी इस विचार गोष्ठी में वक्ता होने का सुयोग प्राप्त हुआ। डॉ. आनंद प्रकाश पांडेय ने बड़ी विद्वता से सभी शास्त्रों-स्मृतियों से उद्धृत करते हुए बताया कि सभी हिंदी शास्त्र मानव मात्र के कल्याण की बात करते हैं। मनुष्य मात्र की समता पर उनका आग्रह है। डॉ. नसरीन ने इस्लाम की विशेषताओं पर प्रकाश डाला। उनका विशेष आग्रह इस बात पर था कि इस्लाम में महिलाओं को पुरुषों के बराबर अधिकार दिए गए हैं। मोहम्मद साहब ने नारी को सम्मान दिया और पिता की संपत्ति में लड़कों के समान ही भागीदार बनाया। व्यक्ति अपनी आजीविका सही मार्ग से करें और उसमें से एक भाग जकात के रूप में गरीबों और जरूरतमंदों को दें, इसे अनिवार्य कर दिया।

बिशप फर्नांडीज ने ईसा मसीह के मानवीय संदेश की विस्तृत चर्चा की। वे सभी मनुष्यों को पापों से मुक्त करने आए थे। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वे सूली पर चढ़े थे। मैंने पहली बार पारसी धर्म के संबंध में ऐसा व्याख्यान श्रीमती मेहर ढोडी से सुना। पारसियों में कोई व्यक्ति अपना धर्म परिवर्तित करके प्रवेश नहीं कर सकता। पारसी मूलरूप से पारस (फारस) जिसे अब ईरान कहा जाता है, के रहने वाले थे। इनके धर्म को जोरोस्त्रीयन धर्म कहा जाता है और धर्म ग्रंथ का नाम 'अवेस्ता' है। अरबों द्वारा ईरान पर किए गए आक्रमण (सातवीं शती) और इस्लाम के प्रचार से भयभीत होकर जो लोग अपनी भूमि छोड़कर भागे वे भारत के पश्चिमी तट पर आकर बस गए।

सभी धर्मों के प्रतिनिधि कहते हैं कि उनका धर्म संपूर्ण मानवता के कल्याण की बात करता है। वह सभी लोगों की धार्मिक स्वतंत्रता का पक्षधर है, इसलिए धर्म परिवर्तन में किसी प्रकार की जोर-जबरदस्ती अथवा लोभ-लालच को सही नहीं मानता। उनके धर्म ग्रंथों में आया संदेश किसी एक धर्म, वर्ग, लिंग, रंग के लिए नहीं है। वह पूरी मानवता के लिए है। ये कितनी अच्छी लगने वाली बातें हैं। यदि सचमुच ऐसा ही है तो संसार के सभी धर्मों में इतना मतभेद क्यों व्याप्त है? सच यह है कि मानव इतिहास में प्राकृतिक आपदाओं, महामारियों, राज्य-विस्तार के लिए किए गए व्यापक युद्धों में इतना नरसंहार नहीं हुआ जितना धर्म के नाम पर हुआ। मध्य युग का सारा इतिहास धर्म के नाम पर हुए अत्याचारों, हत्याओं, लूट खसोट, आगजनी आदि के क्रूर कर्मों से भरा हुआ है। क्या संसार के सभी धर्मों में कथनी और करनी में बहुत अंतर है? क्या धर्म ग्रंथों में लिखी बातें और उनकी व्याख्याएं एक-दूसरे से मेल नहीं खातीं? आखिर संकट कहां है?

मैं समझता हूं कि इस संकट को समझने और उसमें से कुछ रास्ता निकालने का सबसे सार्थक प्रयास उन्नीसवीं शती के अंतिम वर्षों में शिकागो (अमेरिका) में आयोजित धर्म संसद के माध्यम से हुआ था। यह एक प्रकार से संसार के किसी भी भाग में आयोजित होने वाला पहला सर्वधर्म सम्मेलन था। इसमें संसार के सभी धर्मों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे। इसी सम्मेलन से स्वामी विवेकानंद को व्यापक ख्याति मिली थी। इसमें उन्होंने हिंदू धर्म का प्रतिनिधित्व किया था। संसार के कुछ धर्मों में यह मान्यता व्याप्त है कि उनका धर्म, उनका मार्ग, उनकी पवित्र पुस्तक, उनका प्रवर्तक ही मनुष्य के कल्याण का एकमात्र साधन है। एक दिन ऐसा आएगा जब संसार के सभी प्राणी उस मार्ग को ग्रहण करेंगे और सर्वत्र उसकी विजय पताका फहराएंगी।

शिकागो-सम्मेलन में स्वामी विवेकानंद ने इस विचार का खंडन किया था। 27 सितंबर सन् 1893 को जब वह उस सम्मेलन से विदा ले रहे थे तो उन्होंने कहा था, "मत मतांतर की एकता के विषय में बहुत कुछ कहा जा चुका है। यदि कोई महाशय यह आशा करें कि एक ही मत अन्य मतों का ध्वंस करके विजयी बने जिससे एकता हो तो मैं उन्हें यही उत्तर दूंगा कि भाई, तुम्हारी यह आशा असंभव है।" इसी भाषण

में उन्होंने कहा था, "इस धर्म महामंडल ने संसार के लिए यदि कोई घोषणा की है तो वह यह कि शुद्धता, पवित्रता तथा दयापरता किसी बिशेष संप्रदाय की संपत्ति नहीं है।"

विवेकानंद ने अपनी बात को आगे ब्रढ़ाते हुए कहा था, "यदि कोई अपनी ही रक्षा तथा दूसरे के विनाश की कल्पना करे तो उसके विषय में मैं हृदय से खेद प्रकट करता हूं और उसे बताए देता हूं कि उसकी अनिच्छा होते हुए भी प्रत्येक मत की पताका पर शीघ्र ही यही लिखा जाएगा—परस्पर सहायक हो, विरोध न करो, रक्षक हो, विनाशकारी न बनो, एकता तथा शांति रहे, विभेद और कलह दूर हो।"

112 वर्ष पूर्व अमेरिका की धरती पर संसार के पहले सर्व-धर्म विचार-विमर्श और संवाद का मंच स्थापित हुआ। संसार में अनेक विचार-प्रणालियों और मतवादों के मध्य झगड़े और विवाद का कारण उनकी संवादहीनता है। हमारे देश में भी विरोधी विचारों के मध्य शास्त्रार्थ अधिक होता था, संवाद बहुत कम। शास्त्रार्थ में विरोधी मत रखने वाले को समझने का प्रयास नहीं होता, उससे अपना मत मनवाने की बहस अधिक होती है। शास्त्रार्थ में सहिष्णुता कम, हठवादिता अधिक होती है। गुरु नानक ने अपने जीवन के 22 वर्ष देश-विदेश की यात्रा करते हुए व्यतीत किए। अपनी यात्राओं में अनेक धर्मों के तीर्थ स्थानों पर जाकर उन्होंने पंडितों, साधुओं, संतों, योगियों, सूफियों, फकीरों, काजियों, हाजियों—यहां तक कि दुष्टों ठगों तक से बातचीत की। उनकी बातें सुनीं, उन्हें अपने विचार बताए। जिन संतों-भक्तों की वाणी उन्हें अच्छी लगी, उसे उन्होंने अपने पास लिख लिया और सुरक्षित रखा। आगे चलकर इसी संचित कोष को गुरु अर्जुन देव ने गुरु ग्रंथ साहब में संकलित कर दिया। आज सारा संसार संवाद की ओर बढ़ रहा है। संसार के छोटे-बड़े देशों ने अपने आपको संयुक्त राष्ट्र संघ के रूप में गठित किया है। मेरा मत है कि शिकागो के सर्व-धर्म सम्मेलन के पश्चात् संसार में धार्मिक विद्वेष और विग्रहों में कमी आई है।

यह सच है कि इस देश के विभाजन के समय धार्मिक आधार पर ही लाखों लोगों की हत्या हुई थी और असंख्य लोगों का विस्थापन हुआ था, किंतु हम सभी जानते हैं कि उसके पीछे राजसत्ता की लालसा, धर्म विस्तार की इच्छा से कहीं अधिक बड़ी थी। शिकागो सर्व-धर्म सम्मेलन के पश्चात् संसार भर में ऐसे सम्मेलन आयोजित करने के प्रति रुचि बढ़ी है। 15 नवंबर को इलाहाबाद में हुई विचार संगोष्ठी इस दिशा में एक बड़ा सार्थक प्रयास था। जितनी बड़ी संख्या में विभिन्न समुदायों के लोगों ने इसमें भाग लिया था उससे भी इस दिशा में जनरुचि का आभास मिलता है। शिकागो सम्मेलन की विदाई के अवसर पर स्वामी विवेकानंद ने उस आयोजन के प्रबंधों के प्रति धन्यवाद ज्ञापित करते हुए कहा था, "उन महानुभावों को मेरा धन्यवाद जिनके विशाल हृदय तथा सत्य की प्रीति में यह कल्पना पहले-पहल उत्पन्न हुई और फिर उन्होंने उसे पूरा कर दिखाया।" इलाहाबाद के इस आयोजन के प्रेरणास्रोत इसी नगर के ज्ञानी लाल सिंह थे। उन्होंने वहां यह घोषणा की कि प्रति वर्ष गुरु नानक देव के प्रकाशोत्सव पर ऐसी ही विचार-गोष्ठी का आयोजन किया जाएगा।

(दैनिक जागरण, 24-11-05)

युद्ध दर्शन के नायक

बैसाखी पंजाब के जनजीवन से जुड़ा हुआ ऐसा त्योहार है जिसका सीधा संबंध कृषि से है। इसलिए यह सभी वर्गों, जातियों और धर्मों के मध्य बड़े उत्साह से मनाया जाता है, किंतु सिखों के लिए इसका विशेष महत्व है। तीन सौ सात वर्ष पूर्व इसी दिन गुरु गोबिंद सिंह जी ने खालसा पंथ का सृजन किया था। सिख आंदोलन इससे दो सौ वर्ष पूर्व गुरु नानक देव द्वारा प्रारंभ किया जा चुका था। यह आंदोलन अपने मूल रूप में भक्तिपरक तो था, किंतु यह अपने अंदर तत्कालीन राजनीतिक, सांस्कृतिक और सामाजिक सरोकारों को भी समोए हुए था। एक ओर यह एकेश्वरवाद से जुड़ा हुआ था, दूसरी ओर मानवीय समता व सामाजिक समरसता के साथ गहरा सरोकार व्यक्त करता था। वह राजनीतिक सत्ता के अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध लोगों को जागृत करने वाला भी था।

गुरु गोबिंद सिंह से करीब सौ पूर्व इस आंदोलन का टकराव अपने समय की सत्ता से प्रारंभ हो गया था। इसी कारण पांचवें गुरु, गुरु अर्जुन देव को सन् 1606 में मुगल बादशाह जहांगीर द्वारा और नौवें गुरु, गुरु तेग़बहादुर को सन् 1675 में औरंगजेब द्वारा शहीद किया गया। छठे गुरु, गुरु हरिगोविंद ने शाहजहां की सेना के साथ सशस्त्र टक्कर ली थी। दसवें गुरु, गुरु गोबिंद सिंह ने अनुभव किया कि दो सौ वर्ष पूर्व स्थापित इस परंपरा को नया स्वरूप देने की आवश्यकता है। उनके दादा गुरु हरिगोविंद इस स्वरूप-परिवर्तन की नींव रख चुके थे। बैसाखी के दिन शिवालिक की पहाड़ियों के मध्य अपने पिता गुरु तेग़बहादुर जी द्वारा बसाए नगर आनंदपुर में संपूर्ण देश में फैले अपने अनुयायियों का उन्होंने एक विशाल सम्मेलन बुलाया। उस सम्मेलन में उन्होंने देश और धर्म की रक्षा के लिए कुछ सिर आमंत्रित किए। उनके आह्वान पर पांच लोग सामने आए, जिन्हें पंच प्यारे कहकर पुकारा गया। उस दिन गुरु गोबिंद सिंह जी ने अपने

अनुयायियों को नया गणवेश दिया, नाम दिए, उन्हें धर्म-युद्ध करने के लिए तैयार किया। सबसे बड़ा काम यह किया कि युद्ध कर्म के लिए प्रयुक्त उपकरणों—अस्त्रों-शस्त्रों के लिए उनमें गहरी आस्था उत्पन्न की। इस देशे में प्राचीन काल से ही, विजयादशमी के दिन शस्त्र पूजा की परंपरा है। ऐसी पूजा केवल क्षत्रिय जातियां ही करती हैं, जिनकी संख्या कभी भी दस प्रतिशत से अधिक नहीं रही। शेष जनता सदैव शस्त्रविहीन रही। परिणाम यह हुआ कि जब कभी सशस्त्र विदेशी आक्रमणकारी इस देश में आए, उनका सामना कुछ क्षत्रिय जातियों ने तो किया, अधिसंख्य जनता उससे अलिप्त रही। उसने अत्याचार सहे और बड़ी संख्या में उनका संहार भी हुआ। वे बड़े निरीह भाव से सब कुछ सहते रहे।

गुरुगोबिंद सिंह जी ने देश को युद्ध का पूरा दर्शन दिया। युद्ध कर्म के लिए केवल क्षत्रियों की निर्भरता समाप्त कर दी। उन्होंने इस कार्य के लिए प्रशिक्षण देने का कार्य उन पिछड़ी और दलित जातियों के लिए भी किया, जिन्होंने अपने जीवन में कभी तलवार नहीं उठाई थी, कभी समाज में कोई विशिष्ट स्थान प्राप्त करने की कल्पना भी नहीं की थी। इस दृष्टि से ज्ञानी ज्ञान सिंह द्वारा रचित 'पंच प्रकाश' की ये पंक्तियां ध्यान देने योग्य हैं :

जिनकी जाति और कुल माहीं
सरदारी नहिं भई कदाहीं
तिनको मैं सरदार बनाऊं
तबै गोबिंद सिंह नाम धराऊं

पिछड़ों, दलितों और निरीह जनों को, जो सदियों से गुलामी और अन्याय की चक्की में पिस रहे थे, गुरु गोबिंद सिंह ने दुर्जेय सैनिकों के रूप में परिवर्तित कर दिया जो अपने समय की संसार की सबसे बड़ी और शक्तिशाली सत्ता से टक्कर लेने लगे। इस कार्य के लिए उन्होंने शस्त्रों की महत्ता पर पूरी तरह बल दिया। इस देश में शस्त्र पूजा तो होती थी, किंतु कुछ लोगों को छोड़कर शस्त्र सामान्य जनता के जीवन का भाग नहीं थे। मुगल राज्य में, राजपूतों को छोड़कर, किसी हिंदू को न शस्त्र धारण करने की अनुमति थी, न घोड़े पर चढ़ने की। गुरु गोबिंद सिंह जी ने इन दोनों कार्यों के लिए अपने शिष्यों को प्रेरित किया। उनके पूर्व की नानक मार्गी भक्तिधारा में परमात्मा के लिए वैष्णव मार्गी नामों का ही अधिक प्रयोग होता था। राम, हरि, माधव, गोविंद, गोपाल, मुरारी, सारंगपाणि जैसे परमात्मा बोधक नाम गुरुवाणी में असंख्य बार प्रयुक्त हुए हैं। गुरु गोविंद सिंह जी ने भी अनेक पद ऐसे लिखे जिनमें इस प्रकार के नामों का प्रयोग किया गया है, किंतु वह अपने अनुयायियों में वीर रस का संचार करना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने परमात्मा बोधक ऐसे नामों को चुना और सृजन किया जो इस उद्देश्य की पूर्ति में सहायक हो सकते थे। इस दृष्टि से 'काल' उनका सबसे प्रिय नाम था।

गुरु गोविंद सिंह जी ने अपने साहित्य में परमात्मा के लिए काल, महाकाल, सर्वकाल आदि नामों का प्रयोग किया। काल का वर्णन करते हुए उसके साकार रूप की कल्पना भी उनके सम्मुख अनायास आ गई। इस साकार रूप में काल का अस्त्र-शस्त्र धारी रूप उनके सम्मुख प्रमुख रूप से रहा। परमात्मा को उन्होंने खड्गपाणि, कृपाणपाणि, वाणपाणि, दंडधारी, चक्रपाणि, खड्ग केतु आदि अनेक शस्त्रधारी नामों से पुकारा। शस्त्रों और ईश्वर के वीर रूप के प्रति उनकी तन्मयता इतनी बढ़ी कि उनकी दृष्टि में शस्त्र और शस्त्रधारी में कोई अंतर न रहा। यहां यह बात ध्यान देने को है कि हमारे देश में अपने ग्रंथ की सकुशल संपूर्णता के लिए कविगण सरस्वती देवी से याचना करते रहे हैं, किंतु गुरु गोबिंद सिंह ने यह याचना 'श्री खड्ग' से की। उनकी दृष्टि में शस्त्र और शस्त्रधारी काल अभेद्य हैं। काल के समान ही ये शस्त्र भी सदा एक रूप और निर्विकार हैं। गुरु गोबिंद सिंह केवल यही नहीं चाहते थे कि लोग आत्मरक्षा और अन्याय का सामना करने के लिए शस्त्र धारण करें। वह जानते थे कि शत्रु के सम्मुख उसका सामना करने के लिए तलवार उठाकर आ जाने मात्र से काम नहीं होता। उन्होंने जिस युद्ध दर्शन का विकास किया उसमें शस्त्रधारी की मानसिकता में आमूल-चूल परिवर्तन बहुत आवश्यक था। गुरु गोविंद सिंह जी ने शस्त्रों को परमात्मा का रूप दिया और सदा उसकी शक्ति को स्मरण रखने की बात की। एक स्थान पर उन्होंने कहा है कि मेरे शस्त्र ही मेरे इष्ट देव हैं। उनकी दृष्टि में काल, काली, तेग और तीर में कोई अंतर नहीं है : काल तुही काली तुही तुही तेग अरु तीर।। तुही निसानी जीत की आजु तुही जगवीर।।

गुरु गोबिंद सिंह जी ने लोगों को शस्त्रधारी होने के लिए कहा, समय आने पर शस्त्रों का उपयोग करने की भी प्रेरणा दी। उन्होंने जो पत्र औरंगजेब को लिखा था उसमें भी यह कहा था कि जब नीति के सभी साधन असफल हो जाएं तो तलवार उठा लेना पूरी तरह उचित है, किंतु शस्त्र उठाने का एक महत् उद्देश्य होना चाहिए। यह उद्देश्य है सत्पुरुषों, साधुजनों की रक्षा और अत्याचारियों का विनाश करना। यदि ऐसा नहीं होगा शस्त्रधारी व्यक्ति स्वयं अन्यायी और अत्याचारी बन जाएगा। गुरु गोबिंद सिंह जी ने जिस तेग की जय जयकार की उसके गुण हैं—दुष्टों का नाश करना, संतों को सुख देना, दुर्मति का दलन करना और मेरी प्रतिज्ञा के पालन में सहायक होना। बैसाखी के दिन खालसा के रूप में उन्होंने एक नए व्यक्ति का सृजन किया और इस प्रकार देश में एक नए युग का सूत्रपात हुआ।

(दैनिक जागरण, 13-4-06)

विभिन्न धर्मों के मध्य अंतर-संवाद अच्छा रुझान है

पिछले दिनों में जमाअत इस्लामी हिंद द्वारा आयोजित एक कार्यक्रम में मैं सम्मिलित हुआ। अवसर था 'हज़रत मुहम्मद : जीवन और संदेश' नामक हिंदी पुस्तिका तथा कुरान सी.डी. (उर्दू अनुवाद) का लोकापर्ण। कार्यक्रम की अध्यक्षता संस्था के अपाध्यक्ष मौलाना सैयद जलालुद्दीन उमरी ने की थी।

इस कार्यक्रम से कुछ दिन पूर्व मेरे निवास स्थान पर तीन इस्लामी विद्वान आए थे। इनमें जनाब इंतिजार नईम मेरे पुराने मित्र हैं। उनके साथ दो सज्जन और थे। उन्होंने मुझे हिंदी में इस्लाम से संबंधित अनेक पुस्तकें दीं। उसी के साथ कुरान मजीद का हिंदी में प्रकाशित ऐसा अनुवाद दिया उसमें मूल अरबी के साथ ही हिंदी का सरल अनुवाद भी प्रकाशित किया गया था। ये विद्वान यह चाहते थे कि मैं उस आयोजन में आऊं और कुछ बोलूं भी। इस प्रकार के अंतर्धार्मिक संवाद का यदि कोई अवसर आए तो मैं उसे नहीं छोड़ता। मैंने अपनी सहर्ष अनुमति दे दी। जब नियंत्रण पत्र छपकर आया तो उसमें मेरे अतिरिक्त श्री अरविंद चेतना समाज, दिल्ली के सभापित डॉ. ज्ञान चंद्र तथा स्वामी अग्निवेश के नाम भी थे।

आयोजन में बोलते हुए मैंने कुछ बातों पर विशेष आग्रह किया। एक यह कि संसार के विभिन्न धार्मिक समुदायों, संप्रदायों और विचारधाराओं में जो मतभेद है और जो सदियों से बने हुए हैं उनका बहुत बड़ा कारण इनके बीच की सतत् संवादहीनता है। अन्य धर्मों और उनकी धार्मिक पुस्तकों तथा अवतारों, गुरुओं और पैग़ंबरों के संबंध में बहुत-सी भ्रांतियों हैं। इस प्रकार की भ्रांतियां अज्ञानवश होती है, कुछ जानबूझकर फैलाई जाती हैं और कुछ धर्म-पुस्तकों और उनमें निहित शिक्षाओं को पूर्वाग्रह भरी

व्याख्याओं के कारण उत्पन्न होती हैं।

मैंने जमाअत इस्लामी, हिंद को इस बात के लिए बधाई दी कि उसने हज़रत मुहम्मद से संबंधित ऐसे आयोजन में कुछ गैर मुसलमानों को भी आमंत्रित किया और विरोध, खंडन-मंडन तथा वाद-विवाद की बजाए संवाद को महत्व दिया।

दूसरी बात, जिस पर मैंने आग्रह किया कि संसार में वह दिन कभी नहीं आएगा जब सभी लोग एक धर्म, एक धर्म ग्रंथ और एक प्रवर्तक या पैगंबर के अनुयायी हो जाएंगे। इस संसार में सदा ही विविधताएं रही हैं और भविष्य में भी रहेंगी। इस प्रकार की विविधताओं और उनके कारण उत्पन्न मतभेदों, विग्रहों के कारण विभिन्न धर्मों के मानने वाले लोग आपस में खूनी जंग लड़ते रहे हैं और एक-दूसरे का संहार करते रहे हैं। सभी धर्म शांति और भाईचारे का उपदेश देते हैं किंतु मानव-इतिहास इस बात का साक्षी है कि विभिन्न धर्मों को आपसी लड़ाइयों में आज तक जितने लोग मारे गए हैं, उतने राजनीतिक प्रभुता की प्राप्ति के लिए लड़े गए युद्धों, प्राकृतिक आपदाओं अथवा दुर्भिक्षों के कारण नहीं मारे गए।

इसलिए, इन अनुभवों के आधार पर चिंतनशील लोग इस निर्णय पर पहुंचे हैं कि सभी प्रकार की धार्मिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक अथवा आर्थिक विभिन्नता और विषमता रहते हुए भी मनुष्य सह अस्तित्व के मंत्र के आधार पर जिएगा और आपस में सहयोग करते हुए आगे बढ़ेगा।

वहां एक बात मैंने और कही कि आज इस्लाम और मुस्लिम समुदाय आतंकवाद का पर्याय बन गए हैं। आतंकवाद शत्रु से युद्ध नहीं करता। आतंकवादी वही बनता है जो अपने शत्रु से सीधे-सीधे युद्ध करने की क्षमता नहीं रखता। इसका परिणाम यह होता है कि दशहतगर्दियों की कारगुजारी का परिणाम आम निर्दोष और निरीह व्यक्तियों को झेलना पड़ता है।

किंतु इस्लामी विद्वानों का दावा है कि इस्लाम पूरी तरह शांति और सभी मनुष्यों की भलाई का धर्म है। वह बेगुनाहों की हत्या को अक्षम्य मानता है। वह किसी भी स्तर पर भेदभाव नहीं करता।

कुरान मजीद की जो प्रति इस्लामी विद्वानों ने मुझे दी थी उसके प्रारंभिक पृष्ठों में हज़रत मुहम्मद की संक्षिप्त जीवनी दी गई है। उसके अंतिम पृष्ठों में लिखा है कि हज़रत मुहम्मद ने आखिरी हज किया और उसमें एक तक़रीर की। उसमें उन्होंने कहा—आज अहदे जालियत (अज्ञानता-काल) के तमाम दस्तूर और तौर-तरीके ख़त्म कर दिए गए। खुदा एक है और तमाम इंसान आदम की औलाद हैं और वे सब बराबर हैं। अरबी को अजमी (गैर अरबी) पर और अजमी को अरबी पर, काले को गोरे पर और गोरे को काले पर कोई फ़जीलत (श्रेष्ठता) नहीं। अगर किसी की लड़ाई है तो नेक काम की वजह से है।

इन शब्दों से यह स्पष्ट है कि पैग़ंबर की दृष्टि में अरबी-गैर-अरबी और काले-गोरे

की श्रेष्ठता उसके नेक कामों से बनती है। इस कथन का यदि विस्तार किया जाए तो मुसलमान और गैर-मुसलमान में श्रेष्ठता की कसौटी उसका धर्म नहीं है, बल्कि उसके नेक काम हैं।

इस स्थान पर मुझे एक बात का स्मरण होता है। चार सौ वर्ष पूर्व भाई गुरदास जी ने अपनी एक रचना में गुरु नानक देव की मक्का और मदीने की यात्रा का विवरण देते हुए एक घटना का उल्लेख किया है। मक्का में एक काजी ने उनसे पूछा—आप तो हिंदुस्तान से आए हैं। मेहरबानी करके यह बताइए कि हिंदू अच्छे हैं कि मुसलमान। बाबा नानक ने कहा कि शुभ कर्मों के अभाव के कारण दोनों ही रो रहे हैं।

इस्लामी विद्वानों द्वारा इस बात पर भी बहुत आग्रह किया जाता है कि इस्लाम आतंकवाद के पूरी तरह विरुद्ध है। जो पुस्तकें मुझे प्राप्त हुई थीं उनमें से एक डॉ. अब्दुल मुघनी की लिखी पुस्तक है—इस्लाम और आतंकवाद। इस पुस्तक में कुरान की अनेक आयतों का उदाहरण देते हुए यह सिद्ध किया गया था कि इस्लाम किसी भी रूप में आतंकवाद का समर्थन नहीं करता। एक आयत में कहा गया है कि अल्लाह ने हज़रत मुहम्मद को सभी इन्सानों के लिए वरदान बनाकर भेजा। वे सभी लोगों, उनका दर्जा, मज़हब और जाति कुछ भी हो, के उद्धारक हैं।

इस्लाम के साथ जिहाद शब्द को जोड़कर देखा जाता है और सामान्यतः उससे यही अर्थ लिया जाता है कि इस्लाम में अपने विरोधियों और विधर्मियों के साथ सदैव युद्धरत रहने को जिहाद कहते है। अनेक उग्रवादी इस्लामी संगठन अपने आपको जिहादी संगठन कहते हैं। किंतु नसीम ग़ाजी ने अपनी पुस्तक कुरान पर अनुचित आक्षेप में लिखा है कि जिहाद का अर्थ युद्ध या लड़ाई नहीं हैं, बल्कि इसका अर्थ जिद्दोजुहद करना, संघर्ष करना, जी तोड़ कोशिश करंना, दबाव डालना, कठिनाइयां और कष्ट उठाना है। कुरान मजीद में एक स्थान पर कहा गया है—"ऐ पैगंबर, सत्य का इनकार करने वालों का अनुसरण कदापि न करो और इस कुरान को लेकर उनके साथ जबरदस्त जिहाद (प्रयास) करो।

लेखक का मत है कि कुरान की इस आयत में जिहाद से अभिप्राय युद्ध और लड़ाई नहीं बल्कि जी तोड़ कोशिश करना है।

एक दूसरी जगह कुरान में कहा गया है कि जो व्यक्ति जिहाद (प्रयास) करेगा वह तो स्वयं अपने ही भले के लिए जिहाद (प्रयास) करेगा। हदीस के अनुसार हज़रत मुहम्मद का कथन है कि सबसे बड़ा जिहाद अपने मन पर नियंत्रण पाना है।

लेखक यह भी मानता है कि कुरान में जिहाद शब्द अनेक स्थानों पर युद्ध के लिए भी आया है। संकट यही है कि धर्म ग्रंथों की जब लोग अपने-अपने ढंग से व्याख्या करते हैं तो वही अर्थ निकालते हैं जो उनकी सोच के अनुरूप होता है। आखिर इस देश में आतंक फैलाने वाले कितने ही संगठन जब जिहाद का नाम लेते हैं तो उसका अर्थ यही होता है कि वे अपने विरोधियों अथवा विधर्मियों से युद्ध कर रहे हैं।

जमाअत इस्लामी हिंद, मुसलमानों की एक देश व्यापी संस्था है। इसकी स्थापना 26 अगस्त 1941 को हुई थी। देश विभाजन के बाद यह संस्था दो भागों में विभाजित हो गई। सन् 1948 में मौलाना अबुल्लैस जमाअत इस्लामी हिंद के अध्यक्ष बने। जमाअत की स्थापना इकमते दीनं (दीन को कायम करने) और इस्लाम का बोलबाला करने के लिए की गई थी।

किसी भी धर्म या मज़हब के अनुयायियों को यह अधिकार है कि वे उसका प्रचार-प्रसार करने का प्रयास करें और उसकी अच्छाइयां लोगों के सामने लाएं। इस प्रयास के दो पक्ष हैं—एक, इस प्रचार के माध्यम से वे उन लोगों को अपने विश्वास या मज़हब में लाएं, जो उससे बाहर हैं। दूसरा पक्ष यह है कि वे अपने धर्म या मज़हब के उपदेशों और मान्यताओं को सही ढंग से उन लोगों के सम्मुख रखें जो अनुयायी नहीं हैं। इस प्रकार का अंतर धार्मिक संवाद भ्रांतियों को दूर करके एक-दूसरे के प्रति सहज समझ उत्पन्न करता है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि सभी धर्मों के मानने वाले और उसका प्रचार करने वाले यह विश्वास लेकर चलते हैं कि उनके धर्म द्वारा प्रशस्त मार्ग सर्वश्रेष्ठ है। उसके अनुरूप जीवन जीने से मनुष्य को मुक्ति या निजात मिलती है। कुछ धर्म यह भी मानते हैं कि सभी धर्म परमेश्वर की ओर जाने के विभिन्न मार्ग हैं, जिन पर अलग-अलग चलकर गन्तव्य की प्राप्ति की जा सकती है।

किंतु यदि कोई धर्म या मज़हब यह मानता है कि हमारा मार्ग ही एकमात्र सत्य का मार्ग है और इसी पर चलकर सत्य की प्राप्ति हो सकती है तो यह उसकी सोच की सीमा है। संसार में चिंतन और विचार की प्रक्रिया सतत गतिशील है। नए-से-नए विचारों का उद्गम होता रहता है और भविष्य में भी होता रहेगा। कोई भी सत्य अंतिम सत्य नहीं है। मनुष्य की यह अनवरत खोज है।

इस्लाम की सीमा यह है कि वह हज़रत मुहम्मद को अंतिम नबी मानता है और यह मानता है कि भविष्य में मनुष्यता का मार्ग-दर्शन करने वाला और कोई नबी पैदा नहीं होगा। इसी प्रकार उसकी यह मान्यता भी है कुरान मजीद अंतिम आसमानी किताब है अर्थात् ईश्वर का अंतिम संदेश है। इसलिए अब दुनिया में एक ही प्रामाणिक, सुरक्षित और अल्लाह के निकट मान्य दीन है और जिसका नाम इस्लाम है।

(दैनिक जागरण, 20-4-06)

देह शिवा वर मोहि इहै सुभ करमन ते कबहूं न टरौं

गुरु गोबिंद सिंह का व्यक्तित्व एक अद्भुत व्यक्तित्व था। वे दो सौ वर्ष से चली आ रही गुरु परंपरा के दसवें उत्तराधिकारी थे, स्वयं संत थे, अपने असंख्य अनुयायियों के धर्म गुरु थे, परंतु उसी के साथ अपने समय की उभरती हुई जन-चेतना के नेता भी। अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध उन्होंने अपनी आवाज बुलंद की, अपने शिष्यों को समय की आवश्यकता के अनुसार नए स्वरूप में ढाला, उनमें स्वत्व और अपने अधिकारों की रक्षा का आत्मविश्वास उत्पन्न किया, संसार की बड़ी-से-बड़ी शक्ति से टकराने का उनमें साहस उत्पन्न किया इसीलिए उन्हें संत-सिपाही कहा जाता है।

गुरु गोबिंद सिंह का जन्म पौष सुदी सप्तमी सम्वत् 1723 विक्रमी अथवा 26 दिसंबर सन् 1666 में पटना नगर में हुआ था। उनका जीवन जितनी विविधता और विशालता से भरा हुआ है, उतनी ही विविधता और विशालता उनके जन्म ,कार्य क्षेत्र और देहावसान में भी दिखाई देती है। जन्म स्थान सुदूर पूर्व पटना में, कार्य क्षेत्र पंजाब, हरियाणा और हिमाचल प्रदेश में और देहत्याग महाराष्ट्र के नांदेड़ नगर में। उनके जीवन कार्यों की भांति मानो दैव ने उनकी जीवनावधि को भी भारत की एकता और अखंडता का प्रतीक बना दिया था।

गुरु गोब्रिंद सिंह को मानवता का मसीहा कहा जा सकता है। मानवीयता की पहली शर्त है मनुष्य की गरिमा की रक्षा करना। मनुष्य को छोटा बनाकर कोई धर्म, कोई दर्शन, कोई विचार बड़ा नहीं बन सकता। मनुष्य का कल्याण, उसका सर्वपक्षीय विकास और उस विकास के लिए सामाजिक जीवन में अनुकूल वातावरण का निर्माण उस गरिमा को स्थिर रखने, पुष्ट करने और उसकी अभिवृद्धि करने के सहायक तत्व

हैं। गुरु गोविंद सिंह ने अनुभव किया था कि मानवीय गरिमा की रक्षा के लिए मानवीय समता के विचार को कार्य रूप में बदलना चाहिए।

इस विचार को कार्यान्वित करने के लिए उन्होंने सन् 1699 की बैसाखी के दिन आनंदपुर में एक विशाल आयोजन किया। उन्होंने लोगों से कहा कि मानवीय अधिकारों की रक्षा के लिए मुझे पांच सिर चाहिएं। शीश-दान की परीक्षा में जो उत्तीर्ण हुए उनके नाम थे दयाराम, धर्मदास, मोहकम चंद, हिम्मत राय और साहब चंद। ये सभी अलग-अलग स्थानों और अलग-अलग जातियों के लोग थे। दयाराम लाहौर का खत्री था, धर्मदास हस्तिनापुर (हरियाणा) का जाट था, मोहकम चंद द्वारिका (गुजरात) का धोबी था, हिम्मत राय जगन्नाथ पुरी (उड़ीसा) का कहार था और साहब चंद बीदर (कर्नाटक) का नाई था। गुरु गोविंद सिंह ने उन्हें लोहे के कढ़ाव में, लौह अस्त्रों से स्पंदित और गुरु वाणी के पाठ से मंत्रित अमृत पिलाया। उसमें गुरु पत्नी ने थोड़े से बताशे डाल दिए। जिसका मतलब था कि सभी लौहपुरुष तो हों ही साथ ही मिष्ट भाषी भी हों। इस अमृत को पीने के बाद वे सभी प्रादेशिक विभिन्नता और जातिगत असमानता से ऊपर उठकर नई मानवता की समतल भूमि पर आकर पंज प्यारे बन गए।

इस प्रक्रिया से गुरु गोबिंद सिंह ने अपने आपको भी अलग नहीं रखा। पंज प्यारों से उन्होंने स्वयं अमृत ग्रहण किया और गोबिंद सिंह बन गए—स्वयं ही गुरु और स्वयं चेले।

उनके पंज प्यारों में चार ऐसे थे, जिन्हें इस देश की रूढ़ समाज व्यवस्था 'शूद्र' कहकर नीच श्रेणी का व्यक्ति घोषित कर रही थी। गुरु गोविंद सिंह की खुली हुई बांहों में वे सभी सिमट गए। उनके साथियों, संबंधियों और अनुयायियों में 'ऊंची' समझी जाने वाली जातियों के लोग भी थे। उन्होंने आपत्ति की 'गुरु जी, आप यह क्या कर रहे हैं। नीच जाति के लोगों को आप हमारे बराबर का स्थान दे रहे हैं।'

उन्होंने बड़ी विनम्रता से कहा—'जिन्हें आप नीच कह रहे हैं, मैंने सभी युद्ध इन्हीं की कृपा से जीते हैं, मेरे सभी संकट इन्हीं की कृपा से टलते हैं, इन्हीं की कृपा से मेरा लुटा हुआ घर फिर से भर जाता है, मेरी विद्या इन्हीं की कृपा का प्रसाद है, मेरे शत्रु इन्हीं कृपा से पराजित होते हैं, मैं जो कुछ भी हूं, इन्हीं की कृपा से हूं, नहीं तो मेरे जैसे करोड़ों इस संसार में हैं—कौन पूछता है उन्हें।'

इसी प्रंसग में उन्होंने कहा कि समाज जिन्हें छोटा समझता है, जिनकी उपेक्षा करता है, जिन पर अन्याय और अत्याचार होता है, मैं उनका सेवक हूं। मेरा तन, मन, धन और घर सब उन्हीं का है।

इस देश की आजादी के लिए गुरु गोबिंद सिंह ने बहुत से युद्ध किए थे। आदर्शों की रक्षा और मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए व्यक्ति को अपनों से भी और परायों से भी अनेक स्तरों पर संघर्षरत होना पड़ता है। गुरु गोबिंद सिंह को भी होना पड़ा परंतु सभी संघर्षों और झंझावातों के मध्य एक क्षण के लिए भी उन्होंने अपनी मूल्य दृष्टि

को खंडित नहीं होने दिया। व्यवहार के स्तर पर पीर बुद्धशाह जैसे मुसलमान फकीर अपने पुत्रों और अनुयायियों सहित उनके साथ कंधे-से-कंधा भिड़ाकर अन्याय के विरुद्ध लड़े थे। सिद्धांत के स्तर पर वे लगातार इस बात का आग्रह करते रहे कि दृश्यमान संसार के विभिन्न विभेदों के मध्य एक अभेद और अखंड शक्ति का निवास है। सब कुछ उसी से उत्पन्न होकर उसी में समा जाता है। अपने एक कवित्त में वे इस भाव को इस प्रकार व्यक्त करते हैं–

जैसे एक आग ते कनूका कोट आग उठे,
निआरे-निआरे हुई कै फेरि आग में मिला हिंगे।
जैसे एक घूरते अनेक घूर पूरत हैं,
घूर के कनूगा फेर, घूर ही समाहिंगे।।
जैसे एक नदते तरंग कोट उपजत है,
पानि के तरंग सवै पानि ही कहाहिंगे।।
तैसे विस्व रूप ते अभूत भूत प्रकट होई,
ताही ते उपज सबै ताही मैं समाहिंगे।।

गुरु गोबिंद सिंह का संपूर्ण जीवन देश भक्ति और मानव मूल्यों की रक्षा का जीवन है। इसके लिए वे जीवन भर संघर्ष करते रहे। इन्हीं मूल्यों की रक्षा के लिए उनके पिता गुरु तेग़बहादुर जी ने दिल्ली के चांदनी चौक में अपना बलिदान दिया। इन्हीं मूल्यों की रक्षा में उनके चारों पुत्र शहीद हो गए। इन्हीं मूल्यों के लिए अंत में उन्होंने अपने प्राण भी न्योछावर कर दिए। गुरु गोबिंद सिंह का संपूर्ण साहित्य उनके जीवन-आदर्शों से अनुप्रेरित साहित्य है। उन्होंने सदा यह कामना की कि वे सदा शुभ कर्म करने की प्रेरणा ही अपने अनुयायियों को दें। उन्होंने एक ही सीख दी कि व्यक्ति को गौरव और स्वाभिमान से जीना चाहिए और उसी स्वाभिमान के साथ जीवन के युद्ध में संघर्ष करते हुए मरना चाहिए। अपनी एक रचना में वे कहते हैं–

देह शिवा वहर मोहि इहै सुभ करमन ते कबहूं न टरौं।।
न डरौ अरि सो जब जाइ लरौ निसचै करि अपनी जीत करौं।।
अरु सिखहौं अपने ही मन कउ इह लालच हौ गुन तउ उचरौं।।
जब आउ की अउध निदान बनै अति ही रण में तब जूझ मरौ।।

(दैनिक जागरण, 11-1-05)

भक्त को भी भजन से पहले भोजन चाहिए

प्राणी मात्र की सहज प्रवृत्तियों—आहार, निंद्रा, मैथुन, भय आदि में सबसे शक्तिशाली आहार है। जन्म से लेकर मृत्यु तक उसे आहार पर आश्रित रहना पड़ता है। सभी जीव अपने आहार को प्राप्त करने के प्रयासों में ही अपनी सभी प्रकार की गतिविधियों को केंद्रित करते हैं।

मनुष्य सभी जीवों में सर्वाधिक चेतन प्राणी है, इसलिए वह अपनी सहज प्रवृत्तियों को नियंत्रित करता है, उन्हें दिशा देता है और ऐसे अवसर भी आते हैं जब वह उन्हें पूरी तरह नकारने की बात करता है। भक्तजन अपने आपको पूरी तरह अपने इष्ट देव के प्रति समर्पित करते हैं और इस समर्पण में वे अपनी सहज प्रवृत्तियों पर विजय प्राप्ति को अपना महत उद्‌देश्य मानते हैं।

किंतु भूख तो आखिर भूख है। वह संत पुरुषों से लेकर सामान्य जीवों तक को लगती है और उन्हें व्याकुल भी करती है और अधीर भी बनाती है।

मध्यकाल के अनेक भक्तों ने प्रभु को समर्पित आरतियां लिखी हैं। आरती में प्रायः प्रभु की स्तुति की जाती है और उससे कुछ मांगा जाता है। यह मांगना प्रभु के चरणों का अनुकरण हो सकता है, उसके दर्शन की अभिलाषा हो सकती है, सांसारिक कष्टों का निवारण हो सकता है।

किंतु भक्तिकाल के कुछ संत ऐसे थे जिन्हें श्रम जीवी कहा जा सकता है। वे ईश्वर भक्ति के साथ-साथ अपनी आजीविका के लिए कबीर की भांति खड्डी चलाते थे, रविदास की भांति जूते गांठते थे, नामदेव की भांति कपड़े रंगते थे, धन्ना की भांति खेती करते थे। ये भक्तगण बिलकुल धरती से जुड़े सामान्य और बहुत हद तक निर्धन

लोग थे। इन्हें न अपनी साधना का अभिमान था, न पांडित्य का अहंकार था, न ईश्वर भक्त होने का कोई गुमान था और न माया-मोह से पूरी तरह अलिप्त हो जाने की लालसा थी। ये संत संसार में रहते हुए, सांसारिक दायित्वों का पालन करते हुए, अपनी घर-गिरस्ती की चिंता करते हुए सामान्य जीवन जीने वाले लोग थे, इनकी आकांक्षाएं भी सामान्य जन की आकांक्षाएं थीं, प्रभु से इनकी मांगें भी आम लोगों जैसी मांगें थीं। मजे की बात यह है कि अपने इष्ट देव के प्रति इनका गुस्सा भी सामान्य जन जैसा गुस्सा था।

संत कबीर अपनी आरती में कहते हैं कि मैं भूखा हूं। भूखे रहकर मुझसे तुम्हारी भक्ति नहीं होती, इसलिए अपनी माला वापस ले लो–

भूखे भगति न कीजै।
यह माला अपनी लीजै।।

हे माधव, तुम्हारे साथ मेरा संग कैसे बन सकता है। यदि तुम स्वयं मेरी आवश्यकताएं पूरी नहीं करोगे तो मैं मांग कर ले लूंगा–

माधो कैसी बने तुम संगे।
आपनि देहु त लेवहु मंगे।।

फिर संत कबीर ने अपनी ज़रूरतों की पूरी सूची अपने प्रभु के सामने प्रस्तुत कर दी है–मुझे प्रतिदिन दो सेर आटा चाहिए, पाव भर घी, कुछ नमक, आधा सेर दाल, जिससे मैं दोनों समय भोजन कर सकूं। मुझे चारपाई, सिर के नीचे रखने का तकिया, नीचे बिछाने की तलाई, ऊपर लेने के लिए ओढ़न भी चाहिए। तभी मैं ठीक से तुम्हारी भक्ति कर सकता हूं। यह मेरा लोभ नहीं है (यह तो जीवित रहने की मेरी वुनियादी ज़रूरतें हैं) तभी तुम्हारा नाम मुझे अच्छा लगेगा। कबीर कहते हैं, तभी मेरे मन को तुष्टि मिलेगी। जब मेरा मन मान जाएगा, मैं हरि को जानने का पूरा प्रयास करूंगा–

दुह सेर मांगहुं चूना। पाउ घीउ संगि लूना।।
अध सेर मांगहुं दाले। मोकउ दोनउ वरवत जिवाले।।
खाट मांगहु चउपाई। सिरहाना अवर तुलाई।।
अपरि कउ मांगहु खींचा। तेरी भगति करै जनु थींधा।।
मैं नाही कीता लबो। इकु नाउ तेरा मैं फबो।।
कहि कबीर मनु मानिया। मनु मनिया तउ हरि जानिया।।

भक्तिकाल को हिंदी साहित्य का स्वर्णकाल माना जाता है, इसलिए कि उसमें श्रेष्ठ भक्ति साहित्य की रचना हुई। भक्ति साहित्य, अर्थात् ऐसा साहित्य जो सांसारिकता

और भौतिकता की अभिलाषाओं से बहुत ऊपर भक्त को आध्यात्मिक तृप्ति का बोध कराता है। ऐसे भक्तों की दृष्टि में पेट भरने के लिए आटा, दाल, घी और नमक की मांग, सोने के लिए चारपाई, रजाई-तलाई, सिरहाना की चाहत बड़ी तुच्छ चीज़ें हैं, नितांत भौतिक। भक्त तो मोक्ष से कम की आकांक्षा नहीं करता।

किंतु संत कबीर की यही विशेषता थी। वे भक्ति को अमूर्त आराधना की वायवी ऊंचाइयों से नीचे उतारकर नितांत सामान्य जन के धरातल पर ले आए थे। वे अच्छी तरह जानते थे कि एक भूखे—निर्धन व्यक्ति को ईश्वर भक्ति, समाज सेवा, देश-प्रेम तथा अन्य कोई भी उच्च आदर्श तभी सुहाता है जब उसके पेट में दो रोटियों की गर्मी होती है। संस्कृत की एक उक्ति है—'बुभुक्षितः किम् न करोति पापम्—भूखा कौन-सा पाप नहीं करता।

इस संदर्भ में मुझे धन्ना भगत की रची आरती भी याद आती हैं वे एक किसान थे। खेती-बाड़ी करते थे और हरि के गुण गाते थे। अपने समय के श्रेष्ठ भक्तों में उनकी गणना की जाती थी। किंतु जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति की कामना में वे संत कबीर से भी दो कदम आगे जाते हैं। सामान्य भक्त इष्ट देव की आरती उतारते हैं, धन्ना ने उसका आरता उतारा—

गोपाल तेरा आरता।
जो जन तुमरी भगति करन्ते,
तिन के काज संवारता।।

उनके आरता में मोक्ष की कामना नहीं है, आवागमन से मुक्ति की बात भी नहीं है, किसी कल्पित स्वर्ग का लुभावना चित्र उनके सम्मुख नहीं है। एक मेहनतकश किसान की भांति उनकी आकांक्षाएं सीधे-सीधे इस संसार से जुड़ी हुई हैं। संत कबीर की भांति उन्हें भी सीधा (आटा) चाहिए, दाल चाहिए, घी चाहिए। इससे उनका मन प्रसन्न होता है—

दाल सीधा मांगउ धीउ।
हमरा खुसी करैनित जीउ।।

इस भोजन-सामग्री के साथ उन्हें कुछ अतिरिक्त अनाज भी चाहिए। उन्हें अच्छी जूती और अच्छे कपड़े भी चाहिए। दूध देने वाली गाय और भैंस भी चाहिए चढ़ने के लिए घोड़ी भी चाहिए। सबसे महत्वपूर्ण बात यह कि घर चलाने के लिए एक अच्छी गृहिणी भी चाहिए—

पन्हीआ छादनु नीका।
अनाजु भंगहु सत सीका।।

गऊ भेस भंगहु लावेरी।
इक ताजनि तुरी चंगेरी।।
घर की गीहनि चंगी।
जनु धन्ना लेवे मंगी।।

धन्ना जाट थे, किसान थे। उनकी ज़रूरतें कबीर से ज्यादा थीं।

भक्तिकाल के निर्गुण और सगुण भक्तों में एक बड़ा अंतर था। अधिसंख्य सगुणकवि उच्च वर्ण के ब्राह्मण थे। समाज में उनका सम्मान था। उनके श्रद्धालुओं में समृद्ध जनों की कमी नहीं थी, इसलिए भोजन-वस्त्र जैसी सामान्य वस्तुओं की उन्हें चिंता नहीं थी।

किंतु अधिसंख्य निर्गुण कवि छोटी समझी जाने वाली निर्धन जातियों में से आए थे। उच्च जाति के भक्त और अन्य लोग भक्ति क्षेत्र में उनके प्रवेश को अनुचित हस्तक्षेप मानते थे। समाज-व्यवस्था में उन्हें सम्मानजनक स्थान प्राप्त नहीं था। नामदेव छीपा थे, कबीर जुलाहा थे, सैणा नाई थे, रविदास चमार थे, धन्ना जाट थे, सधना पेशे से कसाई था। केवल गुरु नानक तथा अन्य परवर्ती गुरु खत्री जातियों से आए थे जिन्हें उच्च वर्ण माना जाता था। किंतु सभी की संसक्ति तथाकथित छोटी जातियों से थी।

ऐसे सभी निगुर्ण संत कवियों के लिए यह अनिवार्य था कि वे भक्ति के साथ ही अपना पुश्तैनी काम करें और अपने परिवारों का भरण-पोषण करें। यह काम करने में उन्हें न कोई दुविधा थी, न संकोच था। इनका गौरव तो इस बात में था कि छोटी जाति के होते हुए भी इन्होंने अपनी प्रभु-भक्ति से उस स्थान को प्राप्त कर लिया था जिसे बड़े-बड़े उच्च वर्ण के भक्त प्राप्त नहीं कर सके थे।

अधिसंख्य सगुण भक्त श्रुतियों के ज्ञाता थे, पढ़े-लिखे थे। उनकी भक्ति का आधार भुतियाँ और स्मृतियाँ थीं निर्गुण कवियों को श्रुतियों के अध्ययन का अधिकार नहीं था, न ही वे इतनी योग्यता रखते थे। उनका अपना अनुभव ही उनकी पूंजी थी। कबीर के शब्दों में—तू कहता कागद की लेखी। मैं कहता आखन की देखी।

ऐसा लगता है कि इन निर्गुणियों का अनायास ही आपस में एक मंच गया था। अपनी रचनाओं में वे एक-दूसरे का स्मरण करते हैं और उनकी उपलब्धियों की चर्चा करते हैं। संत रविदास ने अपनी एक रचना में नामदेव, कबीर त्रिलोचन, सधना और सैण की चर्चा की है—

नामदेउ, कबीर, तिलोचन, सधना सैण तरे।।
कहि रविदास सुनहु रे संतहु, हरि नू ते सभै सरै।।

ये संत इस तथ्य को आदर्श रूप में प्रस्तुत करते हैं कि इन सभी ने नीच जातियों में जन्म लेकर भी अपनी अनन्य भक्ति द्वारा प्रभु की कृपा प्राप्त की और सभी ओर

इनकी भक्ति की प्रशंसा हुई। गुरु रामदास तो यह कहते हैं कि नामदेव की हरि से ऐसी प्रीति लगी कि जिसे लोग छीपा कहते थे उसे हरि ने खत्री और ब्राह्मण जैसी सवर्ण जातियों को छोड़कर स्वीकार कर लिया–

नामदेव प्रीति लगी हरि सेती,
लोक छीपा कहै बुलाइ।।
खत्री ब्राह्मण पिठि दै छोड़े हरि,
नामदेउ लीआ मुखि लाइ।।

निगुर्णमार्गी संत कर्मठ जीवन में आस्था रखने वाले संत थे। वे परजीवी भक्त नहीं थे। वे पूरी तरह धरती से जुड़े और साधारण तथा निर्धन समाज में विचरने वाले संत थे। इसीलिए उनकी अभिलाषाएं और आकांक्षाएं भी उस समाज की भावनाओं की अभिव्यक्ति करती हैं।

(दैनिक जागरण, 27-4-06)

बहुमुखी प्रतिभा-संपन्न थे—
गुरु अर्जुन देव

गुरु अर्जुन देव की शहादत को चार सौ वर्ष पूरे हो चुके हैं। 30 मई, 1606 को मुगल बादशाह जहांगीर की आज्ञा से उन्हें लाहौर में शहीद किया गया था। 'शहीद' अरबी भाषा का शब्द है। वहां इसका अर्थ 'गवाही देना' भी है। किंतु इसका अधिक प्रयोग उस व्यक्ति के लिए होता है, जो किसी उच्च आदर्श या उद्देश्य के लिए अपने प्राण दे दे अथवा उसी मंतव्य के लिए युद्ध करते हुए अपनी जाने दे दे।

इसी अर्थ को व्यक्त करने वाला अंग्रेजी शब्द 'मारटेयर' है। ग्रीक भाषा से लिए गए इस शब्द का मूल अर्थ भी 'गवाही देना' है। ईसा मसीह के साथ जुड़कर इस शब्द का अर्थ सच्चाई के लिए अपने प्राण न्योछावर करना हो गया। सारे संसार में अब इस शब्द का प्रयोग उस व्यक्ति के लिए होता है, जो अपने विश्वास, अपनी निष्ठा, अपने देश, धर्म और मनुष्यता के हित में अपनी जान देता है।

'शहीद' और 'मारटेयर' का समानार्थी शब्द संस्कृत भाषा में नहीं दिखाई देता। वहां शब्द है 'बलि'। आर्य अपने यज्ञों में पशु बलि देते थे। एक चक्रवर्ती राजा एक घोड़े को सजा-संवारकर, साथ में एक बड़ी सेना साथ लेकर उन क्षेत्रों में जाता था, जिन पर विजय प्राप्त करना चाहता था। जिन-जिन क्षेत्रों से वह घोड़ा बिना किसी प्रतिरोध के निकलता जाता था, वह उस राजा द्वारा विजय किया हुआ क्षेत्र मान लिया जाता था। जो राजा इसे स्वीकार नहीं करता था, उसके साथ युद्ध होता था।

चक्रवर्ती राजा का घोड़ा चारों ओर अपनी विजय पताका फहराकर जब वापस लौटता था तो राजा एक यज्ञ करता था—अश्वमेध यज्ञ। इस यज्ञ में उस घोड़े की बलि दी जाती थी। आज भी देश के अनेक मंदिरों में देवता को प्रसन्न करने के लिए

पशुवलि दी जाती है।

अब 'वलिदान' शब्द का प्रयोग 'शहीद' अथवा 'मारटेयर' के अर्थ में होने लगा है।

जहांगीर द्वारा गुरु अर्जुन देव को बहुत यातनाएं देकर शहीद किया गया था। जहांगीर ने यह कुकृत्य क्यों किया था? इस संबंध में उसने तुर्की भाषा में लिखी अपनी आत्मकथा 'तुज़के जहांगीर' में जो कुछ लिखा है, उसके मुख्य बिंदु ये हैं–

–व्यास नदी के तट पर गोइंदवाल में अर्जुन नाम का एक हिंदू पीरों-फकीरों के वेश में रहता था।

–बहुत से भोले-भाले हिंदू और अनजान मुसलमान उससे बहुत प्रभावित थे। वे उसे गुरु कहते थे। सभी ओर से अज्ञानी लोग आकार उसके सम्मुख श्रद्धा भाव व्यक्त करते थे।

–उनका यह व्यापार तीन-चार पीढ़ियों से चल रहा था। बहुत समय से मेरे मन में आ रहा था कि मैं इसे रोक दूं या इसे इस्लाम में ले आऊं।

–इन्हीं दिनों खुसरू (जहांगीर का पुत्र) यहां से निकला और इससे मिला। इसने (गुरु अर्जुन देव ने) खुसरू के माथे पर तिलक लगाया, जिसे हिंदू शुभ मानते हैं।

–मैंने मुर्तजा खान को हुक्म दिया कि उसे गिरफ्तार किया जाए, उसकी सारी जायदाद जब्त कर ली जाए और उसे यातनाएं देकर मार डाला जाए।

'तुज़के जहांगीरी' ('जहांगीरनामा' नाम से हिंदी में इसका अनुवाद हो चुका है) में दिए गए विवरण के इन बिंदुओं से कुछ स्पष्ट निष्कर्ष निकलते हैं। जहांगीर अपने समय में उभरते सिख आंदोलन से चिंतित हो उठा था। गुरु अर्जुन देव की व्यापक लोकप्रियता और उनके प्रति असंख्य लोगों, जिनमें मुसलमान भी शामिल थे, की श्रद्धा-भावना से वह कुंठित हो गया था। गुरु नानक देव द्वारा प्रवर्तित मार्ग को रोकना चाहता था और उसे इस्लाम में लाना चाहता था।

जहांगीर का पुत्र खुसरू अपने पिता से बागी हो गया था। अपने बाप से अपनी जान बचाने के लिए वह पंजाब की ओर भाग रहा था। भागते हुए वह व्यास नदी के तट पर बसे नगर गोइंदवाला पहुंचा और गुरु अर्जुन देव के पास आया। भारतीय परंपरा के अनुसार गुरु अर्जुन देव ने उसे आशीर्वाद दिया और उसके माथे पर तिलक लगाया। जहांगीर को अपनी दिली मंशा को पूरा करने का बहाना मिल गया।

बहुत खेद होता है, जब हमारे कुछ इतिहासकार गुरु अर्जुन देव की शहादत को केवल खुसरू के प्रसंग के साथ जोड़कर देखते हैं और सारी बात का बहुत सरलीकरण करते हुए कहते हैं कि गुरु अर्जुन ने बागी शहजादे की सहायता की थी, इसलिए जहांगीर ने उन्हें मृत्युदंड दिया था। वह यह भी नहीं देखते कि खुद जहांगीर ने इस संबंध में क्या लिखा था।

इस्लाम की बात करने वाला जहांगीर खुद कैसा मुसलमान था? दिन भर शराब में डूबा रहने वाला वह घोर विलासी व्यक्ति था। अपनी प्रेमिका नूरजहां को प्राप्त करने

के लिए उसने उसके पति शेर अफगन की हत्या करवा दी थी। इस्लाम के आदर्शों और सिद्धांतों से उसका दूर का भी वास्ता नहीं था।

इस बात को सभी जानते हैं कि बादशाह अकबर ने गैर मुसलमानों के प्रति जो उदार नीति अपनाई थी, मुगल दरबार के अनेक उलेमाओं को वह पसंद नहीं थी। वे चाहते थे कि अकबर का उत्तराधिकारी एक ऐसा व्यक्ति बने, जो मज़हब के प्रति कट्टर नीति का पोषक हो। जहांगीर के चरित्र से अकबर परिचित था और उसके पुत्र खुसरू को वह अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहता था। जहांगीर ने राजगद्दी प्राप्त करने के लिए इन उलेमाओं की सहायता प्राप्त की, जो इस शर्त पर उसकी मदद करने को तैयार थे कि वह अकबर की उदार नीति का त्याग करेगा और कट्टर नीति अपनाएगा।

उस समय ऐसी कट्टरता भरी नीति के दो प्रबल समर्थक थे। एक, शेख अहमद सरहिंदी और दूसरे शेख़ फरीद बुखारी। इन दोनों की सहायता से सलीम (जहांगीर) ने सन् 1591 में अपने पिता अकबर को जहर देकर मारने का प्रयास किया था, जिसमें अकबर बच गया था। सन् 1602 में सलीम अकबर के नौ रत्नों में से एक अबुल फजल की हत्या कराने में सफल हो गया था, जो अकबर की उदार नीति का बड़ा समर्थक था।

जहांगीर पर कट्टरपंथी उलेमाओं का बड़ा प्रभाव था। राजगद्दी पाने के लिए वह ऐसे तत्वों को प्रसन्न रखना चाहता था।

उस समय शेख अहमद सरहिंदी की एक विशेष वर्ग में बड़ी मान्यता थी। वह मानता था कि इस्लाम की स्थापना के पहले एक हजार वर्ष हजरत मुहम्मद के हैं। अब शुरू हुए दूसरे हजार वर्ष उसके नाम के हैं। वह दावा करता था कि संपूर्ण सृष्टि, सूर्य, चंद्रमा और पूरी धरती उसके अधिकार में हैं। किसी भी व्यक्ति की दुआ खुदा उस समय तक कबूल नहीं करता जब तक वह स्वयं उसे कबूल न कर ले।

शेख अहमद सरहिंदी गुरु अर्जुन देव का समकालीन था और उनकी व्यापक लोकप्रियता व मान्यता से बहुत द्वेष करता था। जहांगीर जब अपने विद्रोही पुत्र खुसरू का पीछा करते हुए सरहिंद पहुंचा तो उसने गुरु अर्जुन देव के विरुद्ध उसके बहुत कान भरे।

शेख फरीद बुखारी उस सेना का नेतृत्व कर रहा था, जो खुसरू को बंदी बनाने के लिए पंजाब आई हुई थी। जहांगीर ने उसे मुर्तजा खान का खिताब दिया था। इसी व्यक्ति को जहांगीर ने गुरु अर्जुन देव को बंदी बनाने और यातनाएं देकर मारने की आज्ञा दी थी।

गुरु अर्जुन देव बहुमुखी प्रतिभा-संपन्न व्यक्ति थे। कवि, संगीतकार, संपादक, नगर निर्माता जैसे अनेक गुण उनके व्यक्तित्व के अंग थे। उन्होंने आदि ग्रंथ का संपादन किया था। गुरु नानक देव से लेकर गुरु रामदास तक—चार पूर्व गुरुओं की वाणी और अलग-अलग यात्राओं में उन्होंने देश के विभिन्न भागों के संतों की वाणी एकत्र की

थी। इस सारी संपत्ति को गुरु अर्जुन देव ने रागबद्ध किया और फिर उसे रागानुसार संपादित किया। आदि ग्रंथ में छह हजार से अधिक पद हैं। इनमें गुरु अर्जुन देव द्वारा रचे पदों की संख्या दो हजार से अधिक है। इस संपादन के लगभग सौ वर्ष पश्चात् गुरु गोबिंद सिंह ने नौवें गुरु—गुरु तेग़बहादुर की वाणी सम्मिलित की। तीन सौ वर्ष पूर्व सन् 1708 में गुरु गोबिंद सिंह ने उस ग्रंथ को गुरु पद पर प्रतिष्ठित किया था। उस समय से इसे 'गुरु ग्रंथ साहब' कहा जाने लगा।

आदि ग्रंथ का संपादन गुरु अर्जुन देव के जीवन का सबसे महत्वपूर्ण कार्य था। उनके जीवन का सबसे महत्वपूर्ण कार्य था अमृतसर में हरिमंदिर का निर्माण। चौथे गुरु—गुरु रामदास ने पंजाब के माझा क्षेत्र में एक नगर बसाया था, जिसे उस समय 'गुरु का चक्र' कहा जाता था। वहां एक तालाब था, जिसके साथ अनेक कथाएं जुड़ी हुई थीं। गुरु रामदास ने इस तालाब की खुदाई कराकर इसे पक्के सरोवर का रूप दिया था। गुरु अर्जुन देव ने सरोवर के मध्य में हरिमंदिर बनवाया। इस मंदिर के चार द्वार रखे गए, जिसका प्रतीकार्थ था कि बिना किसी भेदभाव के इसके द्वार सभी जातियों, धर्मों तथा देशों के लोगों के लिए खुले हुए हैं। इसी मंदिर में आदि ग्रंथ को सर्वप्रथम प्रतिष्ठित किया गया था।

गुरु अर्जुन देव ने अपने काल में अनेक नगर बसाए। तरन तारन, करतारपुर तथा हरिगोविंदपुर जैसे उनके बसाए हुए नगर समृद्ध नगरों में गिने जाते हैं।

गुरु अर्जुन देव गंभीर चिंतक और विचारक थे। आदि ग्रंथ में 'सुखमनी' नाम से इनकी एक लंबी रचना है, जिसकी श्रद्धालुओं में उतनी ही मान्यता और लोकप्रियता है जितनी गुरु नानक देव की रचना 'जपुजी' की है।

'सुखमनी' में कुल 24 अष्टपदियां हैं। प्रत्येक अष्टपदी के प्रारंभ में एक श्लोक है। इस रचना के केंद्रीय भाव को व्यक्त करता हुआ प्रारंभिक श्लोक है—

सुखमनी सुख अमृत प्रभु नामु।
भगत जना कै मनि बिस्रामु।।

इसका अर्थ है—प्रभु का नाम सब सुखों का मूल है। इसकी प्राप्ति भक्तजनों के माध्यम से होती है। यह उन्हीं के मन में बसता है।

इस रचना में इस बात पर आग्रह किया गया है कि संसार की सभी उपलब्धियों का मूल स्रोत प्रभु का नाम ही है। जितनी भी ऋद्धियां और सिद्धियां हैं, वे प्रभु के नाम में ही समाहित हैं—

प्रभ कै सिमरनि रिधि सिधि नउ निधि।
प्रभ कै सिमरनि गिआनु धिआनु ततु बुधि।।

किंतु यह भी सच है कि प्रभु का स्मरण भी वही लोग कर पाते हैं, जिन पर

प्रभु की कृपा होती है। ऐसे लोगों की चरण-वंदना करनी चाहिए।

से सिमरहि जिन आपि सिमराए।
नानक ता कै लागउ पाए।।

'सुखमनी' में इस बात पर बहुत आग्रह है कि साधुजनों, उत्तम पुरुषों की संगति किए बिना व्यक्ति का अभिमान दूर नहीं होता। गुरुवाणी में अहंभाव (हउमै) को साधना मार्ग की सबसे बड़ी बाधा माना गया है। इसे सबसे बड़ी व्याधि कहा गया है—हउमै वड्डा रोगु है।

गुरु अर्जुन देव कहते हैं कि सभी मनुष्यों में वह पुरुष प्रधान है, जो साधुजनों की संगति में अपना अभिमान छोड़ देता है। जो व्यक्ति विनम्र होकर अपने आपको सबसे छोटा समझता है, वास्तव में वही सबसे बड़ा होता है—

सगल पुरख महि पुरुखु प्रधानु।
साध संगि जा का मिटै अभिमानु।।
आपस कउ जो जाणै नीचा।
सोउ गनीऐ सब ते ऊचा।।

इस वाणी में उन लोगों की कड़ी आलोचना की गई है, जो बाह्याडंबर को ही अपनी जीवन-शैली बना लेते हैं। मनुष्य का जन्म लेकर भी ऐसे लोगों की करतूत पशुओं जैसी होती है। बाहर बड़ा पवित्र वेश धारण करते हैं, किंतु अंदर माया का मल व्याप्त होता है। बाहर से दिखावे के लिए ज्ञान, ध्यान और स्नान का प्रपंच रचते हैं, किंतु उनके अंदर लोभ रूपी श्वास सक्रिय रहता है—

करतूति पसू की मानस जाति।
लोक पचारा करै दिनु राति।।
बाहरि भेष अंतरि मलु माया।
छपसि नाहि कछु करै छपाया।।
बाहर गिआन धिआन इसनान।
अंतरि बिआपै लोभु सुआन।।

'सुखमनी' में वास्तविक साधु कौन है, ब्रह्मज्ञानी कौन है, पंडित कौन है, वैष्णव कौन है—इन सभी प्रचलित शब्दों की व्याख्या की गई है। वैष्णव वह है, जिस पर प्रभु प्रसन्न होता है, जो माया से निर्लिप्त होता है—

वैसनो सो जिसु ऊपरि सुप्रसन्न।
बिसन की माया तै होई भिन्न।।

ब्रह्मज्ञानी वह है, जो ब्रह्म को समझता है। उसका हेतु प्रभु से संयुक्त होता है। ब्रह्मज्ञानी को किसी प्रकार की चिंता नहीं रहती। उसका उपदेश सभी को पवित्र कर देता है–

ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म का वेता।
ब्रह्मज्ञानी एक संगि हेता।।
ब्रह्मज्ञानी का होइ अचिंत।
ब्रह्मज्ञानी का निरमल मंत।।

इसी प्रकार वास्तविक साधु की परिभाषा देते हुए अनेक अष्टपदियां इस वाणी में हैं। ऐसे साधु का संग प्राप्त होने पर व्यक्ति के पूरे कुल का उद्धार हो जाता है। साधु का संग प्राप्त होने पर हमारे सभी सज्जनों, मित्रों, उनके कुटुंब का निस्तार हो जाता है–

साध कै संगि सभ कुल उधारे।
साध के संगि साजन मीत कुटुंब निसतारै।।

संपूर्ण गुरुवाणी इस बात पर आग्रह करती है कि प्रभु की आराधना और प्रभु की प्राप्ति का अधिकार किसी विशिष्ट वर्ण अथवा वर्ग तक ही सीमित नहीं है। प्राचीन वर्ण-व्यवस्था की मान्यताओं के अनुसार ब्राह्मण वर्ग केवल सवर्ण लोगों को ही आध्यात्मिक उपदेश देते थे। शूद्र समझे जाने वाले वर्ग को वे इस योग्य नहीं समझते थे। गुरु अर्जुन देव ने सच्चे पंडित की व्याख्या करते हुए एक अष्टपदी में कहा है–पंडित वह है, जो अपने मन को प्रबुद्ध रखता है। अपने मन में सदैव राम नाम का शोध करता रहता है। सच्चा पंडित वेद, पुराण, स्मृतियों के संदेश के मूल स्वरूप की पहचान करता है। जो सूक्ष्म और स्थूल का रहस्य समझता है। सबसे बड़ी बात कि वह चारों वर्णों को अपना उपदेश देता है। ऐसा पंडित नमस्कार के योग्य है–

सो पंडित जो मनु परबौधे।
राम नामु आतम महि सोधै।।
बेद पुरान सिम्रित बूझै मूलु।
सूखम महि जानै असथूलु।।
चहु वरना कउ दे उपदेशु।
नानक उस पंडित कउ सदा अदेसु।।

गुरुवाणी की मान्यता है कि प्रभु नाम के बीज मंत्र में निहित ज्ञान सभी वर्गों के लिए उपलब्ध होना चाहिए। जो कोई ज्ञान को प्राप्त करना चाहे, उसे परम गति अवश्य प्राप्त होती है–

बीज मंत्र सरब को गिआनु।
चहु वरना महि जपै कोऊ नाम।।
जो जो जपै तिस की गति होइ।
साध संगि पावै जन सोइ।।

क्या प्रभु-चिंतन से व्यक्ति को केवल परलोक में ही लाभ प्राप्त होता है अथवा उसके इहलोक जीवन में भी इसकी कुछ सार्थकता है। 'सुखमनी' में इस बात को स्पष्ट किया है। सद्गुरु की संगति और उसके उपदेश से व्यक्ति का परलोक ही नहीं संवरता, उसका इहलोक भी प्रफुल्लित होता है। सद्गुरु की कृपा से व्यक्ति की दुर्मति नष्ट हो जाती है। उसे राम नाम की प्राप्ति हो जाती है—

सिख की दुरमति मलु हिरै।
गुरबचनी हरि नामु उचरै।।
सतिगुरु सिख का हलतु पलतु सवारै।
नानक सतिगुरु सिख कउ जीअ नालि समारै।।

उस युग में इस देश की भक्तिधारा परलोक को संवारने पर ही अधिक बल दे रही थी। लोगों को उनकी सांसारिक यातनाओं से मुक्ति दिलाने की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जा रहा था। गुरु अर्जुन देव ने कहा कि सच्चा गुरु व्यक्ति के परलोक की ही चिंता नहीं करता है, वह उसके इस सांसारिक जीवन को भी व्याधियों, अत्याचारों और अन्याय से मुक्ति दिलाता है।

'सुखमनी' का संदेश यह भी है कि प्रभु की निकटता प्राप्त करने के लिए घर-बार का त्याग कर देना, संन्यासी हो जाना, संसार से विरक्त हो जाना आवश्यक नहीं है। मनुष्य गृहस्थी में रहकर अपने सभी सांसारिक दायित्वों की पूर्ति करता हुआ निर्वाण प्राप्त कर सकता है। प्रभु पर भरोसा रखने से मृत्यु का भय जाता रहता है—

अन दिनु कीरतनु केवल बखानु।
ग्रिहसत महि सोई निरबानु।।
एक ऊपरि जिसु जन की आसा।
तिस की कटीऐ जम की फासा।।

मनुष्य ईश्वर की आराधना अनेक कामनाएं लेकर करता है। किसी को संतान चाहिए, किसी को धन चाहिए, कोई रोग-मुक्त होना चाहता है और कोई अपने शत्रुओं का विनाश चाहता है। गुरु अर्जुन देव कहते हैं कि जो व्यक्ति कामना-रहित होकर प्रभु की सेवा करता है उसी को प्रभु की प्राप्ति होती है।

सेवा करत होइ निहकामी।
तिस कए होत परापति सुआमी।।

गुरुवाणी में एकाकी आराधना का अधिक महत्व नहीं है। व्यक्ति केवल अपनी मुक्ति का प्रयास करे, इस दृष्टि से वह अपने आस-पास के लोगों, अपने समाज की कोई चिंता न करे, यह दृष्टि गुरुवाणी को स्वीकार नहीं है। उसकी मान्यता है कि व्यक्ति को समाज के साथ जुड़कर, संगत में आकर आराधना करनी चाहिए; अपनी मुक्ति के साथ ही समाज की मुक्ति का भी प्रयास करना चाहिए। प्रभु के सम्मुख उसी व्यक्ति की प्रार्थना स्वीकार होती है, जो आप तो उसका नाम-स्मरण करता ही है, औरों को भी इसके लिए प्रेरित करता है—'आप जपै अवरा नाम जपावै' की भावना ही उसका लक्ष्य है।

गुरु अर्जुन देव मात्र तैंतालीस वर्ष के थे, जब उन्हें समय के आततायी शासक द्वारा शहीद कर दिया गया था। उन्होंने अपने आदर्शों के लिए अपनी आहुति देनी स्वीकार कर ली और सिखों की दीर्घकालिक बलिदानी परंपरा का सूत्रपात कर दिया।

(साहित्य अमृत, अगस्त, 2006)

कबीर और सामाजिक न्याय की अवधारणा

सामाजिक न्याय क्या है? समाज विज्ञान का अध्येता कहते हैं कि समाज व्यवस्था का वह सिद्धांत जिसके अनुसार हमारे सामाजिक जीवन, समाज निर्मित और उसके विकास का लाभ कुछ लोगों के हाथों में ही सीमित न हो जाए, वह सर्व साधारण लोगों तक भी पहुंचे, विशेष रूप से पीड़ित और वंचित लोगों तक। ये लोग उन्हें उनके अधिकार के रूप में मिलने चाहिए, किसी की दया अथवा कृपा के रूप में नहीं। सामाजिक न्याय की मांग है कि समाज में जन्म, परंपरा अथवा विरासत के आधार पर किसी प्रकार का भेद-भाव नहीं होना चाहिए, वरन् सभी को उनकी योग्यता और श्रम के आधार पर प्रगति करने का अवसर मिलना चाहिए।

प्राचीन काल से ही भारतीय समाज में जो व्यवस्था विकसित हुई वह सामाजिक न्याय की ओर नहीं जाती थी। इस समाज में अनेक भेद-भाव थे जो व्यक्ति के जन्म, वर्ण, जाति, नस्ल, लिंग पर आधारित थे और इस प्रकार के भेद-भाव से मुक्त हो पाना किसी के लिए भी सरल नहीं था। कुछ व्यक्ति किसी खास वर्ण में जन्म लेने से ही ऊंचे हो जाते थे और कुछ व्यक्ति जन्म लेते ही नीची श्रेणी में गिने जाते थे और फिर जीवन भर अन्याय और अत्याचार का भार ढोने के लिए बाध्य हो जाते थे।

इस प्रकार के भेद-भाव के विरुद्ध निरंतर स्वर उभरते रहे। इन स्वरों में पंद्रहवीं सदी में जन्मे संत कबीर का स्वर सबसे अधिक प्रभावशाली था। सामाजिक न्याय उस समय तक स्थापित नहीं हो सकता जब तक समाज से ऊंच-नीच, स्त्री-पुरुष, छोटे-बड़े, धनी-निर्धन का भेद-भाव बना हुआ है और किसी प्रकार का निर्णय लेते समय इसे आधार बनाया जाता है। संत कबीर ने सबसे पहले इस असमानता की भावना पर

चोट की। उस समय इस असमानता भरी व्यवस्था का सबसे बड़ा पोषक ब्राह्मण पुरोहित वर्ग था। यह वर्ग इसे आधार बनाकर वह अपने वर्ग (वर्ण) की श्रेष्ठता को स्थापित करता था और अन्य वर्गों (वर्णो) विशेष रूप से शूद्रों को निम्न से निम्नतर रखता था। संत कबीर ने ऐसे पांडे को संबोधित करते हुए कहा था—

काहे को कीजै पांडे छोति विचारा।
छोतहि ते उपजा संसारा।।
हम कत लोहू तुम कत दूध।
तुम कत बामन हम कत सूद।।
छोति-छोति करत तुमही जाए।
तो गरभवास काहे को आए।।

छूत-छात का विचार करने वाले लोगों से उनका सीधा प्रश्न था—क्या तुम्हारी शिराओं में दूध बहता है और हमारी शिराओं में लहू बहता है? तुम ब्राह्मण कैसे हो? हम शूद्र कैसे हैं? ब्राह्मण हो या शूद्र सभी का जन्म मां की कोख से होता है। हे ब्राह्मण यदि तुम अपने आपको दूसरों से ऊंचा समझते हो तुम अन्य किसी प्रक्रिया से क्यों नहीं पैदा हुए?

जे तू ब्राह्मण ब्राह्मणी जाया।
आन बाट हवै किउ नहीं आया।।

न्याय मूलक अवधारणा के लिए यह आवश्यकता है कि सभी व्यक्तियों के साथ एक जैसा व्यवहार किया जाए, सभी को समान समझा जाए, किसी को उसके अधिकार से वंचित न किया जाए। किसी विशेष प्रकार की वेशभूषा अथवा विशेषण ग्रहण करके अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने का कोई लाभ नहीं। संत कबीर के शब्दों में—

वैष्णव भया तो क्या भया बूझा नहीं विवेक।
छाया तिलक बनाय कर दराधिया लोक अनेक।।

इस समाज की एक बड़ी विडंबना यह है कि लोगों की कथनी और करनी में सदैव ही बड़ा अंतर रहा है। यहां कहा कुछ जाता है, किया कुछ जाता है। संत कबीर का ऐसी प्रवृति के विरुद्ध स्वर बहुत तीखा था। आदर्श जीवन के बड़े-बड़े उपदेश देना और व्यावहारिक जीवन में अपने आचार को उन उपदेशों से बहुत दूर रखना जीवन को रेत के घर की भांति उसारना है—

कथनी कथी तो क्या भया, जे करणी न लहराय।
कालबूत के कोट जिऊं देखत ही ढहि जाय।।

कथनी और करनी में अंतर रखने वाले व्यक्ति का ज्ञान कच्ची मिट्टी के घर की भांति थोड़ी-सी चोट लगने पर ही गिर जाता है।

सामाजिक न्याय से संचालित समाज में कथनी और करनी में अधिक द्वैत नहीं उत्पन्न होता। संत कबीर इस प्रवृत्ति को आध्यात्मिकता से भी जोड़ते हैं। ऐसा आचार प्रवण व्यक्ति ईश्वर की कृपा प्राप्त करता है। जो व्यक्ति दिखावे मात्र के लिए बहुत ऊंचा-ऊंचा बोलकर प्रभु का नाम जपता है किंतु उसके मर्म को नहीं समझता है वह तो बिना सिर के रुंड के समान है–

करता दीसै कीरतन ऊचा करि करि तुंड।
जाणै बुझै कुछ नहीं यों है आधा रुंड।।

संत कबीर ने उन लोगों को कड़ी ताड़ना दी जो कुछ लोगों को छोटा समझकर उनकी निंदा करते हैं, उनसे घृणा करते हैं। उनका कथन है–

कबीर घास न निंदिए जो पांव तलि होइ।
उड़ि पड़े जब आंख में खरा दुहेला होई।।

इन पंक्तियों में एक महत्वपूर्ण संकेत हैं। घास पैरों तले होती है। हर व्यक्ति उसे छोटा समझकर रौंदता हुआ चला जाता है। किंतु घास का वही छोटा-सा तिनका जब उड़कर आंख में पड़ जाता है तो वह बड़ी पीड़ा का कारण बन जाता है। इसी प्रकार जिन्हें हम छोटा समझकर पीड़ित करते हैं, उन्हें दलित बना देते हैं–ऐसे लोग जब न्याय के लिए अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिए उठ खड़े होते हैं तो समाज के लिए बड़े संकट का कारण बन जाते हैं।

संत कबीर कहते हैं कि ऐसा ऊंचा बनने का क्या लाभ, जिससे किसी को कोई सुख नहीं मिलता। खजूर का पेड़ बहुत ऊंचा होता है, किंतु वह किसी व्याकुल पंछी को ठंडी छांव नहीं दे सकता। उस पर लगा हुआ फल इतनी दूर होता है कि साधारण व्यक्ति उसे तोड़कर खा नहीं सकता–

बड़ा हुआ तो क्या हुआ जैसे पेड़ खजूर।
पंछी को छाया नहीं फल लागै अति दूर।।

इसी प्रकार बॉस अपने आपको ऊंचा समझकर अहंकार करता है, किंतु उसमें चंदन के छोटे वृक्ष जैसी सुगंध नहीं होती। एक दिन लोग उसे जला देते हैं–

ऊंचा कुल के कारने बंस बधिया अधिकार।
चंदन बास भेदे नहीं, जालिया सभ संसार।।

ऊंच-नीच की भावना से ग्रसित पांडे को संत कबीर ने बहुत खरी-खरी सुनाई। वे मानते थे कि ऐसा पंडित अपने ज्ञान का बोझ अपनी देह पर उसी प्रकार लादे हुए घूमता है जैसे कोई गधा चंदन का भार ढो रहा हो। ऐसे अहंकारी व्यक्ति को राम-नाम का तत्व तो समझता में आता नहीं, अंत में माया की धूल ही उसके मुंह पर गिरती है—

पांडे कौन कुमति तोहि लागी।
तू राम-नाम न जपहि अभागी।।
बैद-पुराण पढ़त अस पांडे, खर चंदन जैसे भारा।
राम नाम तत समझ नाही, अंति पड़े मुख छारा।।

संत कबीर कहते हैं कि वेद-शास्त्र पढ़ने का लाभ तभी है जब व्यक्ति सभी लोगों में समान रूप से परमात्मा का दर्शन करे। ऐसा व्यक्ति आवागमन के चक्र से मुक्त हो जाता है। जो व्यक्ति असमानता की छुरी से नीचे समझे जाने वाले व्यक्तियों का वध करता है और उसे धर्म समझता है, उससे पूछना चाहिए कि फिर धर्म कहां है? यदि ऐसा व्यक्ति अपने आपको मुनि कहता है तो फिर कसाई किसे कहते हैं—

वेद पड़े का फल पांडे सब घट देखे रामा।
जनम-मरन ते तउ तू छूटै सुफल होइ सब कामा।।
जीउ वधत अरू धरम कहत हौ अधरम कहां है भाई।
आयन तौ मुनिजन हवै बैठे, का सनि कहैं कसाई।।

उस युग के संतों-भक्तों ने समाज में व्याप्त ऊंच-नीच की भावना को दूर करने और समता मूलक समाज की स्थापना करने के लिए यह उपदेश दिया कि परमात्मा का वास सभी प्राणियों में है। उसी की ज्योति सभी प्राणियों में समाई हुई है। इसलिए ऊंच-नीच और असमानता के आधार पर जो व्यक्ति सामाजिक न्याय को आम लोगों तक पहुंचने नहीं देते, उन्हें ईश्वर की निकटता नहीं प्राप्त होती। संत कबीर कहते हैं—

लीका चानि न भूलो भाई।
खालिक खलक मैं खालिक सभ घट रहयो समाई।।
अल्ला एकै नूर उपाया, ताकी कैसी निंदा।
ता नूर ते सभ जग कीआ, कौन भला कौन मंदा।।

संत कबीर मानवीय एकता पर बार-बार आग्रह करते थे। जैसे सारे संसार में पवन और पानी एक ही जैसे हैं, एक ही ज्योति सारे संसार में फैली हुई है, एक ही मिट्टी से सभी प्राणी बने हुए हैं, उसी प्रकार मनुष्य भी एक समान हैं। उनमें भेद-भाव क्यों?

एकै पवन एक ही पानी, एक ज्योति संसारा।
एक ही खाक घड़े सब भांडे, एक ही सिरजन हारा।।

संत कबीर ने जहां भी आडंबर देखा, जहां भी सारहीन कर्म कांड देखा, जहां भी अंधविश्वास देखा, उन्होंने उसका खंडन किया—वह चाहे हिंदुओं में हो अथवा मुसलमानों में। उन्होंने मस्जिद पर चढ़कर बांग देने वाले मुल्ला को भी नहीं बख़्शा—

कंकड पत्थर जोड़कर मस्जिद लई बनाइ।
तापर मुल्ला बांग दे क्या वहरा भया खुदाइ।।

उन्होंने उसी मुल्ला से पूछा कि यदि खुदा मस्जिद में बसता है तो जहां मस्जिद नहीं है वहां कौन बसता है। हिंदू समझते हैं कि परमात्मा मूर्तियों में बसता है। वास्तव में उस परम तत्व को कोई नहीं पहचानता—

जो रे खुदाइ मसीत बसत है, अवर मुलक किह केरा।
हिंदू मूरति नाम निवासी, दुह मति ततु न हेरा।।

वास्तविकता यह है कि जब तक परमात्मा से संबंध नहीं जुड़ता, उस समय तक शंका नष्ट नहीं होती—पूजा, सेवा, नियम, व्रत ये सब गुड़ियों के खेल के समान है—

पूजा, सेवा, नेम, व्रत गुडीअन का सा खेल।
जब लग पिउ परसे नहीं, तब लग संसय मेल।।

संत कबीर अपने युग में महान भक्त थे, विचारक थे, समाज सुधारक थे और क्रांति दृष्टा थे। सबसे बड़ी बात कि उन्होंने समता मूलक समाज और सामाजिक न्याय की उस अवधारणा को जन-जन में प्रचारित किया जिसके लिए आज का भारतीय समाज भी संघर्षरत है।

(आजकल, अगस्त, 2006)

गुरुद्वारा चुनाव : विकल्प की तलाश करनी चाहिए

दिल्ली में सिख गुरुद्वारा मैनेजमेंट कमेटी की जरनल बॉडी के चुनाव 14 जनवरी को होने जा रहे हैं। इस चुनाव में लगभग चार लाख मतदाता भाग लेंगे। 1971 में भारत सरकार ने एक एक्ट पारित करके इस कमेटी की स्थापना की। दिल्ली में इस दृष्टि से 46 हल्के बने हुए हैं। प्रत्येक हल्के में से एक व्यक्ति चुना जाता है। पंजाब की शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी एक सदस्य को नामजद करती है। दिल्ली के विभिन्न क्षेत्रों की सिंह सभाएं दो प्रतिनिधियों का चुनाव करती है। आम सभाा दो सदस्यों को चुनती है। इस प्रकार 51 सदस्यों को आम सभा प्रति चार वर्ष बाद गठित होती है। ये सदस्य प्रतिवर्ष अध्यक्ष सहित 15 सदस्यों की कार्य समिति गठित करते हैं।

इस चुनाव की सारी व्यवस्था दिल्ली सरकार करती है। दिल्ली सरकार में उसका एक विभाग है जो किसी मंत्री के अधीन होता है। किन्तु देश में संसद अथवा विधान सभाओं के चुनाव पर जिस प्रकार निर्वाचन आयोग का नियंत्रण रहता है, जिस प्रकार चुनाव संहिता लागू होती है, जिस प्रकार सभी चुनाव समयबद्ध होते हैं—वैसा कुछ गुरुद्वारा कमेटी के चुनाव में नहीं है। चार वर्ष बाद आम सभा का चुनाव हों, प्रतिवर्ष नई कार्य कारणी समय से चुनी जाए ऐसा नहीं होता। जिस धड़े के हाथ में सत्ता होती है, वह चुनाव टालने की भरसक कोशिश करता है। विपक्षी धड़ा चुनाव कराने के लिए अदालत की शरण में जाता है। दिल्ली गुरुद्वारा कमेटी का लाखों रुपया अदालती कार्रवाइयों में खर्च होता है, वकीलों की जेबों में जाता है।

गुरुद्वारा कमेटी के चुनाव पर सदा ही राजनीति की छाया रही है। जैसे पंजाब की राजनीति में कांग्रेस और अकालीदल एक-दूसरे से टकराते हैं, उसी प्रकार दिल्ली की

गुरुद्वारा राजनीति में होता रहा है। इस राजनीति में कांग्रेस सीधे-सीधे कभी भाग नहीं लेती, किन्तु अकाली दल का वर्चस्व समाप्त करने के लिए वह उन उम्मीदवारों का समर्थन करती है जो विरोध में खड़े होते हैं। 14 जनवरी को होने जा रहे चुनाव की स्थिति भी ऐसी ही है। पंजाब की अकाली राजनीति में सदैव जत्थेदार गुरचरण सिंह टोहड़ा के समर्थन रहे, परमजीत सिंह सरना ने अकाली दल, दिल्ली नाम से अपना अलग दल बना लिया है। इस समय उनके धड़े का गुरुद्वारा कमेटी पर कब्ज़ा है। इस धड़े को कांग्रेस का पूरा समर्थन प्राप्त है। विरोध में अकाली दल (बादल) सभी सीटों पर चुनाव लड़ रहा है।

दिल्ली में इस समय दोनों पक्षों की ओर से चुनाव प्रचार पूरे यौवन पर हैं। दिल्ली के अनेक बुद्धिजीवियों ने अनेक बार मुख्यमंत्री श्रीमती शीला दीक्षित और शिक्षा मंत्री, साथ ही गुरुद्वारा चुनाव के प्रभारी, अरविंदर सिंह लवली को मिलकर यह मांग की इस चुनाव के लिए एक पक्की आचार संहिता बनाई जाए, ख़र्च की सीमा निर्धारित की जाए, मतमाताओं को लुभाने के लिए अपनाए जाने अनैतिक हथकंडों पर रोक लगाई जाए। किन्तु इस सम्बन्ध में विशेष कदम नहीं उठाए गए। चुनाव लड़ने वाले उम्मीदवारों ने होर्डिंग, पोस्टर, अन्य प्रचार माध्यमों का पूरा उपयोग तो किया ही है धन और शराब का प्रयोग भी अनेक स्थानों पर दिखाई दिया है।

आखिर इस चुनाव में ऐसी मारधाड़ क्यों हो रही है? दिल्ली गुरुद्वारा कमेटी एक धार्मिक संस्था है। यहां के नौ ऐतिहासिक गुरुद्वारों का सुचारु रूप से प्रवंध करना इसका मूल उद्देश्य है। इसमें ऐसा क्या है जो किसी उम्मीदवार को इस बात के लिए प्रेरित करे कि वह अपने चुनाव पर लाखों रुपया खर्च करे, सभी प्रकार के धर्म विरोधी कार्य करे, अपनी रातों की नींद उड़ाए? इस समय जो चुनावी माहौल दिख रहा है, सके सामने तो विधान सभा के चुनाव भी फीके पड़ जाते हैं।

दिल्ली गुरुद्वारा कमेटी नौ ऐतिहासिक गुरुद्वारों का प्रवन्ध करती है। यहां कई लाखों रुपयों का चढ़ावा नित्य चढ़ता है। इसके अर्न्तगत 20 से अधिक शिक्षण संस्थाएं हैं, जिनमें दिल्ली विश्वविद्यालय से संबंधित चार पोस्टग्रेजुएट कॉलेज है, दस गुरु हरिकृष्ण पब्लिक स्कूल हैं, पांच सरकारी सहायता प्राप्त स्कूल, पोलिटेनिक कॉलेज, इंजीनियरिंग कालेज, गुरु हरिकृष्ण अस्पताल और अजायबघर जैसी संस्थाएं हैं। इस कमेटी का वार्षिक बजट पचास करोड़ के आसपास है।

यह संस्था दिल्ली की सिख राजनीति का नाम केंद्र है। इस पर जिसका अधिकार होता है वह प्रदेश और केंद्र की सरकार पर अपना प्रभाव फैलाने में पूरा प्रयास करती है। वर्तमान अध्यक्ष ने पिछले कुछ समय में यह प्रयास किया है कि वे पंजाब की राजनीति को भी प्रभावित करें। फरवरी में पंजाब विधान सभा के चुनाव होने वाले हैं। परमजीत सिंह सरना इस समय मुख्यमंत्री कैप्टन अमरिन्दर सिंह के बहुत निकट हैं। दिल्ली गुरुद्वारा कमेटी का चुनाव परिणाम पंजाब विधानसभा के चुनाव पर बहुत असर डालेगा, इसमें

किसी को संदेह नहीं है।

कमेटी के लिए चुने जाने वाले सदस्यों में, दुर्भाग्य से, ऐसे सदस्य बहुत कम होते हैं जो धार्मिक भावना से प्रेरित होते हों और सेवा भावी हों। आम सदस्यों की रुचि इस बात में होती है कि उन्हें किसी कॉलेज या स्कूल की प्रबंध समिति का अध्यक्ष या कोषाध्यक्ष बना दिया जाए अथवा अन्य किसी लाभकारी पद पर नियुक्त कर दिया जाए। अपनी पार्टी और अपने धड़े के हित और प्रसन्नता के लिए ये पद बांटें जाते हैं। कई बार तो शिक्षण संस्थाओं का अध्यक्ष पद उन्हें मिल जाता है जो अधिक पढ़े-लिखे नहीं होते। उस स्थिति के अनेक स्कूलों के ऐसे अध्यापक/अध्यापिकाएं नियुक्त हो जाते हैं, जिनमें आवश्यक योग्यता नहीं होती। इसलिए दिल्ली के अधिसंख्य स्कूलों का स्तर वह नहीं होता जैसा किसी पब्लिक स्कूलों का होना चाहिए।

पिछले अनेक वर्षों से दिल्ली के सिख बुद्धिजीवी और सिख फोरम जैसी संस्थाएं इस बात का प्रयास करती रही है कि अनेक प्रकार के भ्रष्टाचार में आकंठ डूबी गुरुद्वारा कमेटी में कुछ सुधार किया जाए, विशेपरूप से इसके द्वारा संचालित स्कूलों के प्रबंध को ठीक किया जाए। इनका आग्रह यह है कि शिक्षण संस्थाओं के प्रबंध के लिए गुरुद्वारा कमेटी के अन्तर्गत एक स्वायत्त शिक्षा समिति बनाई जाए। इस समिति में प्रमुख शिक्षाविद शामिल किए जाएं। यदि शिक्षा समिति यह देखे कि सभी शिक्षण संस्थाओं में ऐसे शिक्षाविद् ही प्रबंध समितियों को संभालें। शिक्षा समिति द्वारा ही अध्यापकों की नियुक्ति की जाए। स्कूलों में विद्यार्थियों के प्रवेश की भी यही समिति पड़ताल करे।

पिछले दो चुनाव 1995 और 2001 का मैं प्रत्यक्षदर्शी हूं। हर बार दोनों प्रमुख धड़ों के नेताओं से बातचीत की गई। सभी धड़ों ने वायदा किया कि वे अच्छे, चरित्रवान, पढ़े-लिखे और सेवाभावी व्यक्तियों को अपना उम्मीदवार बनाएंगे। सभी ने वायदा किया वे कमेटी के आय-व्यय का हिसाब-किताब देखने और उसे नियंत्रित करने के लिए किसी अनुभवी व्यक्ति को 'फाइनेन्स कन्ट्रोलर' के रूप में नियुक्त करेंगे। सभी ने यह वायदा किया कि शक्षण सिंस्थाओं के प्रबंध के लिए वे एजूकेशन कौंसिल भी बनाएंगे। उन्होंने अपने चुनाव घोपणा पत्र भी जारी किए। किन्तु चुनाव होने के बाद किसी ने भी वायदे नहीं निभाएं, सभी ने अपने घोपणा पत्र रद्दी की टोकरी में डाल दिए। यदि किसी काबिज धड़े ने शिक्षा समिति बनाई भी, तो वह नाममात्र को रही। उसे अधिकार नहीं दिए गए। स्कूलों को प्रबंध समितियां मनमानी ढंग से बनाई गई। अध्यापकों की नियुक्तियों पर योग्यता की अपेक्षा सिफारिश ही अधिक काम करती रही।

गुरुद्वारा कमेटी के लिए चुने गए सदस्यों में इस संबंध में भी कोई प्रतिबंध नहीं है। दल बदलने के लिए सदस्यों को अनेक प्रकार के लालच दिए जाते हैं। कई बार सदस्यों को अपना दल बदलने के लिए बीस-पच्चीस लाख रुपए तक दिए जाते हैं।

14 जनवरी को होने वाले चुनाव में कांग्रेस समर्थित सरना गुट और अकाली दल समर्थित अवतार सिंह हित ग्रुप उसी प्रकार के वायदे कर रहे हैं जैसे पिछले चुनावों

में किए गए थे। कोई भी धड़ा जीते, मैं नई कमेटी से किसी विशेष परिवर्तन की आशा नहीं करता। दोनों ही धड़ों ने अधिसंख्य वही उम्मीदवार खड़े किए हैं, जो पिछली कमेटी में भी थे। उम्मीदवारों के चुनाव में चरित्र, सेवा भावना, धार्मिकता की अपेक्षा इस बात को देखा गया है कि उसके जीतने की संभावना कितनी है।

संसार के किसी भी धर्म में उनके पवित्र स्थानों का प्रबंध संभालने के लिए ट्रस्ट हैं, सरकारी हस्तक्षेप से बनी समितियां है अथवा स्थानीय स्तर की संस्थाएं हैं। इनके भी चुनाव होते हैं। किन्तु जिस विशाल स्तर पर शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी और दिल्ली सिख गुरुद्वारा मैनेजमेंट कमेटी के चुनावों में लाखों लोगों की भागीदारी होती है। उनके निर्वाचन क्षेत्र होते हैं और बड़े पैमाने पर प्रचार कार्य होता है वैसा भी कहीं नहीं दिखता।

एक शती पहले तक सभी ऐतिहासिक गुरुद्वारों पर महंतों-पुजारियों का कब्जा था। धीरे-धीरे वे महंत बहुत भ्रष्ट हो गए और गुरुद्वारों का दुरुपयोग करने लगे। 1920 में पंजाब में गुरुद्वारा सुधार की लहर चली। पांच वर्ष तक चली इस लहर के परिणाम स्वरूप तत्कालीन पंजाब सरकार ने एक कानून बनाया और महंत को हटाकर गुरुद्वारों का प्रबंध पूरी तरह से सिख संगत को सौंप दिया। लोकतांत्रिक ढंग से अपने धर्म स्थानों का प्रबंध करने का संसार के किसी भी धर्म में संभवतः यह पहला उदाहरण था। 1971 में दिल्ली के ऐतिहासिक गुरुद्वारों के प्रबंध के लिए सरकार ने उसी ढंग का एक अधिनियम बना दिया।

लोकतंत्र की सभी अच्छाइयों-बुराइयों गुरुद्वारा चुनाव में आ गई हैं। संसदीय प्रणाली के लोकतंत्र की अनेक बुराइयों से आज हमारे देश की राजनीति जूझ रही है, और इसका विकल्प ढूंढ़ने की चर्चा होती रहती है।

आज आवश्यकता इस बात की दिखाई दे रही है कि गुरुद्वारों के प्रबंध के लिए बनी इस प्रणाली का भी कोई विकल्प ढूंढ़ जाएं।

(दैनिक जागरण, 11-01-07)

हिन्दुत्व के लिए दिशा निर्देश स्वामी विवेकानंद से लेना चाहिए

तेरहवीं शती के महाराष्ट्र के संत नामदेव ने अपने समय के दो प्रमुख धार्मिक समुदायों-हिंदुओं और मुसलमानों के संबंध में अपना विचार देते हुए कहा था कि हिंदू अन्धा हो गया है और मुसलमान काना हो गया है। जो ज्ञानी पुरुष है, वह दोनों से सयाना है–

हिन्दू अन्ना तुरकू काना
दोहूं ते ज्ञानी सयाना।।

संत नामदेव को लगा था कि हिन्दू पूरी तरह रूढ़िवद्ध होकर अन्धा हो गया है। मुसलमान उसी मार्ग पर चल रहा है। वह अभी पूरी तरह रूढ़िबद्ध नहीं हुआ। इसलिए वह कानों के समान है। इन दोनों की अपेक्षा ज्ञानी सयाना है क्योंकि वह अच्छे-बुरे की पूरी पहचान कर लेता है।

बिना समझे-बूझे आंखें बंद करके, रूढ़िबद्ध होकर चलते जाना अज्ञानता है। स्वामी विवेकानंद ने धर्म को समझने, उसके द्वारा निर्देशित मार्ग पर चलने, संसार की परिवर्तनशील स्थितियों की पड़ताल करे, उनके अनुसार अपने आपको ढालने और मतभिन्नता को स्वीकार करने का आग्रह किया। उन्होंने शिकागों में हुए सर्वधर्म सम्मेलन के अंतिम दिन 27 सितम्बर 1893 में भाषण देते हुए कहा था–विश्व के सभी धर्मों के सम्मेलन की आवश्यकता आज पूर्ण रूप से सिद्ध हो गई है।

विभिन्न धर्मों के मध्य मतभेदों को उन्होंने स्वीकार करते हुए एक बात बड़े स्पष्टरूप से कही थी कि यदि कोई महाशय यह आशा करें कि एक ही मत अन्य मतों काध्वंस करके विजयी बने जिससे एकता हो जाए, तो मैं उन्हें यही उत्तर देता हूं कि भाई, तुम्हारी यह आशा असंभव है। हां, प्रत्येक धर्म को चाहिए कि अन्य धर्मों को

हृदयंगम करके पुष्टि लाभ करे और वैशिष्ट्य की रक्षा करता हुआ अपनी प्रकृति के अनुसार वृद्धि को प्राप्त हो। उस भाषण में उन्होंने भविष्य के लिए यह सदा कांक्षा भी व्यक्त की भी—प्रत्येक धर्म की पताका पर शीघ्र ही यही लिखा जाएगा—परस्पर सहायक हो, विरोध न करो, रक्षक हो, विनाशकारी न बनो, एकता तथा शान्ति रहे, विभेद और कलह दूर हो।

स्वामी विवेकानंद को यह कहे एक सौ वर्ष से अधिक हो गए। उनके बाद संसार के अनेक भागों में इसी प्रकार के विश्व-धर्म सम्मेलन हुए जिनमें धर्मों के मध्य सहिष्णुता, सद्भाव, और सहअस्तित्व की बातें की गई। किन्तु पूरी की पूरी बीसवीं शती असहिष्णुता, दुर्भाव और विनाश से भरी रही। इस शती के मध्य में हमारा देश इसी असहिष्णुता का परिणाम था, जिसमें लाखों लोग मारे गए कहीं अधिक विस्थापित हो गए। वर्तमान शती में सभ्यताओं के संघर्ष की जितनी चर्चा हो रही है, उतनी पहले कभी नहीं हुई।

छह दशक पूर्व हुए भारत विभाजन के समय ऐसा दिख रहा है कि धार्मिक आधार पर इस देश का ध्रुवीकरण हो गया है। 1940 में लाहौर में मुस्लिम लीग के हुए अधिवेशन में एक पृथक मुस्लिम राष्ट्र की स्थापना का प्रस्ताव पारित हुआ। 1925 से ही राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ ने 'हिन्दू राष्ट्र' की स्थापना को अपना मन्तव्य घोषित कर दिया था। 1946 में केबिनेट मिशन के सम्मुख सिख नेताओं ने यह प्रस्ताव रखा था कि या तो भारत अविभाजित रहे अथवा एक स्वतंत्र सिख राज्य बनाया जाए। इसी उस समय पंजाब में कुछ सिख नेताओं ने 'आज़ाद पंजाब' बनाने की योजना भी सम्मुख रखी थी।

आज ऐसा लगता है कि स्वामी विवेकानंद का स्वप्न को उसी धर्म के कुछ लोगों द्वारा चोट लगाई जा रही है जिसका बड़ा गौरवपूर्ण प्रतिनिधित्व उन्होंने शिकागो के सर्वधर्म सम्मेलन में किया था। हिंदुत्व की उनकी परिकल्पना और आज के कुछ बड़बोले हिंदुत्व रक्षकों की अवधारणा क्या एक जैसी है?

इस संदर्भ में मुझे एक बात याद आती है। लगभग ढाई वर्ष पूर्व प्रधानमंत्री निवास पर तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने श्री के आर मलकानी (अब दिवंगत) की पुस्तक-इंडिया फर्स्ट' का लोकार्पण किया था। उस अवसर पर बोलते हुए उन्होंने हिंदुत्व पर एक टिप्पणी की थी। उन्होंने कहा था कि स्वामी विवेकानंद जब हिंदुत्व की बात करते हैं तो उन्हें कोई सांप्रदायिक नहीं कहता। किंतु आजकल कुछ लोग अपने वक्तव्यों और भाषणों में हिंदुत्व की जो व्याख्या कर रहे हैं उससे तो मैं दूर ही रहना चाहता हूं।

उनका संकेत किन समुत्साही व्यक्तियों की ओर था यह सभी जानते हैं। इन लोगों ने हिंदुत्व को 'कल्ट' बना देने में कोई कसर नहीं छोड़ी हैं। स्वामी विवेकानंद ने जिस उदात्त हिंदुत्व की बात अपनी शिकागो यात्रा में की थी उसे इन्होंने ग्रहण नहीं किया है।

बाबरी मसिजद, जिसे कुछ लोग विवादित ढांचा कहना अधिक पसंद करते हैं,

के प्रश्न पर भारतीय जनता पार्टी और विश्व हिंदू परिषद से मेरा सदैव मतभेद रहा है। जिस ढंग से इस ढांचे को ढाया गया, उसमें गौरवान्वित होने वाली कोई बात नहीं है। देश के सभी प्रबुद्ध जन यह मानते रहे हैं कि धार्मिक संदर्भ के ऐसे संवेदनशील प्रश्नों पर या तो सभी पक्षों को आम सहमति विकसित करनी चाहिए अन्यथा इसे न्यायालय के निर्णय पर छोड़ देना चाहिए।

मुझे ऐसी ही एक घटना का स्मरण होता है। अठारहवीं शती में मुगल शासकों द्वारा सिखों पर बहुत अत्याचार हुए। लाहौर के सूबेदार मीर मन्नू ने यह आज्ञा प्रसारित करा दी थी कि जो कोई किसी सिख का सिर काटकर लाएगा उसे सरकार द्वारा पुरस्कृत किया जाएगा। पंजाब के विभिन्न क्षेत्रों से भी विद्रोह सिखों को बंदी बनाकर लाहौर ले जाया जाता थ। मोरमन्नू ने लाहौर के नरवास नामक स्थान पर एक मस्जिद में कुछ मुफ्ती बैठा दिए थे जो पकड़कर सिखों के सम्मुख यह चुनाव रखते थे कि या तो वे धर्म परिवर्तन स्वीकार करे या मृत्यु को गले लगाएं। प्रायः सभी सिख मृत्यु स्वीकार करते थे। उन्हें मृत्यु दंड दे दिया जाता था। इस स्थान पर कई हज़ार सिख शहीद हुए।

अठारहवीं शती के अंत में जब पंजाब में सिख राज्य स्थापित हुआ तो उन शहीदों की याद में वहां एक गुरुद्वारा बनाया गया, जिसे शहीदगंज कहा जाता है।

1850 में जब महाराजा रणजीत सिंह द्वारा स्थापित राज्य अंग्रेज़ों के अधीन हो गया तो नूर मोहम्मद नाम के एक व्यक्ति ने अदालत में एक केस दर्ज कराया कि शहीद गज गुरुद्वारे की ज़मीन उसे मिलनी चाहिए, योंकि मस्जिद स्थान है। अदालत ने उसकी याचिका ठुकरा दी। इसी प्रकार 1854 ओर 1883 में भी स्थानीय अदालतों में मुकदमे दर्ज कराए गए किन्तु अदालतों ने यह तर्क देकर कि यह स्थान अब गुरुद्वारा है, मस्जिद नहीं है, उन दावों को खारिज कर दिया।

यह अदालती लड़ाई वर्षों तक चलती रही। लाहौर के मुसलमान इसे पंजाब के उच्च न्यायालय में भी ले गए वहां भी उन्हें सफलता नहीं मिली। एक-दो बार मस्जिद समर्थक भीड़ ने गुरुद्वारे में जबरदस्ती घुसकर अधिकार करना चाहा किंतु अंग्रेज़ सरकार ने वैसा नहीं होने दिया। मुकदमा प्रिवी कौंसिल (सर्वोच्च न्यायालय) तक भी पहुंचा। किन्तु वहां से भी 2 मई 1940 को खारिज कर दिया गया। उसे गुरुद्वारा ही माना गया। यह अदालती लड़ाई पूरे 90 वर्ष चली। इस प्रश्न पर पंजाब में बहुत बड़ा ख़ून-ख़रावा हो सकता था, किंतु तत्कालीन सरकार की सतर्कता से वह नहीं हुआ।

आख़िर हिंदुत्ववादी दलों को देश की न्यायिक प्रक्रिया में आस्था क्यों नहीं है। बाबरी मस्जिद के ढांचे को गिरे कई वर्ष हो चुके हैं। इस संबंध में दोनों पक्षों के मध्य आम सहमति विकसित नहीं हुई है। पूरा केस आज भी न्यायालयों में निर्णय की प्रतीक्षा कर रहा है। मस्जिद समर्थक वह कह चुके हैं कि उन्हें इस संबंध में अदालती फैसला मान्य होगा, किंतु हिंदूवादी संस्थाएं या तो वाहुबल की बात करती है अथवा इसे चुनावी मुद्दा बनाती है। यह स्वामी विवेकानंद द्वारा संकल्पित हिंदुत्व नहीं है।

मुझे आज हिंदू राष्ट्र की बात संगत नहीं लगती, जिस पर राष्ट्रीय स्वयं सेवक उतना ही आग्रहशील दिखता है जितना 60 वर्ष पूर्व था। उस समय इस बात की कुछ संगति हो सकती थी। आज हमारा संविधान इस देश के सभी धर्मों, मतों, सम्प्रदायों को समान-सम्मान देता हुआ एक सेक्युलर भारत-राष्ट्र की बात करता है। भारत राष्ट्र और हिंदू राष्ट्र की बात करता है। भारत राष्ट्र और हिन्दूराष्ट्र की बात करता है। भारत राष्ट्र और हिन्दू राष्ट्र पर्यायवाची नहीं है। न इस देश का संविधान इस अवधारणा को स्वीकार करता है। स्वामी विवेकानंद द्वारा व्याख्यापित हिन्दूधर्म एक उदात्त, वेदप्रणीत जीवन-शैली का प्रतीक था, न कि हिन्दूराष्ट्र की राजनीतिक अवधारणा थी।

भारतीय जनता पार्टी फिर से 'हिन्दुत्व' के एजेंडे की ओर मुड़ रही है। उसकी धारणा है कि इस एजेंडे के कारण ही देश की लोक सभा में उसके सदस्यों की संख्या 182 हो गई थी। किन्तु क्या यह एजेंडा उसे 282 तक भी ले जा सकता है?

मैं समझता हूं कि प्रश्न इस प्रकार की गिनती का नहीं है। प्रश्न हमारी सम्पूर्ण ज्ञानशीलता है। हम इस देश को कैसा बनाना चाहते हैं? सम्पूर्ण उत्तर-पूर्व भारत अलगाववाद से जूझ रहा है। कुछ समय पूर्व ही पंजाब गहरे संकट से उबरा है। आज भी वहां ऐसे तत्व हैं जो कहते हैं कि यदि भारत हिन्दूराष्ट्र है तो पंजाब सिख राष्ट्र क्यों नहीं है। हम मुस्लिम बहुल कश्मीर को भारत का अभिन्न अंग भी मानते हैं और हिन्दू राष्ट्र भी चाहते हैं। ऐसी विडंबनाओं में हिंदुत्व को घेरना कहां की बुद्धिमता है?

(दैनिक जागरण, 18-01-07)

इतिहास

युद्ध का भी एक दर्शन होता है

भारत ने इन दिनों में जो पांच परमाणु परीक्षण किए उन्हें लेकर संपूर्ण संसार न केवल उद्वेलित और चकित है, बल्कि लगभग बंट भी गया है। कुछ देश भारत के इस कदम की भरपूर निंदा करते हुए उस पर आर्थिक प्रतिबंधों की घोषणा कर रहे हैं और कुछ देश अपनी नापसंदगी जाहिर करते हुए भी प्रतिबंधों का समर्थन नहीं कर रहे हैं और यह कह रहे हैं कि ऐसे प्रतिबंधों का उल्टा असर होगा। प्रतिबंधों की घोषणा करने वाले देशों में अमेरिका सबसे आगे है। अमेरिका ने अनेक वर्षों से संसार भर का दारोगा होने का दायित्व अपने कंधों पर ओढ़ लिया है और 'सैक्शन' की चाबुक से वह हर किसी को पीटने की धमकी देता रहता है। इन दिनों एक रूसी राजनयिक ने यह ठीक ही कहा कि अमरिका 'सैक्शनोमीनिया' हो गया है।

अपने देश में भी इस घटना को लेकर काफी वाद-विवाद है। यह मुद्दा इतना संवेदनशील है कि किसी राजनैतिक दल का, इसका खुलकर विरोध करने की हिम्मत नहीं है। सभी को अपने वोट बैंक की चिंता खाए जा रही है। बड़ी चिंता यह है कि भारतीय जनता पार्टी इसका भरपूर राजनीतिक लाभ उठाएगी। उनका यह डर अस्वाभाविक भी नहीं है।

इस प्रश्न पर देश के बुद्धिजीवी, पत्रकार और मानवाधिकारवादी भी बंटे हुए हैं।

किंतु इस बात में किसी को संदेह नहीं कि परमाणु विस्फोटों की यह घटना पिछले दो दशक में इस देश में घटित सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना है। इस घटना को तात्कालिक प्रभावों और भावुक दृष्टि से न देखकर दूरगामी यथार्थपरक दृष्टि से देखने की आवश्यकता है।

इस देश ने प्राचीन काल से ही मानवीय चेतना के विकास में जितना योगदान दिया, शायद ही संसार के अन्य किसी देश ने दिया हो। गंभीरतम तत्वज्ञान इस देश में उभरा और धर्मदर्शन के क्षेत्र में ब्रह्म, माया, जीवन, मृत्यु आदि प्रश्नों पर इस देश के मनीषियों ने जो विचार दिए उन्होंने मानवीय चिंतन का बहुविधि विस्तार किया।

जिस प्रकार आध्यात्मिक और भौतिक क्षेत्रों के विविध आयामों पर सतत चिंतन-मनन करते हुए इस देश में अनेक शास्त्रों की रचना हुई, उस प्रकार युद्ध दर्शन पर कोई शास्त्र नहीं बना। युद्ध का अपना एक कौशल है इससे आगे बढ़कर उसका एक पूरा दर्शन है, इस बात पर इस देश में गंभीर चिंतन नहीं हुआ। इस देश में प्राचीन काल से चार पुरुषार्थ स्वीकार किए गए, जिन्हें 'पुरुषार्थ चतुष्टय' कहा जाता है। ये हैं धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। यदि ध्यान से देखा जाए तो ये चारों पुरुषार्थ व्यक्ति के उसके निजी जीवन से ही अधिक संबंध रखते हैं। इनका पूरे समाज, पूरे देश, पूरे राष्ट्र के साथ संबंध होना आवश्यक नहीं है किंतु युद्ध एकाकी प्रक्रिया न होकर सामूहिक कर्म है। यह कर्म पूरे समाज के साथ और आम लोगों के साथ जुड़कर ही पूर्ण होता है। इस देश में धर्म पर बहुत कुछ लिखा सोचा गया। मोक्ष की कामना से हमारे शास्त्र भरे पड़े हैं। अर्थ और कुटिल राजनीति पर चाणक्य जैसे मनीषी ने बहुत कुछ लिखा। काम की तो यहां पूजा होती रही। हमारे अनेक मंदिरों में निर्मित मिथुन मूर्तियां इस बात का प्रमाण हैं। ऋषि वात्स्यायन का 'कामसूत्र' संसार की बेजोड़ रचना है।

परंतु ऐसे किसी विशिष्ट ग्रंथ की याद नहीं आती जो युद्ध कला और युद्ध दर्शन की व्यापकता को समाहित करता हो।

युद्ध एक पूरा दर्शन है, जीवन दृष्टि है इस बात को संभवतः गुरु गोबिंद सिंह ने सबसे पहले अनुभव किया। उन्होंने अनुभव किया कि कृपाण हाथ में लेकर युद्ध भूमि में जाकर शत्रु से भिड़ जाना ही पर्याप्त नहीं है। यह कर्म तो इस देश की क्षत्रिय जातियां सदियों से करती ही आ रही थीं। आवश्यकता इस बात की थी कि युद्ध कर्म को लोगों की मानसिकता का हिस्सा बना दिया, उनके लिए यह एक पूरा जीवन दर्शन बन जाए।

गुरु गोबिंद सिंह ने इस कार्य को संपन्न करने के लिए व्यक्ति और समाज के उद्‌देश्य बदल लिए। 'जब आव (आयु) की अउध (अवधि) निदान बनै अति ही रारा मैं तब जूझ मरौ' का आदर्श लोगों के सामने रख दिया। 'सवा लाख से एक लड़ाऊं' का निश्चय प्रकट किया। हरी, बनवारी, गोपाल। दीनदयाल, केशव, माधव, बंशीधर, गोपीनाथ, रास बिहारी जैसे इष्ट नामों के स्थान पर खडगकेतु, असिध्वज, वाणपाणि, कृपाणपाणि, चक्रपाणि, दुष्टहंता, अरिदमन, दीर्घदाढ़ जैसे युद्ध प्रकृति के नाम दिए और इस दर्शन को पुष्ट करने के लिए साहित्य की रचना की। उन्होंने 'शस्त्रनाम माला' जैसा एक पूरा ग्रंथ ही अस्त्र-शस्त्रों की स्तुति में लिख दिया। उन्होंने लोगों के नाम बदल दिए। खैराती, फकीरा, रुलदू, निचकू, भिखारी, दीनू जैसे नाम बदल कर उन्हें अजीत

सिंह, जुझार सिंह, रणजीत सिंह, शेर सिंह जैसे नाम दे दिए। उनका रूप रंग बदल दिया, वेशभूषा बदल दी और सबसे बड़ी बात यह कि अभी तक युद्ध क्रिया के साथ समाज का केवल एक वर्ग क्षत्रिय ही जुड़ा हुआ था। उन्होंने समाज के पीड़ित, दलित, उपेक्षित और कमजोर वर्गों के हाथ में तलवार देकर उन्हें योद्धा रूप में परिवर्तित कर दिया।

राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर ने अपनी पुस्तक–'संस्कृति के चार अध्याय' में एक स्थान पर लिखा है–'आत्म रक्षा के लिए लड़ाइयां। तो राणा प्रताप और शिवाजी ने भी लड़ीं, किंतु वे युद्ध दर्शन नहीं निकाल सके। सिखों ने यह दर्शन भी निकाला और खिलाफत जैसा संगठन भी बनाया।'

युद्ध दर्शन का मूल मंत्र यह है कि इतने दुर्बल कभी न बनो कि किसी के मन में आपको लूटने का लोभ उत्पन्न हो जाए। गुरु तेग़बहादुर की एक उक्ति याद आती हैं'–'मैं काहू को देत नाहि ना मैं मानत आन।' किसी को भयभीत मत करो। ना ही किसी का भय मानो।' इस कथन में किसी को भयभीत न करना इतना महत्वपूर्ण नहीं है, जितना किसी से भयभीत न होना। कमजोर व्यक्ति या राष्ट्र किसी को भयभीत कैसे करेगा? ताकतवर व्यक्ति या राष्ट्र ही, जो किसी का भय नहीं मानता किसी को भयभीत न करने की समझ और सामर्थ्य प्राप्त कर सकता है।

भारत ने जो परमाणु परीक्षण किए हैं उनसे आस-पड़ोस के देशों में हथियारों की दौड़ शुरू हो सकती है। सच बात तो यह है कि यह दौड़ बहुत समय से चल रही है। सभी देश अपनी सुरक्षा को लेकर चिंतित हैं। अमेरिका के परमाणु शक्ति बनते ही यह दौड़ शुरू हो गई थी। शीघ्र ही तत्कालीन सोवियत संघ (अब रूस) ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी जैसे देश परमाणु शक्ति बन गए। फिर चीन भी इन देशों में शामिल हो गया।

पाकिस्तान से हमारा रिश्ता चचेरे-फुफेरे भाइयों जैसा है। हम एक दूसरे की बांहें भी बन सकते हैं, एक दूसरे की बांहें काट भी सकते हैं। हम एक दूसरे के गले लगकर रो भी सकते हैं, एक दूसरे का गला दबा भी सकते हैं। इन दोनों देशों में स्थायी शांति का एकमात्र गुर है कि दोनों देशों का शक्ति संतुलन कभी न बिगड़े। यदि आज भारत परमाणु शक्ति बन गया है तो पाकिस्तान को भी यह शक्ति अर्जित करनी चाहिए जो वह पहले ही अर्जित कर चुका है।

लगभग पांच हजार वर्ष पहले हुआ महाभारत का युद्ध भी चचेरे भाइयों की आपसी कलह के कारण हुआ था। उस युद्ध का भी सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण यह था कि कौरवों और पांडवों के बीच शक्ति संतुलन बिगड़ गया था। द्वितीय विश्व युद्ध के समय यदि जापान के पास परमाणु शक्ति होती तो अमेरिका को उस पर परमाणु बम डालकर हिरोशिमा और नागासाकी को बर्बाद करने की जुर्रत नहीं होती।

भारत के चारों ओर इस समय जो स्थिति है उसमें चीन, भारत और पाकिस्तान के मध्य शक्ति संतुलन होना बहुत आवश्यक है। शांति, भाईचारा, मित्रता, अहिंसा, मानवीय मूल्य बहुत अच्छे आदर्श हैं। मनुष्यता इन आदर्शों के बिना जीवित नहीं रह

सकती। भारत ने सदा ही इन आदर्शों पर आग्रह किया है, बल्कि आवश्यकता से अधिक आग्रह किया है। आम भारतीय मानस, उन आदर्शों के कारण युद्ध को एक गर्हित कर्म समझने लग गया है। इसके जो भयंकर परिणाम निकले, भारतीय इतिहास उनका जीवंत उदाहरण है। जो राष्ट्र यथार्थ की ओर से आंखें फेर कर स्वप्नों के संसार में जीने लगते हैं, वे अपनी स्वतंत्रता गवां बैठते हैं।

चौदहवीं सदी में एक विदेशी पर्यटक, विल डुरान्ट भारत आया था। उसने अपने अनुभवों को लिपिबद्ध करते हुए एक स्थान पर लिखा था—'जात-पांत के भेदभाव से शक्तिहीन हो जाने के कारण हिंदू जाति आक्रमणकारियों के सामने विवश होती चली गई। आक्रमणों के प्रहार सहते-सहते इसकी अवरोध शक्ति का दीवाला निकल गया और जब आत्म रक्षा का कोई उपाय नहीं रहा, तब ये लोग अलौकिक बातों में अपना त्राण खोजने लगे। अपने आपको दिलासा देने के लिए इन्होंने इस दलील का आश्रय लिया कि स्वाधीनता हो या पराधीनता दोनों ही माया की वस्तुएं हैं। जीवन क्षण भंगुर है। इसलिए व्यक्ति या समाज की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करना, कदाचित ही आवश्यक कार्य हो। हिंदू जाति के क्लेशपूर्ण, भीषण इतिहास में से जो शिक्षा निकली है, वह यह है कि निरंतर सावधानी बरते बिना, सभ्यता की रक्षा नहीं की जा सकती। जातियों में शांति के लिए प्रेम होना ठीक है, किंतु उन्हें अपने बारूद को गीला नहीं होने देना चाहिए।

हाल में भारत की ओर से किए गए परमाणु परीक्षणों को इस दृष्टि से देखना चाहिए। बड़े देश यह सामर्थ्य पहले ही प्राप्त कर चुके हैं। चीन और पाकिस्तान भी परमाणु शक्ति बन गए हैं। ऐसी स्थिति में इस देश को किसी प्रकार का जोखिम नहीं लेना चाहिए, जिससे वह असावधानी में किसी पड़ोसी देश के दुस्साहस का शिकार बन जाए। यह ठीक है कि आज इस देश को अपने किसी पड़ोसी देश से कोई खतरा नहीं है, किंतु कब कोई खतरा आगे बढ़कर किसी को घेर लेता है, इस संबंध में क्या कहा जा सकता है। इसलिए बुद्धिमत्ता यही है कि अपने बारूद को कभी गीला न होने दिया जाए।

इन परमाणु परीक्षणों ने न केवल शक्ति संतुलन स्थापित किया है, बल्कि इस देश में एक नए आत्मविश्वास का संचार किया। राष्ट्र को जागरूक रखने के लिए ऐसा आत्मविश्वास नितांत आवश्यक है।

(नवभारत टाइम्स, 27-05-1998)

भारत अस्त्र-शस्त्रों की दृष्टि से सदा उदासीन रहा है

जैसी स्थितियां इस समय विकसित हो गई है उसमें पश्चिम और दक्षिण एशिया युद्ध के वादलों से घिर गया है। युग ऐसा आ गया है जिसमें धरती पर लड़ा जाने वाला युद्ध धीरे-धीरे अपना महत्व खो रहा है। युद्ध की क्रियाएं धरती से आकाश की ओर बढ़ती चली जा रही हैं। हवाई हमले प्रक्षेपास्त्र और सबसे अधिक विनाशकारी आणविक अस्त्र आज के युद्ध के ऐसे हथियार बन गए हैं जिनसे सभी देश सन्नद्ध होना चाहते हैं।

इस दृष्टि से अब यह देश भी अस्त्र-शस्त्रों की दौड़ में पूरी तरह शामिल है, किंतु दौड़ में हम अगुआ नहीं हैं। हमारी भूमिका पिछलगुआ की भूमिका रहती है। जब संसार के अनेक देश इस दौड़ में बहुत आगे चले जाते हैं, तब हम चौंकते हैं और यह प्रयास करते हैं कि हम भी उन हथियारों को प्राप्त करें जो अन्य उन्नत देशों के पास हैं। इसके लिए हम अरबों रुपए खर्च करके विदेशों से नवीनतम हथियार (सभी घोटालों के बावजूद) मंगवाते हैं अथवा कुछ देशों की सहायता से उनकी तकनीक विकसित करते हैं।

हमारा हाल यह है कि लम्बी चौड़ी चोट खाने के बाद हम सचेत होते हैं। 1962 में चीन से हुए युद्ध के समय हमारे हथियार तो दोयंम दर्जे के थे ही बर्फीली पहाड़ियों पर लड़ने के लिए सारे सैनिकों के पास पूरे वस्त्र भी नहीं थे हाल में ही कारगिल में हुए युद्ध में भी हमारे सैनिकों के पास सही ढंग की साज-सज्जा नहीं थी।

प्राचीन काल से ही यह देश अस्त्र-शस्त्रों की दृष्टि से कभी सजग देश नहीं रहा। यदि पुराणकालीन अस्त्र-शस्त्रों की बात छोड़ दें जिनका मुख्य-आधार तंत्र न होकर मंत्र

था और जिनके प्रयोग में लौकिकता के ऊपर अलौकिकता पूरी तरह छाई हुई दिखती है, ऐतिहासिक युग इस दृष्टि से इस देश के प्रमाद की ही कहानी कहता है।

विदेशी आक्रांता सिकंदर के आक्रमण और तत्कालीन पंजाब के शासक पौरव (पोरस) से हुए उसके युद्ध (327 ई.पू.) को इतिहास युग की पहली महत्वपूर्ण घटना माना जा सकता है। स्वयं पौरव में और उसकी सेना में वीरता की कोई कमी नहीं थी किंतु रणनीति, युद्ध-कौशल और शस्त्रों की दृष्टि से उसमें और सिकंदर में कोई समानता नहीं थी। सर जदुनाथ सरकार ने अपनी पुस्तक 'मिलिटरी हिस्ट्री ऑफ इंडिया' में लिखा है कि जब हम दोनों पक्षों की शस्त्र तथा युद्ध के उपकरण के आधार पर तुलना करते हैं तो ऐसा लगता है कि मानो बांस युग के व्यक्ति इस्पात युग के व्यक्ति से लड़ रहे हों। यूनानी सेना के घोड़े और घुड़सवार कवच से ढके रहते थे। उसके पैदल सैनिक कवच पहनते थे और तलवार भाला तथा एक अंडाकार ढाल, जो सारे शरीर को ढक सके, लेकर चलते थे। ये सैनिक पूरी तरह से प्रशिक्षित, सुसज्जित और सघन रूप से केंद्रीभूत रहते थे। दूसरी प्रकार के सैनिकों के पास एक लंबी तलवार (4 फुट लंबी) और विशेष प्रकार का भाला (24 फुट लंबा) होता था। सिकंदर के साथ घोड़ों पर सवार धनुर्धर तथा भालाधारी दल थे। इनके फेंके गए अस्त्र बड़ी सरलता से कवच तथा ढाल चीर जाते थे। उस जमाने में बारूद अज्ञात थी किंतु सिकंदर के इंजिन जिन्हें 'बालिस्त' या कैटेपल्ट कहते थे, हाथ से चलते थे और 300 गज की दूरी तक पत्थर, बर्छी, तीर आदि फेंकते थे। सिकंदर द्वारा डाले गए घेरों के दौरान ये इंजिन बड़े प्रभावशाली सिद्ध हुए।

इसके मुकाबले में पौरव की सेना, उसकी व्यवस्था और अस्त्र-शस्त्र बीते युग की याद कराते थे। रथ उस समय भारतीय सेना का सबसे गौरवशाली अंग था, किंतु सिकंदर के साथ हुए युद्ध में वह किसी उपयोग का सिद्ध नहीं हुआ। युद्ध से पूर्व की रात्रि को हुई भारी तथा लगातार वर्षा से मैदान दलदल में परिवर्तित हो गया था और रथ कीचड़ में फंस गए थे। पैदल सैनिक धनुष लिए हुए थे और कुछ सैनिक भाले। अधिसंख्य के पास केवल तलवार और ढाल थी। मेगस्थनीज़ ने लिखा है कि भारतीय सैनिक अपनी ऊंचाई के बराबर लंबा धनुष लिये हुए थे। इसे ज़मीन पर रखकर और उस पर बायां पैर दबाकर प्रत्यंचा को पीछे खींचकर वे तीर चलाते थे। शत्रु को पीछे ढकेलने के लिए भारतीयों की सारी आशा लंबे धनुषों पर आधारित थी। किंतु युद्ध के दिन ये धनुष किसी काम के सिद्ध नहीं हुए क्योंकि बिना ज़मीन पर टिकाए इन भारी धनुषों की प्रत्यंचा नहीं चढ़ाई जा सकती थी और वर्षा के कारण गीली ज़मीन पर यह संभव नहीं था।

सुरक्षा की दृष्टि से भारतीय पैदल सेना उपकरणों के घटिया होने के कारण अक्षम रही। इनके पास कोई बख़्तरबंद नहीं थे। इनकी ढाल लकड़ी के गोल ढांचे पर बैल की कच्ची खाल चढ़ाकर बनाई गई थी जो यूनानी सैनिकों के लंबे भालों से कहीं ज्यादा कारगर थे। परिणाम यह हुआ कि पौरव की सेना बुरी तरह पराजित हो गई।

इतिहास का यह दुर्भाग्य क्रम निरंतर चलता रहा। सारा संसार नए से नए हथियारों का आविष्कार कर रहा था और उन्हें अपनी युद्ध-पद्धति में शामिल कर रहा था। किंतु भारतीय अपने लस्टम-पस्टम हथियारों और अव्यवस्थित सैन्य संचालन से आक्रमणकारियों का जैसे-तैसे सामना कर रहे थे और पराजय का वरण करते जा रहे थे।

'कैम्ब्रिज एशियंट हिस्ट्री' के अनुसार—प्राचीन शास्त्रों में ईरानी और तुर्की खानाबदोशों द्वारा इस्तेमाल किए जाने वाला संयुक्त धनुष (दो हिस्सों वाला जो एक धातु के टुकड़े से जुड़ा होता था) सबसे घातक था। अश्वारोही जब इन धनुषों से अपने बाण चलाते थे तो शत्रु पक्ष के सैनिकों के कवच तथा ढाल को सरलतापूर्वक पार कर जाते थे। किंतु भारतीयों के पास इन शस्त्रों का सामना करने की क्षमता नहीं थी।

पृथ्वीराज चौहान और शहाबुद्दीन गौरी के मध्य हुए पहले युद्ध (सितंबर 1192) में शहाबुद्दीन बुरी तरह पराजित हो गया था। किंतु राजपूत अपनी इस जीत का पूरा लाभ नहीं उठा सके और न ही इस बात के प्रति सावधानी रह सके कि शत्रु अधिक तैयारी के साथ फिर से आक्रमण कर सकता है। डेढ़ वर्ष बाद शहाबुद्दीन विशाल और प्रशिक्षित घुड़सवार सेना लेकर फिर चढ़ आया और पृथ्वीराज चौहान ठीक से लामबंदी नहीं कर सका। इस युद्ध में राजपूत बुरी तरह हार गए और पृथ्वीराज अपने अनेक साथियों सहित बंदी बनाया गया और मौत के घाट उतार दिया गया। शत्रु सेना ने राजपूतों पर सूर्योदय से पहले ही आक्रमण कर दिया था। राजपूत प्रातःकालीन भोजन भी नहीं कर सके थे। वे खाली पेट लड़ते रहते। कठोर जाति नियमों और छुआछूत के कारण वे युद्ध क्षेत्र में ही कुछ खा-पीकर तरोताजा नहीं हो सकते थे। खान-पान के संबंध में जाति-पात की यह जड़ता सन् 1761 में पानीपत की लड़ाई में अहमदशाह अब्दाली के विरुद्ध मराठों की भी पराजय का एक प्रमुख कारण थी।

आग्नेय अस्त्रों का उपयोग पश्चिमी संसार में पंद्रहवीं शती में होना प्रारंभ हो गया था। किंतु भारतीय राजाओं को सोलहवीं शती के मध्य तक ऐसे अस्त्रों की कोई जानकारी नहीं थी। सन् 1453 में तुर्कों ने एक बड़ी तोप का उपयोग अपने ऊपर डाले गए एक घेरे के समय किया था। यह तोप 700 पौंड वजन के पत्थर की गेंदों की मार करती थी। बाबर ने सन् 1526 में दिल्ली के पठान शासक इब्राहीम लोधी के विरुद्ध पहली बार छोटी तोपों का प्रयोग किया था। उसके पास एक बड़ी तोप थी जिसका उपयोग उसने राणा-सांगा के विरुद्ध सन् 1527 में खानवा की लड़ाई में किया था।

खानवा के युद्ध में राणा-सांगा की सेना संख्या में बाबर की सेना से कहीं ज्यादा बड़ी थी। किंतु अस्त्र-शस्त्रों के मामले में राजपूत मुगलों की तुलना में बहुत पिछड़े हुए थे। बाबर के पास तोपें और तोड़ेदार बंदूकें थीं जिन्हें राजपूत जानते तक नहीं थे। राजपूत पक्ष में शौर्य तो था, सैन्य नायकत्व नहीं था और सेना को संचालित करने का कौशल भी नहीं था। राजपूतों के अस्त्र मुगलों के अस्त्रों के मुकाबले में घटिया थे। इस युद्ध में राजपूतों की विशाल संख्या में जनसंहार ही अधिक हुआ क्योंकि मुगलों

की चलाई हर गोली के सामने एक निशाना था।

महाराणा प्रताप और मुगल बादशाह अकबर के मध्य सन् 1576 में हल्दी घाटी में हुए युद्ध में भी यही बात थी। राजपूतों के पास आग्नेय शस्त्र नहीं थे जबकि मुगलों ने अकबर द्वारा सुधारी गई बंदूकों का उपयोग किया था।

विजयनगर के हिंदू सम्राट राम राजा और दक्षिण के बहमनी शिया सुल्तानों के मध्य सन् 1565 में तालीकोटा के रणक्षेत्र के युद्ध में भी यही कहानी दोहराई गई। तालीकोटा का युद्ध दक्षिणी भारत का सर्वाधिक निर्णायक युद्ध था। इस युद्ध ने विजयनगर के महान साम्राज्य को टुकड़े-टुकड़े कर दिया। इस युद्ध के बाद दक्षिण भारत में हिंदुओं की प्रभुसत्ता कभी स्थापित नहीं हो सकी।

विजयनगर का साम्राज्य बहुत संपन्न और वैभवशाली राज्य था, किंतु अपनी सुरक्षा, सैन्य संचालन और अस्त्र-शस्त्र की दृष्टि से कोई राज्य इतना शिथिल और असावधान हो सकता है, यह सोचकर आश्चर्य होता है। विजयनगर की सेनाओं द्वारा घुड़सवारों के अस्त्र तथा दूरभार करने वाले प्रक्षेपास्त्र पर ध्यान न देने तथा उनके नायकों द्वारा तेज घोड़े पर सवार होने की बजाय हाथी पर सवार होने के कारण विजयनगर की भीषण हार हुई। हिंदू पैदल सेना में लाखों सैनिक थे किंतु वे युद्ध के लिए पूरी तरह सन्नद्ध नहीं थे। ये सैनिक किसी प्रकार का कवच तो दूर रहा धोती और पगड़ी के अलावा कुछ नहीं पहने हुए थे। इनका शस्त्र देसी धनुष था। यह धनुष बांस का बना हुआ था जिससे थोड़ी दूर तक ही बाण फेंका जा सकता था। घुड़सवार देसी नस्ल के टट्टुओं पर सवार थे। ऐसे घोड़े बख़्तर का भार ढोने तथा हमले में तेजी लाने में असमर्थ थे। ये घुड़सवार तलवार तथा छोटा भाला (केवल 6 फुट लंबा) चला रहे थे, इसलिए ये इन अस्त्रों से केवल हाथों-हाथ लड़ाई में शत्रु के निकट आने पर ही वार कर सकते थे।

विजयनगर की सेना में तोपें और बंदूकें भी थीं किंतु बहमनी सुल्तानों के आग्नेय अस्त्रों की तुलना में यह भंडार बहुत पिछड़ा हुआ था। इन सुल्तानों की सेनाओं के विदेशी घुड़सवार अरबी नस्ल के शक्तिशाली घोड़ों पर सवार थे। इनके सिपाही पूरी तरह बख्तरबंद में होते थे और भयानक रूप से प्रभावशाली संयुक्त धनुष का प्रयोग करते थे। बहुत-से सैनिक धातु के बने 16 फुट लंबे भाले लिए हुए थे। इन अस्त्रों से हाथी पर सवार योद्धा पर सरलता से वार किया जा सकता था तथा तलवार और छोटा भाला लिये हाथों-हाथ लड़ाई करने वाले शत्रुओं को आसानी से पीछे ढकेला जा सकता था।

बहमनी सुल्तानों ने सैनिकों के पास बेहतर शस्त्र, बेहतर घोड़े थे तथा वे घुड़सवारी करने में बहुत कुशल थे। विजयनगर की सेना की प्रमुख शक्ति पदाति सेना थी। इन पैदल सैनिकों के पास उपयुक्त शस्त्र, उपयुक्त वस्त्र और उपयुक्त प्रशिक्षण तो था ही नहीं, उपयुक्त युद्ध प्रवृत्ति भी नहीं थी। परिणामस्वरूप तालीकोटा के युद्ध में वियजनगर साम्राज्य की विशाल सेना, जिसमें आठ हजार घुड़सवार, एक लाख से ऊपर

पैदल सैनिक, एक हजार हाथी, कुछ पुरानी तोपें तथा सैकड़ों अग्निबाण थे, शत्रु की बहुत कम सेना के सम्मुख बुरी तरह पराजित हो गई।

भारतीय युद्ध-प्रणाली में मराठों और सिखों के आने के बाद एक गुणात्मक परिवर्तन आया। दोनों को प्रारम्भ में पूरी तरह स्थापित सत्ताओं से लोहा लेना पड़ा। प्रारंभ में मराठा और सिख सैनिकों के पास न पूरा प्रशिक्षण था, न ही युद्धोपयोगी सामग्री प्राप्त करने का कोई विशेष साधन था, किंतु इनमें वह युयुत्सा अथवा युद्धवृत्ति अवश्य थी जो किसी भी सैनिक के लिए अत्यंत आवश्यक तत्व है। इन दोनों ने प्रारंभ में गुरिल्ला युद्ध पद्धति अपनाई क्योंकि मुगलों या अफगानों की विशाल सैनिक शक्ति का सामना करने की इनमें सामर्थ्य नहीं थी। इसलिए इनकी प्रारंभिक तकनीक 'मारो और भागो' वाली थी।

मराठों को एक बड़ी सुविधा महाराष्ट्र की भौगोलिक स्थिति थी। बड़ी-बड़ी पहाड़ी शृंखलाओं, घाटियों तथा ऊबड़-खाबड़ भूमितल होने के कारण यहां गुरिल्ला युद्ध-पद्धति बहुत उपयोगी सिद्ध होती थी। दूसरी बात महाराष्ट्र केंद्रीय मुगल सत्ता के केंद्र, दिल्ली और आगरा से बहुत दूर था। पंजाब का मुख्य भाग समतल भूमि थी। सिख सैनिकों के बचाव के स्थान या तो पंजाब में नदियों के किनारे के घने जंगल थे या कुछ दूरी पर हिमालय की पर्वत शृंखला अथवा राजस्थान का रेतीला क्षेत्र था। दिल्ली, लाहौर और काबुल की सत्ता सिखों के अभियान को दबाने का निरंतर प्रयास किया करती रहती थी।

मराठों ने जब शिवाजी वाली गुरिल्ला पद्धति छोड़कर मुगलाई ढंग की मैदानी लड़ाइयों को स्वीकार करना प्रारंभ किया, उनकी कठिनाइयां बढ़ गईं। ऐसा एक बड़ा युद्ध पानीपत का तीसरा युद्ध (1761) था जिसमें मराठों ने अफगानी आक्रांता अहमदशाह अब्दाली का खुले मैदान में सामना किया। शिवाजी द्वारा स्थापित सभी आदर्श धीरे-धीरे तिरोहित होने लगे थे और मराठाशाही में आपसी विग्रह और विलासिता के वे सभी दुर्गुण प्रवेश कर गए थे जो मुगल सत्ता में आ गए थे।

पानीपत की तीसरी लड़ाई में मराठा पक्ष में वे सभी कमजोरियां दिखीं। जो इससे पहले के युद्धों में भारतीय सेनाओं में दिखी थीं। इनमें अनुशासनहीनता तो थी ही, अस्त्र-शस्त्रों में भी अब्दाली की सेना कहीं बेहतर ढंग से सज्जित थी। मराठों की भारी-भरकम तोपों की तुलना में अब्दाली का तोपखाना कहीं अधिक गतिशील और आधुनिक था।

सेना के लिए एक आवश्यक तत्व, युयुत्सा अथवा युद्धवृत्ति का एक आवश्यक गुण यह है कि सभी सैनिक समानता की भावना के साथ एक ही धरातल पर विचरते हैं। किंतु मराठा सेना की स्थिति ऐसी नहीं थी। वहां जाति-पांत और ऊंच-नीच की भावना पारंपरिक रूप से विद्यमान थी। हर मराठा सैनिक अपने घोड़े की काठी के नीचे अपना अलग तवा रखता था और पके हुए भोजन के स्थान पर उसे सीधा (कच्चा अन्न) मिलता था, जिसे लेकर वह अपना भोजन स्वयं बनाता था।

सिख सेनाओं में ऐसी स्थिति नहीं थी। सभी का भोजन एक साथ बनता था

और सभी एक साथ खाते थे। सामूहिक भोजन (लंगर) की प्रथा उनमें सोलहवीं शती से ही आ गई थी।

यूरोपीय जातियां, अंग्रेज, फ्रांसीसी और पुर्तगाली अपने साथ एक विकसित युद्ध दर्शन लेकर आए। अनुशासन, सैनिकों की विधिवत कवायद-परेड, प्रशिक्षण और अत्याधुनिक अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग के कारण वे धीरे-धीरे भारतीय शासकों को पराजित करते गए। कुछ देरी से भारतीय शासकों ने यह महसूस किया कि यदि वे अपना राज्य बचाना चाहते हैं तो उन्हें अपनी सेनाओं को पूरी तरह यूरोपीय ढंग से प्रशिक्षित करना होगा। सन् 1805 में इंदौर का मराठा शासक यशवंत राव होल्कर अंग्रेज सेनापति लार्ड लेक से बचता हुआ महाराजा रणजीत सिंह से मिलने अमृतसर आया था। अमृतसर से विदा होते समय होल्कर ने रणजीत सिंह को कुछ नसीहतें दी थीं। उसने रणजीत सिंह को यह चेतावनी दी थी अंग्रेज सारे देश को हड़पते जा रहे हैं और एक दिन उनकी गिद्ध दृष्टि पंजाब की ओर भी उठेगी। यदि अंग्रेजों का प्रभावी ढंग से सामना करना है तो उसे अपनी सेना को यूरोपीय ढंग से प्रशिक्षित और सुसज्जित करना चाहिए।

रणजीत सिंह ने वैसा ही किया। अगले 15-20 वर्षों में उसने अपनी सेना को यूरोपीय ढंग से ढाला। इसके लिए फ्रांस, इटली, रूस और आस्ट्रिया जैसे देशों से कुशल सैन्य विशेषज्ञों को उसने अपने दरबार में नौकरी दी और अपनी सेना को अत्यंत शक्तिशाली बना दिया। रणजीत सिंह ने आधुनिक आग्नेय अस्त्रों के निर्माण के लिए अपने राज्य में कई कारखाने लगाए और हथियारों की दौड़ में किसी से पीछे न रहने का निश्चय किया। इसी बात का परिणाम था कि उसकी सेनाओं ने भारत को सदा ही आक्रांत करने वाले अफ़गानों को अनेक युद्धों में पूरी तरह पराजित किया और दर्रा खैबर का मुंह सदा के लिए बंद कर दिया। उसके जीवनकाल में अंग्रेजों ने भी पंजाब की और आंख उठाने का साहस नहीं किया।

युद्धों की दृष्टि से इस देश का इतिहास अनेक दारुण पृष्ठों से भरा हुआ है। इस दृष्टि से यह देश लंबे समय तक भयंकर उदासीनता का परिचय देता रहा है वह आज की स्थितियों में संभव नहीं है। ऐसी हल्की-सी भी उदासीनता हमें फिर से उन दुर्दिनों में ले जा सकती है जिसे हम सदियों तक झेलते रहे हैं। अपनी स्वतंत्रता की आधी सदी में हम कम-से-कम पांच बार युद्ध की विभीषिका के आमने-सामने हो चुके हैं और निरंतर इस मनःस्थिति में जी रहे हैं कि कब युद्ध का दानव फिर से हमारी सीमाओं पर दस्तक देना शुरू कर देगा।

युद्ध की दृष्टि से भारत अब एक दिन की भी उदासीनता का मानस बनाकर जी नहीं सकता।

(दैनिक जागरण, 13-1-2000)

नो मोर हिरोशिमा : और हिरोशिमा नहीं

द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के दो वर्ष बाद ही हमारे देश को आज़ादी मिली थी परंतु उसके साथ ही भयानक नरसंहार, लूटमार और अग्निकांड की जो घटनाएं देश के विभाजन के निकटस्थ प्रदेशों में घटी थीं, उनके कुछ निशान आज भी वहां देखने को मिल जाते हैं।

परंतु जब हिरोशिमा स्टेशन पर उतरें तो आंखें सचमुच चकाचौंध हो जाती हैं। स्टेशन की विशालता, उसकी चमक-दमक, उसकी साज-सज्जा ऐसी कि किसी अंतर्राष्ट्रीय हवाई अड्डे से भी बेहतर। अनेक मंजिली इमारत, बिजली से चलने वाली सीढ़ियों का जाल और चमचमाते हुए जलपान-गृह देखकर लगता ही नहीं कि 48 वर्ष पहले इस नगर पर एटम बम गिरा था और यह पूरी तरह नष्ट हो गया था।

हां, हिरोशिमा का यही हाल हुआ था।

6 अगस्त 1945—समय ठीक प्रातः सवा आठ बजे। हिरोशिमा में आकाश में वज्रपात की भांति एक भयावह विवर्ण दीप्ति फैली और आगामी क्षण में कानों को सुन्न कर देने वाली एक तीव्र दहाड़ भरी आवाज हुई और उसी के साथ प्रचंड विकीर्ण किरणें चारों ओर फैल गईं। सात नदियों और चार लाख की संख्या वाला सुंदर नगर हिरोशिमा देखते-देखते मिट्टी-मलबे का ढेर और वनस्पति शून्य सर्वक्षार भूमि में परिणत हो गया।

केवल एक दिन पहले, 5 अगस्त 1945 की संध्या को हिरोशिमा विश्वविद्यालय के भौतिकी के प्राध्यापक प्रो. योहीताका भिगुरा ने जापानी सेना के 600 अफसरों के सामने सैन्य विज्ञान की अधुनातन प्रगति के संबंध में भाषण दिया था। भाषण के दौरान एक युवा लैफ्टिनेंट कर्नल ने पूछा था, ''श्रीमान जी, क्या आप यह बताएंगे कि अणु बम क्या

है? और क्या इस युद्ध के समाप्त होते-होते इस बम के बन जाने की संभावना है?''

प्रोफेसर ने चाक का एक टुकड़ा उठाया और श्यामपटल पर रासायनिक प्रतिक्रियाओं का एक खाका बनाया। वह बोला—''टोक्यो इंस्टीट्यूट ऑफ फिजिक्स एंड कैमिस्ट्री के वैज्ञानिक डॉ. योशीओ निशीना सहित हमारे वैज्ञानिकों ने परमाणु-विस्फोट का सैद्धांतिक उद्‌घाटन कर लिया है। इस ज्ञान की व्यावहारिक परिणति होते ही एक ऐसा बम बनाया जा सकेगा जो आकार में छोटा होते हुए भी परंपरागत बमों से कहीं शक्तिशाली होगा। यदि किसी बसे हुए नगर पर 500 मीटर की ऊंचाई से उसका विस्फोट किया जाएगा तो वह एक बम दो लाख लोगों का जीवन समाप्त करने में समर्थ होगा।''

''हम इस बम को कब प्राप्त कर सकेंगे?'' उस कर्नल ने पूछा।

प्रोफेसर ने एक क्षण सोचा और कहा—''यह कहना बहुत मुश्किल है, परंतु इतना मैं अवश्य कह सकता हूं कि यह इस युद्ध की समाप्ति के पूर्व संभव नहीं है।''

प्रोफेसर को पता नहीं था कि अमेरिका अणु-विस्फोट को व्यावहारिक परिणति दे चुका है और कुछ ही घंटों बाद उसका प्रयोग उसके अपने नगर के ऊपर किया जाने वाला है।

दूसरे दिन प्रातः प्रो. मिमुरा अपने एक पड़ोसी के दालान में खड़े उससे बातचीत कर रहे थे। एकाएक उन्होंने देखा कि लोहित वर्ण की अंधा कर देने वाली तीव्र चमक सारे नगर में फैल गई है। उन्होंने जैसे अपने आपको मकान में फेंक दिया। एक क्षण बाद महाभयानक विस्फोट ने उन्हें बहरा बना दिया, साथ ही उन्होंने अनुभव किया कि उनके चारों ओर आग ही आग है।

हिरोशिमा के लोग इस दृष्टि से पूरी तरह असावधान थे। जापान हवाई सुरक्षा प्रबंध उस समय तक प्रभावशून्य हो चुका था। शत्रु के बी-29 एक्स हवाई जहाज इतनी ऊंचाई पर और इतनी गति से चलते थे कि हवामार तोपों की उन तक पहुंच ही नहीं हो पाती थी। ऐसी स्थिति में इसके अतिरिक्त कोई चारा नहीं था कि शत्रु के बमवर्षक विमानों को मनमानी किलोलें करने दी जाएं।

लोगों की नित्य के हवाई हमलों की अदालत भी पड़ चुकी थी। प्रायः लोग हवाई हमले की खतरे की घंटी सुनकर भी सुरक्षा उपायों को उस समय तक नहीं अपनाते थे जब तक वास्तविक बम-वर्षा प्रारंभ नहीं हो जाती थी।

5-6 अगस्त की रात, एक अजीब बात थी। हिरोशिमा में रात को 12.25 पर खतरे की घंटी बजाई गई और वह सात मिनट तक बजती रही। 6 अगस्त की प्रातः 7.31 पर ''सब ठीक है'' की सूचना सैन्य सुरक्षा मुख्यालय द्वारा दी गई।

वह एक शांत दिन की शुरुआत थी। गृहिणियां नाश्ता बना रही थीं। बच्चे स्कूल जाने के लिए तैयार हो रहे थे। मजदूर कारखानों में पहुंचकर मशीनों को चला चुके थे। नागरिक हवाई सुरक्षा दल के स्वयंसेवक निगरानी गुमटियों से उतरकर विश्राम करने चले गए थे। राष्ट्रीय सुरक्षा बल और उच्च कक्षाओं के विद्यार्थी नगर की घनी बस्तियों

के कुछ मकानों को तोड़ने के लिए पंक्तिबद्ध हो रहे थे, क्योंकि नगरपालिका ने यह फैसला किया था कि घनी आबादी वाले क्षेत्रों के कुछ मकानों को गिरा दिया जाए जिससे शत्रु विमानों द्वारा की जाने वाली बमवर्षा से लगने वाली आग का अधिक प्रभावशाली ढंग से मुकाबला किया जा सके।

जापान की राष्ट्रीय प्रसारण सेवा—एन.एच.के. हिरोशिमा केंद्र के एक उद्घोषक श्री मसानोबु पुरूता को टेलीफोन की घंटी बजती सुनाई दी। यह सैनिक मुख्यालय से आ रही थी। उसे सूचना मिली—"शत्रु के तीन बड़े विमान प्रातः 8.13 पर सेजो के ऊपर देखे गए हैं। वे पश्चिम में हिरोशिमा की ओर बढ़ रहे हैं। पूरी सावधानी बरती जाए।"

पुरूता स्टुडियो की ओर दौड़ा। चल रहे कार्यक्रम को स्थगित करके वह घोषणा करने लगा—"शत्रु के तीन बड़े विमान प्रातः 8.13 पर सेजो के ऊपर देखे गए हैं।..वे हिरोशिमा की ओर बढ़ रहे हैं...पूरी सावधानी..." उसका वाक्य पूरा भी नहीं हुआ था कि उसे लगा, उसका पूरा कमरा कांप रहा है। रेडियो स्टेशन की लौह-सीमेंट से बनी पूरी बिल्डिंग एक बार ऊपर की ओर उठी और फिर धीरे-धीरे एक तरफ झुकने लग गई।

सारे नगर पर कई सौ मीटर व्यास का एक आग का गोला लटक रहा था। इस गोले से अग्नि-लहरें चार किलोमीटर प्रति सेकेंड की गति से निकलकर फैल रही थीं। भूमि अवकेंद्र के आस-पास की भूमि छः हजार डिग्री सेंटीग्रेड की गर्मी से झुलस रही थी तभी एक छमक सदृश बादल आकाश की ओर कई हजार मीटर की ऊंचाई तक पहुंचकर छा गया और रेडियो-धर्मिता प्रसर्जन करने लगा।

आग ने सारे शहर को अपनी लपेट में ले लिया था और उसी समय सभी दिशाओं में तेज हवा चलने लगी और बुरी तरह से विक्षुब्ध वातावरण मूसलाधार काली वर्षा करने लगा। काली वर्षा की एक-एक बूंद बाण-वर्षा से अधिक तेज थी। यह वर्षा लगातार दो घंटे तक होती रही। उसके बाद गर्मी की उस ऋतु में कितने ही लोग सर्दी से थरथराने लगे।

वे लोग जो विस्फोट केंद्र के कहीं आस-पास थे, पूरी तरह विलुप्त हो गए थे। चार किलोमीटर की परिधि में रहने वाले लोग बुरी तरह झुलस गए और उनके शरीर से श्वेत-रक्त और जल-कोष नष्ट हो गए। उन लोगों में तीव्र प्यास, निरंतर रक्तस्राव, तेज उल्टियां और संग्रहणी—फिर मंद मृत्यु का प्रारंभ जैसे लक्षण प्रकट होने लगे।

एक गृहिणी ने, जिसने अपने 13 निकट संबंधी इस भयानक त्रासदी में खो दिए थे, बाद में बताया कि मेरी बहन मृत्यु के अंतिम क्षण तक—"मेरा मांस मेरी हड्डियों से नोचा जा रहा है...मेरा मांस नोचा जा रहा है...चिल्लाती रही। उसका भाई, जिसकी खोपड़ी की हड्डियां बाहर निकल आई थीं, अपने जले हुए लड़के और लड़की के साथ कई दिन तक जीवित रहा और अंतिम क्षण तक एक कप पानी के लिए चिल्लाता रहा।

हिरोशिमा पर अणुबम विस्फोट के पंद्रह-बीस मिनट बाद टोक्यो के मुख्य सैनिक कमान को इस भीषण दुर्घटना की सूचना मिली। नौसेना विभाग के मेजर मातासुके ओकुमीया को हिरोशिमा के एक पास के नगर 'कुरे' से टेलीफोन संदेश मिला—"हमने हिरोशिमा पर भीषण प्रकाश और फिर छमक सदृश बादल छाते हुए देखा है। हमने मेघ ध्वनि जैसी भीषण आवाज भी सुनी है। हिरोशिमा के सैनिक मुख्यालय से संपर्क करने पर कोई उत्तर नहीं मिल रहा है।"

मेजर ओकुमीया ने पूछा—"यह हवाई हमला है या भूमि-विस्फोट।"

उत्तर मिला—"यह हमें नहीं मालूम। हमने सिर्फ शत्रु के दो बी-29, एस. विमान देखे हैं।"

मेजर ओकुमीया ने तुरंत स्थल सेना के प्रधान कार्यालय, राष्ट्रीय हवाई सुरक्षा प्रधान कार्यालय और गृह मंत्रालय में फोन करके कुछ जानने का प्रयास किया, परंतु कोई भी निश्चित उत्तर दे सकने की स्थिति में नहीं था। यह तो पता लग चुका था कि हिरोशिमा पूरी तरह नष्ट हो चुका है, परंतु यह कैसे हुआ इसकी कल्पना कोई नहीं कर पा रहा था।

दूसरे दिन टोक्यो से दो जांच-दल हिरोशिमा भेजे गए। एक दल के साथ डॉ. योशियो निशीना भी थे, जिन्होंने अणु-रहस्य का सैद्धांतिक विश्लेषण पूरा कर लिया था। जैसे ही उनका विमान हिरोशिमा हवाई अड्डे पर उतरा, दल के नेता लेफ्टिनेंट जनरल सीजो अरीसुए ने देखा कि हवाई अड्डे की घास की एक-एक पत्ती का रंग भूरा हो गया है और वह एक दिशा में झुक गया है। उसने नगर की ओर देखा। दूर-दूर तक सब कुछ सपाट नजर आ रहा था, सिवाय एक ठूंठ के जो पूरी तरह काला पड़ चुका था। हवाई अड्डे पर किसी ने उनका स्वागत नहीं किया। कुछ देर की प्रतीक्षा करने के बाद एक आदमी शरणस्थल की ओर से लड़खड़ाते हुए निकला। पहचानने पर पता लगा कि हवाई अड्डे की सुरक्षा यूनिट का कमांडर था। उसका चेहरा पूरी तरह झुलसा हुआ था।

जांच दल एक ट्रक में सपाट पड़े हिरोशिमा नगर में से गुजर रहा था, परंतु डॉ. निशीना पूरी तरह चुप थे। कुछ देर बाद उन्होंने कहा—"कोई ऐसी लाश ढूंढ़िए, जिस पर कोई बाहरी घाव न हो। मैं उसका पोस्टमार्टम करूंगा।" एक सैनिक की लाश प्रयोगशाला में लाई गई। उसकी सूजी हुई ग्रंथियां देखकर वह बोला—"यह सूजन देखते हो? अब मुझे रत्ती भर शक नहीं है। यह अणुबम है।"

छह वर्ष बाद डॉ. निशीना की जिगर के कैंसर से मृत्यु हो गई। उनकी मृत्यु के समय यह पाया गया कि उनके श्वेत रक्तकोष बहुत कम हो गए थे, जिसका कारण उनकी वह हिरोशिमा यात्रा थी।

इस बम विस्फोट से कितने लोग मरे, इसका ठीक-ठीक अनुमान अभी भी नहीं लग सका है। इसका कारण यह है कि उसे विस्फोट ने सारे सरकारी रिकार्ड नष्ट कर

दिए थे और उनकी संख्या भी कम नहीं है जो अणु-विस्फोट के अनुप्रभाव से गत तीस-इकतीस वर्षों में लगातार मरते रहे हैं। हिरोशिमा की म्युनिसिपल कमेटी का अगस्त 1946 में लगाया गया अनुमान इस प्रकार था : मृत–118, 661, जख्मी–79, 130 और लापता–771।

बम विस्फोट के समय हिरोशिमा में लगभग 40,000 कोरियाई मजदूर और उनके परिवार थे। उनमें कितने उस समय मरे और कितने बाद में लगातार मरते रहे, इसका कुछ पता नहीं लग सका।

तीन दिन बाद, 9 अगस्त 1945 को जापान के दूसरे नगर नागासाकी पर अणुबम गिराया गया जिसमें 39,000 लोगों ने अपने प्राण गंवाए और 25,000 लोग बुरी तरह घायल हुए।

15 अगस्त 1945 को जापान ने हथियार डाल दिए थे।

स्टेशन से बाहर सड़क, बाजार, इमारतें–लगता है जैसे किसी जादुई प्रभाव से सारे नगर का पुनर्निर्माण कर दिया गया हो।

हिरोशिमा में विस्फोट केंद्र के आस-पास के क्षेत्र को शांति स्मारक क्षेत्र का रूप दिया गया है। युद्धपूर्व यह क्षेत्र नगर का मध्यम केंद्र था। बड़ी-बड़ी दुकानों, छविगृहों, नाट्यशालाओं, जलपान गृहों और आवासों से यह क्षेत्र भरपूर था। अणुबम विस्फोट के ठीक चार वर्ष बाद 6 अगस्त 1949 को हिरोशिमा को शांतिनगर घोषित किया गया और इस भयावह त्रासदी की स्मृति में उस क्षेत्र को शांति स्मारक उद्यान के रूप में विकसित किया गया जिसमें अणुबम पीड़ित लोगों की यादगार, उनके अस्थि-अवशेषों आदि का संग्रहालय, शांति-स्मारक सभागार आदि बनाए गए हैं।

इस क्षेत्र में एक गुंबदनुमा भवन है जो चारों ओर के नवनिर्मित क्षेत्र में अणु ध्वंस की याद दिलाता हुआ खड़ा है। यहां किसी समय हिरोशिमा का उद्योग विकास केंद्र हुआ करता था। बम विस्फोट ने इसके कुछ भाग को ध्वस्त कर दिया। शेष भाग को उसी तरह सुरक्षित रख लिया गया है, जिससे इतिहास के इस दुःखद प्रसंग से भावी पीढ़ियों को आत्म-चिंतन की साम्रगी मिलती रहे।

इस शांति क्षेत्र में अणुबम स्मारक टावर है, जिसके बाहर लिखा हुआ है–"यहां उन अगणित लोगों की आत्माएं हैं, जिनके नाम किसी को पता नहीं।" इस टावर का निर्माण बम-विस्फोट के एक वर्ष बाद हुआ था। यहां उन सभी की अस्थियां एकत्र की गई हैं जो अणुबम के शिकार हुए। बाद के वर्षों में जब हिरोशिमा के पुनर्निर्माण का कार्य हो रहा था, तो लगातार भूमि में दबा या दूर-दूर तक छितरी अस्थियां मिलती रहीं। इन्हें इस टावर में बनी अस्थिशाला में एकत्र किया जाता रहा। प्रतिवर्ष 6 अगस्त को इस स्थान पर प्रार्थनाएं की जाती हैं और हजारों लोग मृतकों को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए आते हैं।

हिरोशिमा में विदेशी पर्यटकों की काफी भीड़ होती है और उनमें अमेरिकी यात्री

भी बहुत होते हैं। हिरोशिमा और नागासाकी पर अणुबम डालने वाले देश के निवासियों के प्रति जापानियों, विशेष रूप से हिरोशिमा निवासियों की धारणा कैसी है, वे उन्हें किस दृष्टि से देखते हैं, यह जानने की उत्सुकता होना स्वाभाविक है। जापान का सबसे निकट मित्र अमेरिका है। जापान के हर व्यक्ति की इच्छा एक बार अमेरिका जाने की होती है। जापान और अमेरिका के मध्य राजनीतिक आदान-प्रदान के अतिरिक्त सांस्कृतिक और शैक्षणिक आदान-प्रदान किन्हीं अन्य दो देशों की अपेक्षा अधिक है।

द्वितीय महायुद्ध और उसमें जापान की पराजय की चर्चा से प्रत्येक स्तर का जापानी द्रवित हो जाता है। युद्ध-स्मृतियों और संग्रहालयों के पास जाकर लोग रोते हैं और यदि कोई विदेशी उन स्मृतियों पर अपनी श्रद्धा और संवेदना व्यक्त करें तो वे उसके प्रति हार्दिक धन्यवाद भाव से भर उठते हैं।

पर, आखिर हिरोशिमा की घटना को घटे अभी चार दशक ही तो हुए हैं।

अमेरिकी लेखक और रेडियो-टेलीविजन कमेन्टैटर हावर्ड हिवटमेन ने हिरोशिमा से लौटकर न्यूयार्क टाइम्स में एक लेख लिखा जिसे जापानी अखबार ने उद्धृत किया।

हिवटमेन और उसकी पत्नी बड़े उदास चेहरे और अपराध बोध से भरे हुए हिरोशिमा में आए। उन्हें आशा थी कि इस नगर में प्रताड़ना भरी नजरों का सामना करना पड़ेगा। वे एक ऐसी टैक्सी में बैठे जिसके ड्राइवर को अंग्रेजी आती थी। बड़े संकोच से हिवटमेन ने पूछा—"हिरोशिमा का क्या हाल है?"

"बहुत बुरा।" ड्राइवर बोला—"कार्थ मछली बहुत खराब है, बदबू देती है।"

हिवटमेन ने सोचा—"वैज्ञानिकों ने कहा था कि अणुबम विस्फोट के सत्तर वर्ष तक वह जमीन बंजर रहेगी। यहां की मछली की दुर्गंध का कारण भी अणु विकिरण हो सकता है।" उसकी पत्नी ने उसका हाथ दबाया—"और कुछ मत पूछो।"

बाद में होटल मैंनेजर से उन्हें पता लगा कि तहखानों में रखी जाने के कारण कुछ मछलियां बदबू देने लगी हैं।

हिवटमेन ने अपने लेख में लिखा था कि हिरोशिमा-निवासी अमेरिकियों के प्रति अपनी घृणा पर विजय पा चुके हैं और उनसे विश्व शांति की चर्चा करते हैं।

एक अन्य अमेरिकी चार्ल्स पुटकामार ने अगस्त 1962 में सपत्नीक हिरोशिमा की यात्रा के बाद एक संस्मरण लिखा था। वह एक बस में यात्रा कर रहा था। उसकी खुली बांह खिड़की से बाहर निकली हुई थी। एक जगह बस इस ढंग से मुड़ी कि चार्ल्स की बांह टेलीफोन के खंभे से जख्मी हो गई। तुरंत तीन बांह पर हाथ बांध दिए। जब वह बस से उतरकर सड़क पर घूम रहा था, एक अधेड़ी आयु की जापानी महिला, जिसने उस बस में यात्रा की थी, दौड़ती हुई आई और एक बैग उसकी पत्नी के हाथ में थमा दिया। बैग में दवाई और पट्टी थी, जिसे उसने बस से उतरकर खरीदा था।

हिरोशिमा में एक वाक्य मोटे-मोटे अक्षरों में लिखा दिखाई देता है—"नो मोर हिरोशिमा"—और हिरोशिमा नहीं।

(दैनिक जागरण, 11-5-2000)

इस देश में एक समरस समाज कैसे उभरेगा?

सांप्रदायिकता और जातीयता को लेकर जिस प्रकार की समस्या हमारे देश में है, वैसी शायद ही संसार के किसी अन्य देश में हो। यह भी सच है कि इतनी विभिन्नताओं और विविधताओं से भरा दूसरा देश भी दुनिया में नहीं है। जाति दर जाति से निर्मित हमारे सामाजिक ढांचे को देखकर तो संसार के समाज शास्त्री दांतों तले उंगलियां दबाते हैं। जाति प्रथा का संपूर्ण ढांचा ही सामाजिक दृष्टि से ऊंच-नीच की मानसिकता पर आधारित है। यह मानसिकता अपने आपको, अपनी जाति को, अपने रहन-सहन, रीति-नीति और विचार-पद्धति को दूसरे से श्रेष्ठ या निकृष्ट समझने की मानसिकता है। जहां ऐसी मानसिकता होगी वहां सांप्रदायिकता (जातीय, धार्मिक, भाषाई या अन्य किसी प्रकार के वर्ग हित के लिए) तात्कालिक कारण का सहारा लेकर पनपेगी। हमारे देश में इस काम के लिए उर्वर भूमि प्राचीन-काल से ही उपलब्ध है। आज की सत्ता राजनीति ने इसे पनपाने के लिए तो नए से नए उर्वरक तैयार कर लिए है।

व्यापक स्तर पर जाति या मज़हब-आधारित सांप्रदायिक दंगे चाहे इस देश में नई बात हों, परंतु इसके मूल में जो घृणा भाव काम करता है, वह नया नहीं है। जातियों, वर्गों, धर्मों को लेकर सदियों से हमारे देश में घृणामूलक लोकोक्तियां प्रचलित हैं—

- जिसका बनिया यार, उसे दुश्मन क्या दरकार...
- खत्री पुत्रम् कभी न मित्रम् जब मित्रम् तब दगा-दगा...
- और जात शूत्र भली मित्र भला नहि जाट...
- बामन, कुत्ता, हाथी, आपन जाति न साथी...

इस प्रकार की लोकोक्तियों से हमारे देश की कोई भी जाति, कोई भी धार्मिक समुदाय, किसी भी भाषा को बोलनेवाला, किसी भी प्रदेश का रहने वाला अछूता नहीं

है। आज भी पढ़े-लिखे और प्रगतिशील कहलाने वाले लोग 'चमार' शब्द का प्रयोग किसी को गाली देने के लिए करते हैं, किसी की दुर्गति करनी हो तो उसे 'भंगी' बना देते हैं, किसी भी सिख के 'बारह बजा' देते हैं।

अंग्रेजों के आने तक ये बातें हमें ज्यादा परेशान नहीं करती थीं। विभिन्न जातियों अथवा धर्म-मतों के लोग एक-दूसरे के प्रति अपशब्दों का प्रयोग कर लेते थे, ज़्यादा-से-ज़्यादा थोड़ी-बहुत सिर फुटव्वल कर लेते थे। सत्ता राजनीति को इन सब बातों का दुरुपयोग करने या इन्हें हथकंडा बनाने की बहुत ज़रूरत नहीं पड़ती थी, क्योंकि उसकी सत्ता को सबसे बड़ा सहारा उसकी सैनिक शक्ति से मिलता था, जो उसे पूरी तरह निरंकुश बना देती थी। सत्ता में आम जनता की कोई सीधी भागीदारी है, यह बात न शासक के मन में होती थी, न जनता के मन में। शासक यदि कुछ भला मानस हुआ तो वह प्रजा के विभिन्न वर्गों का ध्यान रखते हुए कभी गोवध पर प्रतिबन्ध लगा देता था (अकबर) कुरान शरीफ का सम्मान करता था (शिवाजी) अथवा दूसरे धर्म के पवित्र स्थानों को भरपूर दान-दक्षिण दे देता था (रणजीत सिंह) जो शासक ऐसा नहीं करता था उससे कोई जवाब-तलब नहीं कर सकता था।

सही अर्थों में भारतीय जन की इस विभिन्नता और उसकी मानसिकता में गहरा जड़ जमाए बैठी घृणा भावना का भरपूर फायदा उठाया अंग्रेज शासकों ने। इस देश में इससे पहले जितनी भी जातियां, आर्यों से लेकर मुगलों तक आई थीं, सभी इसी धरती पर बस गई थीं। अंग्रेज कई हज़ार मील दूर बैठा यहां शासन कर रहा था। वह अपने कुछ प्रतिनिधि और सैनिक यहां भेजता था पर मुख्यतः उसके लिए यहां का शासन यहीं के लोग चलाते थे। सन् 1857 के सैनिक विद्रोह से उसने यह सबक तो लिया ही था कि यदि यहां के लोग, किसी भी कारण से, कुछ समय के लिए आपसी मतभेद और घृणा-भावना पर विजय पाकर, इकट्ठे हो जाएं तो उसके लिए यहां शासन करना असम्भव हो जाएगा।

अंग्रेजों ने किस प्रकार इस देश के लोगों के मतभेदों का लाभ उठाकर शासन किया, इसे दोहराने की यहां आवश्यकता नहीं है। यह कहना मुझे गलत लगता है कि अंग्रेजों ने यहां के लोगों को बांटा और राज किया। दरअसल उन्होंने पहले से ही बंटे हुए लोगों पर राज किया और भरपूर कोशिश यह की कि ये लोग अपने बंटे हुए होने के अहसास को ज्यादा गहराई और मज़बूती से समझे और पकड़े रहे।

अंग्रेजों ने इस देश में अपना साम्राज्यवादी शासन स्थापित किया, पर उनके साथ अनायास ही पश्चिमी जगत में उभरते हुए अनेक विचार और अवधारणाएं भी इस देश में आ गईं और यहां के उन बुद्धिजीवियों को विशेष रूप से मथने लगीं जिन्होंने ज्ञान-विज्ञान की दृष्टि से पश्चिमी शिक्षा को पूरी तरह स्वीकार कर लिया था। दो अवधारणाएं विशेष रूप से उभरकर सामने आईं—एक राष्ट्रीयता और दूसरे लोकतन्त्र। इस देश में पहली बार यह विचार पनपा कि सभी प्रकार के मतभेदों, विभिन्नताओं के रहते हुए इस देश के लोग एक राष्ट्र के रूप में गठित हो सकते हैं, बराबरी और व्यापक

हिस्सेदारी की भावना के साथ वे साथ-साथ जीने की भावना को विकसित कर सकते हैं।

आधुनिक अर्थों में लोकतन्त्र की अवधारणा भी इस देश के लिए एक नई बात थी। लोकतन्त्र एक ऐसी शासन प्रणाली है जिसमें सत्ता का अन्तिम सूत्र जन साधारण के हाथों में रहता है। इसमें समस्त व्यक्तियों की मूल्यवत्ता और मूलभूत समानता में विश्वास किया जाता है और ऐसा विधि का शासन स्थापित होता है जिसमें एक ही कानून सभी वर्गों पर समान रूप से लागू किया जाता है।

राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय भावना की पहली लहर हमारे देश में भारतीय परिकल्पना की बजाए हिन्दू राष्ट्रीयता, मुस्लिम राष्ट्रीयता या सिख राष्ट्रीयता के रूप में आई। इसलिए इस देश में पुनर्जागरण भी या तो हिन्दू, मुस्लिम, सिख रूप में उभरा या बंगाल, महाराष्ट्र, आन्ध्र, तमिल आदि रूपों में। यह बहुत स्वाभाविक था, क्योंकि ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परम्परा की एकता के रूप में किसी राष्ट्र के लिए उन दिनों समझे गए अनिवार्य तत्वों की पहली पहचान धार्मिक या प्रादेशिक, भाषाई पहचान में ही दिखाई दी थी। व्यापक रूप से राष्ट्रीयता की संकल्पना का विकास हिन्दू राष्ट्रीयता के रूप में घोषित या अघोषित रूप में होता हुआ दिखाई दिया था। उसी के समानान्तर मुस्लिम राष्ट्रीयता की संकल्पना अपना रूप बना रही थी। हिन्दू और मुसलमान मिलकर देश का शासन चला सकते हैं, यह बात सर सैय्यद अहमद खान को 1888 में भी असम्भव लगी थी। डॉ. हेडगेवार ने 'हिन्दू राष्ट्र' को स्वतन्त्र कराने की प्रतिज्ञा 1926 से राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के स्वयंसेवकों से लेनी शुरू कर दी थी और मोहम्मद इक़बाल ने 1930 में मुस्लिम लीग के एक अधिवेशन की अध्यक्षता करते हुए भारत में पृथक मुस्लिम राष्ट्र की स्थापना की बात चलाई थी।

अंग्रेज चले गए। भारत विभाजित हो गया। परन्तु लगभग आधी सदी पहले घटी घटनाओं का जबर्दस्त 'हैंगओवर' आज भी हमारे मनों पर है। आज़ादी से पहले के भारत से कटकर अलग हुए पाकिस्तान और बंग्लादेश घोषित रूप से इस्लामी देश हैं, परन्तु भारत का संविधान इसे धर्मनिरपेक्ष घोषित करता है और इस देश की धार्मिक, जातीय, भाषाई और नस्ली विभिन्नता और विविधता को स्वीकार करता और उनकी संरक्षा करने का भी आग्रह करता है।

पिछले वर्षों का अनुभव यह बताता है कि धार्मिक एकता के नाम पर बने पाकिस्तान में अहमदियों और शियाओं को लेकर सांप्रदायिक विवाद निरंतर उभरे हैं और क्षेत्रीय तथा भाषाई कारणों से वह देश दो टुकड़ों में बंट चुका था। इस्लामी सहधर्मिता के नाम पर उत्तर प्रदेश और बिहार से पाकिस्तान गए मुसलमानों की पूर्वी पाकिस्तान (अब बंगला देश) में निरंतर दुर्गति हुई और (पश्चिमी) पाकिस्तान में उन्हें अपनी उर्दू भाषी जातीय पहचान के लिए बड़ी हताशा भरी लड़ाई लड़नी पड़ रही है।

इस दृष्टि से हमारे देश के संविधान निर्माताओं ने प्रारंभ से ही जो मार्ग चुना था, अनुभव ने यह सिद्ध कर दिया है कि वही सही मार्ग था। परंतु धर्मनिरपेक्ष और लोकतांत्रिक ढांचा स्वीकार करते हुए भी हमारे देश में सांप्रदायिक और जातीय तनाव

और विवाद निरंतर बढ़े हैं, इसका क्या कारण है?

मैं समझता हूं कि इस देश में हमारी सबसे बड़ी समस्या संवादहीनता की रही है। समाज के विभिन्न वर्गों के लोग सदियों से साथ-साथ रहते हुए भी कभी एक-दूसरे के सुख-दुख के साथी बने हों, ऐसा बहुत कम दिखता है। आपस में मिलने-जुलने, खाने-पीने, हंसने-खेलने, विचार-विमर्श करने अथवा कोई सामूहिक जनांदोलन चलाने में सभी धर्ममतों, संप्रदायों, जातियों के लोगों ने सम्मिलित रूप से कोई प्रयास किया हो, ऐसा भी बहुत कम दिखता है। हमारे गांवों, कस्बों, नगरों की बस्तियों की संरचना इस बात को स्पष्ट करती है। ब्राह्मण टोला, ग्वालटोली, रैगड़पुर, चमरौली, भंगी बस्ती, चमन गंज जैसे नाम किसी भी कस्बे, शहर में आम मिल जाएंगे, जिनसे यह साफ पता लग जाएगा कि इस क्षेत्र में अमुक जाति, वर्ग के लोग ज़्यादा रहते हैं। दिल्ली, बंबई जैसे महानगर भी इस प्रवृत्ति से मुक्त नहीं है। बल्लीमारां, जामा मस्जिद, फतेहपुरी पुरानी मुस्लिम बस्तियां हैं। भिंडी बाजार, मोहम्मद अली रोड जैसे इलाके सदा ही बंबई में मुस्लिम बहुल इलाके माने गए। दिल्ली में जहां एक ओर निज़ामुद्दीन, जामिया नगर आदि नई मुस्लिम बस्तियां बन गई हैं, तो दूसरी ओर तिलक नगर, फतेहनगर, हरी नगर आदि में सिख केंद्रीकरण हो गया है।

इनके लिए एक तर्क दिया जाता है। व्यक्ति अपने धर्म, जाति, भाषाई समूह के साथ रहकर सुरक्षा अनुभव करता है। उसे अपने अड़ोस-पड़ोस के लोगों से संबंध जोड़ने में इसलिए कठिनाई नहीं होती क्यों कि वे भी उसी वर्ग या समूह के होते हैं।

किंतु अपने देश में इस प्रकार की अलगाववादी या समूहवादी प्रवृत्ति का कारण केवल सुरक्षा की भावना ही नहीं है। हमारे आपस के खान-पान में इतना दुराव और छूत-छात घुसा होता है कि हम अपने पड़ोसी से भी उन्मुक्त ढंग से व्यवहार नहीं कर पाते। सदियों से अछूत कहे जाने वाले वर्ग की बस्तियां अलग इसलिए रही हैं कि द्विज वर्ग उससे किसी प्रकार के खान-पान की साझेदारी की तो कल्पना ही नहीं कर सकता, उसके स्पर्श मात्र से अशुद्ध हो जाने की मानसिकता से सदा ग्रसित रहता है।

मुसलमानों का उदाहरण लें। शताब्दियों से इस देश की भूमि पर विदेशी जातियां और कबीले आते रहे और बसते रहे। वर्ण और जाति प्रथा से ग्रसित भारतीय समाज उन्हें अपने अंदर समाहित करता रहा। अपने कर्म, कौशल और प्रकृति के कारण ऐसी जातियां अथवा कबीले देश की परंपरागत वर्ण व्यवस्था में कभी-कभी सवर्ण वर्ग में गिने जाने लगे, नहीं तो शूद्र वर्ग का विशाल घेरा तो था ही। उसमें सभी समा जाते थे। आज जिन्हें हम अपनी सामाजिक व्यवस्था में बिचली जातियां कहते हैं ये सभी व्यापक शूद्र समाज का ही तो अंग हैं।

किंतु मुसलमान इस व्यवस्था में समा नहीं सके। यह अवश्य हुआ कि यहां की परंपरागत जाति-व्यवस्था और उसी में से निकली ऊंच-नीच की भावना से, इस्लाम की समतामूलक धर्म व्यवस्था के बावजूद, मुसलमान समाज भी नहीं बच सका। इससे पहले जो जातियां और कबीले इस देश में आए थे, वे अपने साथ कोई संगठित धर्ममत लेकर

नहीं आए थे, इसलिए वे इस देश में प्रचलित धर्मविश्वासों, देवी-देवताओं, धार्मिक ग्रंथों को अपनाने में किसी प्रकार की दुविधा के शिकार नहीं हुए थे। सामूहिक रूप से ये सभी हिंदू मान लिए गए।

आठवीं-नौवीं शती से अरब, तुर्क, पठान, मुग़ल आदि जो कबीले इस देश में आए उन्होंने अरब में जन्मे इस्लाम को स्वीकार कर लिया था। इसलिए ये शकों, हूणों और कुशानों जैसे कबीले नहीं थे। जिस समय ये लोग इस देश में आए उस समय तक इस देश के लोगों की सामाजिक और राजनीतिक शक्ति इतनी कमज़ोर हो चुकी थी कि इन कबीलों के सामने वे समर्पण करने को बाध्य हो गए। फिर कई सदियों तक तुर्कों, पठानों, मुगलों का शासन इस देश पर रहा। ये आपस में सत्ता के लिए खूब लड़ते-झगड़ते थे, युद्ध करते थे किंतु इनका धर्ममत (मज़हब) एक ही था—इस्लाम।

यह भी कुछ कम आश्चर्य की बात नहीं कि हिंदू और मुसलमान इस देश में एक हज़ार वर्ष तक इकट्ठे रहने के बावजूद एक सांझे समाज के रूप में ढलने की बात तो बहुत दूर एक-दूसरे के साथ पानी की भी सांझ नहीं पैदा कर सके। केवल कुछ दशक पहले तक इस देश के स्टेशनों पर हिंदू पानी और मुसलमान पानी अलग-अलग थे। हिंदू की पूड़ी और मुसलमान की रोटी में कोई समझौता नहीं था, बहुत हद तक आज भी नहीं है।

आज के संसार में राष्ट्रीयता की सभी परिभाषाएं बदल गई हैं। भारतवंशी स्वराज्यपाल आज ब्रिटेन जैसे दकियानूसी देश में हाउस ऑफ लार्ड्स के सदस्य हैं और कनाडा के सबसे बड़े प्रांत ब्रिटिश कोलंबिया का मुख्य मंत्री कुछ समय पूर्व भारत से पंजाब मूल का व्यक्ति उज्ज्वल दुसांझ था। संसार के सभी देश बहुधर्मी हो रहे हैं और संसार के सभी धर्म बहुराष्ट्रीय धर्म हैं। धर्म और राष्ट्रीयता की एकता का जो स्वप्न पाकिस्तान के निर्माता मोहम्मद अली जिन्ना ने पिछली सदी के चौथे-पांचवें दशक में देखा था वह हम सब की आंखों के सामने ही खंडित हो गया, जब इस्लाम की ही अनुयायी, पूर्वी बंगाल की जनता ने अपनी बंगाली पहचान के बचाए रखने के लिए पाकिस्तान से नाता तोड़ लिया।

मिलजुलकर रहने की भावना ही आज राष्ट्रीयता की सबसे बड़ी पहचान बन गई है। यह भावना ही व्यक्ति को उस देश की सांस्कृतिक परंपराओं से जोड़ती है।

इस देश में एक समरस समाज को विकसित होना है। समरसता के प्रयास में एक ओर जाति प्रथा की जंजीरों से मुक्त, ऊंच-नीच और छूतछात की भावना को पूरी तरह तिलांजलि देकर समतामूलक समाज की स्थापना की ओर बढ़ना है तो उसके साथ ही इस देश के सभी धर्ममतों के अनुयायियों को, अपनी धार्मिक मान्यताओं और विश्वासों को बरकरार रखते हुए, एक सांझे समाज को उसारना है जिसमें किसी के हाथ का छुआ पानी, किसी की रसोई में पका भोजन, किसी के बर्तनों में परोसा पकवान इसलिए त्याज्य नहीं हो जाता कि वह सवर्ण है या अवर्ण है हिंदू है या मुसलमान है, उत्तर का है या दक्षिण का है।

(दैनिक जागरण, 15-6-2000)

महाराजा रणजीत सिंह : व्यक्ति और शासक

महाराजा रणजीत सिंह उन इने-गिने शासकों में से थे जिन्हें अपने जीवन में अपनी प्रजा का भरपूर प्यार मिला और जो अपने जीवन-काल में ही अनेक लोक कथाओं और जनश्रुतियों के केंद्र बन गए। पंजाब के लोक जीवन और लोक कथाओं में महाराजा रणजीत सिंह से संबंधित जितनी कहानियां प्रचलित हैं उतनी अन्य किसी भी ऐतिहासिक पुरुष के संबंध में नहीं हैं। ये अधिकांश कहानियां उनकी उदारता, न्यायप्रियता और सभी धर्मों के प्रति सम्मान को लेकर प्रचलित हैं। जनश्रुतियों में अतिशयोक्ति और कल्पना का अंश होता है, परंतु इनके माध्यम से किसी भी व्यक्ति का वह चित्र उभरता है, जिसे जनता स्वयं स्वीकार करती है, जिसके लिए किसी प्रकार का शासकीय दबाव कारगर सिद्ध नहीं होता।

रणजीत सिंह के बहुमुखी व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने वाली अनेक घटनाएं इस प्रकार की हैं जो अनेक परिवारों में सुरक्षित हैं जिनका एक या दो पीढ़ी पूर्व महाराजा से सीधा संबंध था। इस प्रकार का एक परिवार फकीर अज़ीजुद्दीन का है, जो रणजीत सिंह के विदेश मंत्री थी और जिनके वंशज आज भी लाहौर में महाराजा से संबंधित अनेक स्मृतियों को सम्मान और श्रद्धा से संजोए हुए हैं।

इसी प्रकार की एक घटना है कि एक बार एक मुसलमान खुशनवीस ने अनेक वर्षों की साधना और श्रम से कुरान शरीफ की एक अत्यंत सुंदर प्रति सोने और चांदी के घोल से बनी स्याही से तैयार की। वह उस प्रति को लेकर और सिंध के अनेक मुसलमान नवाबों और जमींदारों के पास गया। सभी ने उसके कार्य और उसकी कला की प्रशंसा की, परंतु कोई भी उस प्रति को खरीदने के लिए तैयार न हुआ क्योंकि

खुशनवीस उसका जो मूल्य मांगता था, वह सभी को अपनी सामर्थ्य से अधिक लगता था। निराश होकर वह खुशनवीस यह सोचकर लाहौर आया कि कुरआन शरीफ की उस प्रति को वह रणजीत सिंह के किसी मुसलमान वजीर या सैनाधिकारी को बेचने का प्रयास करेगा। वह फकीर अजीजुद्दीन के पास आया। फकीर साहब ने उसके कार्य की बड़ी प्रशंसा की, परंतु वह मूल्य देने में अपनी असमर्थता व्यक्त की, जो वह खुशनवीस मांग रहा था। रणजीत सिंह ने यह बात सुनी और उस खुशनवीस को बुला भेजा। खुशनवीस ने जब वह प्रति उन्हें दिखाई तो उन्होंने बड़े सम्मान से उसे उठाकर अपने मस्तक लगाया और आज्ञा दी कि खुशनवीस को उतना धन दे दिया जाए जितना वह चाहता है और कुरान शरीफ की उस प्रति को उनके निजी संग्रहालय में रख दिया जाए।

महाराजा के इस कार्य से सभी को कुछ आश्चर्य होना स्वाभाविक था। फकीर अजीजुद्दीन ने पूछा—हुजूर, आपने इस प्रति के लिए बहुत बड़ी धनराशि दी है। परंतु वह तो आपके किसी काम की नहीं है, क्योंकि आप सिख हैं और यह मुसलमानों की धर्म पुस्तक है।

महाराजा ने उत्तर दिया—फकीर साहब, ईश्वर की यह इच्छा है कि मैं सभी धर्मों को एक ही नजर से देखूं। इसीलिए उसने मुझे एक ही आंख दी है।

रणजीत सिंह की धार्मिक उदारता और विनम्रता से संबंधित ऐसी अनेक घटनाएं उन अनेक ऐतिहासिक पुस्तकों और तत्कालीन यात्रा-वृत्तांतों में अंकित हैं जो उनके जीवनकाल में या उनके बाद लिखी गईं। उसने पंजाब की अनेक मस्जिदों की मरम्मत करवाई, हिंदू मंदिरों को दान दिया और अमृतसर के हरिमंदिर पर सोना चढ़वाकर उसे स्वर्ण मंदिर में बदल दिया। स्वर्ण मंदिर पर रणजीत सिंह ने ये शब्द पंजाबी भाषा में अंकित कराए—"श्री महाराज गुरु साहिब ने आपको परम सेवक सिख जाण कर श्री दरबार साहिब जी की सेवा श्री महाराजा सिंह साहब रणजीत सिंह पर दया करके कराई।"

और यह भी कहा जाता है कि मृत्यु से पूर्व रणजीत सिंह ने अमूल्य कोहेनूर हीरे को पूरी के जगन्नाथ जी के मंदिर को दान कर देने की इच्छा व्यक्त की थी।

महाराजा रणजीत सिंह एक श्रद्धावान सिख थे। वे अपराहान में नित्य एक घंटा गुरु ग्रंथ साहब का पाठ सुनते थे और हरिमंदिर के दर्शन के लिए प्रायः अमृतसर जाया करते थे किंतु उनके संपूर्ण व्यक्तित्व में धार्मिक संकीर्णता कहीं नहीं थी। आज से लगभग दो शताब्दी पूर्व, जब धर्म-निरपेक्षता का प्रतिबोध कोई विशेष महत्व नहीं रखता था। रणजीत सिंह ने इस विचार को साकार रूप प्रदान किया। उनके प्रधानमंत्री राजा ध्यान सिंह डोगरा हिंदू थे। उनके विदेश मंत्री और गृहमंत्री फकीर अजीजुद्दीन और फकीर नुरुद्दीन मुसलमान थे। उनके एक प्रमुख मंत्री जमादार खुशहाल सिंह मेरठ के ब्राह्मण थे। उनका नागरिक प्रशासन और अर्थव्यवस्था संभालने का अधिक दायित्व दीवान भवानी दास, दीवान गंगाराम और राजा दीनानाथ पूर्वी भारत के हिंदू संभालते थे। रणजीत सिंह की सेना में भी सिख सेनापतियों और सैनिकों के साथ ही मुसलमान और हिंदू सेनाधिकारियों

और सैनिकों की बड़ी संख्या थी।

एक व्यक्ति के रूप में रणजीत सिंह अपनी उदारता और दयालुता के लिए बहुत प्रसिद्ध थे। उनकी उदारता और लोगों के प्रति दया और प्रेमभाव के कारण लोग द्वारा उन्हें 'लखबख्शा' या 'पारस' कहा जाता था। फकीर अजीजुद्दीन के वंशज फकीर वहीउद्दीन सैयद की लिखी और कुछ वर्ष पूर्व प्रकाशित पुस्तक 'रियल रणजीत सिंह' में सन् 1832। में महाराजा द्वारा जारी किए एक फरमान का उल्लेख है जो उनकी न्यायप्रियता पर प्रकाश डालता है। यह आज्ञापत्र उन्होंने अपने राज्य की आंतरिक शांति और व्यवस्था के दो प्रमुख व्यक्तियों—सरदार अमीर सिंह और फकीर नूरुद्दीन को भेजा था। इस आदेश में उन्होंने कहा था कि यदि मेरे पुत्र कुंवर खड़गसिंह, कुंवर शेरसिंह या प्रधानमंत्री राजा ध्यानसिंह उनके भाई राजा सुचैतसिंह या जमादार खुशहाल सिंह भी कोई अनुचित कार्य करें तो तुरंत उन्हें सूचित किया जाए। उसमें यह भी कहा गया था कि आप अपने विश्वस्त व्यक्तियों को बड़े-बड़े सरदारों के पास इस आदेश सहित भेजिए कि जनता के साथ किसी तरह का अनुचित व्यवहार न करें, आप किसी भी व्यक्ति की जमीन पर बलात् अधिकार की अनुमति न दें, न ही किसी व्यक्ति का कोई घर गिराया जाए। बढ़इयों, घास-भूसा बेचने वालों, तेल बेचने वालों, घोड़ों की नाल लगानेवालों, कारखानेदारों आदि पर किसी प्रकार की जबरदस्ती न की जाए। किसी भी व्यक्ति के साथ किसी भी प्रकार के कठोर व्यवहार की आप अनुमति न दें और जो भी याचिकाएं महाराजा के नाम आएं उन्हें तुरंत उनके सम्मुख प्रस्तुत किया जाए। सभी के अधिकारों की रक्षा की जाए—किसी को सताया न जाए, सशस्त्र घुड़सवार सड़कों पर लोगों की सुरक्षा के लिए तैनात किए जाएं।"

एक शासक के रूप में रणजीत सिंह अपने युग के अनोखे शासकों में से थे। उन्होंने कभी अपने नाम से शासन नहीं किया। वे सदैव 'खालसा' या 'पंथ खालसा जी' के नाम से शासन करते थे। सामान्य जनता और राज्य के सभी कर्मचारी उन्हें सामान्यतः 'सरकार' कहते थे और वे भी अपने आदेशों को 'सरकार' का आदेश ही कहा करते थे। अपने लिए इस प्रकार की निर्वेयक्तिक उपाधि अतिरिक्त उन्होंने और किसी भी प्रकार की राजकीय उपाधि अपने साथ नहीं लगाई। एक महाराजा के रूप में उनका राजतलिक हुआ था, किंतु वे राजसिंहासन पर कभी नहीं बैठे। अपने दरबारियों के मध्य एक सुंदर कुर्सी पर अथवा जमीन पर मसनद के सहारे बैठना उन्हें ज्यादा अच्छा लगता था। कितने आश्चर्य की बात है कि रणजीत सिंह ने कभी अपने नाम का सिक्का नहीं ढलवाया। लाहौर पर अधिकार करने और महाराजा की उपाधि ग्रहण करने के पश्चात् रणजीत सिंह ने सन् 1801 में लाहौर में जो सिक्का ढलवाया उसे 'नानक शाही' सिक्का कहा गया। सिक्के पर एक ओर गुरु नानक और मरदाना का चित्र अंकित था, दूसरी और फारसी और गुरुमुखी अक्षरों में 'गुरु नानक जी सहाय' अंकित था। कुछ अन्य सिक्खों पर फारसी में यह अंकित रहता था—

दैगो तैगो फतह औ नुसरत बैदरंग
याफत अज़ नानक गुरु गोविंद सिंह

रणजीत सिंह ने लगभग 40 वर्ष तक राज्य किया। उन्नीस वर्ष की आयु में 6 जुलाई, सन् 1799 में उन्होंने लाहौर पर अधिकार किया था और 27 जून सन् 1839 में लाहौर में उनका देहावसान हुआ। ये चालीस वर्ष निरंतर युद्धों-संघर्षों के साथ ही साथ पंजाब के आर्थिक और सामाजिक विकास के वर्ष थे। लाहौर पर अधिकार के समय रणजीत सिंह एक छोटे से राज्य के स्वामी थे। परंतु जीवन के अंतिम दिनों में उनके राज्य का क्षेत्रफल 1,40,000 वर्गमील था जो दक्षिण में सतलज नदी से लेकर उत्तर में दर्रा खैबर और सुलैमान पहाड़ियों तक फैला हुआ था। उनके राज्य की सीमा एक ओर चीन की सीमाओं को छूती थी तो दूसरी ओर सिंध को। टुकड़ों और छोटे-छोटे राज्यों और सिख-मिसलों में बंटे हुए पंजाब को रणजीत सिंह ने अपनी शक्ति, धैर्य, सूझ-बूझ और जागरूकता से एक शक्तिशाली राज्य के रूप में परिवर्तित ही नहीं किया, उसकी सीमाओं को काबुल के द्वार तक पहुंचा दिया और उत्तर-पश्चिम से होने वाले आठ सौ वर्षों के निरंतर आक्रमण-प्रवाह का मुख मोड़ दिया। अपने जीवनकाल में रणजीत सिंह ने अनेक युद्धों में भाग लिया, परंतु राज्य की आर्थिक प्रगति की ओर से कभी उसका ध्यान नहीं हटा। उनके शासनकाल में खेती-बाड़ी, उद्योग-धंधे, कला और कारीगरी तथा अस्त्र-शस्त्र निर्माण आदि सभी दृष्टियों से पंजाब ने बहुत प्रगति की। खेती के विकास की दृष्टि से रणजीत सिंह की सबसे बड़ी उपलब्धि यह थी कि ज़मीन पर उसी का अधिकार स्वीकार किया जाता था जो स्वयं खेती करता था और उसी से सरकारी लगान वसूल किया जाता था। इस प्रकार पंजाब से उस प्रकार की जमींदारी प्रथा लगभग दो शती पहले ही समाप्त हो गई थी जो भारत के अन्य अनेक भागों स्वतंत्रता के आगमन तक बनी रहकर निर्धन किसानों का शोषण करती रही थी। अकाल या सूखे के दिनों में किसानों को बीज मुफ्त दिए जाते थे और उनके परिवारों में अनाज वितरित किया जाता था। युद्ध के समय या सेना के एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते समय इस प्रकार के विशेष आदेश दिए जाते थे कि फसलों को किसी प्रकार की हानि न पहुंचाई जाए। घुड़सवारों के लिए यह एक स्थायी आदेश था कि खेतों के मध्य से जाते समय वे अपने घोड़ों से उतरकर चलेंगे, जिससे कि खेती की भरसक रक्षा की जा सके।

रणजीत सिंह ने अपने शासनकाल में मुलतान की रेशम, कश्मीर की पश्मीना, अमृतसर और कसूर की फुलकारी, चंबा और कसूर की जूती जैसी लोकप्रिय कारीगरी को बहुत बढ़ावा दिया। इस प्रकार के प्रोत्साहन की दृष्टि से उन्होंने अनेक ढंग अपनाए। जब वे मुलतान के रेशम उद्योग को बढ़ाना चाहते तो वे अपने राजदरबारियों को मुलतानी रेशम की बनी चीजें भेंट में देना प्रारंभ कर देते। इस प्रकार वह वस्तु एक फैशन के रूप में ग्रहण की जाती और उसका प्रचलन बढ़ जाता।

एक कुशल शासक के रूप में महाराजा रणजीत सिंह अच्छी तरह जानते थे कि जब तक उनकी सेना सुशिक्षित नहीं होगी, आधुनिक हथियारों से लैस नहीं होगी, अनुशासनबद्ध नहीं होगी, वह शत्रुओं का मुकाबला नहीं कर सकेगी। उस समय तक ईस्ट इंडिया कंपनी और अधिकार लगभग संपूर्ण भारत पर हो चुका था। भारतीय सैन्य-पद्धति और अस्त्र-शस्त्र यूरोपीय सैन्य-पद्धति और अस्त्र-शस्त्रों के सम्मुख बिल्कुल नाकारा सिद्ध हो चुके थे। सन् 1805 में रणजीत सिंह ने भेस बदलकर लार्ड लेक के शिविर में जाकर अंग्रेजी सेना की कवायद, गणवेश और सैन्य-पद्धति को देखा था और वे उससे बहुत प्रभावित हुए थे। उन्होंने भी अपनी सेना को यूरोपीय पद्धति कर संगठित करने का निश्चय किया। प्रारंभ में स्वतंत्र ढंग से लड़ने वाले सिख-सैनिकों को कवायद आदि की पद्धति बड़ी हास्यास्पद लगी और उन्होंने उसका विरोध भी किया पर रणजीत सिंह अपने निश्चय पर दृढ़ रहे। उन्होंने अनेक यूरोपीय सैन्य विशेषज्ञों को अपनी सेवा में लिया। कुछ इतिहासकारों ने सेवारत ऐसे विदेशियों की 72 नामों की सूची दी है इनमें अमेरिकी, इतालवी, रूसी और फ्रांसीसी प्रमुख रूप से थे। रणजीत सिंह के राज्य में नौकरी पाने के लिए उन्हें एक प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर करने होते थे और गोमांस तथा तंबाकू का सेवन न करने की शर्त माननी पड़ती थी।

महाराजा की सेवा में चार ऐसे फ्रांसीसी सेना-नायक थे जो फ्रांस के सम्राट लुई फ़िलिप की सेवा में रह चुके थे। इनके नाम थे जनरल वेन्तुरा, एलर्ड, अबीताबील और कोर्ट। इन्होंने रणजीत सिंह की सेना को यूरोपीय ढंग पर प्रशक्षित किया। अनेक ऐसे पूर्वी भारतीय, पठान और गोरखे सैनिक जो वर्षों ईस्ट इंडिया कंपनी में सेवारत रह चुके थे, वहां की नौकरी छोड़कर रणजीत सिंह की सेना में आ गए थे। ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा दिए गए गणवेश के आधार पर रणजीत सिंह इन सैनिकों के समान ही अन्य सैनिकों का गणवेश भी बदला।

पंजाब में इसके पूर्व पैदल सेना की विशेष परंपरा नहीं थी। सामान्यतः घुड़सवार सेना को ही विशेष सेना माना जाता था परंतु युद्ध में पैदल सेना का कितना महत्व होता है यह बात रणजीत सिंह ने ईस्ट इंडिया कंपनी की पैदल सेना देखकर जान ली थी। महाराजा ने जनरल वेन्तुरा को पैदल सेना को प्रशिक्षित करने का काम सौंपा। महाराजा स्वयं इन सैनिकों की परेड देखने के लिए नित्य प्रातः समय परेड मैदान में आते थे।

पैदल सेना की ही तरह रणजीत सिंह ने अपने तोपखाने का भी पुनर्गठन किया। मियां गौस खान की कमान में सन् 1810 में 'तोपखाना खास' का निर्माण किया गया। सन् 1814 में जनरल ईलाहीबख्श की कमान में एक और 'तोपखाना खास' बनाया गया। रणजीत सिंह युद्ध में तोपों की उपादेयता को अच्छी तरह समझते थे। जहां कहीं से भी उन्हें तोपें मिलतीं वे उसे पाने का प्रयत्न करते। इसी के साथ ही उन्होंने गुजरात और लाहौर में नई तोपों को ढालने के कारखाने लगाए। सरकार लहणसिंह मजीठिया

की देख-रेख में इन कारखानों में ऐसी तोपें ढलीं, जिनके सामने अंग्रेजों की तोपें भी मद्धिम पड़ गईं। अंग्रेज-सिख युद्ध के दौरान अंग्रेज सेना नायक यह देखकर चकित रह गए कि सिखों की तोपों का निशाना कहीं अच्छा था और उनकी मार अंग्रेजी तोपों से लंबी थी।

रणजीत सिंह के शासनकाल में किसी भी व्यक्ति को मृत्यु दंड नहीं दिया गया यह तथ्य अपने आप में कम आश्चर्यजनक नहीं है। उस युग में जब शक्ति के मद में चूर शासकगण बात-बात में अपने विरोधी को मौत के घाट उतार देते थे, कभी हाथी के पैरों तले रौंदवा देते थे, आंखें निकाल लेते थे, रणजीत सिंह ने सदा अपने विरोधियों के प्रति उदारता और दया का रुख रखा। जिस किसी राजा या नवाब का राज्य जीतकर उन्होंने अपने राज्य में मिलाया उसे जीवन-यापन के लिए कोई-न-कोई जागीर दे दी।

एक बार लाहौर दरबार में 'दुहाई सरकार-दुहाई सरकार' कहती हुई एक औरत पहुंची। मालूम हुआ कि कुछ सैनिकों ने उसके साथ बलात्कार किया है। महाराजा का सिर लज्जा से झुक गया। अपनी तलवार निकालकर उसके हाथ में देते हुए बोले—"यह तलवार लो और मेरी हत्या कर दो।"

औरत भौंचक्की रह गई—"नहीं सरकार, यह तो आपका काम है—आप महाराजा हैं। मैं तो चाहती हूं कि आप अपराधियों को पकड़ें और उन्हें दंड दें।"

महाराजा ने शिनाख्त के लिए बहुत से सैनिकों को उसके सामने खड़ा किया। उस औरत ने उन पांच सैनिकों को पहचान लिया जिन्होंने उसे सताया था। रणजीत सिंह ने फिर तलवार उसके हाथ में दी और कहा, तुम्हीं इन्हें दंड दो।

"पर सरकार आपके राज में मौत की सजा तो है ही नहीं, इसलिए मैं चाहती हूं कि इनका मुंह काला करके इन्हें लाहौर की सड़कों पर घुमाया जाए।"

वैसा ही किया गया। फिर उन्हें सेना से बर्खास्त करके जेल में डाल दिया गया।

शारीरिक दृष्टि से महाराजा रणजीत सिंह उन व्यक्तियों में नहीं थे जिन्हें इतिहास सुदर्शन नायक के रूप में याद किया जाता है। उनका कद दरमियाना और रंग गहरा गेहुंआ था। बचपन में चेचक की बीमारी के कारण उनकी बाईं आंख जाती रही थी। मुंह पर चेचक के गहरे दाग थे परंतु उनका प्रभाव और उनका सौंदर्य उनके संपूर्ण व्यक्तित्व में था। तत्कालीन ब्रिटिश गवर्नर जनरल लार्ड विलियम बैंटिक ने एक बार फकीर अजीजुद्दीन से पूछा कि महाराजा की कौन-सी आंख खराब है। फकीर साहब ने उत्तर दिया—उनके चेहरे की दीप्ति ऐसी है कि मैंने कभी सीधे उनके चेहरे की ओर देखा ही नहीं है। इसलिए मुझे यह नहीं मालूम कि उनकी कौन-सी आंख खराब है।

रणजीत सिंह को कोई सुयोग्य उत्तराधिकारी प्राप्त नहीं हुआ, यह दुर्भाग्य की बात थी। उनकी मृत्यु के बाद लाहौर दरबार अनेक प्रकार के षड्यंत्रों, दुरभिसंधियों और क्षुद्र संघर्षों का केंद्र बन गया। पंजाब की दुर्दशा देखकर सभी देशभक्तों की आत्मा चीख उठी। उनकी मृत्यु के 6 वर्ष बाद अंग्रेजों-सिखों की पहली लड़ाई हुई। सिख-सैनिकों

ने उस युद्ध में अपूर्व वीरता का परिचय दिया, परंतु अपने नेताओं की गद्दारी के कारण वे पराजित हुए। रणजीत सिंह के समकालीन कवि शाह मोहम्मद ने उस पराजय पर रोदन करते हुए सरकार (महाराजा) को याद करते हुए कहा था—

आज हौवे सरकार तां मुल्ल पावे,
जेहड़ीया खालसे ने तेग़ा मारीयां ने।
शाह मुहम्मद इक सरकार बाफों,
फौजां जिस के अंत नू हारीयां ने।।

(आज यदि महाराजा रणजीत सिंह होते तो वे इस बात का मूल्यांकन करते कि खालसा सेना ने युद्ध में तलवार के कैसे जौहर दिखाए। शाह मोहम्मद, एक सरकार (महाराजा) के अभाव में ये फौजें जीतकर भी अंत में हार गईं।)

(दैनिक जागरण, 29-6-2000)

विकृत इतिहास की पक्षधरता

राष्ट्रीय शैक्षणिक एवं अनुसंधान परिषद (एन. सी. ई. आर. टी.) द्वारा ग्यारहवीं कक्षा के लिए निर्धारित पुस्तक 'मध्यकालीन भारत का इतिहास' पुस्तक में श्री सतीश चंद्र ने गुरु तेग़बहादुर और गुरु गोबिन्द सिंह के संवंध में जो बातें लिखी हैं, इन दिनों उन्हें लेकर बहुत विवाद उत्पन्न हो गया है। केंद्र के शिक्षा मंत्रालय ने भी इस ओर ध्यान दिया है और आपत्तिजनक अंशों को इस पुस्तक से निकालने का आदेश दे दिया है। अनेक विपक्षी दलों ने इस संवंध में वर्तमान सरकार पर अनेक आरोप लगाए हैं और सरकार पर शिक्षा के तालिबानीकरण करने का दोष लगाया जा रहा है। इस पुस्तक में गुरु तेग़बहादुर तथा संपूर्ण सिख इतिहास के संबंध में जिस तरह के विचार व्यक्त किए गए हैं उससे यह स्पष्ट होता है कि कुछ लोग जानबूझकर किस प्रकार इतिहास को विकृत करने का प्रयास कर रहे हैं।

इतिहासकार की एक दृष्टि होती है। यह दृष्टि उस इतिहास में घटित प्रसंगों और घटनाओं को व्याख्यायित करने और उनका नियोजन करने में उनका मार्ग दर्शन करती है। किसी भी ऐतिहासिक घटना के संवंध में जानकारी प्राप्त करने के लिए इतिहासकार के सम्मुख मुख्य रूप से दो साक्ष्य होते हैं—अंतः साक्ष्य और बाह्य साक्ष्य। अंतः साक्ष्य अधिक महत्वपूर्ण इसलिए होता है, क्योंकि घटना से जुड़े व्यक्ति, घटना के चश्मदीद गवाह अथवा तत्कालीन उपलब्ध तथ्य उसका विवरण देते हैं। उदाहरण के लिए पांचवें गुरु—गुरु अर्जुन देव के साथ मुगल सम्राट जहांगीर ने जो व्यवहार किया था और उनको मृत्यु के घाट क्यों उतारा था, इसका वर्णन उसने स्वयं अपनी आत्मकथा 'तुजके जहांगीरी' में किया है। जब तक यह पुस्तक प्रकाश में नहीं आई थी, गुरु अर्जुन देव की शहादत के संवंध में अनेक भ्रांतियां और किंवदंतियां प्रचलित थीं। दूसरा स्रोत

बाह्य साक्ष्य का है। उस प्रसंग अथवा घटना के संबंध में समय-समय पर इतिहासकारों ने क्या लिखा है और अपने लेखन में उन्होंने किन स्रोतों, तथ्यों और सूचनाओं को अपना आधार बनाया है। सतीश चंद्र ने गुरु तेग बहादुर के संबंध में लिखते समय किन स्रोतों का सहारा लिया? उन्होंने किस फारसी ग्रंथ का हवाला देते हुए यह लिख दिया कि उन स्रोतों के अनुसार गुरु तेग़बहादुर ने असम से लौटने के बाद शेख अहमद सरहिंद के एक अनुयायी हाफिज आदम के साथ मिलकर पूरे पंजाब प्रांत में लूटमार मचा रखी थी और प्रांत को उजाड़ रखा था।

गुरु तेग़बहादुर तक गुरु नानक देव द्वारा प्रवर्तित सिख परंपरा को चलते लगभग दो सदियां व्यतीत हो गई थीं। क्या पूर्ववर्ती सभी सिख-गुरु लूटमार करते और क्षेत्रों को उजाड़ते रहते थे? या काम केवल गुरु तेग़बहादुर ने प्रारंभ किया था? यह माना जा सकता है कि फारसी लेखक को गुरु तेग़बहादुर के व्यक्तित्व और साहित्य के संबंध में कुछ पता नहीं होगा किन्तु क्या इस स्रोत का हवाला देने से पहले सतीशचन्द्र को यह आवश्यक नहीं लगा था कि वे गुरू तेग़बहादुर के व्यक्तित्व के संबंध में कुछ पढ़ लेते? यह बड़ा फूहड़ और बेहूदा तर्क है कि यह कथन सतीशचंद्र का नहीं किसी फारसी स्रोत का है। गली-मोहल्लों की अनपढ़ औरतें किसी को जी भरकर गालियां देती हैं और फिर यह कह देती हैं कि ऐसा हम नहीं, पड़ोस की फलां स्त्रियां कह रही थीं। दूसरी बड़ी ही अनर्गल बात सतीशचंद्र ने लिखी है कि सिख परंपरा के अनुसार गुरु को फांसी उनके परिवार के कुछ लोगों की साजिश का नतीजा थी, जिसमें और लोग भी शामिल हो गए थे। वे लोग गुरु के उत्तराधिकारी के विरुद्ध थे। इस सिख परंपरा का ज्ञान सतीशचंद्र को कहां से हुआ? इसका स्रोत कहां है? ऐसी मनगढंत बात लेखक ने किस आधार पर लिख दी? मैंने सिख इतिहास का पर्याप्त अध्ययन किया है। मुझे तो ऐसी किसी परंपरा का ज्ञान नहीं है। सतीशचंद्र को यह अनोखी जानकारी कहां से मिल गई? अपने आपको इतिहासकार मानने वाले किसी व्यक्ति को क्या यह अधिकार है कि वह कोई भी उल-जलूल बात लिख दे और फिर अपने कुतर्कों द्वारा उसे उचित ठहराता फिरे?

एक और कुतर्क भी इस पुस्तक में है। कश्मीर के हिंदुओं पर तत्कालीन मुगल सूबेदार द्वारा किए गए अत्यचारों से उन्हें जबरन धर्म परिवर्तन के लिए मजबूर करने और कश्मीरी पंडितों का आनन्दपुर में गुरु तेग़बहादुर के पास आने की सभी बातों को वह यह कहकर झूठला देता है कि हिंदुओं के साथ धार्मिक अत्याचार का उल्लेख कश्मीर के किसी इतिहास में नहीं मिलता। यहां पहले ऐतिहासिक तथ्यों की जांच परख कर ली जाए। गुरु तेग़बहादुर की शहादत का सबसे बड़ा ऐतिहासिक साक्ष्य है, उनके पुत्र और दसवें गुरु, गुरु गोबिंद सिंह की आत्मकथा 'विचित्र नाटक'। गुरु गोविंद सिंह की आयु उस समय नौ वर्ष की थी जब उन्होंने अपने पिता को दिल्ली के लिए विदा होते देखा था। उसी आयु में उन्होंने 'गुरुपद' का दायित्व भी संभाला था। अपनी

आत्मकथा में उन्होंने अपने पिता के बलिदान की घटना का उल्लेख करते हुए लिखा है–'तिलक-जनेऊ की रक्षा के लिए उन्होंने इस कलियुग में बहुत बड़ा कार्य दिया। साधुजनों की रक्षा के लिए उन्होंने अपनी 'इति' कर ली। उन्होंने अपना शीश दे दिया पर उफ तक नहीं की। यह कार्य उन्होंने धर्म की रक्षा के लिए किया। उन्होंने सिर दे दिया परंतु अपना निश्चय नहीं त्यागा। उन्होंने अपने जीवन का ठीकरा दिल्ली के बादशाह के सिर पर फोड़ कर प्रभु पुर की ओर प्रयाण किया। तेग़बहादुर जैसा कार्य तो किसी ने नहीं किया। उनके चले जाने से सारे संसार में शोक छा गया। सारे संसार में हाय-हाय होने लगी, किंतु सुरलोक में उनकी जय-जयकार हुई। गुरु गोबिन्द सिंह के अपने ही शब्दों में–

तिलक 'जंजू' राखा प्रभु ताका।
कीनों बड़ो कलू महि साका।
साधनि हेति इति जिन करी।
सीस दिया पर सी न उचरी।।
धरत हेत साका जिन कीआ।।
सीस दिया पर सिरड़ न दीआ।।
ठीकर फोरि दिलीस सिरि प्रभु पर कीया पयान।
तेग़बहादुर सी क्रिया करीन न किनहू आन।।
तेग़बहादुर के चलत भयो जगत को साको।
है है है सभ जग भयो जै जै जै सुर लोक।।

सतीश चंद्र ने इस महत्वपूर्ण साक्ष्य और स्रोत को क्यों नहीं देखा? गुरु गोबिन्द सिंह के एक आश्रित और समकालीन कवि सेनापति ने अपनी काव्य रचना 'गुरु शोभा' में इस प्रसंग की चर्चा की है। क्या ये सभी अंतः साक्ष्य सतीश चंद्र जैसे इतिहासकार के सम्मुख कोई महत्व नहीं रखते? क्या उन्हें फारसी स्रोत, इन स्रोतों से अधिक प्रामाणिक लगे। गुरु गोविंद सिंह के जीवनकाल और उनके पश्चात् कितने ही इतिहास ग्रंथ पंजाब में लिखे गए। गुरु विलास, महिमा प्रकाश, सूरज प्रकाश, बंसावलि नामा, सर्वलोह प्रकाश आदि कितने ही ग्रंथों में इस बलिदान का सविस्तार वर्णन किया गया है। क्या इन सभी स्रोतों का आकलन सतीशचंद्र को नहीं करना चाहिए था?

आधुनिक भारतीय तथा विदेशी इतिहासकारों ने भी अपनी रचनाओं में इस घटना की पृष्ठभूमि का वर्णन किया है। जे. डी. कनिंघम, आर्चर और मैकालिफ के साथ ही सैयद मोहम्मद लतीफ, जदुनाथ सरकार, गोकुलचंद नारंग, इन्दुभूषण बनर्जी, गंडा सिंह, तेजा सिंह, खुश्वंत सिंह, गोपाल सिंह जैसे अगणित इतिहासकारों ने इस घटना की व्यापक चर्चा की है। सर जदुनाथ सरकार से बड़ा इतिहासकार तो देश में अभी तक पैदा नहीं हुआ। उन्होंने अपनी बहुचर्चित रचना–औरंगजेब का इतिहास (पृष्ठ 313) में लिखा

है—'उन्होंने (गुरु तेग़बहादुर ने) कश्मीर के हिंदुओं को इस्लाम में बलात् धर्म परिवर्तन के विरोध को प्रोत्साहित किया और खुलेआम बादशाह की अवज्ञा की। उन्हें गिरफ्तार करके दिल्ली लाया गया और जेल में डाल दिया गया। उन्हें इस्लाम स्वीकार करने के लिए कहा गया। इन्कार करने पर उन्हें पांच दिन तक यातनाएं दी गईं, फिर उनका शिरोच्छेदन कर दिया गया'।

सतीश चंद्र को इससे बड़ा और क्या ऐतिहासिक प्रमाण चाहिए? सतीश चंद्र कहते हैं कि कश्मीर के किसी इतिहास में इस बात का उल्लेख नहीं है कि कश्मीर के पंडित गुरु तेग़बहादुर के पास आनन्दपुर गए थे। जदुनाथ सरकार के उक्त उद्धरण से भी यह स्पष्ट है कि गुरु तेग़बहादुर ने कश्मीर में हिंदुओं पर होने वाले अत्याचार का पूरी तरह विरोध किया था। श्री पी. ए. कौल बमजई ने अंग्रेजी में 'ए हिस्ट्री ऑफ कश्मीर' नामक पुस्तक लिखी है, जिसे बहुत प्रामाणिक माना जाता है। उस पुस्तक में उन्होंने कश्मीर पंडितों का मट्टन के प. कृपाराम के नेतृत्व में गुरु तेग़बहादुर के पास आनन्दपुर में आने और उनसे भेंट करने का पूरा विवरण दिया है।

पंडितों की व्यथा सुनकर गुरु तेग बहादुर सोच में पड़ गए थे। उस समय वहां गोबिंद दास (बाद में गुरु गोविंद सिंह) भी उपस्थित थे। बहुत विचार करने के पश्चात् गुरु तेग़बहादुर ने पंडितों से कहा था—'आप कश्मीर जाकर अपने सूबेदार से कहिए कि गुरु तेग बहादुर को हम सभी अपना गुरु मानते हैं। यदि वे अपना धर्म परिवर्तन कर लेंगे तो हम सब भी इसे सहर्ष स्वीकार कर लेंगे।' उस समय तक किसी पर कोई अत्याचार या जोर-जबरर्दस्ती न की जाए।

सूबेदार ने उन्हें बादशाह के पास लाहौर भेज दिया। पंडितों ने बादशाह से लिखित रूप में यह बात कही। उनकी अर्जी पढ़कर बादशाह बहुत खुश हुआ। उसे लगा कि यदि गुरु तेग़बहादुर को धर्म परिवर्तन के लिए लिए मना लिया जाए तो धर्म परिवर्तन की मुहिम को बहुत बल मिलेगा। उसने कश्मीर के सूबेदार इफ्तखार खान को यह आदेश भेज दिया कि फिलहाल वहां बलात् धर्म परिवर्तन को रोक दिया जाए। उसी समय बादशाह ने गुरु तेग़बहादुर को बंदी बनाकर दिल्ली लाने का फरमान भेज दिया। डॉ. सैयद मोहम्मद लतीफ ने अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ पंजाब' में भी इस बात की पुष्टि की है। इन सभी ऐतिहासिक प्रमाणों के बाद सतीशचंद्र को और किन प्रमाणों की आवश्यकता थी? क्या गलत ऐतिहासिक हवाले देना, किन्हीं संदेहास्पद स्रोतों के सहारे मनमाने निष्कर्ष निकाल देना और मूल ऐतिहासिक स्रोतों को नजरअंदाज कर देना सही इतिहास लिखना है या इतिहास को विकृत करना है।

गुरु गोबिन्द सिंह का पहाड़ी राजाओं और मुगल सेनाओं से टक्कर लेने की बात को भी सतीश चंद्र ने जान-बूझकर विकृत रंग देने का प्रयास किया है। लेखक लिखता है कि गुरु तेग़बहादुर की हत्या ने सिखों को पंजाब की पहाड़ियों में पनाह लेने पर मज़बूर कर दिया। यह बात लेखक के ऐतिहासिक अज्ञान और विकृत सोच का

परिचय देती है। शिवालिक की पहाड़ियों में छठे गुरु, गुरु हरि गोविन्द ने गुरु तेग बहादुर से लगभग चालीस वर्ष पहले कीरतपुर नाम का नगर बसाया था। उससे आठ किलो मीटर की दूरी पर गुरु तेग़बहादुर ने आनन्द पुर नगर बसाया था। इसलिए यह कहना कि उनकी हत्या के बाद सिखों ने पहाड़ों में जाकर पनाह ली, बेबुनियाद है।

सतीशचंद्र जैसे कुछ तथाकथित इतिहासकार एक मनोग्रंथि के शिकार हैं। हिंदुओं-मुसलमानों में सामंजस्य लाने का प्रयास करना अच्छी बात है, किन्तु क्या इसके लिए पूरे इतिहास की विकृत व्याख्या करनी चाहिए? ये इतिहासकार इस बात का प्रयास कर रहे हैं कि इतिहास के कुछ दुर्भाग्यपूर्ण काले पृष्ठों पर सफेद रंग पोत दिया जाए। औरंगजेब जैसे शासकों के कारनामों को वे जायज ठहरा कर उन्हें शुद्ध श्वेत, वस्त्रों में हमारे सामने लाना चाहते हैं। इतिहास की यदि कुछ क्रूर सच्चाइयां हैं, तो हमे उनका सामना करना चाहिए। औरंगजेब द्वारा सरमद जैसा सूफी फकीर सूली पर चढ़ा दिया गया था, क्योंकि उसके प्रवचनों को वह इस्लाम की शिक्षाओं के अनुरूप नहीं मानता था। उसके लिए एक नया तर्क गढ़कर यह कहना कि वह फकीर चांदनी चौक में आम नागरिकों की जेबें काटता था, आपकी प्रगतिशीलता में चार चांद तो लगा सकता है, इतिहास को बदल नहीं सकता। सतीशचंद्र ने इतिहास की कटु सच्चाइयों को झुठलाकर कुछ लोगों में वाहवाही तो लूट ली है, किन्तु अपनी शिक्षा और व्यावसायिक नैतिकता के साथ अक्षम्य अन्याय किया है।

(दैनिक जागरण, 6-12-2000)

गुरु गोबिंद सिंह के ऐतिहासिक पत्र

ऐतिहासिक पत्रों का अपना महत्व होता है। ये पत्र उस युग के इतिहास पर तो प्रकाश डालते ही हैं, उस समय के समाज और व्यक्ति के मानस की भी परख करते हैं। इस कड़ी में बादशाह औरंगजेब को गुरु गोबिंद सिंह द्वारा लिखे दो पत्रों का उल्लेख मिलता है। पहले पत्र को फतहनामा कहा जाता है और दूसरे को ज़फरनामा अर्थात् विजय पत्र। पहला पत्र अपने संपूर्ण रूप में प्राप्त नहीं है। दूसरा पत्र 'दशम ग्रंथ' में संग्रहीत है, इसलिए उसकी चर्चा व्यापक रूप से होती है। ये दोनों ही पत्र उस समय की राजभाषा फारसी की काव्यात्मक शैली में लिखे गए हैं। पहले पत्र (फतेहनामा) प्रकाश में आने के पीछे की कथा बड़ी रोचक है। उद्धव शतक के रचयिता बाबू जगन्नाथ प्रसाद रत्नाकर (1866-1932) ने नागरी प्रचारिणी पत्रिका के अगस्त 1922 के अंक में छत्रपति शिवाजी द्वारा मिर्जा राजा जयसिंह को फारसी में लिखा हुआ पत्र प्रकाशित कराया था। उसकी भूमिका में उन्होंने लिखा था कि 30 वर्ष पूर्व उन्होंने गुरु गोबिंद सिंह के जन्म स्थान पटना के गुरुद्वारे के महंत बाबा सुमेरसिंह के पास दो पत्र देखे थे।

उनमें से एक गुरु गोबिंद सिंह जी का वह पत्र था जो उन्होंने औरंगजेब को लिखा था और दूसरा पत्र छत्रपति शिवाजी का मिर्जा राजा जयसिंह के नाम था।

रत्नाकर जी ने बाबा सुमेर सिंह से इन दोनों पत्रों की प्रतिलिपियां प्राप्त कर लीं और उन्हें किसी पुस्तक में रख दिया। काफी समय तक उन्होंने इन पत्रों की ओर कोई ध्यान न दिया। इस बीच बाबा सुमेर सिंह का देहावसान हो गया। कुछ समय पश्चात् जब उन्होंने दोनों पत्रों की खोज की। उन्हें शिवाजी द्वारा लिखा पत्र तो मिल गया, किन्तु गुरु गोबिंद सिंह वाला पत्र नहीं मिला। उनके मतानुसार उस पत्र में लगभग

एक सौ शेर थे। उस पत्र का अध्ययन उन्होंने बड़े मनोयोग से किया था इसलिए कुछ शेर उन्हें याद हो गए थे। उसी आधार पर रत्नाकर जी ने उन्हें लिपिबद्ध किया और उसे स. उमराव सिंह शेरगिल (सुप्रसिद्ध चित्रकार अमृता शेरगिल के पिता) के पास भेज दिया। श्री शेरगिल ने उन्हें क्रमबद्ध करके एक प्रति खालसा कालेज (अमृतसर) को भेजी और एक प्रति भाई वीर सिंह को। भाई वीर सिंह ने उन शेरों का पंजाबी अनुवाद सहित खालसा समाचार में प्रकाशित करवा दिया।

इस पत्र के अभी तक कुल 23 शेर उपलब्ध हैं, किन्त इनका अध्ययन गुरु गोबिन्द सिंह के स्पष्ट और निर्भीक मानस पर पूरा प्रकाश डालता है, साथ ही औरंगजेब के चरित्र को भी उजागर करता है–

बनाम खुदावन्द तेगो तबर।
खुदावन्द तीरो सनानो सपर।।
(तलवार कटार, तीर, फल और ढाल के स्वामी का नाम लेकर)
खुदावन्द मर्दाना जंग आज़मा।
खुदा अस्पान पादर हवा।।
(युद्ध में कुशल योद्धाओं के स्वामी और हवा जैसे तेज़ घोड़ों के मालिक का नाम लेकर)
हमा को तिरा पदशाही बदाद।
वमां दौलते ही पनाही बदाद।।
(उसका जिसने तुझे बादशाहत दी और हमें धर्म-रक्षा का गौरव)
तेरा तर्कए ताज़ी बमकरो रिया।
मेरा चारा साज़ी बेसिद को सफा।।
(तुझे दिया विश्वासघात और धोखे का क्षेत्र और मुझे दिया स्वच्छ हृदय का ढंग)
न जेबा तेरा नाम औरंगज़ेब
ज औरंगज़ेब नियाअद फरेब।।
(औरंगजेब नाम तुम्हारे लिए शोभाजनक नहीं है। राजसिंहासन को शोभायमान करने वालों के लिए दगा-फरेब ठीक नहीं है)
न तस्बीहत अज़ सजोरिश्ता बेश।
कज़ा दानासाज़ी दाम खेश।।
(तुम्हारे हाथ की माला मनके और धागा और कुछ नहीं, क्योंकि तुम उन मनकों को दाना बनाते हो और धागे को जाल)
तो खाके पिदर रा बकर धार जुश्त।
वेखूने बरादर बेदादी सरतु।।
(तुमने अपने पिता की मिट्टी दुष्कृत्यों द्वारा अपने भाई के खून से गूंधी है)

बजां खान और
खाम करदी बना।
बर्राए दर्रे दौलत
खवीश रा।।
(और उससे अपने नश्वर राज्य के महल की नींव रखी है)
मन अकनन बाफजाल पुरुष अकाल।
कनक ज़अहबा आहन चनान बरशकाल।।
(मैं अब अकाल पुरुष की कृपा से लोहे के पानी (तलवार की धार) की ऐसी वर्ष करूंगा)
कि हरगिज़ अज़ान चार दीवारे शरम।
निशाने नमानद बरीं पाक बरम।।
(कि इस पवित्र भूमि पर अपवित्र चारदीवारी का नाम निशान न रहे)
ज़करा दक्कन तिश्ना काम आमदी।
ज़ मेवाड़ हम तलख जाम आमदी।।
(दक्षिण (महाराष्ट्र) से तू प्यासा वापस आया है। मेवाड़ से भी कड़वा घूंट भरकर आया है)
बरीं सर चो अननोन निगाहत रूद।
कि आन तलखी व तश्न की अत रूद।।
(अब तेरी इस ओर दौड़ी है, तो अब तेरी व्याकुलता और प्यास मिट जाएगी)
चना आतशे ज़ोर नआलत न हम।
ज़ पंजाब आवत न खुर्दन दहम।।
(मैं इस प्रकार तुम्हारे पैरों के नीचे आग रखूंगा कि पंजाब में तुझे पानी नहीं पीने दूंगा)
चे शुद ग़र शगाले बे मफरो रिया।
हम कश्ते दो बच्छाए शेरे का।।
(क्या हुआ जो गीदड़ ने धोखे से शेर के दो बच्चे मार दिए)
चो शेर ज़ेयान जिंदा मांघ हमी।
ज़ तो इन्तकामे सताद हमी।।
(जब कि खूंखार शेर अभी तक जिंदा है वह तुमसे बदला ले लेगा)
न दीग़र गराएम बनामें खुदात।
के दीदाम खुदा व कलामें खुदात।।
(मैं अब तुम्हारे खुदा के नाम (पर ली हुई शपथ) का कोई विश्वास नहीं करूंगा। मैंने तुम्हारे खुदा और खुदा के कलाम को देखा लिया है)
बेसोगंद तो एतबारे न मानद।

मेरा जुज़ वे शमशीरे कारे न मानद।।

(तुम्हारी सौगन्धों पर मुझे विश्वास नहीं है। मुझे अब तलवार पकड़ने के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है)

तेरी गुर्ग बारान कशीरा अगर।
न हम नेज़ शेरे जदामें बदर।।

(यदि तुम बड़े चालाक भेड़िया हो तो मैं एक शेर को पिंजरे से तुम्हारा सामना करने के लिए छोड़ूंगा)

अगर बाज गुफ्तो शानीदत वमासत।
न मायम तिरा जादा पाको रासत।।

(यदि मुझसे तुम्हारी बातचीत हुई तो मैं तुम्हें उचित और सत्यमार्ग दिखाऊंगा)

बेमेदान दो लश्कर सफारा शवन्द।
जो दिये बहम आशकारा शवन्द।।

(मैंदान में दो सेनाएं पंक्तिवद्ध खड़ी जो जाएं और शीघ्र ही आपस में परिचित हो जाएं)

अजां बस दर्रा अरसाए कारज़ार।
मन आएम ज़रीदा तो बा दो सवार।।

(मैं युद्धभूमि में अकेला आऊंगा तुम दो घुड़सवार लेकर आना)

तो अज़ नाज़ो नियामत समर खुर्ददई।
ज़ जंगी जवाना न बर खुरदई।।

(तुमने लाड़-प्यार और सुख के फल खाए हैं। तुम कभी योद्धाओं के सम्मुख नहीं आए)

बे मैदाने बिआ खुद ये तेग़ो तबर।
मकन खल्के खलाएक जेरे जबर।।

(तुम स्वयं तलवार और कटार लेकर युद्ध में आओ। ईश्वर की सृष्टि को नष्ट मत करो)

ज़फरनामा : गुरु गोबिन्द सिंह के एक दरबारी कवि सेनापति तथा अन्य सभी इतिहासकारों ने 'जफ़रनामा' का उल्लेख किया है। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है, यह पत्र दशमग्रंथ में भी संग्रहीत है। यह इसकी प्रामाणिकता का सबसे बड़ा प्रमाण है। इस पत्र में कुल 111 शेर हैं। इस पत्र के शेर 53 और 54 में यह स्पष्ट है कि इसे बादशाह से प्राप्त किसी पत्र अथवा संदेश के उत्तर में लिखा गया था। 53वें शेर का भावार्थ है—"तुम्हारा कर्तव्य है कि तुम अपने लिखे अनुसार कार्य करो।

शुमा रा चु फर्ज़स्त कारे कुनी।
बमूजब नविश्त शुमारे कुनी।।

54वें शेर में लिखा है तुम्हारा लिखित तथा मौखिक संदेश मुझे मिला है। तुम्हें चाहिए कि अब तुम उसे पूरा करो—

नविश्तः रसीदो बगुफ्तः ज़बां।
बिबायदः कि ई कार राहत रसां।।

इतिहासकारों ने इस बात का उल्लेख किया है कि बादशाह ने गुरु गोबिन्द सिंह को प्रत्यक्ष भेंट करने के लिए संदेश भेजा था। संभवतः यह पत्र उस संदेश के उत्तर में था। उन्होंने यह पत्र खदराना (मुक्तसर) के युद्ध के पूर्व, जब वे दीना नामक स्थान पर थे, लिखा था। पत्र में इस बात का संकेत है। 58वें शेर में वे लिखते हैं-आप कांगड़ कस्बे में तशरीफ लाइए। यहां भेंट हो जाएगी—

कि तशरीफ दर कसबः कांगड़ा कुनद।
बजां पस मुलाकात बाहम शवद।

दीना ग्राम कांगड़ जमींदारी का ही एक गांव था। यहां के निवासी अधिकांश बैराड़ जाति के थे, जो गुरु के अनन्य शिष्य थे। 59वें शेर में उन्होंने इस ओर भी संकेत किया है।

अंत के दो शेरों में वे ईश्वर पर अपनी पूर्ण आस्था प्रकट करते हुए कहते हैं कि यदि वह सहायक हो तो सैकड़ों शत्रु भी कुछ नहीं कर सकते। यदि कोई शत्रुता निभाने के लिए हजारों व्यक्ति अपने साथ ले आए तो भी उसका बाल बांका नहीं किया जा सकता। इस पत्र को गुरु गोबिन्द सिंह ने भाई दया सिंह द्वारा औरंगजेब के पास भिजवाया जो उस समय अहमदनगर में था। कुछ समय की प्रतीक्षा के पश्चात् भाई दया सिंह यह पत्र औरंगजेब के पास पहुंचाने में सफल हो गए। उस समय ऐतिहासिक सूत्रों से ज्ञात होता है कि औरंगजेब ने तत्काल यह आज्ञा प्रसारित करा दी कि गुरु गोबिन्द सिंह को कोई कष्ट न दिया जाए और उन्हें सम्मान सहित बादशाह के पास लाया जाए। गुरु गोबिन्द सिंह द्वारा लिखे गए ये दोनों पत्र अपने समय के महत्वपूर्ण दस्तावेज हैं। गुरु गोबिन्द सिंह ने उस समय संसार की सबसे बड़ी राजनीतिक शक्ति को चुनौती दी थी और उसके लिए अपना सर्वस्व न्योछावर कर दिया था। माता-पिता, चारों पुत्र और असंख्य अनुयायियों का बलिदान देकर भी न्याय और सत्य के लिए छेड़े गए संघर्ष के प्रति उनके मनोबल में किसी प्रकार की शिथिलता नहीं आई थी, यह उन पत्रों से स्पष्ट होता है। औरंगजेब को जैसी ताड़ना उन्होंने इस पत्रों के माध्यम से दी और अकाल पुरुष के प्रति अपनी गहरी आस्था को जिस प्रकार उन्होंने प्रकट किया था, उससे उनके चरित्र के अनेक उज्ज्वल पक्षों पर प्रकाश पड़ता है।

(दैनिक जागरण, 4 जनवरी 2001)

कैसे थे आज़ादी के ये तीन दीवाने

इस देश ने कुछ वर्षों के अंतराल में आज़ादी के ऐसे तीन दीवाने पैदा किए जो एक-दूसरे से बढ़-चढ़ कर थे। करतार सिंह सराभा (1896-1915), भगत सिंह (1907-1931) और उधम सिंह (1899-1940)। करतार सिंह सराभा इनमें सबसे कम, केवल 19 वर्ष की आयु में फांसी के तख़्ते पर झूल गया था। वह मैट्रिक पास करके केवल 15 वर्ष की आयु में अमेरिका चला गया था। वहां उसके संबंधी रहते थे। जब वह सांफ्रांसिसको के बंदरगाह पर उतरा तो उसने देखा कि संसार के अन्य भागों से आए हुए यात्रियों के साथ अमरीकी अधिकारी बहुत अच्छा व्यवहार कर रहे थे किन्तु भारत से आए हुए लोगों के साथ उनका व्यवहार बहुत अपमानजनक था। जब उसने इसका कारण जानना चाहा तो किसी अन्य यात्री ने बड़े व्यंग्य से उत्तर दिया—'तुम लोग एक पराधीन देश के रहने वाले हो। स्वाधीन देशों से आए हुए यात्रियों जैसा व्यवहार तुम्हें कैसे मिल सकता है?'

इस घटना ने उसे बुरी तरह झिंझोड़ दिया। कुछ दिन बाद ही वहां भारतीय नवजवानों की एक सभा में उसने पराधीन भारत की स्थिति पर एक ओजस्वी भाषण दिया। अगले ही वर्ष (1913) में आस्टोरिया नामक स्थान पर अमेरिका गए भारतीयों का विशेष सम्मेलन हुआ जिसमें लाला हरदयाल विशेष रूप से सम्मिलित हुए थे। उस सम्मेलन में 'इंडियन पैसिफिक एसोसिएशन' नाम की संस्था की स्थापना हुई और ग़दर नाम से एक साइकलोस्टाइल साप्ताहिक पत्र निकालने का निश्चय हुआ। यह पत्र हिन्दी, पंजाबी, उर्दू और गुजराती भाषाओ में छपना प्रारम्भ हुआ। करतार सिंह को इस कार्य को करने का विशेष दायित्व सौंपा गया।

सन् 1914 में प्रथम विश्वयुद्ध प्रारंभ हुआ। अमेरिका-कनाड़ा में बसने वाले

भारतीयों ने सोचा कि यह अच्छा अवसर है। इस समय भारत में सशस्त्र विद्रोह कर के देश को आज़ाद कराया जा सकता है। इस निश्चय के साथ ग़दर आंदोलन से संबंध रखने वाले उत्तरी अमेरिका में बसे हुए बहुत से भारतीयों ने देश में वापस लौटने का निर्णय ले लिया। करतार सिंह साराभा देश लौटने वाले आज़ादी के दीवानों में से पहले कुछ लोगों में था।

भारत लौटकर करतार सिंह और उसके साथियों ने लुधियाना को अपना केंद्र बनाया। यहां से वह पंजाब के विभिन्न क्षेत्रों का दौरा करता था और उन्हें विद्रोह के लिए प्रेरित करता था। ग़दर आंदोलन से जुड़े इन देशभक्तों में जोश था किन्तु सशस्त्र क्रांति के लिए जैसी तैयारी चाहिए उसका अनुभव नहीं था। अस्त्र-शस्त्र प्राप्त करने, बम बनाने, उनका इस्तेमाल करने की विधि में बंगाली क्रांतिकारियों को बड़ी निपुणता प्राप्त थी। करतार सिंह सराभा ने उनसे संपर्क उत्पन्न किया। उसने वाराणसी जाकर प्रसिद्ध क्रांतिकारी रास बिहारी बोस, जो वहां गुप्तवास कर रहे थे, से भेंट की और आग्रह किया कि वे पंजाब के क्रांतिकारियों का नेतृत्व स्वीकार करें। सारी स्थिति की अच्छी तरह परख करने के पश्चात् रासबिहारी बोस अमृतसर आ गए।

इन क्रांतिकारियों की योजना थी कि किसी प्रकार अंग्रेज़ों की सेना के भारतीय सिपाहियों को विद्रोह के लिए प्रेरित किया जाए। महाराष्ट्र का रहने वाला एक देशभक्त क्रांतिकारी विष्णु गणेश पिंगले, करतार सिंह सराभा का घनिष्ठ सहयोगी था। उसने मेरठ, फिरोज़पुर, मियांमीर की छावनियों के सिपाहियों से संपर्क किया। यह तय किया गया कि 21 फरवरी 1915 को क्रांति का बिगुल बजा दिया जाए। इसी रात को इन सभी छावनियों पर अधिकार कर लिया जाए और फिर भारतीय सिपाहियों को साथ लेकर दिल्ली पर कब्जा कर लिया जाए।

अंग्रेजी सरकार को ग़दरियों की गतिविधियों का आभास हो चुका था। कुछ गद्दारों ने इस योजना की पूरी जानकारी सरकार को दे दी। परिणामस्वरूप विद्रोह से पहले ही ये क्रांतिकारी बंदी बना लिए गए। सारी योजना विफल हो गई।

सराभा तथा उसके साथियों पर अंग्रेजों की अदालत ने मुकदमा चलाया गया। अदालत में अपने बयान में सराभा ने विद्रोह के सभी आरोप स्वीकार कर लिए और कहा कि मुझे जल्दी से जल्दी फांसी की सजा दे दी जाए, जिससे मैं शीघ्र ही पुनर्जन्म लेकर अपने देश की आज़ादी के लिए फिर से संघर्ष प्रारंभ कर सकूं। 16 नवंबर 1915 को लाहौर जेल में उसे, उसके साथी विष्णु गणेश पिंगले सहित फांसी पर लटका दिया गया। उस समय उसने अपनी आयु के 19 वर्ष भी पूरे नहीं किए थे।

भगत सिंह करतार सिंह को अपना आदर्श मानता था। वह उसके चित्र को सदा अपने पर्स में रखता था। भगत सिंह का तो पूरा परिवार ही स्वतंत्रता संघर्ष के प्रति समर्पित था। उसके चाचा अजीत सिंह को अंग्रेजी सरकार ने सन् 1907 में लाला लाजपत राय के साथ बंदी बनाकर बर्मा की मांडले जेल में भेज दिया था। उनके पिता सरदार

किशन सिंह और दूसरे चाचा स्वर्ण सिंह को भी सरकार विरोधी गतिविधियों में भाग लेने के कारण गिरफ्तार करके लाहौर जेल में डाल दिया था। वह अभी प्राइमरी कक्षा में ही पढ़ रहा था जब उसने ग़दर आंदोलन के क्रांतिकारियों की गाथा सुनी थी और करतार सिंह सराभा को फांसी पर चढ़ते देखा था। इन सभी बातों का उस पर ऐसा प्रभाव पड़ा था कि छोटी उम्र में ही उसने आपके देश की स्वाधीनता के लिए समर्पित करने का निश्चय कर लिया था।

भगत सिंह लाहौर में अभी बी.ए. की परीक्षा देने की तैयारी कर रहा था जब उसके माता-पिता ने उसके विवाह की योजना बनाई। उसने इस योजना का कड़ा विरोध करते हुए कहा कि यदि मेरा विवाह पराधीन भारत में होना है तो केवल मृत्यु ही मेरी पत्नी बनेगी। विवाह के चक्कर से बचने के लिए वह कानपुर चला गया और वहां गणेश शंकर विद्यार्थी के दैनिक पत्र प्रताप में काम करने लगा। यहां उसने संसार के क्रांतिकारी आंदोलनों और तत्संबंधी साहित्य का गहरा अध्ययन किया। कानपुर में ही वह हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन का सदस्य बना। इस संस्था का बाद में नाम बदलकर हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन रख दिया गया था। जब उसे यह विश्वास हो गया कि उसके माता-पिता उसे विवाह के लिए बाध्य नहीं करेंगे तो वह सन् 1925 में लाहौर वापस आ गया।

कानपुर में श्री गणेश शंकर विद्यार्थी का संपर्क उसकी देशभक्ति की भावना को तीव्र करने में बहुत सहायक हुआ। सन् 1926 में भगत सिंह और उसके कुछ साथियों ने लाहौर में नवजवान भारत सभा की स्थापना की। भगत सिंह को इस संस्था का सचिव बनाया गया।

अक्टूबर सन् 1928 को इंग्लैंड से साइमन कमीशन भारत आया। इस कमीशन का सारे देश में बहिष्कार किया गया। हर जगह 'साइमन वापस जाओ' के नारे लग रहे थे। जब इस कमीशन के सदस्य लाहौर पहुंचे तो लाला लाजपत राय के नेतृत्व में बड़ी संख्या में लोगों ने इसका बहिष्कार करके अपना विरोध प्रदर्शित किया। स्टेशन की ओर बढ़ती हुई भीड़ पर पुलिस ने लाठी चार्ज किया। इसमें लाला लाजपत राय को इतनी लाठियां लगीं कि कुछ दिन बाद उनका देहांत हो गया। लाला जी की मौत का बदला लेने के लिए भगत सिंह और उसके साथियों ने लाठी चार्ज का आदेश देने वाले अंग्रेज पुलिस अफसर स्कॉट की हत्या करने की योजना बनाई किन्तु पहचान की गलती के कारण स्कॉट का सहकारी जे. पी. सांडर्स क्रांतिकारियों की गोली का शिकार बन गया। यह काम भगत सिंह और उसके साथी राजगुरु ने किया था। दूसरे दिन हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोशिएशन की ओर से सारे शहर में एक पत्र बांटा गया जिसमें यह दावा किया गया कि लाला लाजपत राय की मौत का बदला ले लिया गया है।

भगत सिंह देश वेश बदल कर लाहौर से कलकत्ता चला गया। कुछ समय बाद

वह पुनः सक्रिय हो गया। दिल्ली में विधान सभा में पब्लिक सेफ्टी बिल और ट्रेड डिसप्यूट्स बिल पर बहस हो रही थी। इन बिलों द्वारा सरकार यह चाहती थी कि देश में बढ़ती हुई राजनीतिक गतिविधियों को दबाने के लिए उसे और अधिकार मिल जाएं। क्रांतिकारियों ने सोचा कि इन बिलों के प्रति अपना विरोध प्रदर्शित करने के लिए विधान सभा में एक बम का विस्फोट किया जाए। भगत सिंह और बी. के. दत्त ने इस कार्य के लिए अपने आप को पेश किया। वे किसी प्रकार विधान सभा की दर्शकदीर्घा तक पहुंच गए और इस बात की प्रतीक्षा करने लगे कि उक्त बिलों को स्वीकृति के लिए विधान सभा में कब प्रस्तुत किया जाएगा। जब इस बात की घोषणा हुई तो भगत सिंह ने उठकर एक बम फेंक दिया। यह बम केवल धमाका करने के लिए था। किसी की हत्या करने के लिए नहीं। इसी समय भगत सिंह और बटुकेश्वर दत्त नारे लगाने लगे। उन्होंने एक छपे हुए पत्रक की प्रतियां भी विधान सभा में फेंकी और यह घोषणा की कि यह बम विस्फोट केवल बहरे कानों को खोलने के लिए किया गया है।

दोनों क्रांतिकारियों को तुरंत गिरफ्तार कर लिया गया। उन पर मुकदमा चलाया गया। भगत सिंह पर सांडर्स की हत्या का भी आरोप था। भगत सिंह और उसके साथियों ने अदालत में अपने बचाव की कोई दलील नहीं पेश की। उन्होंने इस अवसर का लाभ उठाते हुए भरी अदालत में देश की आज़ादी पर ऐसा प्रेरक वक्तव्य दिया जो आज एक ऐतिहासिक दस्तावेज़ बन चुका है।

23 मार्च 1931 को भगत सिंह, राजगुरु और सुखदेव को फांसी पर चढ़ा दिया गया।

इसी त्रयी का तीसरा नायक उधम सिंह है। जिस प्रकार भगत सिंह का प्रेरणास्रोत करतार सिंह सराभा था, उसी प्रकार उधम सिंह की प्रेरणा का उत्स भगत सिंह था। भगत सिंह अपने जीवन काल में ही देश की युवा शक्ति का प्रतीक माने जाने लगा था और संपूर्ण देश में गांव-गांव तक उसकी प्रसिद्धि फैल गई थी। उधम सिंह का जन्म 16 दिसंबर 1899 को तत्कालीन पटियाला राज्य के नगर सुनाम में हुआ था। उसने बचपन में ही अमेरिका-कनाडा में पनपे ग़दर आंदोलन और उसके शहीदों की गाथाएं सुनी थीं। बैसाखी वाले दिन सन् 1919 में अमृतसर जलियांवाला बाग में हो रही उस सभा में वह उपस्थित था जिसमें जनरल डायर ने अपने सिपाहियों को निहत्थे लोगों पर गोलियां बरसाने का आदेश दिया था। सैनिकों ने 1650 राउण्ड गोलियां चलाई थीं। इस क्रूर हत्याकांड में एक हजार से अधिक लोग मारे गए थे और सैकड़ों घायल हुए थे।

उधम सिंह ने यह सब कुछ अपनी आंखों से देखा था। उसी समय उसने निर्दोष भारतीयों की इस भयावह मौत का बदला लेने की ठान ली थी।

उस समय पंजाब का लेफ्टिनेंट गवर्नर सर माइकल ओडवायर था, जिसने जनरल डायर के इस क्रूर कारनामे का पूरी तरह से समर्थन किया था। उधम सिंह कुछ समय

के लिए अमेरिका चला गया। वहां से लौटते समय वह अपने साथ कुछ रिवाल्वर ले आया था। अमृतसर की पुलिस ने उसे गिरफ्तार कर लिया और गैर कानूनी ढंग से हथियार रखने के अपराध में अदालत में उसे चार वर्ष की कैद की सज़ा दे दी। सन् 1931 में वह बंदीगृह से मुक्त हुआ और उसने अमृतसर में साइनबोर्ड बनाने का धंधा शुरू किया। इसी समय उसने अपना नाम राम मोहम्मद सिंह आज़ाद रख लिया।

1931 में भगत सिंह, राजगुरु और सुखदेव को फांसी दिए जाने की घटना ने उसे बुरी तरह झिंझोड़ दिया। जलियांवाला बाग़ की घटना को भी वह भूला नहीं था। कुछ समय बाद वह इंग्लैंड चला गया और उस अवसर की प्रतीक्षा करने लगा जब वह अपनी चिरसंचित अभिलाषा की पूर्ति कर सके।

आखिर वह दिन आ गया। 13 मार्च 1940 को लंदन के कैक्सटन हाल में ईस्ट इंडिया एसोसिएशन और रायल सैंट्रल एशियन सोसायटी की ओर से संयुक्त रूप से आयोजित एक सभा हो रही थी। उधम सिंह को ज्ञात था कि उस सभा में सर माइकल ओडवायर भी आने वाला है। वह पूरी तरह तैयार होकर उस सभा में गया और ठीक साढ़े चार बजे शाम को उसने ओडवायर को अपना निशाना बनाया अपनी पिस्तौल से पांच गोलियां चलाईं। दो गोलियां ओडवायर को लगीं और वह मृत होकर धरती पर गिर गया। ब्रिटिश मंत्रिमंडल में भारत सचिव लार्ड जेटलैंड, जो उस सभा की अध्यक्षता कर रहा था, बुरी तरह घायल हो गया।

सभा में उपस्थित कुछ भारतीयों ने, उस आतंक और कोलहाल भरे वातावरण में उधम सिंह को भाग जाने के लिए प्रेरित किया किन्तु उसने इन्कार कर दिया और ऊंची आवाज़ में कहा कि मैंने जलियांवाला बाग के हत्याकांड का बदला ले लिया। मेरे सामने उस आदमी की लाश पड़ी है जो मेरे निर्दोष देशवासियों के नरसंहार का जिम्मेदार था। यह कहकर उसने अपनी पिस्तौल फेंक दी और अपने आपको पुलिस के हवाले कर दिया।

हाल में ही, अपने एक मित्र शिवसिंह को बंदीगृह से लिखे उधम सिंह के पत्रों का संग्रह गुरु नानक देव विश्वविद्यालय (अमृतसर) ने प्रकाशित किया है। इन पत्रों के माध्यम से उसके दृढ़ निश्चय, अटूट देशभक्ति, लक्ष्य के प्रति पूर्ण समर्पण का परिचय मिलता है। अपने एक पत्र में वह लिखता है—मैं मरने की बिल्कुल चिंता नहीं करता। ऐसी मृत्यु का क्या लाभ जो बूढ़े होने की प्रतीक्षा करती है। यह ठीक नहीं है। मरना उस समय ही ठीक होता है, जब युवावस्था हो। यही ठीक है और मैं यही कर रहा हूं। मैं अपने देश के लिए मर रहा हूं।

ब्रिटिश अदालत में दिए गए एक बयान में उसने कहा था—मैंने गोली चलाई, अपना विरोध प्रदर्शित करने के लिए। मैंने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के अंतर्गत भारत में लोगों को भूख से मरते देखा है। अपना विरोध प्रदर्शित करने के लिए मुझे कोई अफसोस नहीं है। मैंने अपने देश के लिए यह काम किया है। मुझे इस बात की परवाह नहीं

है कि मुझे क्या सजा मिलती है–दस, बीस या पचास वर्ष की अथवा फांसी। मैंने अपना कर्तव्य पूरा किया है।

ब्रिटिश अदालत ने उसे दोषी मानते हुए मृत्युदंड दिया। 31 जुलाई 1940 को उसे फांसी पर चढ़ा दिया गया।

किसी भी देश को स्वतंत्रता सरलता से नहीं मिलती। उसके लिए पूरा मूल्य चुकाना पड़ता है। करतार सिंह सराभा प्रायः एक गीत गाया करता था–

सेवा देश दी जिंदड़ीए बड़ी औखी,
गल्ला करनीआं ढेर सुखल्लीआं ने।
जिन्हा देश सेवा विच पैर पाया,
उन्हा लख मुसीबतां झल्लीआं ने।।

(देश की सेवा करना बड़ा कठिन काम है, देश सेवा की बातें करना बड़ा सरल है। जो लोग देश सेवा के लिए अपना कदम बढ़ाते हैं उन्हें लाखों मुसीबतें उठानी पड़ती हैं।)

आत्मबलिदानियों की इस त्रयी ने अपने प्राणों की आहुति देकर जो ज्योति जलाई थी, वह सदैव प्रेरणा-स्रोत बनकर जीवित रहेगी।

(दैनिक जागरण, 25-1-01)

ऐसे थे महाराजा रणजीत सिंह

रणजीत सिंह ने बैसाखी (12 अप्रैल 1801) के दिन लाहौर में बाबा साहब सिंह वेदी के हाथों माथे पर तिलक लगवाकर औपचारिक रूप से एक स्वतंत्र भारतीय शासक के रूप में अपने आपको प्रतिष्ठित किया। इससे ठीक आठ सौ वर्ष पहले सन् 1001 में अंतिम भारतीय शासक, जिसका राज्य उस समय कांगड़ा से लेकर आज के अफगानिस्तान की सीमाओं तक फैला हुआ है, राजा जयपाल पेशावर के युद्ध में गजनी के शासक महमूद के हाथों पराजित हो गया था। अपनी पराजय से वह इतना लज्जित हुआ था कि उसने जलती चिता में कूदकर आत्महत्या कर ली थी। उसके पुत्र आनंदपाल ने कुछ वर्ष तक गजनी की सेनाओं का सामना किया था, किंतु 1026 में अंतिम रूप से पराजित होकर अपना संपूर्ण राज्य शत्रु को सौंपने के लिए लाचार हो गया था।

फिर आठ सदियों तक पंजाब और उत्तर भारत के अनेक भागों पर विदेशी आक्रांताओं—कभी तुर्क, कभी पठान और कभी मुगलों का राज्य अबाधित रूप से बना रहा।

आठ सौ वर्ष बाद एक ऐसी बैसाखी आई जिसने एक नए सूर्य का प्रकाश देखा। सरदार महासिंह के पुत्र रणजीत सिंह ने एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना की और महाराज के रूप में अपने मस्तक पर केसरी तिलक लगवाया। इस महान ऐतिहासिक दिन की दूसरी शताब्दी हमारे सामने है। अपने चालीस साल के शासन काल में महाराजा रणजीत सिंह ने इस स्वतंत्र राज्य की सीमाओं को राजा जयपाल के राज्य की सीमाओं से अधिक विस्तृत तो किया ही, उसमें ऐसी शक्ति भरी कि फिर खैबर के उस पार से किसी आक्रमणकारी की इस ओर आने की हिम्मत नहीं हुई।

महाराजा रणजीत सिंह उन इने-गिने शासकों में से थे जिन्हें अपने जीवन में अपनी प्रजा का भरपूर प्यार मिला और जो अपने जीवनकाल में ही अनेक लोक कथाओं और जनश्रुतियों के केंद्र बन गए थे। पंजाब के लोक-जीवन और लोक-कथाओं में महाराजा रणजीत सिंह से संबंधित जितनी कहानियां लोगों की जबान पर हैं उतनी अन्य

किसी भी ऐतिहासिक पुरुष के संबंध में नहीं हैं। ये अधिकांश कहानियां उनकी उदारता, न्यायप्रियता और सभी धर्मों के प्रति सम्मान को लेकर प्रचलित हैं। जनश्रुतियों में अतिशयोक्ति और कल्पना का अंश होता है, परंतु इनके माध्यम से किसी भी व्यक्ति का वह चित्र उभरता है, जिसे जनता स्वयं स्वीकार करती है, जिसके लिए किसी प्रकार का शासकीय दबाव कारगर सिद्ध नहीं होता।

रणजीत सिंह के बहुमुखी व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने वाली अनेक घटनाएं इस प्रकार की हैं जो उन अनेक परिवारों में सुरक्षित हैं जिनका एक या दो पीढ़ी पूर्व महाराजा से सीधा संबंध था। इस प्रकार का एक परिवार फकीर अज़ीजुद्दीन का है, जो रणजीत सिंह का विदेशी मंत्री था और जिनके वंशज आज भी लाहौर में महाराजा से संबंधित अनेक स्मृतियों को सम्मान और श्रद्धा से संजोए हुए हैं।

इसी प्रकार की एक घटना है कि एक बार एक मुसलमान खुशनवीस ने अनेक वर्षों की साधना और श्रम से कुरान शरीफ की एक अत्यंत सुंदर प्रति सोने और चांदी से बनी स्याही तैयार की। वह उस प्रति को लेकर पंजाब और सिंध के अनेक मुसलमान नवाबों और जमींदारों के पास गया। सभी ने उसके कार्य और उसकी कला की प्रशंसा की, परंतु कोई भी उस प्रति को खरीदने के लिए तैयार नहीं हुआ क्योंकि खुशनवसीय जो उसका मूल्य मांगता था, वह सभी को अपनी सामर्थ्य से अधिक लगता था। निराश होकर वह खुशनवीस यह सोचकर लाहौर आया कि कुर्रआन शरीफ की उस प्रति को वह रणजीत सिंह के किसी मुसलमान वज़ीर या सेनाधिकारी को बेचने का प्रयास करेगा। वह फकीर अज़ीजुद्दीन के पास आया। फकीर साहब ने उसके कार्य की बड़ी प्रशंसा की, परंतु वह मूल्य देने में अपनी असमर्थता व्यक्त की जो वह मांग रहा था। रणजीत सिंह ने यह बात सुनी और उसे बुला भेजा। खुशनवीस ने जब वह प्रति उन्हें दिखाई तो उन्होंने बड़े सम्मान से उसे उठाकर अपने मस्तक से लगाया और आज्ञा दी कि खुशनवीस को उतना धन दिया जाए जितना वह चाहता है और कुरान शरीफ की उस प्रति को उनके निजी संग्रहालय में रख दिया जाए।

महाराजा के इस कार्य से सभी को कुछ आश्चर्य होना स्वाभाविक था। फकीर अज़ीजुद्दीन ने पूछा—हुजूर, आपने इस प्रति के लिए बहुत बड़ी धनराशि दी है परंतु वह तो आपके किसी काम की नहीं है, क्योंकि आप सिख हैं और यह मुसलमानों की धर्म पुस्तक है।

महाराजा ने उत्तर दिया—फकीर साहब, ईश्वर की यह इच्छा है कि मैं सभी धर्मों को एक ही नजर से देखूं। इसीलिए उसने मुझे एक ही आंख दी है।

रणजीत सिंह की धार्मिक उदारता और विनम्रता से संबंधित ऐसी अनेक घटनाएं उन अनेक ऐतिहासिक पुस्तकों और तत्कालीन यात्रा-वृतांतों में अंकित हैं जो उनके जीवनकाल में या उनके बाद लिखी गईं। उसने पंजाब की अनेक मस्जिदों की मरम्मत करवाई, हिंदू मंदिरों को दान दिया, काशी विश्वनाथ के मंदिर के कलश को 22 मन सोना देकर स्वर्ण-मंडित किया और अमृतसर के हरिमंदिर पर सोना चढ़वा कर उसे

स्वर्ण मंदिर में बदल दिया। स्वर्ण मंदिर पर रणजीत सिंह ने ये शब्द पंजाबी भाषा में अंकित कराए–'श्री महाराज गुरु साहिब ने आपणे परम सेवक सिख जाणकर श्री दरबार साहिब जो की सेवा श्री महाराजा सिंह साहब रणजीत सिंह पर दया करके कराई।'

और यह भी कहा जाता है कि मृत्यु से पूर्व रणजीत सिंह ने अमूल्य कोहेनूर हीरे को पुरी के जगन्नाथ जी के मंदिर को दान कर देने की इच्छा व्यक्त की थी। महाराजा रणजीत सिंह एक श्रद्धावान सिख थे। वे अपराह्न में नित्य एक घंटा गुरु ग्रंथ साहब का पाठ सुनते थे और हरिमंदिर के दर्शन के लिए प्रायः अमृतसर जाया करते थे किंतु उनके संपूर्ण व्यक्तित्व में धार्मिक संकीर्णता कहीं नहीं थी। आज से दो शताब्दी पूर्व, जब धर्म-निरपेक्षता का प्रतिबोध विशेष महत्व नहीं रखता था, रणजीत सिंह ने इस विचार को साकार रूप प्रदान किया। उनके प्रधानमंत्री राजा ध्यान सिंह डोगरा हिंदू थे। उनके विदेश मंत्री और गृहमंत्री फकीर अज़ीज़ुद्दीन और फकीर नुरुद्दीन मुसलमान थे। उनके एक प्रमुख मंत्री जमादार खुशहाल सिंह मेरठ के ब्राह्मण थे। उनका नागरिक प्रशासन और अर्थव्यवस्था संभालने का अधिक दायित्व दीवान भवानी दास, दीवान गंगाराम और राजा दीनानाथ जैसे पूर्वी भारत के हिंदू संभालते थे। रणजीत सिंह की सेना में भी सिख सेनापतियों और सैनिकों के साथ ही मुसलमान और हिंदू सेनाधिकारियों और सैनिकों की बड़ी संख्या थी।

एक व्यक्ति के रूप में रणजीत सिंह अपनी उदारता और दयालुता के लिए बहुत प्रसिद्ध थे। उनकी उदारता और लोगों के प्रति दया और प्रेमभाव के कारण लोगों द्वारा उन्हें 'लखबख्शा' या 'पारस' कहा जाता था। फकीर अजीजुद्दीन के वंशज फकीर वहीउद्दीन सैयद की लिखी और कुछ वर्ष पूर्व लाहौर से प्रकाशित पुस्तक 'रियल रणजीत सिंह' में सन् 1831 में महाराजा द्वारा जारी किए गए फरमान का उल्लेख है जो उनकी न्यायप्रियता पर प्रकाश डालता है। यह आज्ञापत्र उन्होंने अपने राज्य की आंतरिक शांति और व्यवस्था के जिम्मेदार दो प्रमुख व्यक्तियों–सरदार अमीर सिंह और फकीर नुरुद्दीन को भेजा था। इस आदेश में उन्होंने कहा था कि यदि मेरे पुत्र कंवर खड़ग सिंह, कुंवर शेर सिंह या प्रधानमंत्री राजा ध्यान सिंह, उनके भाई राजा सुचेत सिंह या जमादार खुशहाल सिंह भी कोई अनुचित कार्य करें तो तुरंत सूचित किया जाए। उसमें यह भी कहा गया है कि आप अपने विश्वस्त व्यक्तियों को बड़े-बड़े सरदारों के पास इस आदेश सहित भेजिए कि वे जनता के साथ किसी तरह का अनुचित व्यवहार न करें। आप किसी व्यक्ति की जमीन पर बलात् अधिकार की अनुमति न दें, न ही किसी व्यक्ति का कोई घर गिराया जाए। बढ़इयों, घास-भूसा बेचने वालों, तेल बेचने वालों, घोड़ों की नाल लगाने वालों, कारखानेदारों आदि पर किसी प्रकार की जबरदस्ती न की जाए। किसी भी व्यक्ति के साथ किसी भी प्रकार के कठोर व्यवहार की आप अनुमति न दें और जो भी याचिकाएं महाराजा के नाम से आएं उन्हें तुरंत उनके सम्मुख प्रस्तुत किया जाए। सभी के अधिकारों की रक्षा की जाए, किसी को सताया न जाए, सशस्त्र घुड़सवार सड़कों पर लोगों की सुरक्षा के लिए तैनात किए जाएं।

एक शासक के रूप में रणजीत सिंह अपने युग के अनोखे शासकों में से थे। उन्होंने कभी अपने नाम से शासन नहीं किया। वे सदैव 'खालसा या पंथ खालसा जी' के नाम से शासन करते थे। सामान्य जनता और राज्य के सभी कर्मचारी उन्हें सामान्यतः 'सरकार' कहते थे और वे भी अपने आदेशों को 'सरकार' का आदेश ही कहा करते थे। अपने लिए इस प्रकार की निर्वैयक्तिक उपाधि के अतिरिक्त उन्होंने और किसी भी प्रकार की राजकीय उपाधि अपने साथ नहीं लगाई। एक महाराजा के रूप में उनका राजतिलक हुआ था, किंतु वे राजसिंहासन पर कभी नहीं बैठे। अपने दरबारियों के मध्य एक सुंदर कुर्सी पर अथवा ज़मीन पर मसनद के सहारे बैठना उन्हें ज्यादा अच्छा लगता था। कितने आश्चर्य की बात है कि रणजीत सिंह ने कभी अपने नाम का सिक्का नहीं ढलवाया। लाहौर पर अधिकार करने और महाराजा की उपाधि ग्रहण करने के पश्चात् उन्होंने सन् 1801 में लाहौर में जो सिक्का ढलवाया उसे 'नानकशाही' सिक्का कहा गया। सिक्के पर एक ओर गुरु नानक और मरदाना का चित्र अंकित था, दूसरी ओर फारसी और गुरुमुखी अक्षरों में गुरु नानक जी सहाय अंकित था।

रणजीत सिंह ने लगभग 40 वर्ष तक राज्य किया। उन्नीस वर्ष की आयु में 6 जुलाई सन् 1799 में उन्होंने लाहौर पर अधिकार किया था और 27 जून सन् 1839 में लाहौर में उनका देहावसान हुआ। ये चालीस वर्ष निरंतर युद्धों-संघर्षों के साथ ही पंजाब के आर्थिक और सामाजिक विकास के वर्ष थे। लाहौर पर अधिकार के समय रणजीत सिंह छोटे से राज्य के स्वामी थे परंतु जीवन के अंतिम दिनों में उनके राज्य का क्षेत्रफल 1,40,000 वर्गमील था जो दक्षिण में सतलुज नदी से लेकर उत्तर में दर्रा खैबर और सुलेमान पहाड़ियों तक फैला हुआ था। उनके राज्य की सीमा एक ओर चीन की सीमाओं को छूती थी तो दूसरी ओर सिंध को। टुकड़ों, छोटे-छोटे राज्यों और सिख-मिसलों में बंटे पंजाब को रणजीत सिंह ने अपनी शक्ति, श्रम, सूझ-बूझ और जागरूकता से एक शक्तिशाली राज्य के रूप में परिवर्तित ही नहीं किया, उसकी सीमाओं को काबुल के द्वार तक पहुंचा दिया और उत्तर-पश्चिम से होने वाले आठ सौ वर्षों से निरंतर आक्रमण-प्रवाह का मुख मोड़ दिया था। अपने जीवनकाल में रणजीत सिंह ने अनेक युद्धों में भाग लिया, परंतु राज्य की आर्थिक प्रगति की ओर से कभी उनका ध्यान नहीं हटा। उनके शासनकाल में खेती-बाड़ी, उद्योग धंधे, कला और कारीगरी तथा अस्त्र-शस्त्र निर्माण आदि सभी दृष्टियों से पंजाब ने बहुत प्रगति की। खेती के विकास की दृष्टि से रणजीत सिंह की सबसे बड़ी उपलब्धि यह थी कि जमीन पर उसी का अधिकार स्वीकार किया जाता था जो स्वयं खेती करता था और उसी से सरकारी लगान वसूल किया जाता था। इस प्रकार पंजाब से उस प्रकार की जमींदारी प्रथा दो शती पहले से ही समाप्त हो गई थी जो भारत के अन्य अनेक भागों में स्वतंत्रता के आगमन तक बनी रहकर निर्धन किसानों का शोषण करती रही थी।

एक कुशल शासक के रूप में महाराजा रणजीत सिंह अच्छी तरह जानते थे कि जब तक उनकी सेना सुशिक्षित नहीं होगी, आधुनिक हथियारों से लैस नहीं होगी,

अनुशासनबद्ध नहीं होगी, वह शत्रुओं का मुकाबला नहीं कर सकेगी। उस समय तक ईस्ट इंडिया कंपनी का अधिकार लगभग संपूर्ण भारत पर हो चुका था। भारतीय सैन्य-पद्धति और अस्त्र-शस्त्र यूरोपीय सैन्य-पद्धति और अस्त्रों-शस्त्रों के सम्मुख नकारा सिद्ध हो चुके थे। सन् 1805 में रणजीत सिंह ने भेस बदल कर लार्ड लेक के शिविर में जाकर अंग्रेजी सेना की कवायद, गणवेश और सैन्य पद्धति को स्वयं देखा और अपनी सेना को उसी पद्धति पर संगठित करने का निश्चय किया। प्रारंभ में स्वतंत्र ढंग से लड़ने वाले सिख सैनिकों को कवायद आदि का ढंग हास्यापद लगा और उन्होंने उसका विरोध भी किया, पर रणजीत सिंह अपने निश्चय पर दृढ़ रहे। उन्होंने अनेक यूरोपीय सैन्य विशेषज्ञों को अपनी सेवा में लिया। कुछ इतिहासकारों ने ऐसे सेवारत विदेशियों की 72 नामों की सूची दी है। इनमें अमरीकी, इतालवी, रूसी और फ्रांसीसी प्रमुख रूप से थे। रणजीत सिंह के राज्य में नौकरी पाने के लिए इन्हें एक प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर करने होते थे और गोमांस तथा तंबाकू का सेवन न करने की शर्त माननी पड़ती थी।

रणजीत सिंह के शासनकाल में किसी भी व्यक्ति को मृत्युदंड नहीं दिया गया, यह तथ्य अपने आप में कम आश्यर्चजनक नहीं है। उस युग में जब शक्ति के मद में चूर शासकगण बात-बात में अपने विरोधी को मौत के घाट उतार देते थे, कभी हाथी के पैरों तले रौंदवा देते थे, आंखें निकाल लेते थे। रणजीत सिंह ने सदा अपने विरोधियों के प्रति उदारता और दया का रुख रखा। जिस किसी राजा या नवाब को राज्य जीतकर उन्होंने अपने राज्य में मिलाया, उसे जीवनयापन के लिए कोई न कोई जागीर दे दी।

शारीरिक दृष्टि से महाराजा रणजीत सिंह उन व्यक्तियों में नहीं थे जिन्हें इतिहास में सुदर्शन नायक के रूप में याद किया जाता है। उनका कद दरमियाना और रंग गहरा गेहुंआ था। बचपन में चेचक की बीमारी के कारण उनकी बाईं आंख जाती रही थी। मुंह पर चेचक के गहरे दाग थे परंतु उनका प्रभाव और उनका सौंदर्य उनके संपूर्ण व्यक्तित्व में था। तत्कालीन ब्रिटिश गवर्नर जनरल बोर्ड विलियम बैंटिक ने एक बार फकीर अज़ीज़ुद्दीन से पूछा कि महाराजा की कौन सी आंख खराब है। फकीर साहब ने उत्तर दिया—'उनके चेहरे की दीप्ति ऐसी है कि मैंने कभी सीधे उनके चेहरे की ओर देखा ही नहीं। इसलिए मुझे यह नहीं मालूम कि उनकी कौन-सी आंख खराब है। रणजीत सिंह को कोई सुयोग्य उत्तराधिकारी प्राप्त नहीं हुआ, यह दुर्भाग्य की बात थी। उनकी मृत्यु के बाद लाहौर दरबार अनेक प्रकार के षड्यंत्रों, दुरभिसंधियों और क्षुद्र संघर्षों का केंद्र बन गया और शीघ्र ही अपनी स्वतंत्रता खो बैठा।

महाराजा रणजीत सिंह की कार्यशैली में अनेक ऐसे गुण थे, जिन्हें वर्तमान शासन व्यवस्था में भी आदर्श के रूप में सम्मुख रखा जा सकता है।

(ट्रिब्यून, 8-4-01)

वामपंथी इतिहासकारों की इतिहास-दृष्टि

गुरु तेग़बहादुर के बलिदान को लेकर सतीश चंद्र ने अपनी पुस्तक 'मध्यकालीन भारत' में जो घिनौने विवरण दिए हैं उनका आधार उन्होंने सैयद गुलाम हुसैन खान की फारसी पुस्तक 'सियार-उल-मुताखिरीन' को बनाया है। लखनऊ के रहने वाले गुलाम हुसैन ने यह पुस्तक सन् 1783 ई. में लिखी थी अर्थात् गुरु तेग़बहादुर की शहादत के 108 वर्ष पश्चात्। इस फारसी पुस्तक में लिखा है कि गुरु तेग़बहादुर ने असम से लौटने के बाद (1670) शेख अहमद सरहिंदी के एक अनुयायी हाफ़िज आदम के साथ मिलकर पूरे पंजाब में लूटपाट मचा रखी थी ओर सारे प्रांत को उजाड़ दिया था। सतीश चंद्र और उनके कुछ साथी यह सफाई देते हैं कि यह उनका मत नहीं है, केवल उन्होंने इस फारसी स्रोत को उद्धृत किया है।

कोई भी इतिहासकार किसी भी स्रोत को उद्धृत करने से पहले इस बात की पड़ताल करता है कि उस स्रोत में दिए हुए तथ्य कहीं ऐतिहासिक तथ्यों के विपरीत तो नहीं जाते हैं। सतीश चंद्र ने इस बात की कोई जरूरत महसूस नहीं की। गुलाम हुसैन ने जिस हाफिज आदम का उल्लेख किया है, कथित रूप से जिसके साथ मिलकर गुरु त़ेग बहादुर लूटपाट करते थे, उसकी मृत्यु 32 वर्ष पहले, शाहजहां के समय में, सन् 1643 में ही हो चुकी थी। हाफिज आदम उस समय मक्का और मदीना हज करने गया हुआ था। उसकी मृत्यु मदीना में हुई थी। डॉ. हरिराम गुप्त ने पांच भागों में लिखी 'हिस्ट्री ऑफ द सिख्स' के प्रथम भाग पृष्ठ 205 पर इसका पूरा उल्लेख किया है। उन्होंने उन सभी फारसी सूत्रों के हवाले भी दिए हैं जिनमें इस बात की पुष्टि हो गई है। पंजाबी में डॉ. प्यारा सिंह द्वारा संपादित और गुरु नानक देव विश्वविद्यालय द्वारा

प्रकाशित एक पुस्तक है—'गुरु तेग़बहादुर : फारसी स्रोत'। सतीश चंद्र यदि इस पुस्तक को भी देख लेते तो उन्हें कई ऐसे स्रोत मिल जाते जो 108 वर्ष बाद लिखी गुलाम हुसैन की पुस्तक से अधिक प्रामाणिक होते।

1783 में उत्तर भारत में सिख-शक्ति बहुत प्रभावशाली हो गई थी। उस समय दूसरी बड़ी शक्ति ईस्ट इंडिया कंपनी थी। अंग्रेज केवल शासन ही नहीं करते थे, वे शासित जातियों के चरित्र को समझने के लिए उनका इतिहास भी लिखवाते थे। भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी के पहले गर्वनर जनरल वारेन हेसिंटग्ज ने गुलाम हुसैन को अपनी सेवा में रखकर उसे भारत का इतिहास लिखने का काम सौंपा था। 1776 उसने दिल्ली में नियुक्त कर्नल पोलियर को सिखों का विवरण लिखने के लिए नियुक्त किया था। दो वर्ष बाद उसने मेजर जेम्स बॉर्डन को सिखों का इतिहास लिखने का दायित्व दिया। एक अन्य अंग्रेज अफसर रेमांड ने गुलाम हुसैन की फारसी रचना का अंग्रेजी में अनुवाद किया। फारसी में छपने से पहले ही यह रचना अंग्रेजी में अनूदित होकर सन् 1789 में तीन भागों में प्रकाशित हो गई थी। गुलाम हुसैन ने जिस प्रकार हाफिज आदम का नामोल्लेख किया है उससे यह स्पष्ट होता है कि उसने इधर-उधर से कुछ सुना-सुना कर वह सब लिख दिया था। सतीश चंद्र ने भी उस कथन की ऐतिहासिक प्रामाणिता जानने की कोई कोशिश नहीं की।

मैं इससे पहले भी लिख चुका हूं कि गुरु तेग़बहादुर के बलिदान के समकालीन प्रमाण इतने अधिक और पुष्ट हैं कि उसके लिए एक सदी बाद, ईस्ट इंडिया कंपनी की नौकरी करने वाले और अंग्रेजों की प्रेरणा से लिखी फारसी पुस्तक का सहारा लेना सतीश चंद्र की ऐतिहासिक दृष्टि और समझ-बूझ पर अनेक प्रश्न लगा देता है। गुरु तेग़वहादुर की शहादत 11 नवंबर 1675 में हुई। गुरु गोविंद सिंह ने अपनी आत्मकथा विचित्र नाटक की रचना सन् 1698 में की थी जिसमें उन्होंने लिखा था कि मेरे पिता ने तिलक और जनेऊ जैसे प्रतीक चिह्नों की रक्षा के लिए, धर्म की मर्यादा के लिए और साधुजनों के उद्धार के लिए अपने प्राण दिए। कवि सेनापति ने अपनी रचना 'गुरु शोभा' की रचना सन् 1710 में की। इस रचना में उसने लिखा था—

प्रगट भए गुरु तेग़वहादुर।
सगल सृष्टि पै ढापी चादर।।
करम धरम की जिनि पति राखी।
अटल करी कलजुग में साखी।।

इनके अतिरिक्त कवि कंकण लिखित 'दस गुरु कथा' (1711), सेवादास रचित 'परचियां' (1741), कोइर सिंह कलाल रचित 'गुरु विलास पादशाही दस' (1751), केसर सिंह छिब्बर रचित 'बंसावली नामा' (1769), सरूपदास भल्ला रचित 'महिमा प्रकाश' (1776), सुक्खा सिंह रचित 'गुरु बिलास पादशाही दस' (1797) अठारहवीं सदी की

रचनाएं हैं। इन सभी रचनाकारों की पृष्ठभूमि में एक पुष्ट परंपरा है। इनमें अनेक ने गुरु तेग़बहादुर की शहादत को अपने जीवनकाल में घटित होते देखा था। उनमें से लगभग सभी गुरु-परंपरा से जुड़े हुए लोग थे। भाई नंदलाल गोया (1663-1713) अपने समय के फारसी के बहुत बड़े कवि थे। उनकी फारसी रचित पुस्तकें आज भी बड़े चाव से पढ़ी जाती हैं। वे गुरु-परिवार के निकटस्थ व्यक्तियों में से थे। उनकी एक कृति है—'गंज नामा : नौंवी पादशाही'। गुरु तेगबहादुर की प्रशास्ति में लिखे उसमें से एक-दो शेरों के अनुवाद का उल्लेख यहां पर्याप्त है—

1. जिनकी पवित्र ह [illegible] से सच की किरणें ज्योतित हैं।
   जिनकी तेजिस्वता से [illegible]नों संसार जगमग हैं।
2. जिन्हें प्रभु ने सभी व्यक्तियों में श्रेष्ठ बनाया है।

जिनमें प्रभु-इच्छा को स्वीकार करने के महान गुण हैं। लोग गुरु तेग़बहादुर का सम्मान ईश्वर के समान करते थे। क्या किसी इतिहासकार को यह अधिकार है कि वह सभी प्रकार के समकालीन साक्ष्यों की उपेक्षा करके किसी ऐसे साक्ष्य के पीछे भागना और उसे उद्धृत करना शुरू कर दे जिसकी प्रामाणिकता पूरी तरह संदिग्ध हो।

सतीश चंद्र ने यह भी लिखा है कि कश्मीर में वहां के हिंदुओं को बलात धर्म-परिवर्तन के लिए बाध्य किए जाने और कश्मीर के पंडितों का आनंदपुर में गुरु तेगबहादुर के पास आने का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है। इस संबंध में डॉ. जदुनाथ सरकार ने अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ औरंगजेब' (पृष्ठ 313) पर ये शब्द लिखे हैं—

उन्होंने कश्मीर के हिंदुओं के बलात धर्म परिवर्तन के प्रतिरोध को प्रोत्साहित किया और सम्राट की खुलेआम अवज्ञा की। उन्हें दिल्ली लाया गया और जेल में डाल दिया गया। उन्हें इस्लाम स्वीकार करने के लिए कहा गया और इन्कार करने पर पांच दिनों तक यातना देने के पश्चात् सम्राट की आज्ञा से उनका सिर काट दिया गया।

डॉ. इंदुभूषण बनर्जी ने अपनी पुस्तक 'एवोल्यूशन ऑफ खालसा' (भाग दो, पृष्ठ 60-61) में लिखा है—'गुरु तेग़बहादुर का कार्य एक स्वयं इच्छित बलिदान था। बादशाह की ताकत और उसकी तुलना में अपने सामर्थ्य को जानते हुए भी उन्होंने हिंदुओं के कार्य को अपने हाथों में लिया।'

तीर्थ स्थानों पर पंडे जो बहियां बनाते हैं और पुश्त-दर-पुश्त जिन्हें संभाल कर रखा जाता है वे इतिहास का एक अत्यंत महत्वपूर्ण स्रोत होते हैं। अन्य ऐतिहासिक स्रोतों की प्रामाणिकता पर तो अनेक प्रश्न उठाए जा सकते हैं उनकी प्रामाणिकता असंदिग्ध होती है, क्योंकि उनके अंकित किए गए तथ्यों के पीछे कोई राजनीतिक मंतव्य नहीं होता। उस समय की लिखी मुलतानी-सिंधी भट्ट बही में 25 मई 1675 में कश्मीरी पंडितों के एक प्रतिनिधि मंडल का आनंदपुर में गुरु तेग़बहादुर के पास आने का उल्लेख इस प्रकार दिया गया है—

'भाई किरपाराम, बेटा अरहू राम का, पोता नारायण दास का, परपोता ब्रह्मदास

का, बंस ठाकुर दास का जाति-गोत्र मुझाल ब्राह्मण, बासी मट्टन देस कश्मीर संवत सत्रा सौ बत्तीस, जेठ मास, सुदी एकादशी के दिहु चौधन ब्राह्मण गली, ग्राम चक नानकी (आनंदपुर का प्रारंभिक नाम) परगना कहलूर, गुरु तेग़बहादुर जी, महल नौंवा के दरबार आए, फरादी हुआ। गुरु जी ने इसे धीरज दिया, बचप होया, तुसां की रक्षा गुरु नानक जी करेगा।'

अन्य ऐतिहासिक सूत्रों के साथ ही पंडों अथवा भट्टों की इन बहियों में दिए गए हवालों से कश्मीरी पंडितों का गुरु तेगबहादुर के पास आनंदपुर में आना, उनका उन्हें रक्षा का आश्वासन देना और फिर दिल्ली जाकर व्यक्ति की धार्मिक स्वतंत्रता की रक्षा करने के लिए अपना बलिदान देना, पूरी तरह स्पष्ट होता है।

गुरु तेगबहादुर के बलिदान को गुरुओं की उत्तराधिकार का झगड़ा बताकर पारिवारिक कलह की रंगत देना भी सतीश चंद्र की दूषित मानसिकता का ही परिचय है। सभी इतिहासकारों और समकालीन साक्ष्यों ने इसे तत्कालीन शासकों की धार्मिक कट्टरता ही बताया है। सतीश चंद्र जैसे लोगों ने औरंगजेब को दोष मुक्त करने के लिए इस तर्क का सहारा लिया। यह समझना किसी के लिए भी बहुत कठिन कार्य है कि सतीश चंद्र ने इन सभी साक्ष्यों की अवेहलना करते हुए एक फारसी स्रोत को इतना उछालने, इतिहास के इतने महान व्यक्ति को लांछित करने और असंख्य हृदयों को पीड़ित करने का कार्य क्यों किया? आश्चर्य इस बात का भी है कि एन.सी.ई.आर.टी. के संपादक और चयन विभाग ने इस पुस्तक को बिना सोचे-समझे पाठ्यक्रम में लगा दिया। वर्षों तक यह पुस्तक विद्यार्थियों को भयंकर भूलों से भरी सूचनाएं देती रही और किसी ने इस ओर ध्यान नहीं दिया।

साहित्य के पाठ्यक्रम में कुछ भूलें हो जाएं तो विद्यार्थियों के संस्कारों को विकृत करने का दोष साहित्यकारों पर लग जाता है। किंतु जब इतिहास की पाठ्य पुस्तकें विद्यार्थियों को ऐसी चीजें पढ़ाने लग जाएं तो उनका संपूर्ण मानस लड़खड़ाने लगता है। अन्य कई पुस्तकों और उनमें उल्लिखित प्रसंगों पर भी अनेक आपत्तियां उठाई गई हैं, जिन्हें अब शायद पाठ्यक्रम से हटाया जा रहा है। किंतु गुरु तेगबहादुर के संबंध में सतीश चंद्र ने जिस मानसिकता का परिचय दिया है उसकी जितनी निंदा की जाए, कम है।

अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, इतिहास की सेंसरशिप, पाठ्यक्रमों में सरकार का अनावश्यक हस्तक्षेप कहकर कुछ लोग इस प्रवृत्ति की वकालत कर रहे हैं। तर्क संगत ढंग से कोई विचार प्रस्तुत करना एक बात है, किंतु अनर्गल ढंग से इतिहास की व्याख्या करना एकदम दूसरी बात है। अच्छा हो कि सतीश चंद्र स्वयं एक संगोष्ठी का आयोजन करें और अपनी मान्यताओं को विद्वतजनों के सम्मुख रखें। साथ ही उनके तर्क भी सुनें। यदि यह कार्य सतीश चंद्र नहीं कर सकते तो एन. सी. ई. आर. टी. के निदेशक को यह कार्य करना चाहिए।

दैनिक हिन्दुस्तान, 13-12-0

इतिहास लेखन में भी एक दृष्टि होती है

इतिहास लेखन कभी निरपेक्ष नहीं होता। इतिहासकार की एक दृष्टि होती है। यह दृष्टि उसे इतिहास में घटित प्रसंगों और घटनाओं को व्याख्यायित करने और उनका नियोजन करने में उसका मार्ग दर्शन करती है। इतिहासकार को सभी चीजों को वस्तुपरक दृष्टि से देखना चाहिए, उसे पक्षपात रहित होकर सभी स्थितियों का आकलन करना चाहिए ये सब बातें ठीक हैं किंतु महत्वपूर्ण बात यह है कि इतिहास में घटी घटना को वह क्या और कैसे रूप और रंग देता है। आज की स्थिति के संदर्भ में एक प्रत्यक्ष उदाहरण हमारे सामने हैं। अमरिका और उसके कुछ सहयोगी देशों द्वारा अफगानिस्तान पर आक्रमण को बहुत निष्पक्ष इतिहासकार भी किस प्रकार लिखेंगे? अमरिकी दृष्टि यह है कि विश्व व्यापार केंद्र की दो विशाल अट्टालिकाओं पर ओसामा बिन लादेन के संगठन अल कायदा से जुड़े आतंकवादियों ने हमला किया, यह उसके प्रत्युत्तर में अफगानिस्तान में अड्डा बनाए आतंकवादियों को बंदी बनाने या नष्ट करने के लिए की गई कार्रवाई है। इस्लामी दृष्टि इसे समूचे इस्लाम पर अमरिकी आक्रमण मान रही है। कुछ देश आतंकवाद की निंदा करते हुए भी इस आक्रमण को सही नहीं मान रहे हैं।

किसी इतिहास पुरुष के संबंध में ऐसी स्थिति आ जाती है। एक देश, धर्म अथवा समाज के लिए एक व्यक्ति महानायक होता है, दूसरे पक्ष के लिए वही व्यक्ति घृणित खलनायक होता है। आज के संदर्भ में ओसामा बिन लादेन इसका सबसे बड़ा उदाहरण है।

एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा प्रकाशित जिस पुस्तक को लेकर इस बीच बहुत विचार हुआ, वह भी दृष्टि भ्रमित एक इतिहासकार की रचना है, जिसे इस बात की समझ नहीं है कि विभिन्न स्रोतों से कुछ ऐतिहासिक तथ्यों को जमा करके लिख देना मात्र ही इतिहास लेखन नहीं है, क्योंकि लेखक ने कहीं भी उसमें अपनी दृष्टि संपन्नता का

परिचय नहीं दिया है। फारसी स्रोतों से कुछ अतिरंजित तथ्य जमा करके उसने जो इतिहास लिखा है, न केवल वह सही तथ्यों से परे हैं बल्कि एक बड़े समुदाय को बहुत आघात पहुंचाने वाला है।

इसी लेखक सतीश चंद्र की एक पुस्तक इस समय मेरे सामने है–'उत्तर मुग़ल कालीन भारत।' यह उनकी लिखी अंग्रेजी पुस्तक–'पार्टीज एंड पोलिटिक्स एट दि मुग़ल कोर्ट–1707-1740' पर आधारित है। इसे हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय ने प्रकाशित किया है। इस पुस्तक में और भी बहुत सारी ऐतिहासिक भूलें होंगी किंतु सिखों और सिख गुरुओं के संबंध में लिखी बातें इतनी अनर्गल हैं कि इस बात पर संदेह होने लगता है कि ऐसा व्यक्ति क्या इतिहासकार होने का दावा कर सकता है? पृष्ठ 9 पर वह लिखता है–मुग़ल और सिखों का संघर्ष भी औरंगजेब के पूर्व प्रारंभ हो चुका था। जहांगीर और शाहजहां के शासनकाल में गुरु के साथ झड़पें हुई थीं।

सतीश चंद्र यह नहीं लिखते कि किस गुरु के साथ झड़पें हुई थीं। सिखों का मुग़लों के सशस्त्र संघर्ष छठे गुरु–गुरु गोबिंद के समय प्रारंभ हुआ था, उस समय दिल्ली का मुग़ल बादशाह शाहजहां था। जहांगीर के समय कोई झड़प नहीं हुई थी। उसने गुरु हरिगोबिंद के पिता, पांचवें गुरु–अर्जुन देव की अपनी धर्मांधता के कारण, लाहौर में अत्यंत, क्रूरतापूर्वक शहीद अवश्य करवा दिया था। इस बात को जहांगीर ने अपनी आत्मकथा 'तुज़के जहांगीरी' में स्वयं स्वीकार किया है। गुरु अर्जुन देव के इस बलिदान ने संपूर्ण सिख आंदोलन को नया रूप-रंग दे दिया था।

सतीश चंद्र न 'तुज़के जहांगीरी' का कोई उल्लेख करते हैं, न उन कारणों की सही पड़ताल करते हैं जिनसे गुरु अर्जुन का बलिदान हुआ। वे समझते हैं कि गुरु हरिगोबिंद के समय से सिखों का शस्त्र धारण करना, गुरु हरिगोबिंद को सिखों द्वारा 'सच्चा पातशाह' संबोधित करना आदि बातें इस संघर्ष का कारण थीं।

औरंगजेब द्वारा गुरु तेग़बहादुर को दिल्ली के चांदनीचौक में शहीद किए जाने को सतीश चंद्र 'वध' कहते हैं। अपनी दृष्टिहीनता के कारण यह इतिहासकार लिखता है–''कुछ समसामयिक लेखकों का कहना है कि गुरु तेग़बहादुर ने एक अफगान हाफ़िज़ आदम के साथ मिलकर पंजाब में उपद्रव किए थे, जिसके कारण उनका 'वध' किया गया। जिस महान घटना को इस देश में 'बलिदान' के रूप में स्वीकार किया जाता है, उसे सतीश चंद्र 'वध' कहते हैं। इसके लिए वे किसी फारसी स्रोत का सहारा लेते हैं। इस देश के लगभग सभी इतिहासकार, सैयद मोहम्मद लतीफ (पंजाब का इतिहास), पी.ए. कौल बमजई (कश्मीर का इतिहास), इंद्रभूषण बनजी (एवोल्यूशन ऑफ खालसा) डॉ. गोकुल चंद्र नारंग (ट्रांसफारमेशन ऑफ सिखिज़्म) तथा प्राचीन और नवीन सभी सिख इतिहासकार लिखते हैं कि कश्मीर के ब्राह्मण पं. कृपा राम के नेतृत्व में आनन्दपुर साहब में तेग़बहादुर के पास आए और उन्होंने यह बताया कि किस प्रकार कश्मीर का मुग़ल सूबेदार उन्हें धर्म परिवर्तन के लिए बाध्य कर रहा है। गुरु तेगबहादुर ने

स्वयं दिल्ली जाकर अपना बलिदान देने का निश्चय किया। सतीश चंद्र ने इनमें से किसी साक्ष्य को न स्वीकार करते हुए अपनी बात को किसी अनजाने मध्ययुगीन इतिहासकार की बातों के आधार पर लिख दिया और हम दुर्भाग्य से ऐसी भ्रष्ट सामग्री को इतिहास के नाम पर अपने विद्यार्थियों को पढ़ा रहे हैं।

गुरु तेग़बहादुर का बलिदान क्यों हुआ था इसके लिए उन्हीं के पुत्र गुरु गोबिंद सिंह से अधिक विश्वसनीय साक्ष्य और क्या हो सकता है, जिनकी आंखों के सामने गुरु तेगबहादुर ने अपना शहीदी देने का निश्चय प्रकट किया था। गुरु गोबिंद सिंह ने अपनी आत्मकथा विचित्र नाटक में इस घटना का उल्लेख करते हुए लिखा है—तिलक और जनेऊ की रक्षा के लिए प्रभु समान मेरे पिता ने इस कलियुग महान साका किया। साधुजनों की रक्षा के लिए उन्होंने अपनी मृत्यु स्वीकार कर ली। उन्होंने अपना सिर दे दिया, पर मुँह से उफ तक नहीं की। उन्होंने यह महान कार्य धर्म की रक्षा के लिए किया। उन्होंने शीश दे दिया पर अपनी आन नहीं दी। उन्होंने कोई चमत्कार नहीं दिखाया। क्योंकि ऐसा करने से प्रभु में आस्था रखने वाले लोगों को लाज आती है। अपने प्राणों का ठीकरा दिल्ली के बादशाह के सिर पर फोड़कर वे स्वर्ग लोक चले गए। तेग़बहादुर जैसा कार्य तो किसी ने नहीं किया। उनके चले जाने से संसार में शोक छा गया। संसार ऐसा अत्याचार देखकर हाय-हाय करने लगा किंतु सुरलोक में उनकी जय-जयकार होने लगी।''

तिलक जंजू राखा प्रभु ताका।
कीनो बडो कलू महि साका।।
साधनि हेति इति जिन करी।
सीस दीआ पर सी न उचरी।।
धरम हेतु साका जिन कीआ।
सीत दिया पर सिररू न दीआ।।
नाटक चेटक किए कुकाडा।
प्रभु लोगन कह आवत लाजा।।
टीकर फोरि दिलीस सिरि प्रभु पुर किया पथान।
तेग़बहादुर सी किआ करी न हिनहू आन।।
तेग़बहादुर के चलत भयो जगत को सोक।
है है है सभ जग भयो जै जै जै सुर लोक।।

(विचित्र नाटक)

सतीश चंद्र को इतिहास की इतनी विकृत जानकारी है, ये देखकर आश्चर्य होता है। वे लिखते हैं कि सन् 1705 में औरंगजेब ने गुरु को माफ कर दिया। इन दिनों गुरु गोबिंद सिंह ने औरंगजेब को जो पत्र लिखा था उसे ज़फरनामा (विजय पत्र) कहते हैं। इसमें उन्होंने बादशाह को उसके द्वारा किए कुकर्मों के लिए कड़ी ताड़ना दी थी। माफी जैसी कोई बात इस पत्र में नहीं थी। सतीश चंद्र ने इस बात को फारसी पुस्तक

'अहकामे आलमगीरी' के आधार पर लिख दिया। अन्य किसी स्रोत अथवा गुरु गोबिंद के लिखे पत्र को पढ़ने की जरूरत नहीं समझी। (इस पत्र पर आधारित मेरा एक लेख दैनिक जागरण के 4 जनवरी 2000 के अंक में प्रकाशित हुआ था।)

इतिहास की अनेक ऐसी घटनाएं हैं जो दुःखद हैं और वर्तमान समय में उन पर अधिक बल देना, संभवतः सामाजिक समरसता की दृष्टि से ठीक न हो। किंतु इतिहास तो इतिहास है। यदि मुग़ल बादशाहों ने अपने शासनकाल में मंदिरों को तोड़ा था। तो आज किसी भी तर्क से उसे झुठलाया नहीं जा सकता। यदि उन्होंने गैर मुसलमानों पर जजिया कर लगाया था और लोगों को धर्म परिवर्तन के लिए बाध्य किया था, तो इतिहास से इन पृष्ठों को फाड़कर अलग नहीं किया जा सकता। मैं यह मानता हूं कि हमें इन कार्यों के पीछे छिपे मन्तव्यों की सूक्ष्म पड़ताल भी करनी चाहिए। उदाहरण के लिए औरंगजेब की धर्मांधता और कट्टरता के पीछे बहुत बड़ा राजनीतिक स्वार्थ था। उसकी प्रतिद्वंद्विता अपने बड़े भाई द्वारा शिकोह से थी जो बहुत उदार और सहिष्णु स्वभाव का व्यक्ति था। इस्लाम में मुल्ला, मौलवी, काज़ी आदि धार्मिक उलेमा बहुत महत्व रखते हैं। किसी भी मुस्लिम शासक के लिए इन्हें नाराज़ करके शासन कर सकना बहुत दूभर कार्य है। अकबर ने अपनी उदाहरण के कारण इन्हें अपना विरोधी बना लिया था। जहांगीर, शाहजहां ने अपनी कट्टरता दिखाकर इन्हें अपने पक्ष में जाने का प्रयास किया था। औरंगजेब ने भी यही किया। उदारमना दारा शिकोह की हत्या करके उसने उलेमाओं को प्रसन्न कर लिया। इन्हें अपने पक्ष में रखने के लिए उसने मंदिर तुड़वाए, गुरु तेग़बहादुर जैसे संत पुरुष की हत्या करवाई। इतना ही नहीं सरमद जैसे सूफी फकीर को मौत के घाट उतारा और शिया मुसलमानों को भी कम प्रताड़ित नहीं किया।

ये ऐतिहासिक तथ्य हैं। सर जदुनाथ सरकार जैसे इतिहासकारों ने इन तथ्यों की गहरी पड़ताल की है। किंतु सतीश चंद्र जैसे लोग औरंगजेब जैसे शासकों को पूरी तरह बरी करके अपनी प्रगतिशीलता और धर्म निरपेक्षता का दिखावा करके कुछ प्रमाण-पत्र इकट्ठा करना चाहते हैं और कुछ वर्गों के मध्य अपनी वाहवाही लूटना चाहते हैं।

यह भी कम खेद की बात नहीं है कि ऐसे लेखकों की रचनाओं को, बिना उनकी ठीक से परख किए, पाठ्यक्रमों में लगा दिया जाता है और वर्षों तक असंख्य विद्यार्थी उन्हें पढ़ते रहते हैं। जब किसी समुदाय के व्यक्तियों के ध्यान में ये बातें आती हैं, तो उनके कारण शोर मचता है तब सरकार चेतती है। तब ऐसी पुस्तकें अथवा उनके अंश पाठ्यक्रम से हटाए जाते हैं।

इस दृष्टि से अधिक जागरूक होने की आवश्यकता है। पाठ्यक्रम में ऐसा कुछ भी नहीं लगना चाहिए जो विभिन्न समुदायों, वर्गों, धर्मों, संप्रदायों में आपसी विद्वेष पैदा करता हो, किंतु किसी वर्ग को संतुष्ट करने के लिए इतिहास के साथ खिलवाड़ भी नहीं किया जाना चाहिए। एन.सी.ई.आर.टी. जैसी संस्थाओं के पास हर विषय की एक विशेषज्ञ समिति होनी चाहिए जो हर पुस्तक का ठीक ढंग से अवलोकन करे और अपनी सम्मति दे।

(दैनिक जागरण, 18-10-01)

वह था एक अभागा महाराजा

भारतीय इतिहास में महाराजा रणजीत सिंह के कनिष्ठ पुत्र महाराजा दिलीप सिंह का चरित्र बड़ा रोचक है और रोमांचक भी। दिलीप सिंह, महाराजा रणजीत सिंह की सबसे छोटी रानी 'जिंदा' का पुत्र था और रणजीत सिंह की मृत्यु के समय उसकी आयु मात्र दो वर्ष की थी।

रणजीत सिंह मृत्यु 27 जून 1839 के पश्चात् पंजाब का राजनीतिक घटना चक्र बड़ी तेज़ी से विनाश की ओर उन्मुख हुआ और मात्र दस वर्ष की अवधि में ही सतलज से लेकर काबुल की सीमाओं तक फैला हुआ अत्यंत शक्तिशाली साम्राज्य लड़खड़ाता हुआ अंग्रेज़ों की झोली में जा गिरा। इस अवधि में ही रणजीत सिंह का पुत्र खड़ग सिंह पौत्र नौनिहाल सिंह और दूसरा पुत्र शैर सिंह गद्‌दी पर बैठे और षड्यंत्रों का शिकार बन गए। तब दिलीप सिंह मात्र 5 वर्ष की आयु में पंजाब का महाराजा बना।

उस समय तक ईस्ट इंडिया कंपनी का भारत के शेष भाग पर अधिकार हो चुका था और उसकी ललचाई नज़रें पंजाब पर टिकी हुई थीं। पंजाब का आंतरिक संकट इस कदर बढ़ चुका था कि सरेआम खून की होली खेली जा रही थी और केसर के बाजार खून के तिलक से अभिषेक किए जा रहे थे। दिलीप सिंह के मस्तक पर दो बार रक्त तिलक लगा। संधावालिए सरदारों ने महाराजा रणजीत सिंह के विशाल साम्राज्य के विनाश के सूत्रधार वज़ीर ध्यान सिंह डोगरा का कत्ल करके उसके खून का तिलक दिलीप सिंह के मस्तक पर लगाकर उसे महाराजा घोषित किया था और ध्यान सिंह के बेटे हीरा सिंह ने संधावालिए सरदारों-अजीत सिंह और लहणा सिंह की हत्या करके उनके खून से दिलीप सिंह का पुनःराज्याभिषेक किया।

सिख राज्य विनाश की कहानी बड़ी दर्दनाक है। उस कहानी का पटाक्षेप दिलीप सिंह की जीवन त्रासदी से होता है।

29 मार्च 1849 को अंग्रेज़ों ने पंजाब पर अधिकार करके नाबालिग दिलीप सिंह को अंग्रेज़ अभिभावक डॉ. लागून के संरक्षण में दे दिया। इस संरक्षण का प्रभाव यह

हुआ कि दिलीप सिंह ने सन् 1853 में अपने पूर्वजों का धर्म त्यागकर ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया और उसके एक वर्ष बाद अपना देश छोड़कर इंग्लैंड चला गया।

दिलीप सिंह जब बड़ा हुआ तो उसे अंग्रेज़ों के उन अन्यायपूर्ण कृत्यों का ज्ञान हुआ जो उसके साथ निरंतर किए गए थे। जिस समय पंजाब को अंग्रेज़ी राज्य में मिलाया गया था, उस समय यह समझौता हुआ था कि दिलीप सिंह को पांच लाख रुपए का वार्षिक भत्ता दिया जाएगा परंतु अंग्रेजी सरकार इस रकम में निरंतर कटौती करती चली गई। दिलीप सिंह ने न्याय के लिए सभी दरवाज़े खटखटाए परंतु उसे कहीं से भी न्याय नहीं प्राप्त हुआ। पूरी तरह निराश होकर उसने भारत लौटने का और यहीं शांतिपूर्ण जीवन व्यतीत करने का फैसला कर लिया। इसी साथ ही उसने अपने पूर्वजों का धर्म भी फिर से स्वीकार कर लिया।

दिलीप सिंह के लिखे तीन पत्र अपने मूल रूप में उपलब्ध हैं, जो ऐतिहासिक महत्व के साथ ही साथ, एक निर्वासित राजा की मनः स्थिति का भी अच्छा परिचय देते हैं। दो पत्र उन्होंने अपने एक संबंधी सरदार संत सिंह को लिखे थे और एक पत्र अपने देशवासियों के नाम लिखा था जो लाहौर से प्रकाशित होने वाले दैनिक पत्र 'ट्रिब्यून' के 17 अप्रैल 1886 के अंक में प्रकाशित हुआ था। तीनों पत्र मूलतः अंग्रेजी में लिखे गए थे। उनके हिंदी अनुवाद इस प्रकार हैं।

पहला पत्र

एलविडन हाल
थैटफोरड-संफक
इंग्लैंड

मेरे प्रिय सरदार संत सिंह,

आपका पत्र प्राप्त कर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है। आपने अपनी कृपापूर्ण सेवाएं पेश की हैं उसके लिए मैं आपको धन्यवाद देता हूं परंतु मुझे किसी चीज़ की ज़रूरत नहीं है। चूंकि अंग्रेजी सरकार मेरे साथ न्याय करने से इनकार कर रही है, इसलिए मैं आगामी 29 दिसंबर को इंग्लैंड छोड़ दूंगा और दिल्ली में चुपचाप निवास करूंगा, क्योंकि अब मैं एक निर्धन व्यक्ति हूं।

यह जानकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है कि आप मेरी स्वर्गीय मां के संबंधी हैं।

जैसा कि आपको अब इस बात का पता लग गया होगा कि मैंने अपने पूर्वजों का धर्म पुनः ग्रहण कर लिया है। मैं 'वाहिगुरु जी दी फतेह' से आपका अभिवादन करता हूं।

7 अक्टूबर, 1885

आपका प्रिय संबंधी
दिलीप सिंह

दूसरा पत्र

मेरे प्रिय सरदार जी,

वाहे गुरु जी की फतेह

आपका पत्र प्राप्त करके मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है। लेकिन मैं आपको सलाह दूंगा कि आप सरकारी आज्ञा के बिना मेरे निकट न आएं, क्योंकि इससे आप अधिकारियों के साथ संकटपूर्ण स्थिति में पड़ सकते हैं।

मेरा विचार इस महीने की 31 तारीख की अपने परिवार सहित इंग्लैंड से चल देने का है। लेकिन इसमें कुछ विलंब भी हो सकता है। मुझे यह कहने की जरूरत नहीं कि मुझे कितनी प्रसन्नता होगी यदि सरकार ने अनुमति दी कि आप मेरे 'पहुल ग्रहण' के समय वहां उपस्थित रहेंगे। मैं समझता हूं कि मेरे चचेरे भाई ठाकुर सिंह सिंधावालिया मुझे दीक्षित करेंगे।

मैं भारत लौटने के लिए अब तरस रहा हूं। यद्यपि सरकार मुझे उत्तर पश्चिमी प्रांतों में बसने देने से डराती है और चाहती है कि मैं उकटमंड में रहूं परंतु मैंने अपना पूरा भरोसा, 'सतगुरु' में रखा हुआ है। मैं जानता हूं कि जब क्षमा-याचना के लिए उनकी ओर लौटा हूं वे मुझे भुलाएंगे नहीं।

9 मार्च 1986

आपका विश्वस्त मित्र
और शुभचिन्तक
दिलीप सिंह

तीसरा पत्र

मेरे प्रिय देशवासियों,

भारत लौटने और वहां बसने का मेरा कभी भी इरादा नहीं था, पर सतगुरु ने, जो संपूर्ण नियति का नियंता है और मुझ जैसे पथभ्रष्ट प्राणी से कहीं अधिक प्रभावशाली है, स्थिति इस तरह की बना दी है कि मैं अपनी इच्छा के विरुद्ध भारत में एक साधारण स्थिति में रहने और इंग्लैंड छोड़ने को बाध्य हो गया हूं। मैं उसके संदेश के सम्मुख नत् हूं क्योंकि मुझे विश्वास है कि जो कुछ भले के लिए है, वह अवश्य होकर रहेगा।

परम पवित्र खालसा जी, मैं आपसे अपने पूर्वजों का धर्म छोड़कर विदेशी धर्म ग्रहण करने के लिए क्षमा-याचना करता हूं परंतु मैं उस समय बहुत छोटा था जब मैंने ईसाई धर्म ग्रहण किया था।

बंबई पहुंचकर 'पहुल' ग्रहण करने की मेरी तीव्र इच्छा है और उस शुभ अवसर पर मैं सतगुरु के सम्मुख आपकी 'अरदास' की हृदय से कामना करता हूं।

मैं यह बात बाध्य होकर लिख रहा हूं, क्योंकि मुझे पंजाब आकर आपके दर्शन करने की अनुमति नहीं है, जिसकी मुझे बड़ी आशा थी।

भारत की साम्राज्ञी के लिए मेरी अविचल वफादारी का यह कितना 'शानदार' फल है पर सतगुरु की इच्छा सर्वोपरि रहेगी।

लंदन–25 मार्च 1886

मैं हूं–मेरे प्रिय देशवासियों
आपका अपना लहू और मांस
दिलीप सिंह

दिलीप सिंह के भारत आगमन के समाचार से चारों ओर आनंद और उत्साह की लहर दौड़ गई थी। उसके स्वागत की देशव्यापी तैयारियां होने लगी थीं परंतु उस उत्साह से अंग्रेजी सरकार बहुत शंकित हो गई। उसे लगा कि दिलीप सिंह के भारत लौटने पर कहीं विद्रोह की चिंगारी न भड़क उठे। तीस वर्ष पूर्व 1857 में व्यापक सैनिक विद्रोह हुआ था। दस वर्ष पूर्व ही अंग्रेज सरकार ने पंजाब में पनपे कूका आंदोलन को बड़ी कठिनाई से दबाया था। अब वह नया जोखिम नहीं उठाना चाहती थी। दिलीप सिंह का जहाज़ अदन तक पहुंच चुका था। अंग्रेजी सरकार ने उन्हें वहीं से फौज के पहरे में जबरदस्ती इंग्लैंड वापस भेज दिया।

इससे पहले दिलीप सिंह ने दो बार भारत की यात्रा की थी। उसकी मां, महारानी जिंदा नेपाल में निर्वासित जीवन व्यतीत कर रही थीं। अंग्रेज सरकार ने उसे अपनी मां से मिलने और अपने साथ इंग्लैंड लाने की अनुमति दे दी थी। जनवरी 1861 में वह कलकत्ता आया। रानी जिंदा भी वहां पहुंच गईं। 13 वर्ष बाद मां-बेटी की भेंट हुई। कितनी कारुणिक रही होगी वह भेंट, इसका अनुमान लगाया जा सकता है। वह अपनी मां सहित इंग्लैंड वापस आ गया।

दो वर्ष बाद रानी जिंदा का इंग्लैंड में ही देहावसान हो गया। उसकी अंतिम इच्छा थी कि उसकी अस्थियों का विसर्जन भारत की ही किसी नदी में किया जाए। अंग्रेज सरकार ने उसे पंजाब जाने की अनुमति नहीं दी। वह अस्थियों सहित भारत आया और गोदावरी में उन्हें प्रवाहित कर वापस लौट गया। वापस लौटते समय उसने मिस्र के अलेक्जंड्रिया बंदरगाह में जर्मन पिता और मिस्री माता की लड़की बांबा मिलर से विवाह कर लिया, जिससे उसके तीन पुत्रियां उत्पन्न हुईं।

दिलीप सिंह के अंतिम दिन बहुत कष्ट में गुजरे वह भारत वापस आना चाहता

था। उसने फ्रांस की सरकार से यह विनती की कि उसे भारत में फ्रांसीसी अधिकार क्षेत्र की बस्ती पांडुचेरी में बसने की अनुमति दे दी जाए किंतु दिलीप सिंह के कारण फ्रांस की सरकार ब्रिटिश सरकार से अपने सम्बन्ध नहीं बिगाड़ना चाहती थी, इसलिए उसकी प्रार्थना अस्वीकार कर दी गई।

15 दिसम्बर 1887 को उसकी पत्नी का देहांत हो गया। वह चारों ओर से निराश हो चुका था। उसने फ्रांस, जर्मनी और रूस की सरकारों से सहायता प्राप्त करनी चाही। उसने उन देशों में जाकर वहां के शासकों से भेंट की किंतु उसे कहीं से कोई सहायता प्राप्त नहीं हुई।

जीवन के अंतिम दिनों में अंग्रेज सरकार की नीतियों से बहुत विचलित और निराश होकर दिलीप सिंह पेरिस चला गया था। वहां पहुंचकर उस पर लकवे का आक्रमण हो गया, जिससे वह तीन वर्ष तक बिस्तर पर ही पड़ा रहा। उन्हीं दिनों उसे अन्य कई बीमारियों ने घेर लिया। पेरिस में वह नितांत अकेला साधनहीन निर्वासित जीवन जी रहा था। यहीं एक साधारण से होटल में 22 अक्टूबर 1893 में उसकी मृत्यु हो गई।

अपने समय के अत्यंत शक्तिशाली और लोकप्रिय शासक महाराजा रणजीत सिंह के पुत्र का ऐसा अंत होगा, किसने सोचा था?

(दैनिक जागरण, 21-3-02)

एक भगत पूरन सिंह की ज़रूरत है

मनुष्य चारों ओर घिरा हुआ है—हिंसा से, सामूहिक हत्याओं से, आगजनी से, लूट से, भुखमरी और बेबसी से। ये सभी आपदाएं कभी-कभी तो प्रकृति निर्मित होती हैं किंतु अधिकांश मनुष्य निर्मित होती हैं। आधुनिक मनुष्य का दावा है कि वह निरंतर प्रकृति पर विजय प्राप्त करता जा रहा है, प्रकृति के रहस्यों से परिचित होकर वह उस पर पूरा नियंत्रण स्थापित करने में समर्थ होता जा रहा है। इसमें बहुत कुछ सच है। जन्म से ही मनुष्य प्रकृति के भयंकर प्रकोप झेलता रहा है। आज उनमें से अनेक को उसने नियंत्रित कर लिया है और इस दिशा में निरंतर प्रयत्नशील है।

किंतु ऐसा लगता है कि मनुष्य प्रकृति और उसके द्वारा उत्पन्न की गई आपदाओं को चाहे जितना अपने काबू में कर ले, स्वयं अपने आप पर काबू पाने और उसे दिशा देने में अपनी हज़ारों वर्षों की लंबी यात्रा के बावजूद कामयाब नहीं हुआ है। प्रकृति अब उसके सम्मुख इतनी आपदाएं उत्पन्न नहीं करती जितनी वह स्वयं अपने लिए उत्पन्न करता है।

गुजरात का उदाहरण हमारे सामने है। यह प्रदेश पिछले कितने वर्षों से प्रकृति निर्मित और मनुष्य निर्मित आपदाओं को झेलता आ रहा है। कुछ समय पूर्व भयंकर भूकंप ने अपनी विनाश लीला दिखाई थी। अब मनुष्य निर्मित भूकंप ने उसके सम्मुख ऐसी आपदाओं का अंबार खड़ा कर दिया है, जो आने वाले लंबे समय उसके मानस में भयावह दुःस्वप्न बनकर जीवित रहेंगे।

ऐसे समय में मुझे स्वयं-सेवी व्यक्तियों और संस्थाओं का स्मरण होता है। गत वर्ष जब वहां भूकंप आया था कितनी ही ऐसी संस्थाओं ने वहां जाकर सेवा कार्य किया था। आश्चर्य होता है कि इस समय वहां ऐसे लोग और ऐसी संस्थाएं बड़ी मात्रा में

क्यों नहीं जा रहे हैं जो राहत शिविरों में पड़े एक लाख से अधिक लोगों के आर्थिक पुनर्वास में सहायक हों, उससे अधिक उनके मानसिक पुनर्वास के लिए काम करें। क्या सेवा शब्द हमारी जीवन-प्रणाली का अभिन्न अंग है? यह बात तो हम कितने ही प्रवचनों में सुनते हैं कि मनुष्यता की सेवा ही सही अर्थों में ईश्वर की सेवा है। जब ऐसी सेवा की बात की जाती है तो यह नहीं देखा जाता कि जिसे सेवा की आवश्यकता है उसका धर्म, जाति, लिंग, भाषा क्या है?

गुरु गोबिंद सिंह का एक शिष्य था। नाम था भाई कन्हैया। उसका काम था, युद्ध क्षेत्र में पड़े घायल सैनिकों को पानी पिलाना। युद्ध क्षेत्र में सिख सैनिक भी होते थे और मुग़ल सैनिक भी। भाई कन्हैया अपनी मशक से सभी को पानी पिलाता था। कुछ सिखों ने गुरु जी से शिकायत की—महाराजा, भाई कन्हैया अपने घायल सैनिकों को तो पानी पिलाता ही है, लेकिन यह शत्रु सैनिकों को भी पानी पिलाकर उन्हें जीवनदान दे देता है।''

गुरु गोबिंद सिंह जी ने उसे बुलाकर पूछा—''भाई कन्हैया, लोग तुम्हारी शिकायत कर रहे हैं कि युद्ध तुम क्षेत्र में शत्रु के घायल सैनिकों को भी पानी पिलाते हो। क्या यह सच है।''

भाई कन्हैया ने हाथ जोड़कर कहा—''महाराज, यह बात बिलकुल सच है। जब मैं युद्ध क्षेत्र में घायल सैनिकों के बीच होता हूं तो मुझे वे मित्र अथवा शत्रु के रूप में नहीं दिखाई देते। मुझे तो सभी घायलों में आपका रूप दिखाई देता है।''

वे उसके उत्तर से बहुत प्रसन्न हुए। बोले—''भाई कन्हैया, तुम बहुत अच्छा काम करते हो। मैं तुम्हें मल्हम भी देता हूं। तुम घायलों को केवल पानी ही न पिलाया करो, उनके घावों पर मल्हम भी लगाया करो।''

धर्मांधता, सांप्रदायिकता, राजनीति इन सभी की अपनी बाध्यताएं हैं। मनुष्य इन्हें अपने अंदर पालता है और आंखें मूंदकर इनकी मांग पूरी करता है। किंतु उनका महत्व इनसे कहीं अधिक है जो अपने कंधे पर पानी की मशक लादे रहते हैं। उन्हें यह नहीं दिखाई देता कि सामने पड़ा घायल व्यक्ति किस धर्म अथवा जाति का है। वे तो केवल अपना धर्म निबाहते हैं।

मुझे भगत पूरन सिंह की याद आती है। इन्हें इस संसार से विदा हुए दस वर्ष हो गए हैं। उनके जीवन काल में मैं जब भी अमृतसर में हरिमंदिर के दर्शन करने गया, वे मुझे सदा बाहर के खुले दालान में एक किनारे अपने कुछ संगी साथियों के साथ बैठे मिले। उनकी गोद में अपंग लुल्ले (प्यारा सिंह) का सिर होता था, चारों ओर छोटे-बड़ी पुस्तकों और छपे हुए पर्चों का ढेर होता था, जिसे उनके साथी आने-जाने वाले लोगों के बीच वितरित करते रहते थे। पास में ही ताला लगी एक गुल्लक होती थी, जिसमें उनकी संस्था 'पिंगलवाड़ा' के लिए दान स्वरूप कुछ धन लोग डालते रहते थे।

भगत पूरन सिंह से मेरा परिचय दिल्ली के एक समारोह में वर्षों पहले हुआ था।

पहली ही भेंट में मैं उनसे प्रभावित हुआ था। उनके सेवा कार्यों के विषय में मैं लंबे समय से सुनता आ रहा था। उनका व्यक्तित्व बहुत अनोखा था। उसमें कहीं कोई तातीब नजर नहीं आती थी। उनके सिर पर पगड़ी नहीं, एक ढीला-ढाला-सा पग्गड़ होता था। उनका खद्दर का कुरता, पैजामा, सदरी धुली है या नहीं इसकी भी उन्हें खबर नहीं होती थी। मुझे नहीं लगता कि भगत पूरन सिंह ने जीवन में कभी आईना देखा होगा।

उनके जीवन काल में ही मैं पिंगलवाड़ा के उस भवन में भी गया था जो उनके जीवन और आदर्शों का प्रति रूप है। संसार में अनेक स्वयंसेवी संस्थाएं असाध्य रोगों से पीड़ित लोगों की सेवा करती हैं। मदर टरेसा ने अपना जीवन कोढ़ से पीड़ित लोगों की सेवा में लगाया। पिंगलवाड़ा में मैंने जो कुछ देखा था वह एक ओर बहुत प्रेरित करने वाला था, दूसरी ओर बहुत दहलाने वाला भी। अपने समाज में कितने बच्चे मन्द बुद्धि पैदा होते हैं, कितने पुरुष और महिलाएं कई बार जन्म से और कई बार पारिवारिक सामाजिक स्थितियों का कारण विक्षिप्त और अर्द्धविक्षिप्त हो जाते हैं, लूले, लंगड़ों, अपाहिज़ों की तो कोई कमी नहीं।

भगत पूरन सिंह का जीवन कार्य ही एक लूले की सेवा से शुरू हुआ था। देश के विभाजन से बहुत पहले सन् 1934 की कार्तिक पूर्णमासी के दिन लाहौर के डेरा साहब गुरुद्वारे के सामने लावारिस हालत में छोड़े गए एक अपाहिज लड़के, लूले का भार भगत पूरन सिंह ने अपने ऊपर ले लिया था। उस समय उनकी आयु तीस वर्ष की थी और वे सेवा का व्रत ले चुके थे। इस लूले बालक को उन्होंने सदा अपने गले से लगाकर रखा। जहां भी जाते थे, उसे अपनी पीठ पर अथवा किसी ठेले पर स्वयं चलाकर ले जाते थे। विभाजन के बाद वे उसे लेकर अमृतसर आ गए। अपने संस्मरणों में उन्होंने स्वयं लिखा है कि लाहौर से एक शरणार्थी के रूप में अमृतसर पहुंचा। मेरी पीठ पर लूला था। मेरे पास एक रुपया और साढ़े पांच आने थे। शरीर पर केवल तीन कपड़े थे। खालसा कॉलेज में लगे शरणार्थी शिविर में 25-30 हजार लोग थे, जिनमें बूढ़े, रोगी, अपाहिज भी बहुत थे। मैं रात-दिन उनकी सेवा में लगा रहता था। एक अपाहिज की लात पर लगे घाव में कीड़े पड़ गए थे। मैं क्लोराफार्म और तारपीन मिलाकर उसके घाव पर लगाता था और उसके कीड़े निकालता था। मैं दोनों समय घर-घर जाकर रोटियां मांगकर लाता था, जिन्हें अपाहिजों को खिलाता था और आप भी खाता था।

इस प्रकार अगस्त सन् 1947 में 'पिंगलवाड़ा' बड़े अनौपचारिक ढंग से अस्तित्व में आ गया। लूल सारा जीवन भगत पूरन सिंह के गले का हार बना रहा। सन् 1998 में 64 वर्ष की आयु में लूल की मृत्यु हुई किंतु उसकी सेवा के माध्यम से जिस सेवा-समर्पित संस्था 'पिंगलवाड़ा' की नींव पड़ी वह आज अपने आप में इस देश की ही नहीं, संभवतः संसार की अद्वितीय संस्था है।

मैंने प्रारंभ में ही लिखा है कि पिंगलवाड़ा का अनुभव प्रेरक भी है और दहलाने

वाला भी। इतने लूले, अपाहिज, विक्षिप्त, भयंकर छूत रोगों से पीड़ित स्त्री-पुरुषों, बच्चों को देखकर, कुछ समय उनके बीच में रहकर व्यक्ति की जीवन के प्रति अपनी आस्था डोलने लगती है। व्यक्ति सोचता है कि क्या ऐसा जीवन भोगने के लिए ही प्राणी संसार में जन्म लेता है? क्या यह ईश्वरीय विधान है? हमारे धर्म-संसार के पास इसका एक सीधा और सहज उत्तर है। वह इन सारी बात का ठीकरा कर्म फलवाद के सिर फोड़ देता है। वह तर्क देता है कि व्यक्ति पूर्व जन्म में जैसे कर्म करता है, वर्तमान जीवन में उसे वैसे ही फल भोगने पड़ते हैं? क्या ये सभी लंगड़े, लूले, अपाहिज, मंदबुद्धि, संक्रामक रोगों से ग्रस्त, विक्षिप्त लोग अपने पूर्व जन्मों के कर्मों का फल भोग रहे हैं?

कई बार ऐसे तर्क मुझे बहुत हास्यास्पद लगते हैं। इन स्थितियों में पड़े हुए लोग संसार के अन्य अनेक देशों में भी मिल जाएंगे। किंतु जितनी बड़ी संस्था में, जितनी भयंकर उपेक्षा और लापरवाही में ऐसे लोग हमारे देश में जीवन का भार ढोने को अभिशप्त होते हैं, उतने संसार के किसी अन्य भाग में कदाचित ही होते हों। कर्मफल वाद जितना हमारे समाज को सताता है और निष्क्रिय बनाता है उतना अन्य किसी देश के व्यक्ति को नहीं।

संभवतः यही कारण है कि इस समाज व्यवस्था में विद्वान को सबसे ऊपर रखा गया, शूर-वीर को उससे नीचे, धनिक को उससे नीचे और सेवा कार्य में लगे व्यक्ति को सबसे नीचा स्थान दिया गया। समाज खड़ी लकीर जैसा बना, पड़ी लकीर जैसा नहीं जहां समाज के सभी वर्गों के लोग समान और समतल भाव भूमि पर खड़े होकर आपस में संवाद कर सकते।

भगत पूरन सिंह ने सेवा मार्ग को अपनाया। उन्होंने ऐसे प्राणियों की सेवा का व्रत लिया जो न केवल दैवी मार के मारे हुए हैं, बल्कि जिन्हें उनके स्वजनों ने भी बहुत सताया है। पिंगलवाड़ा में ऐसी बहुत-सी अभागी स्त्रियों को आश्रय मिला हुआ है। जिन्हें उनकी ससुराल अथवा मायके वाले वहां इसलिए ले आए थे कि वे उनका इलाज करवाना चाहते हैं। उनका पिंगलवाड़ा में पूरा इलाज हुआ और जब वे इस स्थिति में आ गईं कि उनके परिजन उन्हें अपने घर वापस ले जाएं और वहीं उनकी देखभाल करें तो बहुत से परिवारों के लोग ऐसी अभागी स्त्रियों को बोझ समझकर वापस ही नहीं ले गए।

भगत पूरन सिंह के देहावसान के पश्चात् अब उतनी ही समर्पित महिला डॉक्टर इंद्रजीत कौर भगत जी के उत्तराधिकारी के रूप में सारा कार्य संभालती है। डॉ. इंद्रजीत कौर स्वयं एक पूरी तरह प्रशिक्षित डॉक्टर हैं। इस समय मरीजों की सेवा के लिए अमृतसर के पिंगलवाड़ा संस्थान में 150 से अधिक प्रशिक्षित सेवादार, 70 सेवादरनियां और नर्सें काम करती हैं। संस्थान का वार्षिक बजट इस समय तीन करोड़ से अधिक है जो कुछ संस्थाओं तथा दानी व्यक्तियों की सहायता से एकत्र होता है। संस्थान में दस मोटर गाड़ियां और एंबुलेंस हैं जो मरीजों को लाने ले जाने का निरंतर कार्य करती रहती हैं।

संस्थान की अपनी डिस्पेंसरी है, प्रयोगशाला है, मंदबुद्धि बच्चों के लिए स्कूल है। इस समय भी एक हजार से अधिक बच्चों का इलाज हो रहा है। हज़ारों मरीज ठीक होकर अपने घरों को वापस जा चुके हैं।

इस विशाल देश में हमें कितनी मदर टरेसा किसने पूरन सिंह, कितने बाबा आमटे, कितने भगवंत सिंह दिलावरी चाहिए जिनके जीवन का केवल एक ही व्रत हो।

जिस गति से इस देश में सांप्रदायिक और जातीय दंगे बढ़ रहे हैं और असंख्य लोग उनसे पीड़ित हो रहे हैं, उससे सेवा कार्य का बड़ा व्यापक और भयावह क्षेत्र हमारे सामने खुल गया है। सन् 1984 में जो सिख विरोधी दंगे हुए थे उसमें हजारों लोग राहत शिविरों में जाने को मजबूर हो गए थे। उस समय कुछ संस्थाओं ने अत्यंत अनुकरणीय सेवा कार्य किया था। दिल्ली में सभी धर्मों और समुदायों के डॉक्टरों, विद्यार्थियों, अध्यापकों, नौकरी पेशा लोगों और व्यापारियों ने मिलकर नागरिक सेवा समिति नाम की संस्था बनाई थी जिसने दंगों के बाद भी अनेक वर्षों तक अपने सेवा कार्य को चालू रखा था।

डेढ़ सदी पहले एक स्विस नागरिक ने रेडक्रॉस नामक सेवाभावी संस्था की कल्पना की थी। उसका नाम था हेनरी डोनांट। इटली के सोलफरीनो नामक स्थान पर सन् 1859 में हुए एक भयानक युद्ध का वह एक निष्पक्ष दर्शन था। शाम को जब युद्ध थमा तो वह रणभूमि में गया। वहां चालीस हजार से अधिक सैनिक मृत या घायल पड़े हुए थे, जिनकी देखभाल करने वाला कोई नहीं था। डोनांट ने कुछ स्वयंसेवकों को एकत्र किया और उनकी सेवा में जुट गया। उसके सम्मुख शत्रु-मित्र अपना-पराया कोई नहीं था। उस कार्य ने धीरे-धीरे अंतर्राष्ट्रीय रूप धारण कर लिया। आज संसार के सभी देशों में रेडक्रॉस सोसायटियों का जाल बिछा हुआ है।

आज भगत पूरन सिंह होते तो मैं उनसे कहता—''भगत जी, इस देश को एक दंगापीड़ित रेडक्रॉस सोसायटी बनाइए जिसका केवल एक ही काम हो—दंगाग्रस्त क्षेत्रों में तुरंत पहुंचकर सभी की सेवा में जुट जाना।''

हमें एक हेनरी डोनांट की भी तलाश है।

(दैनिक जागरण, 18-4-02)

आज़ादी के दीवाने थे कूका विद्रोही

17 जनवरी 1872 के दिन पंजाब के मलेरकोटला क्षेत्र के एक गांव जमाल पुर के एक मैदान में 68 विद्रोही कूकों को लाया गया था। लुधियाना के डिप्टी कमिश्नर कावन की आज्ञानुसार उन्हें मृत्यु दंड दिया जाना था। उस मैदान में कई तोपें लगी हुई थीं। कावन वहां स्वयं उपस्थित था। एक-एक करके कूकों को वहां लाया जाता था, उन्हें तोपों के मुंह से बांधा जाता था और फिर बारूद से उड़ा दिया जाता था। कूका विद्रोही शहीदी की उमंग में एक-दूसरे से आगे बढ़कर तोपों के मुंह के सामने जाकर खड़े हो जाते थे। आदेश था कि तोप की ओर पीठ करके खड़े हो, किन्तु वे उसकी ओर मुंह करके खड़े होते थे और अपने सीने पर ही तोप का गोला खाते थे। हजारों दर्शकों के सामने 49 कूके तोप से उड़ा दिए गए। शेष को फांसी पर लटका दिया गया।

आज कूका या नामधारी संप्रदाय को सिखों के अंदर एक प्रमुख संप्रदाय के रूप में स्वीकार किया जाता है। ये लोग प्रभु-स्मरण करते समय जोर-जोर से कूकते थे। इसलिए इन्हें कूका कहा जाने लगा। सिखों की मुख्य धारा से इनका अलगाव इस बात को लेकर है कि आम सिख मानते है कि दसवें गुरु, गुरु गोबिन्द सिंह के पश्चात् देहधारी गुरु की परंपरा समाप्त हो गई थी और गुरु गोबिन्द सिंह जी ने 'ग्रंथ साहब' को गुरु पद दे दिया था। किन्तु नामधारी यह मानते हैं कि देहधारी गुरु की परंपरा अभी चल रही है। इसलिए इस संप्रदाय के मुखिया को गुरु या सद्गुरु कहकर इस संप्रदाय में पुकारा जाता है। इस संप्रदाय के प्रवर्तक गुरु राम सिंह का जन्म सन् 1816 में, बसंत पचमी के दिन जिला लुधियाना के भैणी गांव में हुआ था। यही स्थान नामधारी संप्रदाय का केंद्र स्थान है।

बाबा राम सिंह ने कुछ वर्ष तक महाराजा रणजीत सिंह की सेना में नौकरी की थी। बाबा बालक सिंह नाम के एक संत पुरुष की उन दिनों पंजाब में बड़ी प्रसिद्धि थी। बाबा राम सिंह उनके संपर्क में आए और उनके अनुयायी बन गए। पंजाब में अंग्रेजी राज्य की स्थापना के पश्चात् वे अपने गांव भैणी वापस आ गए थे। निधन से पहले बाबा बालक सिंह ने उन्हें अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया था।

पंजाब से सिखों का राज्य समाप्त हो जाने के पश्चात् वहां अनेक धार्मिक और सामाजिक कुरीतियों ने जन्म ले लिया था। बाबा राम सिंह ने इन कुरीतियों को दूर करने के लिए एक आंदोलन चलाया। धीरे-धीरे उनके अनुयायियों की संख्या बढ़ने लगी। उन्होंने अपने संपूर्ण कार्यक्षेत्र को 22 भागों में विभाजित किया और प्रत्येक भाग का एक मुखिया नियुक्त किया जिसे 'सूबा' कहा जाता था। वे इस देश से अंग्रेजी शासन को समाप्त करना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने सबसे पहले ऐसे शासन से असहयोग करने की नीति बनाई। उन्होंने अपने अनुयायियों के लिए कुछ नियम बनाए, इनके अनुसार अंग्रेज सरकार की नौकरी न करना, अपने बच्चों को सरकारी स्कूलों में न पढ़ाना, सरकारी अदालतों में अपने मुकदमे न ले जाना, विदेशी वस्त्रों का पूरी तरह बहिष्कार करना, सरकारी डाकखानों का प्रयोग न करना प्रमुख थे।

बाबा राम सिंह ने अपने डाक-विभाग का संगठन बड़ी कुशलता से किया था। अपनी योजना को अंग्रेजी सरकार की दृष्टि से बचाने के लिए उन्होंने अपनी व्यवस्था स्थापित की। उन्होंने ऐसे पत्र वाहक नियुक्त किए जिनका कार्य केवल इतना ही होता था जो संकेत या सांकेतिक शब्द से दिया गया है, बिना अर्थ पूछे वह लक्षित स्थान की ओर चल पड़े। जब वह दूसरे हरकारे के पास पहुंचे तो पहले की बात सुनकर तुरंत आगामी पड़ाव की ओर दौड़ पड़े। इस प्रकार भिन्न-भिन्न पड़ावों से होती हुई एक डाक अपने निश्चित स्थान पर पहुंचती थी।

कुछ समय तक अंग्रेजी शासन इसे एक धार्मिक और सामाजिक सुधारवादी आंदोलन मानता रहा। इसकी राजनीतिक आकांक्षाओं और मंतव्यों की ओर सबसे पहले स्यालकोट के डिप्टी कलेक्टर मेल बन ने 5 अप्रैल 1865 की लिखी अपनी रिपोर्ट में सरकार का ध्यान आकर्षित किया। उसमें उसने लिखा कि राम सिंह नामक एक सिख जिला स्यालकोट का दौरा कर रहा है। उसके साथ करीब 200 सिख हैं। वह अपने साथियों को बंदूक और लाठी चलाना सिखाता है। वह किसी सरकारी आदेश को नहीं मानता। यहां से उसके 5000 अनुयायी बैसाखी के मेले में भाग लेने के लिए अमृतसर जा रहे हैं।

जिस समय बाबा राम सिंह फिरोजपुर जिले का दौरा कर रहे थे, एक सरकारी कर्मचारी ने उनके संबंध में रिपोर्ट करते हुए कहा था कि ये अपने विद्रोहात्मक भाषणों द्वारा लोगों में उत्तेजना फैला रहे हैं। ये कहते हैं कि शीघ्र ही अंग्रेजी शासन समाप्त हो जाएगा और यहां उनका शासन स्थापित हो जाएगा। 1 सवा लाख सशस्त्र सिख

उनके साथ होंगे।

कूकों के संबंध में एकत्र की गई सरकारी रिपोर्टों तथा अन्य ऐतिहासिक खोजों से यह ज्ञात होता है कि बाबा राम सिंह ने अपने मंतव्य की पूर्ति के लिए व्यापक प्रयत्न किए थे। कूका रिकार्ड में लिखा है कि काबुल के अमीर के दो शहजादे उनसे मिलने के लिए भैणी गए थे। पंजाब सरकार कूकों के संबंध में बहुत चिंतित हो गई थी। किंतु वह यह पता नहीं लगा सकी कि इन अफगान शाहजादों का भैणी आने का उद्देश्य क्या था।

नवंबर सन् 1879 में सरकार को यह पता लगा कि जम्मू कश्मीर के महाराजा कूकों की एक पल्टन खड़ी कर रहे है। इन्हीं दिनों नेपाल के राजा का भी एक संदेश बाबा राम सिंह को प्राप्त हुआ, जिसमें उनसे भेंट की इच्छा प्रकट की गई थी। बाबा राम सिंह ने कुछ भैंसें और खच्चर नेपाल के राजा को भिजवाए थे। बाबा राम सिंह ने उन्हीं दिनों एक पत्र रूस के सम्राट जार को भी भिजवाया था। उसमें लिखा था कि हम शीघ्र ही अंग्रेजी सरकार के विरुद्ध संघर्ष छेड़ने जा रहे हैं। इसी कार्य में रूस हमारी सहायता करे।

कूकों के मुख्य विद्रोह का विस्फोट गो-हत्या के प्रश्न पर हुआ। महाराजा रणजीत सिंह के समय में पंजाब में गो-हत्या करना पूरी तरह वर्जित था। सिख साम्राज्य के सभी विदेशी कर्मचारियों तथा उनके राज्य की सीमाओं से होकर निकलने वाली सेनाओं पर भी गो-हत्या करने की अनुमति नहीं थी। अंग्रेजी राज्य स्थापित होते ही ऐसे सभी प्रतिबंध हटा लिए गए और स्थान-स्थान पर बूचड़खाने खोलने की अनुमति दे दी गई। इससे लोगों में असंतोष फैलना शुरू हो गया। हिंदुओं-सिखों के अनेक प्रतिनिधि मंडलों ने अंग्रेज अधिकारियों से मिलकर अपना रोष व्यक्त किया किंतु उन्होंने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया।

कूकों ने ऐसे सरकारी रवैये को एक चुनौती माना। उनका एक छोटा सा जत्था गो-वध बंद करने के लिए अमृतसर की ओर चल दिया। 14-15 जून सन् 1871 की रात्रि को इस जत्थे ने स्वर्ण मंदिर के पास के बूचड़खाने पर सशस्त्र आक्रमण कर दिया। वध के लिए लाई गई सभी गायों को उन्होंने मुक्त कर दिया और सभी कसाइयों को मौत के घाट उतार दिया।

इसी प्रकार की घटना लुधियाना जिले के रायकोट नामक स्थान पर घटी। अमृतसर के बूचड़ हत्याकांड के कुछ दिन बाद नामधारी सिखों का एक जत्था भैणी जाते हुए यहां से निकला। यहां के गुरुद्वारे के पास पड़े मांस के लोथड़ों और हड्डियों का देखकर पुजारियों के पूछने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि गुरुद्वारे के निकट एक ही बूचड़खाना है जहां प्रतिदिन गो-वध होता है। इस बात से क्रोधित होकर कुछ नामधारियों ने रात्रि के समय वहां के बूचड़ों पर आक्रमण किया और उनकी हत्या करके फरार हो गए। बाद में ये लोग बंदी बनाए गए और इन्हें फांसी पर लटका दिया गया।

इस क्रम में सबसे अधिक भयावह घटना मलेरकोटला की हुई। उस दिन भैणी साहब में बड़ी मात्रा में संगत इकट्ठा हुई थी। अवसर बाबा राम सिंह की पत्नी के

देहावसान के पश्चात् का धार्मिक अनुष्ठान था। अमृतसर और रायकोट की घटनाओं के बाद पहली बार इतनी बड़ी संख्या में लोग इकट्ठे हुए थे। तभी एक समाचार से लोगों में उत्तेजना फैल गई। मलेरकोटला के एक नामधारी गुरुमुख सिंह को एक थानेदार ने अपमानित किया था और उसके सामने ही एक बैल की हत्या की गई थी।

कूकों ने इसका बदला लेने की ठान ली। 13 जनवरी 1872 के दिन 140 मतवालों ने मलेरकोटला की ओर प्रस्थान किया। कूकों की योजना की सूचना मलेरकोटला पहुंच गई थी। 15 जनवरी को कूकों ने उस मुहल्ले पर आक्रमण किया जिसमें सबसे अधिक गो-हत्यारे रहते थे। यहां राज्य की पुलिस से उनका भयंकर संघर्ष हुआ। इसमें 7 कूके शहीद हुए और कुछ घायल हुए। जब ये लोग पटियाला की ओर जा रहे थे, सेना की एक टुकड़ी द्वारा इन्हें रोका गया। कुछ लोग तो निकल गए। 68 को बंदी बना लिया गया। इनमें से 49 को तोपों से उड़ा दिया गया। शेष को फांसी दे दी गई।

अंग्रेज सरकार नामधारियों की गतिविधियों से बहुत शंकित हो गई थी। उसे अपने अधिकारियों से जो सूचनाएं मिल रही थीं उनसे बाबा राम सिंह के नेतृत्व के उभरते हुए इस आंदोलन से व्यापक राजद्रोह के संकेत दिखाई दे रहे थे। अनेक देशी-विदेशी सरकारों से उनके जो संबंध स्थापित हो गए थे, उसमें भी उन्हें व्यापक विद्रोह के लक्षण दिखाई दे रहे थे।

18 जनवरी 1872 को लुधियाने में बाबा राम सिंह को हिरासत में लेकर रेलगाड़ी से दिल्ली लाया गया और वहां से इलाहाबाद ले जाकर किले में कैद कर दिया गया। उनके साथ 10 अन्य कूकों को भी इलाहाबाद किले में बंद कर दिया गया। दो माह बाद बाबा रामसिंह को उनके एक निजी सेवक नानू सिंह वर्मा भेज दिया गया। वहां ये आठ वर्ष तक विभिन्न स्थानों पर नज़र बंद रहे। सरकारी घोषणा के अनुसार 19 दिसंबर 1885 को वहीं उनका देहावासन हो गया।

कूका या नामधारी आंदोलन ने स्वाधीनता संग्राम के लिए कुछ ऐसी विधियां उकेरी थीं, जिनका प्रयोग बीसवीं सदी में महात्मा गांधी ने पूरी तरह किया था। गांधी जी का सबसे प्रबल शस्त्र विदेशी सरकार से असहयोग था। बाबा राम सिंह ने इस शस्त्र का भरपूर प्रयोग अपने संघर्ष में किया था। उन्होंने अंग्रेज शासन द्वारा स्थापित सभी संस्थाओं का बहिष्कार किया। उनकी शिक्षा प्रणाली, उनकी न्याय व्यवस्था, उनकी डाक सेवा, उनकी नौकरी इन सभी का बहिष्कार करने का आदेश उन्होंने अपने अनुयायियों को दिया था। गांधी जी ने विदेशी वस्त्रों की होली बाद में जलाई। बाबा राम सिंह ने विदेशों में बने कपड़े का बहिष्कार गांधी जी से आधी सदी पहले ही करने की घोषणा कर दी थी।

बीसवीं सदी के प्रारंभिक वर्षों में अमेरिका और कनाडा में बसे भारतीयों ने जो गदर आंदोलन प्रारंभ किया था उस पर भी कूका आंदोलन का बहुत प्रभाव था।

(दैनिक जागरण, 23-1-03)

लंबा इतिहास है वंदेमातरम का

संसार में शायद ऐसा कोई राष्ट्र हो जहां दो राष्ट्रीय गीतों को मान्यता दी गई हो। हमारे देश में 'जन गण मण अधिनायक' को राष्ट्रगान के रूप में स्वीकार किया गया है और वंदेमातरम को अतिरिक्त राष्ट्रगान का स्थान दिया गया है।

वंदेमातरम गीत ने एक ओर इस देश के असंख्य लोगों को स्वतंत्रता संग्राम के लिए प्रेरित किया, हंसते-हंसते फांसी के तख़्ते पर झूलने के लिए तत्पर किया और जन-जागृति का उद्घोष बनकर चारों ओर गूंजा वहीं कुछ विवादों में भी फूंस गया। यही कारण था कि उसे पूरी तरह राष्ट्रगान होने का गौरव प्राप्त नहीं हुआ।

वंदेमातरम गीत बंकिमचंद्र चटर्जी के उपन्यास 'आनंदमठ' में आया है। बंकिम चंद्र चटर्जी की यह बहुचर्चित रचना सन् 1880 में पूर्ण हो गई थी। पुस्तकाकार रूप में 1882 ई. में इसका प्रथम संस्करण प्रकाशित हुआ था। आगामी 10 वर्षों में बंगाली में इसके 5 संस्करण प्रकाशित हो गए थे। वंदेमातरम गीत की रचना आनंदमठ उपन्यास की रचना के पूर्व हो गई थी। इस गीत के रचनाकाल का सर्वप्रथम उल्लेख महर्षि अरविंद ने सन् 1907 में लिखे अपने एक लेख में किया था। इसके अनुसार इस गीत की रचना 1874 या 1875 में हुई थी।

इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना सन् 1885 में हुई थी। इसका दूसरा अधिवेशन सन् 1886 में कलकत्ता में हुआ था। यहीं हेमचंद्र वंद्योपाध्याय ने अपनी रचना के अंतर्गत पहले-पहल वंदेमातरम गीत के कुछ अंश गाकर सुनाए थे। संभवतः यही पहला अवसर था जब सार्वजनिक रूप से इस गीत का खंडित रूप में उपयोग किया था। इसके बाद दूसरी बार रवींद्रनाथ टैगोर ने सन् 1896 में कांग्रेस के अधिवेशन में इसे गाया था। 1901 ई. के बाद, कांग्रेस के प्रत्येक अधिवेशन में वंदेमातरम गीत का गायन हुआ।

वंदेमातरम गीत को राष्ट्रीय प्रतिष्ठा बंग-भंग आंदोलन के समय में प्राप्त हुई

थी। तत्कालीन वाइसराय लार्ड कर्जन ने 1903 में यह घोषणा की कि बंगाल प्रान्त बहुत बड़ा है, इसलिए प्रशासनिक सुविधा के लिए इसका विभाजन आवश्यक है। उस समय पूरे बंगाल के अतिरिक्त असम, उड़ीसा, बिहार और छोटा नागपुर को बंगाल ही कहा जाता था। घोषणा में कहा गया था कि इस प्रांत को विभाजित करके जो प्रांत बनेगा उसका नाम पूर्वी बंगाल और असम होगा और ढाका उसकी राजधानी बनेगा। अंग्रेज सरकार की इस नीति का व्यापक विरोध हुआ। उसके विरुद्ध वहां बड़ा प्रभावशाली आंदोलन उठ खड़ा हुआ। वंदेमातरम गीत उस आंदोलन का प्रेरण-गीत बन गया। 7 अगस्त 1905 को कलकत्ता के टाउनहाल में बंग-भंग का विरोध दिवस मनाने के लिए हज़ारों लोग एकत्र हुए। उस ऐतिहासिक सभा में वंदेमातरम को एक लोकप्रिय नारे की मान्यता प्राप्त हो गई।

प्रारंभ में बंकिम बाबू ने जिस गीत की परिकल्पना की थी वह बंगाल तक ही सीमित थी जिसकी जनसंख्या लगभग सात करोड़ थी। संपूर्ण भारत की जनसंख्या उस समय लगभग तीस करोड़ थी। मूल गीत के शब्द हैं—

सप्तकोटि कंठ कल कल निनादकराले,
द्विसप्त कोटि भुजैर्धृत खरकर वाले,
अबला केनो मां एतो बले—

कौन ऐसी माता को अबला कह सकता है जिसकी सात करोड़ संतानें हैं, चौदह करोड़ हाथ जिसकी सेवा के लिए तत्पर हैं। वह मां तो अतुल बलशालिनी है। जैसे-जैसे इस गीत की लोकप्रियता बढ़ती गई इसे अखिल भारतीय स्वरूप मिलता गया। पहले सप्तकोटि के स्थान पर त्रिशंकोटि हुआ और बाद में कोटि-कोटि कर दिया गया।

सन् 1906 में मुस्लिम लीग की स्थापना हुई, उसी के साथ इस गीत का विरोध भी प्रारंभ हो गया। यह विरोध निरंतर बढ़ता चला गया। कीनाड़ा कांग्रेस के अध्यक्ष मौलाना मोहम्मद अली ने सन् 1923 में कहा कि अधिवेशन में वंदेमातरम गीत नहीं गाया जाएगा। उन्होंने कहा कि यह गीत इस्लाम के विरुद्ध है। उनके इस कथन का मंच पर बैठे किसी नेता ने विरोध नहीं किया। प्रति वर्ष इस गीत को कांग्रेस मंच पर गाने वाले संगीतज्ञ पंडित विष्णु दिगंबर पुलस्कर ने इस बात को अस्वीकार करते हुए कहा—कांग्रेस का अधिवेशन कोई खिलाफत की कांग्रेस या मुसलमानों की मस्जिद नहीं है, इसे अध्यक्ष को समझना चाहिए। मौलाना अली के विरोध करने पर भी पंडित पलुस्कर ने गंभीर कंठ से यह पूरा गीत गाया।

सन् 1937 के मुस्लिम लीग के कलकत्ता अधिवेशन में एक प्रस्ताव रखा गया, जिसमें कहा कि वंदेमातरम गीत को राष्ट्रीय गीत बनाने की कांग्रेस की साजिश स्पष्ट रूप से मुसलमानों के विरोध तथा देश के विकास में बाधा लाने वाली है। सन् 1938 में मुस्लिम लीग ने कांग्रेस के सामने जो मांगें रखीं, उसमें पहली मांग यह थी कि वंदेमातरम

के गायन को बंद किया जाए। मद्रास विधान सभा में वंदेमातरम गाए जाने पर मुसलमान सदस्यों ने सभा का बहिष्कार किया।

सन् 1937 को अखिल भारतीय कांग्रेस में सर्वप्रथम वंदेमातरम गीत को लेकर तीव्र मतभेद दिखाई दिया। अभी तक कांग्रेस के प्रत्येक अधिवेशन में वंदेमातरम गीत गाया जाता था। कांग्रेस के अंदर के राष्ट्रीय मुसलमान भी इसे हृदय से स्वीकार नहीं करते थे। पूर्वी बंगाल के मुस्लिम बहुमत वाले स्कूलों में मुस्लिम विद्यार्थी इसका भरपूर विरोध करते थे। इस कारण वहां सांप्रदायिक तनाव की स्थिति भी उत्पन्न हो जाती थी। इसी वर्ष कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने मौलाना अबुल कलाम आजाद, जवाहरलाल नेहरू, सुभाष चंद्र बोस और आचार्य नरेंद्र देव की एक उपसमिति गठित की जिसे रवींद्र नाथ टैगोर से परमर्श करके राष्ट्रीय गीत के रूप में वंदेमातरम की उपयुक्तता पर निर्णय लेना था। इस विषय में उस समिति ने यह सिफारिश की कि जब भी राष्ट्रीय सार्वजनिक सभाओं में वंदेमातरम गाया जाए तो उसके पहले के दो पद ही गाए जाएं। राष्ट्रीय गीत के रूप में केवल निम्नलिखित पंक्तियों को ही स्वीकार किया गया।

वंदेमातरम
सुजलां सुफलां मलयज शीतलाम्
शस्यश्यामलां मातरम
शुभ्रज्योत्स्नां पुलकितयात्रिनीम्
पुल्लकुसामित दुमरल शोभिनीम्
सुहासिनी सुमुधुरभाषिणीम्
सुखदां वरदां मातरम्
वंदेमातरम

पंक्तियों की गणना की दृष्टि से 26 में केवल 9 पंक्तियों को ही स्वीकार किया गया। आगे की पंक्तियों में, जिनमें दुर्गा, लक्ष्मी और सरस्वती जैसी देवियों का स्तवन किया गया है, उन्हें राष्ट्रीय गीत के रूप में स्वीकार नहीं किया गया।

कांग्रेस कार्यसमिति के इस निर्णय का रवीन्द्रनाथ टैगोर ने पूरी तरह समर्थन किया था। इस कारण बहुत से लोग उनसे नाराज़ हो गए थे।

सन् 1938 में इस गीत को लेकर जवाहरलाल नेहरू और मोहम्मद अली जिन्ना में पत्र व्यवहार भी हुआ। जिन्ना का मत था कि यह गीत इस्लाम विरोधी है। इसमें हिन्दू देवियों की चर्चा है और यह बुतपरस्ती की प्रेरणा देता है। उन्होंने यह भी कहा है कि गीत को मुसलमान कैसे स्वीकार कर सकते हैं जिसे आनंद मठ में से लिया गया है, जो घोर मुस्लिम विरोधी रचना है।

जिन्ना की आपत्तियों का उत्तर देते हुए पं. नेहरू ने लिखा था कि कांग्रेस कार्य समिति ने यह सिफारिश की है कि इस गीत के केवल दो पदों को ही राष्ट्रीय गीत

के रूप में गाया जाए। इन पदों में ऐसी कोई बात नहीं है जिन पर किसी को आपत्ति हो।

वंदेमातरम गीत के संबंध में रवींद्रनाथ टैगोर ने जिस प्रकार कांग्रेस कार्य समिति के निर्णय का समर्थन किया था, उससे चारों ओर उनकी बहुत निंदा होने लगी। कुछ लोगों को यह विश्वास हो गया था कि रवि बाबू की सलाह पर ही कांग्रेस ने वंदेमातरम का अंग-भंग किया है। जब इस आक्षेप का उन्हें पता लगा तो उन्होंने लिखा—वंदेमातरम गीत हमारे देश के लिए राष्ट्रीय गीत के रूप में गृहीत होने योग्य है या नहीं इस बारे में काफी विवाद उत्पन्न हुआ है, यह बड़े खेद का विषय है। इस बारे में अपने विचार प्रकट करते समय मुझे एक बात याद आ रही है कि इस गीत के लेखक के जीवनकाल में पहले-पहल सुर देरे का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था और कलकत्ता में हुए कांग्रेस के एक अधिवेशन में मैंने इसे गाया था। इस गीत के प्रथमांश में कोमल भावना और श्रद्धा का विश्वास है तथा हमारी मातृभूमि के सौंदर्य का प्रचूर परिचय है, इन सबने मुझे बुरी तरह से प्रभावित किया था। अपने पिता के एकेश्वरवादी आदर्श में लालित-पालित होने पर भी उसके सभी अंशों के प्रति मेरी सहानुभूति है।

शासकों ने हम लोगों की इच्छा के विरुद्ध जब बंगाल का विभाजन करना चाहा था, तब उस संग्राम की स्थिति में राष्ट्रीय गीत के रूप में इसका प्रचलन हुआ था। बाद में जिन घटनाओं में वंदेमातरम जय ध्वनि के रूप में स्वीकृत हुआ, उसमें हमारे अनेक युवकों का त्याग निहित है।

मैं निस्संकोच रूप से यह स्वीकार करता हूं कि बंकिम का वंदेमातरम गीत का समग्र अंश जिस पुस्तक में है। यदि उसके साथ पढ़ा जाए तो मुसलमानों के मन में चोट पहुंच सकती है। लेकिन उक्त गीत का प्रथमांश जो राष्ट्रीय गीत के रूप में परिणत हुआ है, उसके साथ हमेशा हम लोगों को उसका अवशिष्ट अंश जिस उपन्यास में, घटनाक्रम से सम्मिलित हुआ है, उसका भी स्मरण करना पड़ेगा, ऐसी बात नहीं है। यह गीत स्वतंत्र सत्ता और प्रेरणदायी भाव प्राप्त कर चुका है। इसमें किसी संप्रदाय या धर्मावलंबी को आपत्ति नहीं करनी चाहिए।

रवि बाबू ने नवंबर सन् 1937 को विभिन्न पत्रों में अपना यह वक्तव्य प्रकाशनार्थ भेजा था। उनके विरोधियों ने यह प्रचार करना प्रारंभ कर दिया कि वे ब्रह्मसमाजी हैं, इसलिए दुर्गा, लक्ष्मी, सरस्वती देवियों को वे नहीं मानते। अपने गीत 'जन गण मन' को राष्ट्र गान बनाने के लिए ही वे वंदेमातरम को पीछे हटाना चाहते हैं। एक और बात भी उस समय प्रचारित हुई कि 'जन गण मन अधिनायक' गीत उन्होंने ब्रिटिश सम्राट जार्ज पंचम की प्रशस्ति में लिखा था। इस बात का स्वयं रवींद्रनाथ टैगोर ने कड़े शब्दों में खंडन किया था। 'जन गण मन' के संबंध में यह धारणा वर्षों तक चलती रही है। कुछ लोग आज भी यह बात कहते हैं।

वंदेमातरम गीत निरंतर विवाद में रहा है। इस संबंध में सन् 1948 में पं.

जवाहरलाल नेहरू ने लोकसभा में भाषण देते हुए कहा था—वंदेमातरम स्पष्टतः और निर्विवाद रूप से भारत का प्रमुख राष्ट्रीय गीत है और महान ऐतिहासिक परंपरा है। हमारे स्वतंत्रता संग्राम से इसका निकट का संबंध रहा है।

24 जनवरी 1950 के लोकसभा के अधिवेशन में वंदेमातरम गीत को प्रार्थना गीत के रूप में स्वीकार किया गया। राष्ट्रगान के रूप में किसे स्वीकार किया जाए इस संबंध में अनंतस्वामी आयंगार और उनके कुछ साथी 'जन गण मन' के पक्ष में थे और पूर्णिमा बनर्जी आदि अनेक लोग वंदेमातरम को राष्ट्रगान बनाना चाहते थे। बहुमत ने 'जन गण मन' के पक्ष में अपनी राय प्रकट की। सन् 1961 में पुनः एक बार वंदेमातरम के विषय में एक विवाद उठा था, तब डॉ. संपूर्णा नंद की अध्यक्षता में एक कमेटी बनाई गई। इस कमेटी ने अपनी राय दी कि विद्यार्थियों को वंदेमातरम याद होना चाहिए।

आज भी कभी-कभी वंदेमातरम को लेकर वातावरण में तनाव पैदा हो जाता है। कुछ अति उत्साही व्यक्ति किसी विशिष्ट वर्ग को चेतावनी देते हुए कहने लगते हैं—"इस देश में रहना है तो वंदेमातरम कहना होगा।" इसकी प्रतिक्रिया होती है और उस वर्ग के लोग कहना प्रारंभ कर देते हैं कि हम जोर जबरदस्ती से वंदेमातरम का गायन नहीं करेंगे।

मेरा मानना है कि बात-बात पर किसी भी वर्ग द्वारा किसी दूसरे वर्ग से देश भक्ति का प्रमाण-पत्र मांगना ठीक नहीं है। राष्ट्रीय जीवन में कुछ चीज़ें धीरे-धीरे विकसित होती हैं और समरस समाज के निर्माण में अपनी भूमिका निभाती है। इस विविधता भरे देश में पिछले पचपन वर्ष से कुछ चीजें सहज रूप से विकसित और स्वीकृत हुई हैं। देश में कुछ भागों में हिंदी का जो विरोध हमें 30-40 वर्ष पहले दिखाई देता था, अपेक्षाकृत अब वह बहुत कम हो गया है। जिन लोगों को यह लगता था कि हिंदी उन पर बलात् ठोकी जा रही है, अब वे इस दृष्टि से कुछ सहज होने लगे हैं। कारण स्पष्ट है। केंद्र में कोई भी सरकार आ जाए, वह अच्छी तरह जानती है कि इस दृष्टि से ऐसा कोई कार्य नहीं किया जाना चाहिए जिससे किसी प्रकार की प्रतिकूल प्रतिक्रिया को बढ़ावा मिले।

वंदेमातरम के संबंध में भी हम इसी नीति पर चलकर निरर्थक विवाद को पनपने से रोक सकते हैं।

(दैनिक जागरण, 13-2-03)

वीर सावरकर को लेकर यह विवाद क्यों?

संसद के केंद्रीय कक्ष में स्वातंत्र्य वीर सावरकर के तैल चित्र को लगाए जाने को लेकर जिस प्रकार का विवाद उत्पन्न हुआ वह आश्चर्यजनक है और दुर्भाग्यपूर्ण भी। बचपन से ही उनका जो विंब मेरे मन में बसा हुआ है वह भारत की स्वतंत्रता के लिए आजीवन संघर्ष करने वाले एक क्रांतिकारी योद्धा का चित्र है। अंग्रेजी शासन के विरुद्ध उन्होंने जो संघर्ष किया था और उसके लिए जितने कष्ट उन्होंने झेले थे, वे भी रोंगटे खड़े कर देने वाले थे।

मैंने वीर सावरकर की आत्मकथा—मेरा आजीवन कारावास आद्योपांत पढ़ी है जो मूल रूप से मराठी में 'मांझी जन्मठेप' नाम से लिखी हुई थी। मैं समझता हूं कि जो लोग आज उनका इतना विरोध कर रहे हैं उन्हें यह पुस्तक पढ़ने के लिए अवश्य दी जानी चाहिए।

वीर सावरकर के जीवन को दो भागों में बांटा जा सकता है। उनका जन्म सन् 1883 में नासिक के पास एक छोटे से गांव में हुआ था। सन् 1910 में उन्हें आजीवन कारावास की सज़ा देकर काला पानी (अंडमान) भेज दिया गया। जीवन के प्रारंभिक सत्ताईस वर्ष उन्होंने जिस प्रकार व्यतीत किए, उसी में उनका जीवन-मार्ग निर्धारित हो गया। सोलह वर्ष की आयु में जब वे नासिक में पढ़ते थे, उन्होंने ब्रिटिश राज्य का तख़्ता उलटने के लिए एक क्रांतिकारी संगठन बनाया था। पूना में जब वे बी.ए. की पढ़ाई कर रहे थे, उनके सरकार विरोधी भाषणों के कारण उन्हें कॉलेज से निकाल दिया गया था। राजनीतिक कारणों से किसी कॉलेज से निकाले जाने वाले वह पहले विद्यार्थी थे। परीक्षा के समय कॉलेज के अधिकारियों ने उन्हें परीक्षा में बैठने की अनुमति दे दी थी।

बैरिस्टरों की पढ़ाई करने के लिए जब वह इंग्लैंड गए तो वहां वह अधिक सक्रिय

होकर कार्य करने लगे। वहां उन्होंने फ्री इंडिया सोसायटी की स्थापना की, जिसकी साप्ताहिक बैठकें नियमित रूप से होती थीं। वहां उन्होंने एक निर्वासित रूसी की सहायता से बम बनाने और क्रांतिकारी कामों के लिए अनेक गुर सीखे। उसने उन्हें एक छोटी प्रामाणिक पुस्तक भी दी जिसमें चित्रों के साथ ही प्रकार के बमों का वर्णन किया गया था और उन्हें इस्तेमाल करने का तरीका भी समझाया गया था।

सावरकर ने इस पुस्तक को लंदन में छपवाकर वहां के भारतीयों के बीच बंटवाई और उसकी प्रतियों को भारत के अनेक क्रांतिकारी केंद्रों में भिजवाया। भारतीय पुलिस को उसकी एक प्रति उनके बड़े भाई गणेश दामोदर (बाबा राव) सावरकर के पास मिल गई। इसे 'सम्राट' के विरुद्ध युद्ध छेड़ने का अपराध माना गया और बाबा राव को उम्र कैद की सज़ा देकर कालापानी भेज दिया गया। उनके छोटे भाई नारायण दामोदर सावरकर को भी राष्ट्रभक्ति के आरोप में गिरफ्तार किया था।

लंदन में ही सावरकर को राजद्रोह और हत्याओं आदि के आरोप में बंदी बनाकर समुद्री जहाज से भारत रवाना किया गया था। जहाज जब फ्रांस के मार्सेल्स बंदरगाह के पास पहुंचने ही वाला था कि वह समुद्र में कूदकर फ्रांस के तट पर पहुंच गए। गोरों ने पीछा करके उन्हें पुनः पकड़ लिया। मुंबई की विशेष अदालत में उन पर मुकदमा चलाया गया। 30 जनवरी 1911 को अंग्रेज जज ने उन्हें दो आजन्म कारावासों अर्थात् 50 वर्ष की तख़्ता सजा सुनाई। किसी अपराधी को ऐसी सज़ा सुनाई गई हो शायद ही इसका कोई दूसरा उदाहरण हो।

उन्हें कालापानी भेज दिया गया जहां उनके बड़े भाई पहले ही सज़ा भुगत रहे थे। दोनों भाइयों ने वहां दस वर्ष तक बंदी जीवन व्यतीत किया। वहां उन्हें जिस प्रकार की अमानवीय यातनाएं और उत्पीड़न दिए गए, इसका रोमांचकारी वर्णन उनकी आत्मकथा में है।

21 जनवरी 1911 को भारत लाकर उन्हे पहले अलीपुर जेल में रखा गया। बाद में रत्नागिरि और यरवदा की जेलों में रखा गया। सन् 1924 में उन्हें यरवदा जेल से रिहा कर रत्नागिरि में नजरबंद कर दिया गया। सन् 1937 में उन्हें पूरी तरह मुक्त किया गया।

जब सावरकर को यरवदा जेल से मुक्त करने की संभावना पर विचार हो रहा था, जेल सुपरिंटेंडेंट मेजर मुर्रे ने उनसे पूछा था— "यदि आपको मुक्त कर दिया जाए तो आप क्या करेंगें"...उनका उत्तर थाः—"जिस परिस्थिति में मुझे मुक्त किया जाएगा, उसी के अनुरूप आगे का निर्णय करूंगा। यदि बिना शर्त मुक्त किया तो राजनीति में सक्रिय हो सकता हूं। यदि राजनीति में भाग लेने पर प्रतिबंध लगाया गया तो समाज सेवा के क्षेत्र में रचनात्मक कार्य कर मातृभूमि की सेवा करूंगा।"

सन् 1935 के नए संविधान के अनुसार जब 1937 में बंबई में कांग्रेस के नेतृत्व में पहली निर्वाचित सरकार बनी तो उसने पहला काम यह किया कि सावरकर की रत्नागिरी से नजरबंदी पूरी तरह समाप्त कर दी। कांग्रेस सरकार की राय में वह राजद्रोही नहीं, स्वतंत्रता सेनानी थे, भले ही उनकी राजनीति दूसरे प्रकार की हो।

सन् 1923 में काकीनाडा कांग्रेस अधिवेशन, जिसकी अध्यक्षता मौलाना मोहम्मद अली कर रहे थे। कांग्रेस अध्यक्ष ने सावरकर की रिहाई की मांग को लेकर एक सर्वसम्मत प्रस्ताव पारित किया था।

सन् 1937 के पश्चात् वीर सावरकर के जीवन का दूसरा भाग प्रारंभ होता है। कुछ वर्ष पहले नागपुर से 'हिंदू संगठन' आंदोलन प्रारंभ हुआ था। सावरकर के हिंदू संगठन का आंदोलन विकसित होकर एक राजनीतिक पार्टी बन गया, हिंदू महासभा। हिंदू महासभा का घोषित लक्ष्य था भारत को अखंड हिंदू देश रखना। उन्हीं के शब्दों में हिंदू महासभा चाहती थी कि—भारत मूलतः एक धर्म निरपेक्ष राज्य रहे, जिसमें धर्म, जाति या विचारों के आधार पर भेदभाव के बिना समान अधिकार तथा कर्तव्य हों। हम इस बात को सहन करने को तैयार नहीं हैं कि हिंदुओं को लूटकर मुसलमानों को उनके हक़ से ज्यादा सिर्फ इसलिए दिया जाए कि वे मुसलमान हैं और इसके बिना वे निष्ठावान नागरिकों की तरह आचरण नहीं करेंगे।

इस दृष्टि से उस समय की राजनीतिक स्थिति पर विचार करना बहुत आवश्यक है। उन्नीसवीं सदी के मध्य से ही देश के राजनीतिक वातावरण में यह चर्चा प्रारंभ हो गई थी कि जब अंग्रेज इस देश को छोड़ देंगे, तब इस देश का शासन सूत्र किस वर्ग के हाथों में होगा। हिंदू और मुसलमान देश के दो बड़े धार्मिक समुदाय थे। दोनों में ही इस बात की होड़ थी कि वे केवल अपने पुनर्जागरण के आंदोलन को संगठित करें भारत के भावी राजनीतिक स्वरूप को बनाने और उसमें अपना वर्चस्व स्थापित करने के लिए संगठित भी हों। एक ओर राजा राम मोहन राय, दयानंद सरस्वती, विवेकानंद और बंकिमचंद्र चटर्जी का उपन्यास 'आनंदमठ' हिंदू चेतना के प्रतीक बन गए थे, दूसरी ओर वहाबी आंदोलन, सैयद अहमद बरेलवी, सर सैयद अहमद खान, फरैजियाह लहर आदि मुस्लिम जागरण और चिंतन को स्वर दे रहे थे।

कांग्रेस में भी लोकमान्य तिलक, पं. मदन मोहन मालवीय, लाला लाजपत राय, स्वामी श्रद्धानंद हिंदू विचारधारा के प्रबल समर्थक थे और मौलाना मोहम्मद अली, शौकत अली और कुछ अन्य मुस्लिम नेता कांग्रेस से जुड़े होने के बावजूद मुस्लिम हितों के प्रति पूरी तरह जागरूक लोग थे।

लोकमान्य तिलक के निधन के पश्चात् कांग्रेस के सभी सूत्र महात्मा गांधी के हाथों में आ गए थे। वह इस बात के बहुत इच्छुक थे कि किसी प्रकार हिंदू और मुसलमान मिलकर इस देश में सांझी सोच के भागीदार बनें और भावी भारत के शासन सूत्र को मिलकर संभालें। तुर्की के खलीफा को बचाने के लिए भारतीय मुसलमानों ने जब ब्रिटिश शासन के विरुद्ध खिलाफत आंदोलन शुरू किया तो गांधी ने उसका साथ इसीलिए दिया था कि इसके माध्यम से हिंदू और मुसलमान एक मंच पर एकत्रित हो सकें।

उस स्थिति में इस देश में तीन पक्ष बन गए थे। एक कांग्रेस, जिसके सर्वमान्य नेता गांधी जी थे, जिसका प्रयास यह था कि हिंदू और मुसलमान मिलकर इस देश में सांझी संस्कृति और राष्ट्रीयता का विकास कर सकें और स्वतंत्र भारत में मिलकर

शासन चलाएं। दूसरी, मुस्लिम लीग, जिसके सर्वमान्य नेता के रूप में मोहम्मद अली जिन्ना उभर आए थे। यह पक्ष भारत में एक अलग मुस्लिम राज का समर्थक था। सन् 1931 में इलाहाबाद में हुए मुस्लिम लोग के अधिवेशन डॉ. मोहम्मद इकबाल ने स्पष्ट घोषणा की थी कि हिंदुस्तान में एक हिंदू हिंदुस्तान है और दूसरा मुस्लिम हिंदुस्तान है। यहां से पाकिस्तान के विचार की नींव पड़ गई थी।

तीसरा पक्ष हिंदू विचारधारा का पक्ष था। यह पक्ष यह मानता था कि भारत मूलतः एक हिंदू देश है और उसके अखंड स्वरूप की रक्षा की जानी चाहिए। इसके नेता वीर सावरकर थे। सावरकर हिंदू महासभा को कांग्रेस और मुस्लिम लीग के टक्कर का एक राष्ट्रीय संगठन बनाना चाहते थे।

इसमें कोई संदेह नहीं कि सावरकर कांग्रेस और गांधी जी की नीतियों से सदैव असहमत रहे। खिलाफत को वह सदा 'आफत' कहते थे। उन्हें लगता था कि इस आंदोलन का समर्थन स्पष्ट रूप से अलगाववादी और धर्मान्ध लोगों को प्रोत्साहन देने जैसा ही घातक था। वह गांधी जी के अहिंसात्मक असहयोग की नीति से भी सहमत नहीं थे और क्रांतिकारियों द्वारा अपनाए गए हिंसात्मक कार्यों को उचित मानते थे।

किंतु वीर सावरकर की उत्कट राष्ट्रभक्ति और उसके लिए सब कुछ न्योछावर करने की भावना पर किसी प्रकार का संदेह नहीं किया जा सकता। जब अंडमान तथा भारत की विभिन्न जेलों में 14 वर्षों की कैद भुगतकर वह मुक्त हुए तो अनेक स्नेहियों ने उनसे कहा—"भगवान राम के समान ही आप चौदह वर्ष बनवास में रहे।" उन्होंने बहुत भाव विभोर होकर उत्तर दिया—"राम और मैं—इन दोनों की तुलना एक अंतर रह गया है, जो हर क्षण मेरे मन में हूक निर्माण करता रहता है। वह यह है कि भगवान राम के वनगमन के बाद रावण का संहार कर युद्ध क्षेत्र में विजय प्राप्त की जबकि मैं वनवास में गया और यातनाएं भी सहीं परंतु रावण अभी भी जीवित खड़ा हमें चुनौती दे रहा है। मैं अपने जीवन की सार्थकता उसी दिन समझूंगा जब इस रावण का संहार हो जाएगा। यदि ईश्वर की कृपा हुई तो वह कार्य भी एक दिन पूरा होगा ही।"

वीर सावरकर की अभिलाषा पूर्ण हुई। अंग्रेजी साम्राज्य का पूराभूत हुआ, लेकिन इस देश को खंडित करके। आज जिस स्वाधीनता का हम उपयोग कर रहे हैं वह किसी एक दल अथवा व्यक्ति के प्रयासों का फल नहीं है। उसमें उन असंख्य बलिदानी क्रांतिकारियों का योगदान है जो हंसते-हंसते फांसी के तख्तों पर झूल गए थे। उनका योगदान है जिन्होंने अपने जीवन के कितने ही अमूल्य वर्ष अंडमान तथा देश के अन्य कारावासों में असहय कष्ट सहकर गुज़ारे थे। उनका भी योगदान है जिन्होंने देश के बाहर जाकर स्वाधीनता के लिए संघर्ष किया था।

इनमें से किसी की उपेक्षा या निरादर करना उचित नहीं है। इन सभी का सम्मान हमारी स्वाधीनता का सम्मान है।

(दैनिक जागरण, 6-3-03)

क्या कहानी थी कामागाटा मारू की

अपने पिछले कनाडा प्रवास के दौरान मैं वैंकुवर के उस समुद्री तट पर भी गया जहां सन् 1914 में कनाडा में बसने को इच्छुक भारतीयों को लेकर 'कामागाटा मारू' नामक समुद्री जहाज ने लंगर डाला था। इस जहाज में 376 यात्री थे जिनमें 359 सिख थे। उस समय इन यात्रियों को कनाडा की सरकार ने समुद्र तट पर उतरने नहीं दिया था।

इस देश में अंग्रेजों का राज्य स्थापित हो जाने के बाद अंग्रेज व्यापारी देश का कच्चा माल इंग्लैंड ले जाने लगे और वहां से अपनी मिलों द्वारा निर्मित वस्तुओं को भारत भेजकर भरपूर लाभ उठाने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि भारत का कुटीर उद्योग नष्ट होने लगा। चारों ओर बेकारी और भुखमरी का बोलबाला हो गया। देश के अनेक भागों से मज़दूर बनकर संसार के विभिन्न भागों में यूरोपीय जातियों द्वारा बसाई बस्तियों में जाने लगे। यह सिलसिला उन्नीसवीं सदी के मध्य और अंतिम वर्षों में प्रारंभ हुआ था। आज ऐसे प्रवासी भारतीय उन बस्तियों में, जो अब विदेशी दासता से मुक्त हो चुकी हैं, बड़े समृद्ध दिखाई देते हैं। किंतु प्रारंभिक वर्षों में उन्होंने उन देशों में जो कष्ट झेले थे, उसकी कहानी बहुत दारुण है। कामागाटा मारु की कहानी भी ऐसी ही है।

पंजाब से निकलकर विदेशों में बसने की इच्छा रखने वाले अधिसंख्य लोगों का रुझान कनाडा और अमेरिका की ओर जाने का था। प्रारंभ में ये भी ब्रिटिश उपनिवेश थे। उस समय इन प्रदेशों में, वहां के मूल निवासियों को जंगलों में खदेड़कर, गोरी चमड़ी वालों ने अपना आधिपत्य जमा लिया था। बाद में इन क्षेत्रों का विकास करने और अपनी समृद्धि के साधनों को बढ़ाने के लिए इन्हें गुलामों/मजदूरों की जरूरत पड़ी।

इस काम के लिए असंख्य लोग अफ्रीकी और एशियाई देशों से ले जाए गए।

कनाडा में चीन, जापान और भारत से बहुत से लोग गए। बाद में भारत से जाने वाले आप्रवासियों के लिए कनाडा सरकार ने अनेक बंधन लगाने प्रारंभ कर दिए। इनके लिए ऐसा कानून बना दिया गया कि कनाडा में वही व्यक्ति प्रवेश पा सकेगा जो अपने देश से सीधा टिकट लेकर, मार्ग में जहाज बदले बिना, निरंतर यात्रा करता हुआ कनाडा पहुंचेगा। आने वाले व्यक्ति के लिए यह भी आवश्यक होगा कि उसके पास कम-से-कम 200 डॉलर हों।

उस समय भारत से सीधा कनाडा जाने वाला कोई जहाज नहीं था। कुछ समय बाद एक कानून और पारित किया गया कि प्रत्येक आवास अधिकारी को यह अधिकार होगा कि किसी एशियाई यात्री को वह कनाडा की भूमि पर उतरने दे अथवा नहीं। ये सभी उपाय भारतीयों को कनाडा जाने के लिए हत्सोत्साहित करने के लिए थे।

बाबा गुरदित्त सिंह का नाम 'कामागाटा मारु' की घटना से अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। वे अमृतसर जिले के रहने वाले थे। कुछ समय पहले वे पूर्वी एशिया चले गए थे और वहां ठेकेदारी का काम करने लगे थे। हांगकांग में बसे पंजाब मूल के लोगों ने वहां 'गुरुनानक स्टीमशिप' नाम की एक कंपनी बनाई थी। बाबा गुरदित्त सिंह उसके मुखिया थे। उन्होंने एक जापानी कंपनी से कामागाटा मारू नाम का एक जहाज पट्टे पर लिया और बहुत-सा धन खर्च करके उसे यात्रियों के योग्य बनाया। हांगकांग से यह जहाज 4 अप्रैल 1914 को 165 यात्री लेकर चला। मार्ग में शंघाई (चीन) से 111 और मौजी बंदरगाह (जापान) से 96 यात्री, जो सभी पंजाबी थे, लेकर यह जहाज 21 मई 1914 को वैंकुवर के बंदरगाह के पास पहुंच गया। कनाडा के अधिकारियों ने इस जहाज को बंदरगाह से एक मील दूर समुद्र में ही रोक दिया।

ये सभी यात्री कनाडा सरकार के बनाए नियमों का पालन करते हुए वहां पहुंचे थे। किंतु सरकार ने उन्हें वहां उतरने की अनुमति नहीं दी। वैंकुवर गुरुद्वारे में वहां पहले से बसे हुए सिखों की एक सभा हुई। उन्होंने जहाज में फंसे हुए लोगों की सहायता के लिए 60 हजार डॉलर इकट्ठा किए। अनेक प्रतिनिधिमंडल सरकारी अधिकारियों से मिले। इसका कोई परिणाम नहीं निकला। कामागाटा मारू जहाज के सभी यात्री भारतीय नागरिक थे। भारत में अंग्रेजों की सरकार थी। वैधानिक रूप से कनाडा भी ब्रिटिश सम्राट/साम्राज्ञी के अधिकार क्षेत्र में था। इस दृष्टि से भारत सरकार से भी प्रार्थना की गई, किंतु उसका भी कोई परिणाम नहीं निकला। उल्टे, कनाडा सरकार ने अपना एक युद्धपोत, जिस पर तोपें लगी हुई थीं, भारतीय जहाज के पास लाकर खड़ा कर दिया और चेतावनी दी कि बिन बुलाए यहां आए भारतीयों, यहां से चले जाओ, नहीं तो तुम पर गोली चलाई जाएगी।

इस समाचार से कनाडा और अमरिका में बसे भारतीयों में भयंकर तनाव फैल गया। वैंकुवर के भारतीयों ने निश्चय किया कि यदि कामागाटा मारू पर कनाडा सरकार

गोली चलाए तो सारे नगर को जलाकर राख कर दिया जाए। इस निश्चय के अनुसार वहां तैयारियां की जाने लगीं।

वैंकुवर के भारतीयों की इस योजना का पता कनाडा सरकार को लग गया और उसने कामागाटा मारू जहाज के साथ किसी प्रकार की ज्यदिती करने का इरादा छोड़ दिया।

कनाडा सरकार के दुराग्रह को देखते हुए बाबा गुरदित्त सिंह ने अपने जहाज को भारत वापस ले जाने का निश्चय किया। उन्होंने वहां की सरकार के सामने यह शर्त रखी कि वापसी के लिए यात्रियों को भोजन सामग्री और जहाज के ईंधन का प्रबंध करें तो वे वापस चले जाएंगे। कनाडा सरकार ने यह शर्त मान ली। लगभग दो महीने तक समुद्र के पानी में खड़े इस जहाज के कई सौ यात्री अनेक यातना पूर्ण घटनाओं के पश्चात् भारत की ओर वापस चल पड़े और दो मास की यात्रा के बाद यह जहाज कोलकत्ता से 17 मील दूर बजबज बंदरगाह पर आ लगा।

कामाग।टा मारू जहाज के यात्रियों के प्रति कनाडा की गोरी सरकार ने जिस प्रकार का व्यवहार किया था, उससे लोगों के मन बहुत व्यथित हुए थे। पंजाब के अनेक भागों से जो लोग अमेरिका गए थे, उन्हें भी यह बात बहुत सालती थी कि वहां आने वाले चीनियों और जापानियों के प्रति गोरों का इतना उपेक्षा और निरादार भरा व्यवहार नहीं रहता था जितना उनके प्रति। अमेरिकी लोगों ने कुछ समय पूर्व ही अंग्रेजी पराधीनता से मुक्ति पाई थी। चीन और जापान भी स्वतन्त्र राष्ट्र थे। अमेरिकी लोग यह कहकर ताना भी मारते थे कि तीस करोड़ भारतीयों पर केवल एक लाख अंग्रेज शासन करते हैं। इसी का परिणाम था कि अमेरिका में बसे भारतीयों ने अपनी अनेक संस्थाएं गठित कर लीं। फिर सभी ने मिलकर वहां गदर पार्टी बनाई और गदर नाम से हिंदी, उर्दू, पंजाबी और गुजराती में साइकलोस्टाइल किया हुआ साप्ताहिक पत्र निकाला और सशस्त्र क्रांति द्वारा देश को स्वतंत्र करने का अभियान चलाया।

कनाडा की स्थिति भी ऐसी ही थी। जिस वर्ष कामागाटा मारू के यात्रियों को बलात् भारत लौटाया गया था, उसी वर्ष लगभग बारह हज़ार चीनी और तीन हज़ार जापानी कनाडा जाकर बसे थे। कनाडा की गोरी सरकार ने उनका स्वागत किया था।

कामागाटा मारू जहाज की वापसी की लंबी यात्रा की अवधि में यात्रियों के मन अंग्रेजी शासन के विरुद्ध पूरी तरह भर चुके थे। एक आकांक्षा सब में बलवती हो गई थी कि देश लौटकर वे विदेशी सरकार को समाप्त करने में अपना पूरा योगदान देंगे। अमेरिका में उभरी गदर पार्टी और उसके द्वारा प्रकाशित साहित्य से भी वे पूरी तरह परिचित थे।

भारत की अंग्रेज सरकार भी इन यात्रियों के प्रति बहुत सशंक थी। कनाडा से वापसी यात्रा के दौरान इनमें से किसी यात्री को मार्ग में पड़ने वाले किसी बंदरगाह पर उतरने नहीं दिया गया था। बजबज बंदरगाह पर इन्हें वहां से सीधे पंजाब ले जाने

के लिए विशेष रेलगाड़ी की व्यवस्था की गई थी। अधिसंख्य यात्री पंजाब से अपनी जमीन-जायदाद बेचकर सुनहरे भविष्य की आशा में कनाडा के लिए निकले थे। वे चाहते थे कि उन्हें कोलकत्ता जाने दिया जाए जहां वे अपने पंजाबी भाइयों की सहायता से किसी रोजगार की तलाश कर सके। बहुत से सिख यात्री कलकत्ता के गुरुद्वारे में पहुंचकर स्थानीय सिखों से मिलना चाहते थे। बाबा गुरदित्त सिंह को उस जापानी कंपनी से अपना हिसाब-किताब भी करना था, जिसके जहाज को उसने पट्टे पर लिया था।

कुछ यात्री तो विशेष रेलगाड़ी में सवार हो गए। किंतु अधिकतर यात्री एक जुलूस की शक्ल में कोलकत्ता की ओर चल पड़े। बाबा गुरदित्त सिंह ने गुरु ग्रंथ साहब की प्रति को अपने सिर पर उठाया हुआ था।

शाम का समय था। सभी सिख यात्री एक स्थान पर बैठकर पाठ कर रहे थे कि पुलिस ने इन्हें चारों ओर से घेर लिया। पिछले अनेक महीनों से यातना झेलते हुए तनाव ग्रस्त यात्रियों से उनकी तकरार हो गई। वहां उपस्थित अंग्रेज अधिकारी की आज्ञा से पुलिस ने इन पर गोलियों की वर्षा शुरू कर दी। इससे 18 लोग वहीं मारे गए और 25 बुरी तरह घायल हुए। बाबा गुरदित सिंह और उनके अनेक साथी किसी प्रकार उस अराजक स्थिति से बच निकले। बहुत से लोगों को बंदी बनाया गया और उन्हें जबरन पंजाब भेज दिया गया।

बाबा गुरदित्त सिंह की गिरफ्तारी के लिए दस हज़ार का इनाम घोषित किया गया। वे सात वर्ष तक अज्ञातवास में रहे। फिर 15 नवंबर सन् 1912 को उन्होंने गुरु नानक देव के जन्म स्थान 'ननकाना साहब' में आत्मसमर्पण कर दिया।

अमरिका का गदर आंदोलन, कामागाटा मारू का दुखांत, फिर पंजाब में उभरा बब्बर अकाली आंदोलन, असंख्य लोगों का बलिदान, कालापानी और जेल यात्राओं की मंजिलों को पार करता हुआ हमारा स्वतंत्रता आंदोलन अपनी परिणति तक पहुंचा। अब संसार के किसी भाग में किसी भारतीय को देखकर कोई यह ताना नहीं दे सकता कि यह किसी स्वतंत्र देश का नागरिक नहीं है।

किंतु क्या आज यह आवश्यक नहीं है कि हम अपनी पाठ्य पुस्तकों के माध्यम से अपनी युवा पीढ़ी को 'कामागाटा मारू' जैसी रोमांचक घटनाओं से परिचित कराएं।

(दैनिक जागरण, 10-4-03)

गुरु हरिगोबिंद और समर्थ रामदास के मिलन से समान भावभूमि बनी

आज का युग अपनी सभी सीमाओं के साथ संवाद और विचार-विमर्श का युग है। राजनीतिक आर्थिक, शैक्षणिक आदि विभिन्न समस्याओं पर अनेक देश आपस में मिलकर विचार-विमर्श करते हैं और एक-दूसरे के अनुभवों और उपलब्धियों से लाभान्वित होते हैं। विभिन्न धर्मों के मध्य संवाद का जो सिलसिला सन् 1893 में शिकागो में आयोजित विश्व धर्म सम्मेलन से प्रारंभ हुआ था, वह भी कुछ-न-कुछ चलता रहा है।

एक जिज्ञासा अवश्य उत्पन्न होती है कि मध्यकाल में संतों और राज पुरुषों में आपस में कितना संवाद था? गुरु गोबिंद सिंह ने अपने जीवन के अंतिम वर्षों में राजस्थान होते हुए महाराष्ट्र के कुछ स्थानों की यात्रा की थी। औरंगजेब के शासनकाल में हमारे इतिहास के दो महापुरुषों की विशेष चर्चा होती है—छत्रपति शिवाजी और गुरु गोबिंद सिंह। औरंगजेब को बहुत लंबी आयु लगभग 90 वर्ष प्राप्त हुई थी। शिवाजी और गुरु गोबिंद सिंह का संयुक्त जीवन काल (शिवाजी 53 वर्ष, गुरु गोबिंद सिंह 42 वर्ष) औरंगजेब के जीवनकाल से कुछ ही अधिक था। दोनों को ही मुग़ल बादशाह की धर्मान्ध नीतियों से जूझना पड़ा था। एक का कार्यक्षेत्र महाराष्ट्र था तो दूसरे का पंजाब। यदि ये दोनों आपस में मिले होते? डॉ. गोकुल चंद नारंग ने अपनी बहुख्यात पुस्तक-ट्रांसफोरमेशन ऑफ सिखिज्म—में एक स्थान पर यह लिखा है कि यदि दोनों मिले होते तो कितना अच्छा होता किंतु दुर्योग से ऐसा नहीं हो सका। गुरु गोबिंद सिंह सन् 1707 में महाराष्ट्र (नांदेड़) पहुंचे थे। उससे 27 वर्ष पूर्व सन् 1680 में शिवाजी का देहांत हो गया था।

दो महान व्यक्तित्वों का मिलन और आपसी सहयोग इतिहास धारा को कितना

प्रभावित करता है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण चाणक्य और चंद्र गुप्त हैं। सिकंदर के आक्रमण और इस देश की धरती पर उसकी कुछ सफलताओं ने विदेशी आक्रमणों का मार्ग खोल दिया था। उस समय विष्णु गुप्त चाणक्य और चंद्र गुप्त मौर्य के आपसी सहयोग ने इस देश में एक ऐसे एकीकृत साम्राज्य की स्थापना की, जिसका दूसरा उदाहरण मुगलों की सत्ता से पूर्व प्राप्त नहीं होता।

सिखों के छठे गुरु, गुरु हर गोबिंद महाराष्ट्र के प्रख्यात संत तथा शिवाजी के गुरु समर्थ रामदास का मिलन ऐसी ही एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना है, जिसे पंजाब और महाराष्ट्र के इतिहासकारों ने कभी महत्व नहीं दिया और न ही उसकी विशेष चर्चा की है।

गढ़वाल क्षेत्र के श्रीनगर में गुरु हरि गोबिंद सिंह और समर्थ राम दास की भेंट हुई थी। ऐतिहासिक तथ्यों की पड़ताल से ऐसा लगता है कि हरि गोबिंद की आयु उस समय 40 की रही होगी। उनके पिता, गुरु अर्जुन देव के बलिदान के समय उनकी आयु ग्यारह वर्ष की थी। गुरु हरि गोबिंद ने सिख आंदोलन को नए रूप में ढाल दिया था। उन्होंने यह अनुभव कर लिया था कि भक्ति के साथ तब तक शक्ति का संयोग नहीं होगा, न धर्म की रक्षा हो सकेगी न अन्याय और अत्याचार का सामना किया जा सकेगा। उन्होंने पूर्ववर्ती पांच गुरुओं के संत वेश के स्थान पर सैनिक वेश धारण कर लिया था। अपने शिष्यों को वे मल्ल युद्ध और शस्त्रों का प्रयोग, घुड़सवारी, आरवेट के लिए प्रोत्साहित करने लगे थे। उन्होंने स्वयं दो तलवारें पहननी प्रारंभ कर दी थीं—एक मीरी (सांसारिक शक्ति) की और दूसरी पीरी (आध्यात्मिक शक्ति) की प्रतीक थीं।

गुरु हरि गोबिंद के समय सिखों का मुग़ल शासन से सीधा टकराव प्रारंभ हो गया था। तीन-चार बार मुग़ल फौजदारों से उनका सशस्त्र संघर्ष भी हुआ था। भविष्य में होने वाले अधिक संघर्ष की भूमिका बन गई थी।

समर्थ रामदास ने अपने जीवन के प्रारंभिक वर्षों में उत्तर भारत के अनेक तीर्थों की यात्रा की थी। ऐसी यात्राओं का अर्थ होता था कि देश के सामान्य लोगों की स्थिति का प्रत्यक्ष अवलोकन करना और उन पर हो रहे अन्याय और अत्याचार को परखना। बद्रीनाथ और केदारनाथ की यात्राओं के समय ही श्रीनगर (गढ़वाल) में उनकी भेंट गुरु हरि गोबिंद से हुई थी। उस समय उनकी आयु पच्चीस-छब्बीस वर्ष की होगी। गुरु हरि गोबिंद का जन्म सन् 1595 ई. में हुआ था और समर्थ रामदास का जन्म सन् 1608 में हुआ माना जाता है।

जब समर्थ राम दास ने गुरु हरि गोबिंद को घोड़े पर सवार सैनिक वेशभूषा में देखा तो उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ। उस समय तक गुरु नानक की ख्याति संपूर्ण देश में फैल चुकी थी और उनके अनुयायियों को नानक पंथी कहा जाता था। समर्थ रामदास ने गुरु हरि गोबिंद से पूछा—आप तो महान संत नानक की गद्दी पर हैं किंतु आपकी वेशभूषा तो सैनिकों वाली है?

लगता है कि इसी विंदु पर दोनों में गहन विचार-विमर्श हुआ होगा। गुरु हरि गोबिंद ने उन्हें यह बताया होगा कि इस समय देश में जैसी स्थिति उत्पन्न हो गई है उसमें भक्ति के साथ शक्ति का संतुलन स्थापित करना कितना आवश्यक है। उनके बीच गुरु अर्जुन देव के बलिदान का प्रसंग भी आया होगा। सिख इतिहास के सभी लेखकों ने गुरु हरि गोबिंद और समर्थ रामदास के बीच हुई बातचीत के इस संवाद की चर्चा की है। जब समर्थ रामदास ने यह प्रश्न उठाया कि गुरु नानक तो संसार-त्यागी थे। तो गुरु हरि गोबिंद ने उत्तर दिया था—गुरु नानक ने माया त्यागी थी, संसार नहीं त्यागा था। यह सुनकर समर्थ राम दास ने कहा था—"यह (बात) हमारे मन भावती है।"

बहुत वर्ष पहले मेरे एक मित्र श्री न.ह. पालकर ने मुझे मराठी में श्री हनुमंत स्वामी कृत समर्थ रामदास के जीवन चरित्र में अंकित एक घटना को मूल मराठी तथा उसका हिंदी अनुवाद भेजा था। इस चरित्र में समर्थ रामदास और गुरु हरि गोबिंद की भेंट का वर्णन इस प्रकार दिया हुआ है—"जो शिष्य बन गए थे उनकी व्यवस्था करके वे (समर्थ रामदास) हिमालय के इस पार श्रीनगर में गए। वहां पर सिखों के गुरु नानकपंथी थे। वे परम भावुक थे और सदा सर्वदा आध्यात्मिक विचार में लीन रहते थे। श्री रामदास स्वामी का आगमन उस स्थान पर हुआ। तब नानक पंथी (गुरु हरि गोबिंद) ने नमस्कार कर कई युक्ति संगत प्रश्न किए, जिनका समाधान स्वामी जी ने अनुभव सिद्ध उत्तर देकर विविध प्रकार से किया। उससे संतुष्ट होकर नमस्कार पूर्वक स्वामी जी से प्रार्थना की—मुझ पर अनुग्रह कीजिए। स्वामी जी ने उत्तर दिया—आप पहले से ही अनुग्रहीत हैं, दुबारा उसकी आवश्यकता नहीं।

कुछ समय पूर्व मुझे शंकर वासुदेव अभ्यंकर लिखित पुस्तक समर्थ रामदास (चरित्र और योगदान) प्राप्त हुई जिसका मराठी से हिंदी में अनुवाद श्री बाल ऊर्ध्वरिषे ने किया है। इस पुस्तक में इस भेंट वार्ता की कोई चर्चा नहीं है। किंतु इसमें समर्थ रामदास रचित दासबोध से ऐसे अनेक अंश उद्धृत किए गए हैं जिनसे उनके उद्‌गारों-विचारों का भरपूर परिचय मिलता है। एक स्थान पर समर्थ रामदास ने कहा—

> शक्ति से मिलते सुख, शक्ति न हो तो विडंबना।
> शक्ति हो तो वही प्राणी, वैभव भोगता है।।

शक्ति के प्रति ऐसा विश्वास और उसकी अनिवार्यता को गुरु हरि गोबिंद ने बड़ी तीव्रता से अनुभव किया था।

सभी सिख गुरु केवल संत ही नहीं थे, वे देश की राजनीति और अर्थ व्यवस्था के प्रति भी पूरी तरह जागरूक थे। गुरु नानक ने एक स्थान पर कहा है कि यदि तुम, संसार में मान-सम्मान गवांकर जीते हो तो तुम जो कुछ भी खाते पीते हो, वह सब हराम है—(जे जीवें पत लत्थी जाइ। सभ हराम जेसा कुछ खाई)। एक अन्य स्थान पर उन्होंने कहा था कि आजकल के शासक व्याघ्र की भांति हिंसक है, उनके कर्मचारी

कुत्तों की तरह है। ये लोग निरीह जनता को पीड़ित करते रहते हैं। जहां अंतिम रूप से इनकी परख की जाएगी, वहां इनकी नाक काट ली जाएगी। अपने इन्हीं क्रांतिकारी विचारों के कारण उनका सारा आंदोलन ही तत्कालीन शासकों की आंखों में चुभने लगा था और वह अपनी पूरी शक्ति के साथ इसे कुचलने के लिए कटिब्द्ध हो गया था।

समर्थ रामदास भी राजनीतिज्ञ संत थे। गुरु हरिगोबिंद से मिलने के बाद उनके सम्मुख भक्ति और शक्ति का समन्वित रूप अवश्य उभरा होगा, जिसकी परिणति छत्रपति शिवाजी में उन्हें दिखाई दी। उन्होंने यह उद्‌बोधन दिया—"सकल लोगों को एक करो। शत्रु का सर्वनाश करो।" शक्ति के महत्व को निरूपित करते हुए उन्होंने कहा—

दुर्बल से पूछता नहीं कोई रोगी और भूखा दीखे।
न कांति न तेज, युक्ति, बुद्धि भी न रहे।
काया को शक्ति से सजावे, काया की माया से बढ़ावे।
युक्ति चतुराई के लिए भी शक्ति,
अतः शक्ति ही प्रमाण है।

कृपाण शक्ति की प्रतीक थी। गुरु हरि गोबिंद ने दो कृपाण पहनीं। भक्ति और शक्ति को साथ-साथ रखा और यह विचार प्रतिपादित किया कि ये दोनों एक-दूसरे के विरोध तत्व नहीं हैं। ये एक-दूसरे के पूरक हैं। उनके पौत्र गुरु गोबिंद सिंह ने तो अस्त्र-शस्त्रों को परमेश्वर के रूप में देखा और उनकी स्तुति की।

समर्थ रामदास ने कहा—

शक्ति रुपे जगन्माता। पंचारती है जगत में
त्रिलोक के सभी प्राणी। शक्ति के बिना वृथा हैं।

गुरु गोबिंद सिंह ने तो यह घोषणा कर दी कि शक्ति के प्रतीक शस्त्र ही मेरे आराध्य हैं—

अस कृपाण खंडों खड़क तुपक तबर अरु तीर।
सैफ सिरोही सैहथी यहै हमारे पीर।।

गुरु हरि गोबिंद और समर्थ रामदास का मिलन केवल दो महापुरुषों का ही मिलन नहीं था। वह उस युग की वेदना में से निकले क्रांतिकारी विचारों का आदान-प्रदान था। इन विचारों की ही परिणति हमें छत्रपति शिवाजी और गुरु गोबिंद सिंह जी द्वारा संचालित उस अभियान में दिखाई देती है, जिससे भावी भारत का निर्माण हुआ और उसे एक दिशा भी मिली।

(दैनिक जागरण, 22-5-03)

भारत छोड़ो आंदोलन : इतिहास का पुनरावलोकन

अगस्त का महीना इतिहास में अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। 6 अगस्त 1945 के ही दिन अमेरिका ने जापान के हिरोशिमा नगर पर पहला अणु बम गिराया गया, जिसमें 2 लाख से अधिक लोग मरे थे या बुरी तरह घायल हुए थे। 9 अगस्त को जापान के दूसरे नगर नागासाकी पर अमेरिका ने दूसरा अणु बम गिराकर 40,000 व्यक्तियों को मौत के मुंह में धकेल दिया था और 25,000 व्यक्तियों को अपाहिज कर दिया था। इन दो अणु-विस्फोटों से सारा संसार हिल गया था। 15 अगस्त 1945 को जापान ने हथियार डाल दिए थे।

अगस्त मास की 9 और 15 तिथियां इस देश के लिए अपनी अलग महत्ता रखती हैं। 15 अगस्त 1947 ने स्वाधीनता की और भी देखी और देश के विभाजन की त्रासदी की घनघोर कलिमा भी अपनी आंखों में समाई। 9 अगस्त 1942 का दिन 'भारत छोड़ो' अभियान का दिन है। उस दिन के साथ 'करो या मरो' का आत्मोसर्गी आह्वान भी जुड़ा हुआ है।

मुझे इस बात का आश्चर्य होता है और खेद भी इस देश के नेता, राजनीतिक दल और आम जनता इस दिन को लगभग भूल-सी गई है।

पांचवें दशक के ये प्रारंभिक वर्ष सारे विश्व के लिए बड़ी उथल-पुथल के वर्ष थे। द्वितीय विश्व युद्ध चल रहा था, जिसमें धुरी राष्ट्रों—जर्मनी, इटली और जापान—की विजय गति बहुत तेज़ थी। यूरोपीय देशों को जर्मन सेनाओं ने आक्रांत कर रखा था और पूर्वी-दक्षिणी एशिया पर जापानी सेनाओं का विजय रथ निरंतर बढ़ता जा रहा था। 1942 को फरवरी में जापान ने सिंगापुर पर अधिकार कर लिया। मार्च के प्रारंभ में रंगून और अंत में अंडमान-निकोबार द्वीप उसके अधिकार में आ गए। अप्रैल में कोलंबो

और भारत के पूर्वी तट के विशाखापट्टनम और कानिडा पर उसने बमबारी की। भारत में यह भावना जोर पकड़ने लगी कि अंग्रेजी सरकार भारतीय जनता की रक्षा नहीं कर सकेगी।

उसी वर्ष सर स्टफर्ड क्रिप्स ब्रिटिश सरकार के संदेश वाहक बनकर आए और भारत की राजनीतिक समस्या का निदान ढूंढ़ने के लिए विभिन्न दलों के नेताओं से बातचीत करने लगे। लार्ड क्रिस्प के प्रस्तावों को गांधीजी ने–'डूबते बैंक के नाम चेक' कहकर अस्वीकार कर दिया। तत्कालीन कांग्रेस अध्यक्ष मौलाना अबुल कलाम आजाद ने कांग्रेस की ओर से क्रिप्स, योजना को नामंजूर करने की घोषणा कर दी।

26 अप्रैल के हरिजन के अंक में गांधीजी 'भारत में परदेसी सैनिक' शीर्षक से लिखे लेख में कहा–"भारत के लिए इसका परिणाम चाहे कुछ भी हो, उसकी (भारत की) और ब्रिटेन की भी सुरक्षा इसी में है कि ब्रिटेन भारत को छोड़कर चला जाए।" जब उनसे यह पूछा गया कि ब्रिटेन भारत का प्रशासन किसे सुपुर्द कर तो गांधीजी ने उत्तर दिया–मेरा तो यह प्रस्ताव है कि भारत को ईश्वर के हाथों सौंपकर अंग्रेज यहां से चले जाएं। आजकल की भाषा में कहा जा सकता है कि वह भारत को अराजकता के सुपुर्द कर जाएं। कुछ समय के लिए भारत में अराजकता के कारण परस्पर युद्ध होंगे और बेरोकटोक डकैतियां होंगी। फिर इनमें से सच्चे भारत का उदय होगा। अभी हमें जो दिखाई दे रहा है वह झूठा भारत है। किसी भी हालत में दासता से अराजकता ही अच्छी है।"

6 जुलाई को कांग्रेस की कार्य समिति का अधिवेशन हुआ। यह अधिवेशन कई दिन तक चला। 14 जुलाई को एक प्रस्ताव द्वारा ब्रिटिश शासन से अपील की गई कि वह सद्भावना से भारत से अपना आधिपत्य हटा ले, ताकि काम चलाऊ सरकार स्थापित हो सके। सरकार से यह भी कहा गया कि यदि यह अपील ठुकरा दी जाएगी तो कांग्रेस के सामने सविनय अवज्ञा का आश्रय लेने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं बचेगा।

इस अपील का सरकार ने नकारात्मक उत्तर दिया। अंग्रेज सरकार समझती थी कि युद्ध की स्थिति में कांग्रेस की मांगें असामयिक हैं और एक प्रकार से शत्रु की सहायता करनी है। उसने कांग्रेस आंदोलन को कुचलने का निश्चय कर लिया। इस समय मुस्लिम लीग के नेता मोहम्मद अली जिन्ना ने तो वक्तव्य दिया वह ब्रिटिश सरकार के निश्चय को प्रोत्साहित करने वाला था। जिन्ना ने अपने वक्तव्य में कहा–"कांग्रेस कार्य समिति ने 14 जुलाई 1942 को जो नया निर्णय लिया है कि यदि अंग्रेज लोग भारत से नहीं हट जाएंगे तो देशव्यापी आंदोलन शुरू किया जाएगा। यह गांधी और उनकी हिंदू कांग्रेस की नीति और कार्यक्रम की पराकाष्ठा है। कांग्रेस अंग्रेजों पर दबाव डालकर उनसे इस प्रकार का शासन ऐंठ लेना चाहती है और उस शासन के लिए ऐसी शक्ति प्राप्त करना चाहती है जिससे तुरंत ही ब्रिटिश संगीनों की छाया में हिंदू राज्य

स्थापित हो जाए और इस प्रकार मुसलमान और दूसरे अल्प संख्यक समुदाय कांग्रेस राज की दया के पात्र बन जाएं।"

हिंदू महासभा के नेताओं ने भी कांग्रेस की नीति का समर्थन न करने का निर्णय लिया। सर तेज बहादुर सप्रू और श्रीनिवास शास्त्री जैसे उदारदलीय नेताओं ने अपील की थी कि इस समय सविनय अवज्ञा आंदोलन त्याग दिया जाए, क्योंकि इससे देश के हितों की हानि होगी। ऐसे विचारों के कारण सरकार ने यह समझा कि कांग्रेस के कार्यक्रम को देश का आम समर्थन प्राप्त नहीं है।

8 अगस्त को अंग्रेज सरकार ने एक संकल्प जारी किया जिसमें कहा गया कि कांग्रेस गैर कानूनी, खतरनाक और हिंसात्मक कार्रवाइयां करने की तैयारियां कर रही है, जिनका उद्देश्य यह है कि संचार व्यवस्था और लोक सेवाएं खंडित हो जाएं, हड़तालें संगठित की जाएं और सरकारी कर्मचारियों को काम न करने दिया जाए, साथ ही सुरक्षा के उपायों में और सैनिक भर्ती में हस्तक्षेप किया जाए। इस प्रकार 8 अगस्त तक सरकार ने कांग्रेस के विरुद्ध खूब प्रचार किया और किसी भी आंदोलन को कुचलने की पूरी तैयारी कर ली।

देश भर में, विशेष रूप से युवा वर्ग में कांग्रेस के आंदोलन के प्रति बहुत उत्साह था। चारों ओर यह भावना बलवती हो गई थी कि अंग्रेजो भारत छोड़ो का आंदोलन एक निर्णयक आंदोलन हो जाएगा।

इस आंदोलन को कुचलने के लिए अंग्रेज सरकार का प्रथम प्रहार एक भारी हिमखंड के टूटकर गिरने जैसा अचानक हुआ। रविवार 9 अगस्त को पुलिस की कई टुकड़ियों ने बिरला हाउस को घेर लिया, जहां गांधीजी और उनके साथी ठहरे हुए थे। बिरला हाउस से गांधीजी के सचिव महादेव दसाई, उनकी पत्नी कस्तूरबा और सरोजनी नायडू के साथ गांधीजी को पूना के आगा खां के महल में ले जाया गया। सरकार ने बंबई से कांग्रेस कार्य समिति के सभी सदस्यों को गिरफ्तार कर अहमद नगर के किले में कैद कर दिया। उसके बाद सारे देश में गिरफ्तारियों का दौर चला और कांग्रेस के अनेक सक्रिय सदस्यों को जेल में डाल दिया। परिणाम यह हुआ कि कांग्रेस एक नेता विहानी संगठन बनकर रह गया। न कोई सार्वदेशिक नेता बाहर रहा, न कोई प्रांत, जिले या तालुके के स्तर का नेता गिरफ्तार होने से बचा सका।

गांधी जिस व्यापक आंदोलन की कल्पना कर रहे थे, उनकी पूरी रूप रेखा भी अभी नहीं बनी थी। यह आंदोलन किस प्रकार चलाया जाएगा इसे कहां से कौन संचालित करेगा, सरकार के दमनचक्र का सामना किस प्रकार किया जाएगा"। नेताओं की गिरफ्तारी (जिसकी पूरी संभावना थी) की स्थिति में कौन से नेता भूमिगत होकर इस आंदोलन को आगे बढ़ाएं, इसकी भी कोई योजना नहीं बनाई गई थी। अंग्रेज सरकार ने पहले ही सख्त कदम उठाकर आंदोलन की सारी सोच को नियंत्रित कर लिया था।

इसके बाद जो कुछ हुआ उसे आंदोलन नहीं कहा जा सकता। नेताओं के बंदी

बनाए जाने के फलस्वरूप जनाक्रोश उबल पड़ा था। यह आक्रोश न संगठित था, न उसकी कोई पूर्व तैयारी की गई थी और न ही उसका कोई निर्देशक था। गुस्से में आए और बौखलाए हुए लोग ही सब कुछ कर रहे थे। नेता विहीन जनता अपनी मनमर्जी से ही तोड़-फोड़ में लग गई थी। जनता पर अनेक प्रकार के प्रभाव थे—आतंकवादी, क्रांतिकारी, सुभाष बोस का फारवर्ड ब्लाक, जय प्रकाश नारायण के समाजवादी अनुयायी। इन्हीं के साथ कितने असामाजिक तत्व जो ऐसी किसी भी अराजक स्थिति का लाभ उठाने के लिए सदा तत्पर रहते हैं। इस जनता को अहिंसात्मक संघर्ष के मार्ग पर जो शक्ति ले जा सकती थी, उसे सरकार ने पूरी तरह नियंत्रित कर लिया था।

सरकार की दमनकारी नीतियों के कारण बंबई, 'अहमदाबाद और पूना' में बड़ी-बड़ी सभाएं हुईं और जलूस निकाले गए। इसके बाद ऐसी ही बातें दिल्ली तथा उत्तर भारत के अनेक नगरों में हुई। देश में एक छोर से दूसरे छोर तक हड़तालों, धरनों, जुलूसों और सरकारी सम्पत्ति के तोड़-फोड़ की भरमार हो गई।

इन प्रदर्शनों के प्रति अंग्रेज सरकार का रवैया अत्यंत कठोर और निर्दयतापूर्ण था। लाठी प्रकार द्वारा पिटाई करके, लातें मार-मार कर और सभी प्रकार से अपमानित कर भीड़ को तितर-बितर किया जाता था। इस प्रकार के दमन से जनता बहुत क्रोधित हो उठी थी और उसने हिंसा का मार्ग अपनाना प्रारंभ कर दिया था। क्रूर विदेशी शासन को समाप्त करने के लिए डाकघर, तार घर, टेलीफोन और रेलें आदि मुख्य निशानें बन गए थे। इन स्थानों को लूटा और जलाया जा रहा था।

इस प्रकार की कार्रवाइयों के मुख्य केंद्र पूर्वी उत्तर प्रदेश और विहार थे। उत्तर प्रदेश के बलिया जिले में सबसे भीषण घटनाएं हुईं। लोगों ने जेल तोड़ दिए और एक कैदी ने नेता बनकर प्रशासन पर कब्ज़ा कर लिया। बंगाल के मिदनापुर जिले ने अंग्रेजी शासन का मुकाबला किया जाए। मध्य प्रांतों में दो स्थानों पर विशेष विद्रोह हुआ—अष्टी और चीमूर में। दक्षिण भारत में रेणुगुंठा और विजयवाड़ा के बीच 130 मील लंबी रेल की पटरी उखाड़ दी गई। बंबई की मिलों और फैक्ट्रियों में बहुत तोड़-फोड़ हुई। उत्तेजित भीड़ ने सरकारी इमारतों पर ही हमले नहीं किए गए, बल्कि उसने कर्मचारियों पर भी आक्रमण किए। कुछ की हत्याएं भी हो गईं।

सरकार ने इस विद्रोह को कुचलने के लिए कठोरतम हथकंडे अपनाने से कोई संकोच नहीं किया। उसका उद्देश्य यह था कि लोगों को बहुत डरा दिया जाए और विरोध की भावना को पूरी तरह नष्ट कर दिया जाए।

गांधीजी ने जिस सविनय अवज्ञा के साथ अहिंसात्मक आंदोलन की परिकल्पना की थी वह पूरी तरह दिशाहीन हिंसात्मक आंदोलन में बदल गया था।

इस विद्रोह में विद्यार्थी सर्वाधिक सक्रिय थे। हजारों की संख्या में वे स्कूल और कॉलेज छोड़कर मैदान में आ गए। उस समय उनका आवेश अदम्य था। वे साहसपूर्वक पुलिस की लाठियों और गोलियों का सामना करते थे।

किंतु सरकारी दमन चक्र, नेताविहीन आंदोलन की दिशाहीनता, अव्यवस्थित जन समेत का आवेश और उन्माद आदि कारणों ने मिलकर इस विद्रोह को किसी सार्थक परिणति तक नहीं पहुंचने दिया। कुछ समय तक ऐसी कार्रवाइयां भूमिगत होकर चलाई जाती रहीं। धीरे-धीरे उनकी ऊर्जा भी शिथिल पड़ गई।

9 अगस्त 1942 को प्रारंभ हुए भारत छोड़ो आंदोलन का पुनर्मूल्यांकन करने की आवश्यकता है। पहला प्रश्न तो यही है कि क्या उन दिनों, जब द्वितीय विश्व युद्ध अपने चरम पर था, ऐसे किसी आंदोलन की आवश्यकता थी? सन् 1940 के अपने लाहौर अधिवेशन में मुस्लिम लोग भारत के एक भाग को काटकर स्वतंत्र मुस्लिम राष्ट्र की स्थापना का प्रस्ताव पारित कर चुकी थी। देश की स्वतंत्रता के प्रश्न पर ब्रिटिश सरकार भारतीय नेताओं और राजनीतिक दलों से बातचीत का दौर चला रही थी। देश की सांप्रदायिक समस्या जटिलतर होती जा रही थी। उस स्थिति में अंग्रेजों से भारत छोड़कर चले जाने का कहना क्या भयंकर अराजक स्थिति को नियंत्रित करना नहीं था?

एक प्रश्न और भी उभरता है। क्या गांधी जी और कांग्रेस के वरिष्ठ नेताओं ने इस बात का अनुमान नहीं लगाया था कि यदि सभी नेता आंदोलन प्रारंभ होने से पहले ही बंदी बना लिए गए (जैसा कि हुआ) तो उनकी अनुपस्थिति में उत्तेजित जनता को दिशा-निर्देश कौन देगा?

इतिहास का पुनरावलोकन और पुनर्मूल्यांकन करना इतिहास की सही समझ उत्पन्न करता है।

(दैनिक जागरण, 7-8-03)

मास्टर तारा सिंह : एक समर्पित जीवन

हाल में ही भारतीय संसद के केंद्रीय हाल में दो सिख नेताओं—बाबा खड़ग सिंह और मास्टर तारा सिंह के चित्रों का अनावरण हुआ। केंद्रीय कक्ष में 30 भारतीय नेताओं के चित्र लगे हुए हैं। इनमें अब दो सिख नेताओं को भी स्थान मिल गया है। कुछ महीने पूर्व ही मास्टर तारा सिंह की आदिम कद मूर्ति भी गुरुद्वारा रकाब गंज के पास के चौराहे के निकट स्थापित की गई है।

मास्टर तारा सिंह चार दशक तक सिख राजनीति पर पूरी तरह छाए रहे। शिरोमणि अकाली दल तथा शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी के अध्यक्ष पद पर वर्षों तक उनका एकाधिकार रहा। उन्हें कभी अकाली दल की आंतरिक राजनीति और कभी केंद्र और पंजाब सरकार द्वारा निरंतर चुनौतियां मिलती रहीं किंतु वे अडिग रहकर उनका सामना करते रहे।

मास्टर तारा सिंह का जन्म 24 जून 1885 को पश्चिमी पंजाब के रावलपिंडी जिले के एक गांव हरियाल में एक खत्री हिंदू परिवार में हुआ था। उनके पिता का नाम गोपीचंद मल्होत्रा था। स्वयं मास्टर तारा सिंह का बचपन का नाम नानक चंद था। इस समय पंजाब में ऐसा असंख्य परिवार थे, (कुछ आज भी हैं) जो सामान्य अर्थों में सिख नहीं थे, किंतु जिनमें गुरुवाणी का पाठ होता था और गांव का गुरुद्वारा ही उनकी आस्था का केंद्र होता था। मास्टर तारा सिंह का परिवार भी ऐसा ही एक परिवार था। उनकी माता मूला देई को कितनी ही वाणियां कंठस्थ थीं।

मास्टर तारा सिंह जब नौवी कक्षा के छात्र थे, वे संत अतर सिंह के संपर्क में आए और उनके व्यक्तित्व और उपदेशों से प्रभावित होकर उन्होंने अमृतपान किया

और विधिवत सिख बन गए। इसी समय नानक चंद के स्थान पर उनका नाम तारा सिंह हो गया।

एम. ए. बी. टी. तक पढ़ाई करने के पश्चात् वे खालसा स्कूल, लायलपुर में मास्टर बन गए। तब से मास्टर शब्द उनके नाम के साथ जुड़ गया।

मास्टर तारा सिंह का सामाजिक/राजनीतिक जीवन गुरुद्वारा सुधार आंदोलन (1920-25) से प्रारंभ होता है। सिखों के ऐतिहासिक गुरुद्वारों पर भ्रष्ट चरित्र वाले महंतों का और अंग्रेज सरकार के पिट्ठू कुछ लोगों का अधिकार था। ऐसे तत्वों से इन्हें मुक्त कराने के लिए जो अहिंसात्मक आंदोलन उस समय की सिख जनता ने प्रारंभ किया था उससे एक बहुत बड़ी सामाजिक/धार्मिक जागरूकता उत्पन्न हुई थी। लंबे संघर्ष, त्याग और बलिदान के परिणामस्वरूप आंदोलन को सफलता मिली। पंजाब के सभी ऐतिहासिक गुरुद्वारे भ्रष्ट महंतों से मुक्त होकर सिख जिनता द्वारा चुने गए प्रतिनिधियों के हाथों में आ गए। बाबा खड़ग सिंह और मास्टर तारा सिंह इसी आंदोलन में से उभरे हुए नेता थे।

समकालीन भारतीय इतिहास में बीसवीं सदी का चौथा और पांचवा दशक बहुत महत्वपूर्ण है। इन्हीं दशकों में देश में सांप्रदायिक ध्रुवीकरण अपने चरम पर पहुंचता है। चौथे दशक में ही देश में एक अलग मुस्लिम बहुल राज्य की मांग जन्म लेती है जो पांचवे दशक में पाकिस्तान के निर्माण में मूर्तरूप धारण करती है। इस अवधि में मास्टर तारा सिंह की भूमिका बहुत अहम है। प्रारंभ में कांग्रेस के राष्ट्रीय आंदोलन के वे सहभागी हैं। देश का विभाजन न हो इसके लिए वे सतत संघर्षशील रहते हैं। अनेक बार गांधी जी और कांग्रेस पार्टी के साथ उनके गहरे मतभेद हो जाते हैं, किंतु यह वात तत्कालीन अंग्रेज सरकार तथा देश की सभी राजनीतिक पार्टियों में स्वीकृत हो जाती है कि मास्टर तारा सिंह ही सिखों के सिरमौर नेता हैं। मार्च 1947 में जब पंजाब में, यूनियननिस्ट पार्टी के मुख्यमंत्री खिज़र हैयात खान के त्याग पत्र के बाद पंजाब के गवर्नर द्वारा मुस्लिम लीग को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया गया था तो मास्टर तारा सिंह ने अपने साथियों के साथ लाहौर असेम्बली भवन के बाहर इसका जबरदस्त विरोध किया था। सड़क पर खड़ा मुस्लिम लीग समर्थक विशाल जनसमूह पाकिस्तान जिंदाबाद के नारे लगा रही थी और असेम्बली भवन की सीढ़ियों पर खड़े मास्टर तारा सिंह 'चीर के देंगे अपनी जान, नहीं बनेगा पाकिस्तान' के नारे लगा रहे थे। दोनों पक्षों के बीच दीवार बनकर पुलिस खड़ी थी। स्थिति को अराजक होते देखकर गवर्नर ने मुस्लिम लीग से सरकार बनाने का प्रस्ताव वापस ले लिया।

मास्टर तारा सिंह के सम्मुख बंगाल का उदाहरण था। कुछ महीने पूर्व ही वहां की मुस्लिम लीग की सरकार के समय 'सीधी कारर्वाई' दिवस मनाया गया था जिसमें 1500 से अधिक हिंदू मारे गए थे। वे जानते थे कि इस समय यदि पंजाब में मुस्लिम लीग की सरकार बन गई तो हिंदुओं-सिखों पर भयंकर आपत्ति टूट पड़ेगी।

भारत विभाजन के कुछ वर्ष बाद मैंने डॉ. ए. एन. बाली, जो लाहौर के ही रहने वाले थे, की लिखी एक पुस्तक पढ़ी थी—'नाउ इट कैन बी टोल्ड' (अब इसे बताया जा सकता है) इस पुस्तक में उन्होंने विभाजन के समय मास्टर तारा सिंह द्वारा निभाई गई भूमिका की विशद चर्चा की थी। मास्टर जी विभाजन के बहुत विरोधी थे। सिखों की 40 प्रतिशत से अधिक आबादी उस क्षेत्र में रहती थी, जिसमें पाकिस्तान बनना था। लायल पुर और मिंटगुमरी जैसे क्षेत्रों को सिख किसानों ने कड़ी मेहनत से बंजर से अत्यंत उपजाऊ भूमि बना दिया था। ननकाना साहब, डेरा साहब और पंजा साहब जैसे प्रमुख धार्मिक गुरुद्वारे उस ओर रह जाते थे।

किंतु जब ऐसा लगने लगा कि देश का विभाजन होकर ही रहेगा तो मास्टर तारा सिंह और उनका अकाली दल इस बात पर अड़ गए कि यदि देश का विभाजन होना है तो पंजाब का विभाजन भी होगा। मोहम्मद अली जिन्ना चाहते थे कि पूरा पंजाब पाकिस्तान का हिस्सा बने। उन्होंने मास्टर तारा सिंह के पास अनेक आकर्षक प्रस्ताव भेजे कि सिख पाकिस्तान का भाग बनना स्वीकार कर लें और पंजाब के विभाजन की मांग न करें। उन्हें मास्टर जी का स्पष्ट उत्तर था कि सिखों का भाग्य भारत के साथ जुड़ा हुआ है। वे किसी भी स्थिति में पाकिस्तान का भाग नहीं बन सकते हैं और यदि पंजाब के विभाजन की बात नहीं मानी गई तो वे पाकिस्तान नहीं बनने देंगे।

आखिर यही हुआ। देश के विभाजन के साथ ही पंजाब का विभाजन हुआ और लगभग आधा पंजाब पाकिस्तान में जाने से बच गया।

स्वतंत्रता के बाद मास्टर तारा सिंह के जीवन का नया दौर शुरू होता है। पंजाब में हिंदी और पंजाबी तथा पंजाबी सूबा तथा महा पंजाब का दौर शुरू हो जाता है। सन् 1946 में कोलकत्ता में पं. जवाहरलाल नेहरू ने एक वक्तव्य दिया था जिसमें उन्होंने कहा था कि मुझे इसमें कोई आपत्तिजनक बात नहीं दिखाई देती कि स्वतंत्र भारत में एक ऐसा क्षेत्र हो जिसमें सिख भी स्वाधीनता की आभा (glow of freedom) महसूस कर सकें। मास्टर जी ने पं. नेहरू को यह बात याद कराई। उस समय देश में भाषा के आधार पर राज्यों के पुनगर्ठन की मांग बल पकड़ रही थी। मास्टर तारा सिंह ने तर्क दिया कि यदि भाषा के आधार पर पंजाब का पुनर्गठन किया जाए और हिंदी भाषी अंबाला प्रभाग को अलग राज्य (हरियाणा) बना दिया जाए तो पंजाबी भाषी राज्य (पंजाबी सूबा) में सिखों का बहुमत हो जाएगा।

मास्टर तारा सिंह का शेष जीवन इसी पंजाबी सूबे की मांग के इर्द-गिर्द घूमता है। संपूर्ण देश के राज्यों का भाषा के आधार पर पुनर्गठन छठे दशक के अंत तक हो जाता है, किंतु पंजाबी भाषी प्रांत सन् 1966 में अस्तित्व में आता है। यह भी विडंबना ही है कि इसका श्रेय मास्टर तारा सिंह को न मिलकर संत फतेह सिंह को मिलता है जिन्हें मास्टर जी ही राजनीति में लाए थे और जो उनके जीवन के अंत में उनके प्रतिद्वंद्वी बन गए थे।

मास्टर तारा सिंह से किसी के कितने ही मतभेद हों, क्या बात सभी स्वीकार करते हैं कि उनके जैसा समर्पित, निजी स्वार्थों से कोसों दूर, किसी भी लांछन से मुक्त, निस्पृह जीवन जीने वाले नेता सार्वजनिक जीवन में बहुत श्रम दिखाई देते हैं। उन्होंने कितने ही लोगों को संसद और पंजाब विधानसभा का सदस्य बनाया किंतु स्वयं जीवन भर इससे दूर रहे।

यह बात बहुत कम लोग जानते हैं कि एक सक्रिय राजनेता होने के साथ ही बहुत अच्छे लेखक और पत्रकार थे। पंजाबी में उनके दो मौलिक उपन्यास प्रकाशित हुए थे—प्रेमलगन और बाबा तेगा सिंह। उनके निबंधों के तीन संग्रह उपलब्ध है। उन्होंने 'मेरी याद' नाम से अपनी आत्मकथा भी लिखी।

साहित्य रचना के साथ ही उन्होंने पंजाबी पत्रकारिता में विशेष कार्य किया। सन् 1909 में उन्होंने 'सच्चा ढंडोरा' नाम का साप्ताहिक पत्र निकाला था। सन् 1920 में उन्होंने दैनिक 'अकाली' का प्रकाशन प्रारंभ किया। उन्होंने एक मासिक पत्र 'संत सिपाही' का प्रकाशन भी प्रारंभ किया था। यह पत्र आज भी प्रकाशित हो रहा है। उनके लिखे संपादकीय अपने समय में बहुचर्चित रहे थे।

(दैनिक जागरण, 30-8-03)

गांधी जी और भगत सिंह : साम्य और वैषम्य का अद्भुत संयोग

आधुनिक भारतीय राजनीति में गांधी जी और सरदार भगत सिंह किसी बहती हुई नदी के ऐसे दो किनारे हैं जो दूर-दूर तो दिखते हैं किंतु स्वतंत्रता संग्राम की वेग वाली जलधारा दोनों का समान रूप से स्पर्श करती है। बीसवीं सदी के तीसरे दशक में इस देश में दो व्यक्तित्व सबसे अधिक प्रख्यात थे—एक, मोहनदास कर्मचंद गांधी और दूसरे सरदार भगत सिंह। डॉ. पट्टाभि सीतारामय्या ने अपनी पुस्तक कांग्रेस का इतिहास (1885-1935) में उस स्थिति का वर्णन किया है। 31 मार्च 1931 में कराची में कांग्रेस का अधिवेशन हुआ था। उस समय तक भगत सिंह, सुखदेव और राजगुरु को फांसी लग चुकी थी। उसी वर्ष 5 मार्च को ऐतिहासिक गांधी-इर्विन समझौता हुआ। देश में सभी ओर से यह आवाज उठ रही थी कि गांधी जी को वाइसराय लार्ड इर्विन के सामने यह मांग रखनी चाहिए कि प्रस्तावित समझौते में इन तीनों युवकों की रिहाई का मुद्दा भी हो। इस संबंध में गांधी जी और वाइसराय के बीच कई बार बातचीत भी हुई थी। किंतु लार्ड इर्विन इस संबंध में कोई सकारात्मक रुख नहीं दिखा रहे थे। उन्होंने केवल इतना आश्वासन दिया था कि कराची के कांग्रेस अधिवेशन से पहले इन नवयुवकों को फांसी नहीं दी जाएगी।

भगत सिंह और उनके दो साथियों को फांसी दी जाएगी, इस बात से सारे देश में उत्तेजना फैल गई थी। लोग विशेष रूप से युवा वर्ग, इस बात पर बहुत जोर डाल रहा था कि इस मुद्दे को हल किए बिना गांधी जी को लार्ड इर्विन से कोई समझौता नहीं करना चाहिए। उस समय ऐसा लग रहा था कि कराची कांग्रेस को यह प्रश्न पूरी तरह अपने कलावे में ले लेगा और लोग इस विषय को लेकर केवल चर्चा ही

नहीं करेंगे, बल्कि इनकी रिहाई का प्रस्ताव भी पारित कराएंगे।

गांधी जी इस संकट को समझते थे। इसलिए उन्होंने वाइसराय से कहा अगर इन नौजवानों को फांसी पर लटकाना ही है, तो कांग्रेस अधिवेशन के बाद ऐसा करने की बजाए उससे पहले ही ऐसा करना ठीक रहेगा। इससे देश को यह साफ पता चल जाएगा कि वस्तुस्थिति क्या है और लोगों के दिलों में झूठी आशाएं नहीं बंधेंगी।

यही कारण था कि भगत सिंह, सुखदेव और राजगुरु को कराची कांग्रेस से एक सप्ताह पहले ही, 23 मार्च को फांसी दे दी गई। डॉ. पट्टाभि सीतारामय्या ने अपनी पुस्तक में लिखा है—कराची-कांग्रेस, जो एक सर्वव्यापी आनंदमयी छटा के साथ होने जा रही थी, वास्तव में विषाद और संताप की घनघोर घटा से घिरकर हुई। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि यह वह समय था जब भगत सिंह का नाम अमृतसर में उतना ही जाना जाता था और उतना ही लोकप्रिय था जितना कि गांधीजी का। प्रयत्न करने पर भी गांधी जी इन तीन युवकों की फांसी की सजा रद्द नहीं करा सके थे। जो लोग इन तीनों युवकों की जान बचाने के गांधीजी के प्रयत्नों की अभी तक प्रशंसा कर रहे थे, अब इस बात पर बेहद नाराज होने लगे कि इन तीनों शहीदों के संबंध में पारित किए जाने वाले प्रस्ताव की भाषा क्या हो। इस प्रस्ताव में बहस व मतभेद की बात यह थी कि भगत सिंह व इनके साथियों की वीरता और आत्म-त्याग की प्रशंसा करते हुए ये शब्द कि—'प्रत्येक प्रकार की राजनीतिक हिंसा से अपने-आपको अलिप्त रखते हुए और उसका विरोध करते हुए' भी प्रस्ताव में जोड़े जाएं या नहीं। पूरा प्रस्ताव इस प्रकार था—

''प्रत्येक प्रकार की राजनीतिक हिंसा से अपने-आप को अलिप्त रखते हुए और उसका विरोध करते हुए यह कांग्रेस स्वर्गवासी सरदार भगत सिंह तथा उनके साथी श्री सुखदेव और श्री राजगुरु की वीरता और आत्म-त्याग की प्रशंसा करती है। कांग्रेस की राय में ये तीनों फांसियां अनियंत्रित प्रतिहिंसा का कार्य है तथा प्राण-दंड रद्द करने के लिए की हुई सारे राष्ट्र की मांग का पद-दलन है। कांग्रेस की यह भी राय है कि सरकार ने दो राष्ट्रों में प्रेम स्थापित करने का, जिसकी इस समय निश्चित ही बहुत जरूरत थी, और उस दल को, जिसने स्वतंत्र होकर राजनीतिक हिंसा के मार्ग का अवलंबन किया है शांति के उपाय से जीतने का अत्युक्त अवसर खो दिया है।''

युवक-वर्ग इस प्रस्ताव से प्रसन्न नहीं था। इस वर्ग ने प्रस्ताव में प्रथम वाक्यांश को निकाल देने का संशोधन पेश किया जिसे स्वीकार नहीं किया गया। इससे रुष्ट होकर युवकों ने अपना एक अलग सम्मेलन किया और वह भाग निकालकर फिर से प्रस्ताव पारित किया। इस मुद्दे को लेकर देश के अनेक भागों में गांधी जी का विरोध हुआ और उन्हें काले झंडे दिखाए गए।

गांधी जी ने जो व्रत अपने सामने रखा था और जिसे उन्होंने कांग्रेस के लिए आदर्श बना दिया था उसमें अहिंसा सर्वोपरि था। इसमें किसी भी प्रकार की हिंसा न

करना ही काफी नहीं था, जिन्हें अन्यायी समझा जाता हो, उनको भी आघात न पहुंचाने का संकल्प था। अत्याचार का विरोध तो किया जाना था, लेकिन अत्याचारी को किसी भी प्रकार की क्षति नहीं पहुंचाने का निश्चय भी था। गांधी जी के लिए अहिंसा एक धर्म था। उसे वह अपने जीवन का सार मानते थे।

उसी समय इस देश की स्वतंत्रता के लिए समानांतर किंतु प्रभावशाली ढंग से उन क्रांतिकारियों का आंदोलन भी चल रहा था जो अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए हिंसा का प्रयोग करना अनुचित नहीं मानते थे। बंगाल, पंजाब, महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश के क्रांतिकारी संगठन इस दृष्टि से बहुत सक्रिय थे। यंग इंडिया के 9 अप्रैल 1925 के अंक में गांधी जी का एक लेख प्रकाशित हुआ, शीर्षक था—क्रांतिकारी मेरा मित्र (माई फ्रेंड द रिवोल्यूशनरी) इस लेख में उन्होंने क्रांतिकारियों को पथभ्रष्ट देश भक्त (मिसगाइडेड पैट्रियट) कहा था। इसके उत्तर में क्रांतिकारियों ने किसी महत् उद्देश्य की प्राप्ति के लिए हिंसा के उपयोग को उचित ठहराते हुए कहा था कि यह उनकी परंपरा के अनुसार है। दूसरे देशों में वहां के महापुरुषों ने भी अन्याय और अत्याचारी का विरोध हिंसा के माध्यम से किया है। इस संदर्भ में एक क्रांतिकारी ने गांधी जी से पूछा—'क्या गुरु गोबिन्द सिंह एक पथभ्रष्ट देश भक्त थे जिन्होंने किसी महान उद्देश्य के लिए हिंसा को उचित ठहराया था? आप वाशिगंटन, गैरी बाल्डी और लेनिन के लिए क्या कहेंगे? आप कमाल पाशा और डी वेलेरा के बारे में क्या सोचते हैं? आप शिवाजी और महाराणा प्रताप को क्या कहेंगे? आप "विनाशाय दुष्टकृताम" कहने वाले कृष्ण के विषय में क्या कहेंगे?

गांधी जी ने उत्तर देते हुए कहा था कि क्रांतिकारियों की गतिविधियों और गुरु गोबिंद सिंह तथा अन्य नायकों की तुलना करना ठीक नहीं है। गुरु गोविंद सिंह तथा अन्य नायक आज के क्रांतिकारियों की भांति गुप्त हत्याओं में विश्वास नहीं रखते थे। दूसरी बात कि ये सभी नायक अपने कार्य और अपने व्यक्तियों को अच्छी तरह जानते थे, जबकि आज का भारतीय क्रांतिकारी अपने कार्य को नहीं जानता। उसके पास न वैसे व्यक्ति हैं, न वैसा वातावरण है जैसे उन नायकों के पास था।

अहिंसा के संबंध में गांधी जी की आस्था इतनी दृढ़ थी कि वे ऐसे किसी भी नायक को अपना पथ-प्रदर्शक मानने को तैयार नहीं थे, जिसने अपने मंतव्य की प्राप्ति के लिए हिंसा का सहारा लिया हो। उन्होंने यह बात बड़े स्पष्ट रूप से कही थी कि यदि मैं उन नायकों के समय में होता, उनके देश में होता तो उन्हें भी मैंने पथभ्रष्ट देशभक्त कहा होता।

गांधी जी और भगतसिंह मूल्यों की दृष्टि से एक-दूसरे के बिल्कुल विपरीत थे। भगत सिंह बल-प्रयोग में विश्वास रखते थे और आज़ादी पाने के लिए हिंसा के प्रयोग के प्रति उनके मन में कोई हिचकिचाहट नहीं थी। उनसे कुछ समय पूर्व ही अमेरिका और कनाडा में बसने वाले भारतीयों ने गदर पार्टी बनाकर भारत की स्वतंत्रता के लिए प्रयास

किया था। यद्यपि वह प्रयास असफल हो गया था, किंतु उसकी प्रतिध्वनि भारत में, विशेष रूप से पंजाब में बाद के वर्षों में निरंतर सुनाई देती रही थी। उस क्रांतिकारी प्रयास में भाग लेने के अपराध में कई लोगों को फांसी पर लटका दिया गया था और अनेक को काले पानी की सज़ा मिली थी। फांसी पाने वालों में लुधियाने का करतार सिंह सराभा सबसे छोटी उम्र-मात्र 18 वर्ष का था। वह भगत सिंह का आदर्श था। दिल्ली में केंद्रीय विधान सभा में भगत सिंह और बटुकेश्वर दत्त ने केवल धमाका करने के लिए जो बम फेंके थे, उनके साथ ही टाइप किए कुछ पर्चे भी फेंके थे। उनमें लिखा था—"हम इस बात को मानते हुए माफी चाहते है कि हम जो इंसान की जिंदगी की पवित्रता से बहुत जुड़े हुए हैं, हम जो इंसान के उस कल का सपना देखते हैं, जब वह पक्की शांति और पूरी आज़ादी का आनंद लेगा, आज इंसानी खून बहाने को मजबूर किए गए हैं। मगर महान क्रांति की वेदी पर एक-एक आदमी का यह बलिदान सबके लिए आज़ादी लाएगा। आदमी का आदमी द्वारा शोषण समाप्त करने के लिए यह जरूरी है।"

भगत सिंह निरर्थक और बेकसूर लोगों का खून बहाए जाने के बहुत विरोधी थे। उन्होंने देश को 'इंकलाब जिंदाबाद' का नारा दिया था। इंकलाब शब्द को वह आज़ादी और व्यापक सामाजिक परिवर्तन के लिए प्रयोग में लाते थे।

गांधी जी की मान्यता थी कि इस देश को सशस्त्र क्रांति से स्वतंत्रता नहीं मिलेगी। उनका विश्वास था कि अहिंसात्मक जनांदोलन से ही हम स्वाधीनता की मंजिल तक पहुंचेंगे। किंतु भगत सिंह समझते थे कि क्रांतिकारी आंदोलन द्वारा विदेशी शासकों के मन में भय का संचार किया जा सकता है। इसके लिए कुछ नवयुवकों को अपना बलिदान देना ही होगा। उन्होंने अपने एक साथी विजय कुमार से, जो फांसी से पंद्रह दिन पहले उनसे मिला था, कहा था—"अगर मुझे छोड़ दिया गया तो अंग्रेजों के लिए मैं एक मुसीबत बन जाऊंगा। अगर मुस्कुराहटों की माला पहने मैं मर गया तो हिंदुस्तान की हर मां अपने बच्चे को भगत सिंह बनाना चाहेगी और इस तरह आज़ादी की लड़ाई के लिए सैकड़ों बहादुर पैदा होंगे, तब इस शैतानी ताकत के लिए क्रांति का यह मार्च रोकना बहुत मुश्किल होगा।"

स्वाधीनता प्राप्त होने से 16 वर्ष पहले भगत सिंह की कुल 23 वर्ष की आयु में जीवन लीला समाप्त हो गई। अहिंसा का व्रत लिए हुए गांधी जी ने अपने जीवन काल में यह देखा कि स्वाधीनता की देवी आई अवश्य, किंतु देश के विभाजन की आग में पांच लाख से अधिक लोगों के प्राणों की आहुति लेकर। यह प्रश्न हमारे वीरों पर सदैव झूलता होगा कि हमें स्वाधीनता दिलाने में कौन-सा तथ्य अधिक महत्वपूर्ण था? गांधी जी का अहिंसा, क्रांतिकारियों की हिंसात्मक गतिविधियों, सुभाषचंद्र बोस का आज़ाद हिंद फौज का अभियान, देश का विभाजन अथवा अंतर्राष्ट्रीय स्थिति के ब्रिटिश साम्राज्यवाद के लड़खड़ाते कदम?

(दैनिक जागरण, 2-10-03)

एक पूरी संस्था थे पांडुरंग शास्त्री आठवले

पांडुरंग शास्त्री आठवले अपने श्रद्धालुओं और प्रशंसकों के मध्य 'दादा जी' नाम से विख्यात थे। पिछले दिनों 83 वर्ष की आयु में उनका देहांत हो गया।

एक अकेला व्यक्ति जन-जागरण की दृष्टि से कितना कड़ा चमत्कार कर सकता है दादा आठवले इसके जीवंत उदाहरण थे। कुछ वर्ष पहले चार-पांच व्यक्ति पता नहीं किस प्रकार घूमते-फिरते मेरे निवास स्थान पर आ पहुंचे थे। सुबह का समय था। मैंने उन्हें बैठाया और उनके आगमन का कारण पूछा। उन्होंने कहा—हम केवल आपसे मिलने आए हैं। यही हमारा उद्देश्य है। बातचीत के दौरान उन्होंने बताया—हम सब स्वाध्यायी हैं, नागपुर से आए हैं। हमारे साथ और भी कुछ लोग हैं। हम इस नगर में अनेक घरों में जाएंगे और लोगों से मिलेंगे। मैंने उनके लिए चाय बनवानी चाही, पर उन्होंने इनकार कर दिया। कहा—हम किसी के भी घर में कुछ खाते-पीते नहीं हैं, केवल इसलिए कि हम किसी पर बोझ न बने। यह हमारी भाव फेरी है।

कुछ समय बाद मुझे 'स्वाध्याय' का अधिक परिचय मिला। अहमदाबाद के एक संपन्न व्यापारी के दिल्ली कार्यालय से एक निमंत्रण मिला कि नांदेड़ में स्वाध्यायियों का एक विशाल सम्मेलन हो रहा है। आप उसमें चलें। दिल्ली से ले.ज. जगजीत सिंह अरोड़ा, मौलाना वहीदुद्दीन खान और मैं नांदेड़ के उस समारोह में सम्मिलित हुए।

नगर से बाहर जिस विशाल मैदान में इस आंदोलन के प्रणेता दादा पांडुरंग शास्त्री आठवले का भाषण होना था उसमें लाखों की संख्या में महाराष्ट्र, गुजरात, आन्ध्र आदि प्रदेशों से लोग आए हुए थे। बेहिसाब भीड़ के कारण हमारी कार उस स्थान तक नहीं पहुंच सकी। हम ऊंची सड़क पर खड़े होकर वह दृश्य देख रहे थे। पहली सड़क से हज़ारों लोग बड़े अनुशासित ढंग से जय योगेश्वर का उद्घोष करते हुए उस मैदान की

ओर बढ़ रहे थे।

कार्यक्रम के पश्चात् व्यवस्थापक बड़ी कठिनाई से हमें उस शिविर तक ले जा सके जहां दादा और उनके कुछ साथी टिके हुए थे। वह मेरा पांडुरंग शास्त्री आठवले से पहला साक्षात्कार था। दूसरे दिन नांदेड़ में ही एक हाल में उनका भाषण था। वहां भी अपार भीड़ थी।

कुछ समय बाद फरवरी सन् 1999 में, गांधी मार्ग के संपादक समर्पित स्वाध्यायी श्री राजीव वोरा की प्रेरणा से मैं तथा अन्य कुछ लोग गुजरात-कठियावाड़ में स्वाध्याय के नाम का अवलोकन करने के लिए कुछ स्थानों पर गए। इस यात्रा में हमारे साथ कुछ स्वाध्यायी थे।

मेरी सदैव यह मान्यता रही है कि जो भी धार्मिक आंदोलन अथवा धर्म-पुरुष धर्म की व्याख्या और उसकी व्याप्त को व्यक्ति के आत्मबोध, मोक्ष की प्राप्ति, प्रभु के नाम स्मरण, उसकी भक्ति आदि बातों तक ही सीमित करता है, वह अधूरा कार्य करता है। वह केवल व्यक्ति के सुधार और उसकी मुक्ति की बात करता है। उसकी दृष्टि से वह समाज ओझल रहता है जिसमें गरीबी, भुखमरी, अन्याय, अत्याचार और शोषण सदियों से जड़ जमाए बैठा है। इनसे मुक्ति पाने को केवल एक व्यक्ति ही नहीं लाखों-करोड़ों व्यक्तियों का समूह निरंतर छटपटाता रहता है। सच्ची भक्ति व्यक्ति मुखी न होकर समाजमुखी होती है। ? वह व्यक्ति के कल्याण से समाज के कल्याण को अधिक महत्व देती है।

इस यात्रा में मुझे पांडुरंग शास्त्री आठवले के प्रवचनों की एक पुस्तक प्राप्त हुई जिसमें एक विषय था—समाजाभिमुख भक्ति। इस प्रवचन में उन्होंने भक्ति के दो प्रकार दिए थे—भाव भक्ति और कृति भक्ति। चित एकाग्र करने के लिए प्रभु के पास बैठना, यह भाव भक्ति है। साथ ही प्रभु के तथा धर्म ग्रंथों के विचार घर-घर पहुंचाना यह कृति भक्ति है।

असंख्य नवयुवकों को दादा आठवले ने गांव-गांव में जाकर बिना किसी भेद-भाव के कृति भक्ति का संदेश पहुंचाने के लिए प्रेरित किया। अपनी इस यात्रा में हमें इस बात का प्रत्यक्ष अनुभव हुआ। स्वाध्यायी मित्र हमें सौराष्ट्र के दूर-दराज गांवों में ले गए। उन लोगों के घरों में भी ले गए जिन्हें सदियों से यह समाज अछूत कहता रहा है। वहां हमें जो भी जलपान दिया गया, हम सभी ने उसे सहर्ष स्वीकार किया। हम मछुआरों की बस्ती में भी गए। आश्चर्य यह था कि दूसरों का भोज्य-पदार्थ बनाने के लिए मछली पकड़ने वाले ये मछुआरे स्वयं पूरी तरह शाकाहारी बन गए थे। ऐसे गांवों में शराब, ताड़ी पीने तथा अनेक प्रकार की नशाखोरी का प्रचलन आम बात है। दादा आठवले के प्रभाव से उन गांवों से सभी प्रकार की नशाखोरी समाप्त हो गई थी।

जो धार्मिक आंदोलन अथवा धर्म पुरुष समाज के पीड़ित-दलित, उपेक्षित वर्ग के बीच में जाकर काम करता है, वही प्रभु की सच्ची भक्ति करता है—यह विचार

मैंने व्यवहार में परिणत होते हुए देखा।

नारी जाति की उपेक्षा करने, उनकी निंदा करने और उसे नरक की खान कहने वाले धर्म ग्रंथों और धार्मिक पुरुषों की भी इस देश में कभी कमी नहीं रही। सामाजिक सुधारों के लंबे इतिहास के बावजूद आज भी ऐसे धर्म-स्थान हैं जहां दलितों का प्रवेश निषिद्ध है। आज भी ऐसे धर्माचार्या हैं जो नारी की छाया मात्र से घबराते हैं। दादा आठवले ने नारी के संबंध में प्रचलित इस रूढ़ि को तोड़ा। स्वाध्याय में स्त्रियों की भूमिका को न केवल उन्होंने स्वीकार किया, बल्कि उन्हें प्रोत्साहित किया। अपने प्रवचनों में ये कहते थे कि—"मैं हो सकती हूं—"मैं हो सकती हूं"—स्त्री की यह शक्ति जागृत होनी चाहिए। इसी को अस्मिता कहते हैं।

दादा आठवले कहा करते थे कि स्वाध्याय एक प्रवृत्ति है। जो वृत्ति को प्रकृष्ट, उत्कृष्ट और श्रेष्ठ बनाती है। जो मनुष्य को भगवान बनाती है उसका नाम प्रवृत्ति है। जब उनसे यह प्रश्न किया गया कि स्वाध्याय क्या करता है—उनका उत्तर था—स्वाध्याय प्रत्येक व्यक्ति में आत्मगौरव निर्माण करता है।" स्वाध्याय प्रत्येक व्यक्ति को कृतिशील बनाता है। स्वाध्यायी प्रभु कार्य के लिए निकलता है। स्वाध्याय मानव-मानव के बीच में जो भेदभाव रहता है उसको हटाता है। जाति, वर्ण, संप्रदाय या पंथ को महत्व न देकर—"सब एक ही पिता की—प्रभु की संतान है और हमारा रक्त के संबंध से भी श्रेष्ठ ऐसा खून बनाने वाले का संबंध है। स्वाध्याय इसकी प्रतीति कराता है। जगत में जन्मा हुआ कोई भी व्यक्ति हीन-दीन, क्षुद्र नहीं है, अस्पृश्य नहीं है यह समझाता है।

अपनी यात्रा में मैंने देखा कि दादा आठवले ने नए प्रकार के मंदिरों की परिकल्पना की। स्वाध्यायी अमृतालयम् की स्थापना करने लगे। ऐसे मंदिर ईंट-गारे-चूने से मिस्त्रियों और मजदूरों की सहायता से नहीं, बल्कि स्वयं गांव वालों के श्रम से भूमि को समतल बनाकर बांस, घास, पत्ते, मिट्टी की सहायता से बनाए गए। सभी की सहभागिता ने मंदिर की नई परिकल्पना को जन्म दिया। हमने कई एकड़ में फैली कृषि भूमि देखी जिसे स्वाध्यायी योगेश्वर कृषि कहते हैं।

दादा आठवले की मान्यता थी कि भक्ति एक सामाजिक शक्ति है। उसके माध्यम से जीवन की किसी भी समस्या को सुलझाया जा सकता है। पर्यावरण की रक्षा के लिए वृक्षों का कितना महत्व है, आज इसकी खूब चर्चा होती है। दादा ने वृक्ष मंदिर की कल्पना की। उन्होंने कहा—वृक्ष मंदिर, यानी धरती माता की गोद में खेलता हुआ देवालय जिसके न द्वार हैं, न दीवारें हैं, है केवल हरा-भरा भाव।

अपनी यात्रा के अंतिम चरण में हम मुंबई में उनके केंद्र में गए जहां हजारों व्यक्ति प्रति सप्ताह उनका प्रवचन सुनने के लिए एकत्र होते थे। ठाणे में बने उनके प्रमुख कार्यालय में भी हम गए।

दादा आठवले का संपूर्ण आंदोलन गीता प्रेरित योगेश्वर की भक्ति का आंदोलन

है। यह मात्र भक्ति आंदोलन होता तो मैं अधिक प्रभावित न होता। किंतु इस आंदोलन के माध्यम से उन्होंने सनातनी हिंदू परंपरा को एक नई व्याख्या और नया संदेश दिया और उसे सामान्य जन के उत्थान से जोड़ा। यह बहुत बड़ी बात है। यह देश वर्णों के मध्य की असमानता, जातियों के मध्य के विद्वेष, स्त्रियों के साथ अन्यायपूर्ण व्यवहार से सदियों से ग्रसित है। दादा आठवले ने इसके विरोध में एक मूक आंदोलन को जन्म दिया और अपने जीवनकाल में उसे सफल होते हुए देखा।

कुछ वर्ष पूर्व जब पहली बार मैं उन्हें नांदेड़ में मिला था, वह मुझे अस्वस्थ लगे थे। वे मधुमेह से बुरी तरह पीड़ित थे। उसी समय मेरे मन में प्रश्न उठा था कि उनका उत्तराधिकारी कौन होगा। मैंने कुछ स्वाध्यायी मित्रों के सम्मुख अपनी जिज्ञासा रखी भी थी, किंतु वे दादा पांडुरंग शास्त्री आठवले के प्रभामंडल से इतने आत्म मुग्ध थे कि इस प्रश्न पर वे कुछ सोचना ही नहीं चाहते थे। अब दादा उनके बीच नहीं हैं। मैं नहीं जानता कि उनका स्थान किस व्यक्ति ने लिया है। स्वाध्याय का गुजरात, महाराष्ट्र, और आंध्र में विशेष प्रभाव है। अभी यह आंदोलन उत्तर भारत में अपनी उपस्थिति दर्ज़ नहीं करा सका है। उपयुक्त उत्तराधिकारियों के अभाव में एक समय बड़े प्रभावशाली आंदोलन भी धीरे-धीरे निष्प्राण हो जाते हैं। मैं नहीं जानता कि दादा पांडुरंग आठवले की विरासत की कौन, किस प्रकार रक्षा करेगा।

(दैनिक जागरण, 20-11-03)

क्या गांधी जी ने गुरु गोबिंद सिंह को पथभ्रष्ट देशभक्त कहा था?

एक प्रचलित धारणा यह है कि महात्मा गांधी अहिंसा के सिद्धांत का पालन करते थे, इसलिए जो लोग हिंसात्मक साधनों का सहारा लेकर देश को स्वतंत्रता के लिए प्रयास कर रहे थे उन्हें वे देशभक्त तो मानते थे किंतु पथभ्रष्ट करते थे। बहुत से लोगों की मान्यता है कि इस संदर्भ में उन्होंने गुरु गोबिंद सिंह को भी, जिन्होंने मुगलों के विरुद्ध सशस्त्र संघर्ष छेड़ा था, पथभ्रष्ट देशभक्त कहते थे।

सिखों में एक वर्ग ऐसा है जो यह मानता है कि गांधी जी सिखों के विरोधी थे। उनकी इस धारणा की पृष्ठभूमि में यह बात है कि गांधी जी ने गुरु गोबिंद सिंह को पथभ्रष्ट देशभक्त (मिसगाइक्रेड पैट्रियट) कहा था।

सन् 1905 में जब गांधी जी दक्षिण अफ्रीका में थे। जोहंसबर्ग की थ्योसोफिक सोसायटी द्वारा आयोजित एक कार्यक्रम में हिंदुत्व के संबंध में कुछ भाषण दिए थे। इन भाषणों में उन्होंने सिख-आंदोलन का संक्षिप्त उल्लेख किया था। इसमें उन्होंने कहा था कि मुसलमान आक्रमणकारियों ने जब भारत के अनेक भागों पर अपना अधिकार कर लिया--तब उनसे संपर्क के परिणामस्वरूप गुरु नानक ने सिख धर्म की स्थापना की, जिसने आगे चलकर जुझारू हिंदुत्व का रूप धारण कर लिया।

सिखों के साथ गांधी जी का सीधा संपर्क सन् 1919 में हुआ जब वे रौलेट एक्ट, मार्शल लॉ और जलियांवाला बाग की घटनाओं के पश्चात् पंजाब गए। उस समय सिखों में अनेक उपग्रंथी आंदोलनों का बोलबाला था। चीफ खालसा दीवान जैसी संस्थाओं और उनके नेताओं को वे सरकार परस्त समझते थे और ग़दर पार्टी तथा बब्बर अकाली जैसी क्रांतिकारी लहरों का समर्थन करते थे। उसी वर्ष गांधी जी के प्रयासों से सिख

संपूर्ण देश में चल रहे राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़ना शुरू हो गए। उसी वर्ष सेंट्रल सिख लीग ऐसे पढ़े-लिखे सिखों की संस्था थी जो व्यापक राष्ट्रीय विचारों के थे। उस समय गांधी जी अमृतसर के हरिमंदिर में माथा टेकने भी आए थे और यहां उन्हें सिरोपा भी दिया गया था। उस समय दरबार साहब में बड़ी संख्या में सिख-श्रद्धालु एकत्र हुए थे। उनका अनुशासन देखकर गांधी जी बहुत प्रभावित हुए थे। उन्होंने उस समय यह भी कहा था कि देश भर के सभी धर्मों के पवित्र स्थानों में इसी प्रकार का अनुशासित वातावरण होना चाहिए।

अंग्रेज सरकार के विरुद्ध गांधी जी द्वारा संचालित असहयोग आंदोलन में सिखों की भागीदारी ने पंजाब की राजनीति को एक नई दिशा दी थी। सिख बड़ी संख्या में कांग्रेस की ओर झुक रहे थे। उस समय तक सिख हिंसक और जुझारू आंदोलन में ही अधिक भाग लेते थे। कांग्रेस के अधिवेशनों में इक्का-दुक्का सिख ही दिखाई देते थे। सन् 1921 में अहमदाबाद में हुए कांग्रेस अधिवेशन में पंजाब से गए 65 सिख प्रतिनिधि शामिल हुए। सरदार शरदूल सिंह कवीशर इसके नेता थे।

असहयोग आंदोलन में सिखों की सक्रिय भागीदारी से लाला लाजपत राय भी बहुत प्रसन्न हुए थे। उस समय उन्होंने कहा था कि इस आंदोलन में हमें पंजाब के प्रत्येक वर्ग का सहयोग प्राप्त हुआ, पर सिखों ने तो इस मुहिम को अगवाई दी। इसलिए वे हमारे विशेष धन्यवाद के पात्र हैं।

सन् 1920 के पश्चात् पंजाब में अपने ऐतिहासिक गुरुद्वारों को भ्रष्ट महंतों से मुक्त कराने के लिए सिखों ने जो गुरुद्वारा सुधार आंदोलन प्रारंभ किया वह पूरी तरह अहिंसात्मक था। अमृतसर में गुरु का बाग के मोर्चे पर गले में कृपाण लटकाए हुए अकाली सत्याग्रहियों ने जिस प्रकार शांति रहकर अहिंसक संघर्ष किया था, उसे देखकर सभी आश्चर्य में पड़ गए थे। गुरुद्वारा सुधार आंदोलन की सफलता के पश्चात् गांधी जी ने अकाली सत्याग्रहियों को बधाई देते हुए कहा था कि इस आंदोलन के माध्यम से हमने अपनी स्वाधीनता की आधी लड़ाई जीत ली हैं।

इसी समय सिखों में यह बात प्रचारित हुई कि गांधी जी ने कहा है कि गुरु गोबिंद सिंह पथभ्रष्ट देशभक्त थे।

गांधी जी द्वारा संपादित 'यंग इंडिया' के 9 अप्रैल सन् 1925 के अंक में उनका एक लेख प्रकाशित हुआ—"मेरे क्रांतिकारी मित्र।' इस लेख में गांधी जी ने उन्हें भटके हुए देशभक्त कहा था।

कुछ क्रांतिकारियों ने उस लेख के उत्तर में यह तर्क दिया कि किसी महत् उद्देश्य के लिए हिंसा का उपयोग सर्वथा उचित है। उन्होंने कहा कि इस देश की परंपरा में तथा विदेशों में भी, बड़े-बड़े महापुरुषों ने अन्याय और अत्याचार का सामना करने के लिए हिंसा का प्रयोग किया है। इसी संदर्भ में उनमें से एक ने गांधी जी से पूछा कि क्या गुरु गोबिंद सिंह भी एक पथभ्रष्ट देशभक्त थे जो अन्याय का सामना करने के

लिए हाथ में तलवार उठा लेना उचित समझते थे। आप वाशिंगटन, गैरीबाल्डी और लेनिन के संबंध में क्या कहेंगे? आप कमालपाशा और डी. वलेरा के संवंध में क्या सोचते थे? आप शिवाजी और महाराणा प्रताप के संबंध में क्या कहते हैं? गांधीजी ने इस बात का उत्तर दिया। उन्होंने कहा कि क्रांतिकारियों की सरगरमियां और गुरु गोबिंद सिंह के कार्यों की तुलना करना बड़ी बेतुकी बात है, क्योंकि गुरु गोबिंद सिंह तथा अन्य ऐतिहासिक नायक किसी प्रकार की गुप्त अथवा आतंकवादी हिंसा में विश्वास नहीं रखते थे। दूसरी बात यह कि इन नायकों को अपने कार्यों से तथा अपने साथियों के संबंध में पूरी जानकारी होती थी। आज के भारतीय क्रांतिकारियों के अपने कार्यों की पूरी समझ नहीं है। इनके पास न उन नायकों की भांति सहयोगी है, न उस प्रकार का वातावरण है जैसा उन नायकों के पास होता था।

गांधी जी ने भी कहा था कि मैं अहिंसा का उपासक हूं, इसलिए मैं उन नायकों को अपना आदर्श नहीं मानता जो समस्याओं के निदान के लिए युद्ध में विश्वास रखते हैं।

गांधी जी को सिखों के अंदर उपजे असंतोष और नाराज़गी का अहसास था। उन्होंने इसे दूर करने के लिए और सिख गुरुओं के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करने के लिए एक वक्तव्य दिया जिसमें उन्होंने कहा कि सभी सिख गुरु महान सिख गुरुओं के प्रति अपनी श्रद्धा धार्मिक पुरुष और सुधारक थे। गुरु गोबिंद सिंह हिंदूधर्म की रक्षा करने वाले सबसे महान नेता थे।

देश की राजनीतिक समस्याओं के संबंध में सिख नेताओं का गांधी जी के साथ निरंतर संबंध बना रहा। दिसंबर 1929 में लाहौर में हुए कांग्रेस के समय उस समय के वरिष्ठ सिख नेता बाबा खड़ग सिंह, मास्टर तारा सिंह और स. मेहताब सिंह ने गांधी जी से भेंट की थी। उस समय सिखों का पूरा समर्थन कांग्रेस के साथ था। उन्होंने गांधी जी को यह आश्वासन भी दिया था कि देश की स्वतंत्रता के संघर्ष में सिख कांग्रेस के झंडे के नीचे सक्रिय रहेंगे।

बाद का इतिहास काफी लंबा है। लंबे समय तक सिख नेता और जनता कांग्रेस के साथ रहे। फिर शिरोमणि अकाली दल सिखों की राजनीतिक आकांक्षाओं की प्रतिनिधि संस्था बनकर उभर आई। अकाली दल और कांग्रेस के मध्य प्रेम और घृणा का संबंध निरंतर चलता रहा। स्वतंत्रता के तुरंत पश्चात्, एक समय शिरोमणि अकाली दल ने कांग्रेस में अपना विलय कर दिया था। कुछ समय पश्चात् उसने अपने आपको अलग कर लिया। गत पांच दशकों में ऐसी स्थिति लगातार बनी रही है।

यह देखकर आश्चर्य होता है कि कैसे कुछ धारणाएं और विचार बिना पुष्ट आधार के, जनमानस की सोच में बैठ जाते हैं। आज भी सिखों के एक वर्ग में यह धारणा बद्ध मूल है कि गांधी जी ने यह कहा था कि गुरु गोबिंद सिंह एक पथभ्रष्ट या भटके हुए देशभक्त थे। आज भी सिखों के अनेक नेता अपने भाषणों में यह बात बार-बार

दोहराते हैं और यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि गांधीजी एंटी सिख थे।

इसी प्रकार की एक और अवधारणा सिखों में फैली हुई है और कुछ लोगों द्वारा उसे निरंतर दोहराया जाता है कि स्वतंत्रता के तुरंत पश्चात्, जब लाखों हिंदू-सिख विस्थापित पश्चिमी पंजाब की ओर से पूर्वी पंजाब तथा देश के विभिन्न भागों में आकर बस गए थे। तत्कालीन गृहमंत्री सरदार वल्लभ भाई पटेल ने पंजाब के सभी जिलाधिकारियों को एक पत्र भेजा था जिसमें लिखा था कि सिख जरायम पेशा लोग है, इन पर खास नजर रखी जाए।

मैंने इस संबंध में कुछ खोज की और उस पत्र को ढूंढ़ना चाहा जो कथित रूप से सरदार पटेल द्वारा लिखा गया था। सरदार पटेल द्वारा लिखे गए सभी पत्र (सरकारी और गैर सरकारी) अब कुछ खंडों में प्रकाशित हो चुके हैं। उनमें ढूंढ़ने पर भी मुझे वह पत्र नहीं मिला। स. कपूर सिंह (जो स्वयं उस समय एक जिलाधिकारी थे) ने अपनी पुस्तक 'साची साखी' में इस पत्र का उल्लेख किया है। किंतु अपनी पुस्तक में उन्होंने उद्धृत नहीं किया है।

ऐसी ग़लतफहमियां उत्पन्न करने और उन्हें बार-बार दोहराते रहने से किसी को क्या लाभ मिलता है, मैं नहीं जानता। किंतु इससे मतिभ्रम उत्पन्न होता है और व्यर्थ की कटुता अवश्य बढ़ती है।

(दैनिक जागरण, 21-10-04)

चीन में बौद्ध स्मृतियां फिर से सजीव हो गई हैं

चीन के संबंध में हम बहुत-सी बातें बचपन से सुनते आए हैं। संसार की विशालतम जनसंख्या वाला देश अफीमचियों का देश हैं। यहां पूरी तरह प्राचीन सामंतशाही व्यवस्था है और सम्राट की पूजा किसी भगवान की भांति की जाती है। बाद में वहां से क्रांतिकारी आंदोलन के समाचार आने लगे जो साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित थे। माओत्से तुंग का नाम एक महान क्रांतिकारी के रूप में उभर आया। सारी व्यवस्था को बदलने के लिए लाल सेना निर्मित हो गई। सारा चीन उसके आतंक से ग्रसित हो गया। सारे देश से सामांतीय व्यवस्था नष्ट कर दी गई। जिन पर कोई शक उत्पन्न हुआ, ऐसे लोग मौत के घाट उतार दिए गए। इस अभिमान में अनुमानतः 50 लाख लोग मारे गए।

इस संपूर्ण उथल-पुथल और लंबे संघर्ष के पश्चात् 1949 सन् में पूरी तरह साम्यवादी व्यवस्था हो गई। चीन एक समाजवादी गणतंत्र घोषित हो गया। पूर्व शासक चांगकाई शेष ने चीन के ही एक भाग एक छोटे से द्वीप ताईवान में शरण ग्रहण की। लंबे समय तक ताईवान ही संयुक्त राष्ट्र संघ में चीन का प्रतिनिधित्व करता रहा। बाद में यह स्थान मुख्य चीन को दोहिया गया। चीन का शासक वर्ग सदैव यह चाहता है कि ताईवान चीन की मुख्य भूमि का ही अंग बन जाए किंतु अमेरिका के सक्रिय हस्तक्षेप के कारण अभी तक यह संभव नहीं हुआ है।

भारत ने भी चीन को ही मान्यता दी है। हमारा राजदूत बीजिंग में ही रहता है। कौंसिल जनरल का ऑफिस शंघाई में है।

भारत और चीन के बीच अनेक प्रकार राजनीतिक आर्थिक और सामाजिक समझौते भी हैं। छठे दशक में जब हमारे प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू की सद्इच्छाओं

और प्रयासों के कारण 'पंचशील' के सिद्धांतों की व्यापक मान्यता प्राप्त हुई थी उसमें तत्कालिक चीनी प्रधानमंत्री चाउइन लाई की महत्वपूर्ण भूमिका थी। किंतु उसके बाद सीमा विवाद को लेकर दोनों देशों की सेनाएं एक-दूसरे से भिड़ गई थीं। उसका क्या परिणाम निकला था, हम सब जानते हैं। भारत भूमि का बहुत बड़ा भाग आज चीन के अधिकार में है।

दोनों देशों के मध्य-सांस्कृतिक आदान-प्रदान की योजना को लेकर चीन के लेखक भारत में आते हैं और भारत के कुछ लेखक चीन जाते हैं। इस आदान-प्रदान का आयोजन साहित्य अकादमी करती है। इस वर्ष 10 अक्टूबर से 23 अक्टूबर तक 10 भारतीय लेखकों का जो प्रतिनिधिमंडल चीन गया, उनमें मैं भी एक था। शेष में गिरिराज किशोर (हिंदी) डॉ. गिराड्डी गोविंदराज (कन्नड़ा) डॉ. आश्नि कुमार देसाई (गुजराती) डॉ. (श्रीती) प्रतिभा राय (उड़िसा) श्री बलराज कोमल (उर्दू) श्री दीवेंद्र पालित (बंगाली) श्रीमती तिलकावती (तमिल) प्रो. कृष्ण मूर्ति (तैलगू) और श्री सलवानस लमारे (खासी) थे। हमारा उद्देश्य था कि हम चीनी लेखकों से मिलकर चीनी भाषा की आधुनिक प्रवृत्तियों और गतिविधियों का परिचय प्राप्त करें और भारतीय भाषाओं के संबंध में उनकी जिज्ञासाओं का उत्तर दें। लेखकों से आदान-प्रदान के संबंध में मेरे अनुभव क्या हुए, इस संबंध में मैं अन्य किसी लेख में लिखूंगा।

इस लेख में मैं चीन के सांस्कृतिक पक्ष पर कुछ लिखना चाहता हूं।

भारत की भांति चीन की संस्कृति और इतिहास भी बहुत प्राचीन हैं और वे अपने इतिहास को गत छह हज़ार वर्ष तक ले जाते हैं। चीन में अगणित संग्रहालय हैं जहां उन्होंने अपने सांस्कृतिक अवशेषों को बड़े सुयोग्य ढंग से संभाल रखा है।

चीन और भारत के संबंधों का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पक्ष बौद्धधर्म है। आज भी चीन में इतने विशाल बौद्ध मंदिर और भगवान बुद्ध की, विविध प्रकार की इतनी विशाल प्रतिमाएं लगी हैं, जहां पर्यटक बड़ी मात्रा में जाते हैं। जावान में भी मैंने ऐसी विशाल बौद्ध प्रतिमाएं देखी हैं। चीन में कम्युनिस्ट शासन होने के बावजूद इन मंदिरों में मैंने कितने ही चीनी पयर्टकों को बुद्ध-मूर्ति के समक्ष पूजा-अर्चना करते और दोनों हाथ जोड़कर माथा टेकते देखा। इन भक्तों के मध्य युवा पीढ़ी के लड़कें-लड़कियों को भी बड़ी संख्या दिखाई देती हैं।

चीन जाने के पूर्व मेरी अवधारणा थी कि साम्यवादी विचारधारा के कारण बौद्ध संस्थानों, मूर्तियों तथा अवशेषों की पूरी तरह उपेक्षा हो रही होगी और ऐसे धार्मिक स्थान वर्जित घोषित हो गए होंगे। किंतु ऐसी स्थिति नहीं है। लेखकों के प्रतिनिधिमंडल के लिए जिन स्थानों पर ले जाने की व्यवस्था की गई थी, उनमें बौद्ध मंदिरों पर ले जाने की विशेष व्यवस्था की गई थी। सभी स्थानों पर दुभाषिए थे जो लोगों को अंग्रेजी में उस स्थान का महत्व बताते रहते हैं।

बौद्धधर्म लेकर भारत और चीन के संबंध दो हजार वर्ष पुराने हैं। उस समय

मध्य एशिया होता हुआ भगवान बुद्ध का संदेश, कोरिया, जापान आदि देशों में पहुंचा। वहां के शासकों ने इस धर्म को स्वीकार किया और सामान्य जन में इसका इस प्रकार प्रचार किया कि देश की लगभग संपूर्ण आबादी ने इसे स्वीकार कर लिया। चीन के शासक बौद्ध धर्म और उसके साहित्य को जानने के बहुत लालायित थे इसलिए कितने ही अध्यावसायियों को उन्होंने इन ग्रंथों को चीन में लाने और चीनी में उनका अनुवाद कराने का उन्होंने प्रयास किया।

चीन से आए ऐसे दो पर्यटकों की चर्चा हमें अपने प्राचीन साहित्य में प्राप्त होती है। फाहियान नाम का चीनी तीर्थ-यात्री भारत में सन् 401 तक रहा। वह बौद्ध ग्रंथ विनय-पटक की प्रामाणिक प्रति प्राप्त करने के उद्देश्य से यहां आया था। फाहियान पश्चिमी चीन से चलकर गोबी मरुस्थल के लाप-नोर होते हुए खोतान आया, जहां उस समय बौद्धधर्म की महायान शाखा का प्रचलन था। उसने तक्षशिला में होते हुए समस्त उत्तर की यात्रा की थी। वह तीन वर्ष तक पाटलिपुत्र में रहा। वह बंगाल के ताम्रलिप्त के बंदरगाह से जलयान से अपने देश में रवाना हुआ।

इसी प्रकार ह्यूएनसांग एक चीनी-बौद्ध भिक्षु बौद्ध धर्म के ग्रंथों को खोजने के लिए 630 ई. में भारत आया था। वह तीन हजार मील के लंबे, अत्यंत दुर्गम मार्ग से काबुल होते हुए भारत आया था। अपनी लंबी यात्रा के दौरान उसने यहां जो कुछ देखा उसका विशद वर्णन अपने ग्रंथों में किया है। उस समय उतर भारत में हर्षवर्धन का राज्य था। उसने ह्यूएनत्सांग का हृदय से स्वागत किया और लौटते समय उसे विशाल धन भी मिला। चीन के एक बौद्ध मंदिर के प्रांगण में उसकी विशाल प्रतिभा आज भी लगी हुई है।

बौद्ध धर्म का जन्म भारत में हुआ। यह बहुत बड़ी कड़ी है जो भारत को चीन, कोरिया, जापान तथा अनेक दक्षिण-पूर्वी देशों से जोड़ती है। संस्कृत भाषा के कितने ही शब्द ऐसे हैं जो भगवान बुद्ध के साथ जुड़े हुए हैं। चीनी बौद्ध मंदिरों की यात्रा करते समय मैंने अपनी डायरी में ऐसे कितने ही शब्द लिख लिए थे। कुछ शब्द इस प्रकार हैं—रत्न संभव, अमोध शक्ति, अक्षोमया, विरोचन, मंडल, तथागत, शरीर, समुतमुद्रा, अवलोकितेश्वर, वजुधात, गर्भधातु, अनिरुद्ध। बुद्ध के संदर्भ में इस शब्दों का वहां प्रयोग होता है।

कैसी विडंबना है कि गौतम बुद्ध का जन्म, उनका समस्त अभियान भारत में हुआ, उनके संदेश से यह देश लंबे समय तक आप्लावित रहा। सम्राट अशोक के प्रयास से बुद्ध का नाम और उनका संदेश संसार के अनेक भागों में पहुंचा। एक ओर अफगानिस्तान और दूसरी ओर श्रीलंका, म्यांमार, कंबोडिया, थाईलैंड, वियत, चीन, कोरिया, जापान आदि अनेक देशों में बौद्ध धर्म की दुंदुभी बजने लगी। वह धर्म भारत से लगभग विलुप्त हो गया। दुर्भाग्य की बात यह है कि इस धर्म को उसकी मूल धरती से उखाड़ने के प्रयासों को इस देश में कुछ लोग बड़े गौरव से याद करते हैं। पिछले

लगभग 50 वर्षों में बाबा साहब आंबेडकर के प्रयासों से पचास-साठ लाख लोगों ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया है। हम सभी जानते हैं कि यह किस प्रतिक्रिया का प्रयास है।

चीन में मैंने देखा कि वहां के जन-जीवन आज भी बौद्ध धर्म का बहुत प्रभाव हैं। सभी मंदिरों में वृद्ध भिक्षु काषाच वस्त्रों में दिखाई देते हैं, अनेक युवा भिक्षु भी वहां दिखाई दिए। यह इस बात का प्रमाण है कि युवा पीढ़ी भी इससे प्रभावित है।

चेयरमैन माउत्सेतुंग ने कुछ पूर्व सांस्कृतिक क्रांति (कल्चरण रेवोल्यूशन) की लहर चलाई थी। इस अभियान में चीन की अनेक प्राचीन सांस्कृतिक स्मृतियां नष्ट कर दी गईं अथवा उनकी घोर उपेक्षा की जाने लगी। यद्यपि आज भी उस देश में कम्युनिस्ट राज्य व्यवस्था है, फिर भी पिछले कुछ वर्षों में आर्थिक क्षेत्र में विश्वीकरण की व्यवस्था को वहां बहुत महत्व दिया जा रहा है। विश्व की अनेक बहुराष्ट्रीय संस्थाएं वहां आ गई हैं जो बड़े जोर-शोर से वहां अपना विस्तार कर रही हैं। इसी के साथ आपकी चीनी सरकार वहां की प्राचीन सांस्कृतिक विरासत का पुर्नस्थान करने और उससे गौरवांवित होने की ओर चल पड़ी हैं। बौद्ध मंदिर भी वहां कुछ दशकों तक अपेक्षा की मार सहते रहे हैं। आज स्थिति बदली हुई है। बौद्ध मंदिर अपना पूर्व गौरव प्राप्त ही नहीं कर रहे हैं। बल्कि देशी-विदेशी पर्यटकों का बहुत बड़ा आकर्षण बन गए हैं।

(दैनिक जागरण, 28-10-04)

अद्भुत बलिदानी परंपरा थी मोहयाल ब्राह्मणों की

दिल्ली के चांदनी चौक में एक स्थान है, जिसे फौहारा कहा जाता है। उस स्थान का नाम अब भाई मतिदास चौक है। उसके सामने गुरुद्वारा शीश गंज है। मुग़ल राज्य के समय यहां कोतवाली हुआ करती थी। जब नौंवे गुरु, गुरु तेग बहादुर और उनके तीन साथी, भाई मति दास, भाई सति दास और भाई दयाला रोपड़ को बंदी बनाकर दिल्ली लाए गए थे, उन्हें इसी कोतवाली में कैद किया गया था।

मुग़ल राज्य के काज़ी ने सभी के सम्मुख तीन बातें रखी थीं—एक, अपना धर्म परिवर्तित कर लो। दो, कोई करामात दिखाओ। यदि यह स्वीकार नहीं तो मृत्यु स्वीकार करो। सभी ने तीसरी बात को स्वीकार कर लिया।

सबसे पहले भाई मतिदास की परीक्षा हुई। उन्हें कोतवाली से निकालकर फौहारा चौक पर लाया गया। काज़ी ने फिर वही बातें दोहराई। भाई मतिदास अपने निश्चय पर दृढ़ रहे। शाही हुक्म हुआ कि उन्हें खड़े-खड़े आरे से चीर दिया जाए। इस क्रम में दूसरा नाम भाई दयाला का था। उन्हें उबलते हुए पानी के कढ़ाव में डालकर मृत्यु दी गई। फिर भाई सतिदास को रुई में लपेट कर आग लगा दी गई। इन तीनों के बलिदान के पश्चात् 11 नवंबर 1675 को कोतवाली के आहते में एक वृक्ष के नीचे बैठाकर उनका शिरच्छेद कर दिया गया।

यह सारी घटना इतिहास प्रसिद्ध है। आज मैं थोड़ी-सी चर्चा भाई मतिदास और भाई सतिदास और उनकी वंश परंपरा की करना चाहता हूं। इन दोनों भाइयों का जन्म सारस्वत मोहयाल ब्राह्मणों में छिब्बर जाति में हुआ था। उनकी परंपरा यह स्वीकार करती है कि मूल रूप से मोहयाल ब्राह्मण सिंध के शासक थे। सातवीं सदी में इसी वंश के

राजा चच का राज्य सिंध के अतिरिक्त मुल्तान से लेकर कन्नौज तक फैला हुआ था। राजा चच के पश्चात् उनके पुत्र राजा दाहिर के समय अरब आक्रांता मुहम्मद बिन कासिम का आक्रमण हुआ उसमें राजा दाहिर की पराजय हुई। उसके पश्चात् मोहयाल वंश पंजाब आ गया और जिला जेहलम की चकवाल तहसील में करियाला स्थान इनका केंद्र बन गया।

गुरु नानक देव द्वारा स्थापित सिख-परंपरा से इस वंश का संबंध परागा (बाबा परागा) के माध्यम से हुआ। गुरुओं के प्रति उनकी श्रद्धा और सेवाभाव के कारण गुरु-दरबार में उनका बड़ा सम्मान था। छठे गुरु, गुरु हरिगोबिंद के समय से संपूर्ण सिख-आंदोलन ने नया स्वरूप ग्रहण करना प्रारंभ कर दिया था। गुरु हरिगोबिंद ने एक अच्छी प्रशिक्षित सेना खड़ी कर ली थी। शाहजहां के शासन काल में इस सेना की मुग़ल सेनाओं के साथ कुछ युद्ध भी हुए थे। इन्ही युद्धों में बाबा परागा ने अपना युद्ध कौशल भी प्रदर्शित किया था और वीरगति प्राप्त की थी।

बाबा परागा के पश्चात् उनके पुत्र द्वारका दास छिब्बर को गुरु हरिगोबिंद ने अपना दीवान नियुक्त कर दिया था। गुरु-दरबार की संपूर्ण व्यवस्था का दायित्व दीवान पर ही होता था। फिर कई पीढ़ियों तक दीवान का पद छिब्बर परिवार में ही रहा। सिख-परिवेश में 'भाई' बहुत सम्मानित शब्द रहा है। गुरु हरि गोबिंद के समय से ही यह सम्मान छिब्बर परिवार के साथ जुड़ गया था, जो आज तक जुड़ा हुआ है।

छिब्बर परिवार के अनेक सदस्य गुरु-घर से जुड़े हुए थे। भाई मतिदास के चाचा भाई दरगाह मल सातवें गुरु, गुरु हरिराम और आठवें गुरु हरि कृष्ण के दीवान थे। गुरु तेग़बहादुर ने भाई मतिदास को अपना दीवान नियुक्त किया था। भाई मतिदास के भतीजे भाई साहब चंद और भाई धर्मचंद गुरु गोबिंद सिंह के दीवान थे।

इस परिवार की बलिदानी परंपरा अद्भुत है। दीवान साहब चंद ने गुरु गोबिंद सिंह के मुगलों से हुए युद्ध में वीरगति प्राप्त की। दीवान साहब चंद के पुत्र दीवान गुरुबख्श सिंह ने उस समय अपनी शहादत दी जब अहमदशाह अब्दाली ने हरि मंदिर अमृतसर पर आक्रमण किया था। अन्याय का विरोध और अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अपने प्राणों का उत्सर्ग कर देना जैसे मोहयाल छिब्बर वंश की परंपरा का एक अभिन्न अंग बन गया।

अंग्रेजों के शासन काल में कांग्रेस की स्थापना के पश्चात् उसमें दो विचारधाराएं उभर आईं। एक विचारधारा गरम पंथियों की थी जो विदेशी सरकार का विरोध बहुत मुखर होकर करते थे। इस वर्ग के नेता बाल गंगाधर तिलक थे, जिन्होंने देश को यह उद्घोष दिया था कि स्वतंत्रता हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है। दूसरे पक्ष के नेता महादेव गोविंद रानडे थे जो अंग्रेजी राज्य में भारतीयों के लिए अधिक अधिकार प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहते थे।

इसी के समानांतर क्रांतिकारियों का वर्ग अंग्रेजों के साथ सशस्त्र संघर्ष करके

स्वाधीनता प्राप्त करने में विश्वास करता था। बंगाल, महाराष्ट्र, पंजाब तथा देश के अन्य भागों में ये क्रांतिकारी बहुत सक्रिय थे। अंग्रेजी शासन को आतंकित करने के लिए क्रांतिकारियों द्वारा हिंसात्मक कार्रवाई करना बहुत हद तक यूरोप, विशेष रूप से रूस में कुछ क्रांतिकारी संगठनों का प्रभाव था। सन् 1907 में युगांतर पार्टी के एक नेता को पश्चिमी यूरोप भेजा गया, जहां उन्होंने निर्वाचित रूसी क्रांतिकारियों के साथ संपर्क स्थापित किया और गोला बारूद बनाना सीखा। उसके बाद तो अंग्रेज अफसरों और पुलिस मुखबिरों पर बमों से आक्रमण करने की झड़ी सी लग गई। सन् 1909 से 1914 की अवधि में 32 ऐसी कार्रवाइयां दर्ज की गई।

सन् 1912 में वाइसराय लार्ड हार्डिंग पर दिल्ली के क्रांतिकारियों ने बम फेंका जिसमें वह गंभीर रूप से घायल हो गया। इस बम कांड के लिए मास्टर अमीर चंद, श्री अवध बिहारी और भाई बाल मुकंद को बंदी बनाया गया और दिल्ली की डिस्ट्रिक जेल में उन्हें फांसी दे दी गई।

भाई बाल मुकंद मोहयाल छिब्बर ब्राह्मणों की उसी वंश परंपरा में थे जिसने भाई मतिदास और भाई सतिदास को जन्म दिया था। उनका जन्म सन् 1889 में ग्राम करियाला में हुआ था। सन् 1910 में उन्होंने पंजाब विश्वविद्यालय से बी.ए., बी.टी. की परीक्षा उत्तीर्ण की थी और अध्यापन कार्य प्रारंभ कर दिया था। मेहता दीवान चंद्र दत्त की पुत्री राम रखी से उनका विवाह हुआ। किंतु वैवाहिक जीवन भी उनके अंदर की देशभक्ति की भावना से विरत नहीं कर सका। वे बंगाल के सुप्रसिद्ध क्रांतिकारी भी रास बिहारी बोस के संपर्क में आए और क्रांतिकारियों की श्रेणी में शामिल हो गए। रास बिहारी बोस ने बंगाल से लेकर पंजाब तक इस दृष्टि से भ्रमण किया कि बिखरे हुए क्रांतिकारी तत्वों को एक माला में पिरो दें। उन दिनों लाला हरदयाल, सोहन सिंह मकना और करतार सिंह सराभा के प्रयासों से भारत की आज़ादी के लिए अमेरिका में एक आंदोलन प्रारंभ हुआ जिसे गदर पार्टी के रूप में स्मरण किया जाता है। गदर पार्टी ने अमेरिका और कनाडा में बसे हुए भारतीय प्रवासीयों में देश की स्वतंत्रता के लिए संगठित होने की लहर चलाई। इस लहर को क्रियात्मक रूप देने के लिए गदर पार्टी के बहुत से कार्यकर्त्ता भारत आ गए और अंग्रेजों के शासन को उखाड़ फेंकने की योजनाएं बनाने लगे।

भाई बाल मुकुंद को फांसी के तख्ते की ओर ले जाया जा रहा था, उन्होंने सिपाहियों से हाथ छुड़ा लिया और दौड़कर सीढ़ियां चढ़ गए और अपने हाथों से फांसी का फंदा अपने गले में डाल लिया। उनकी पत्नी राम रखी ने भी अन्न-जल का त्याग करके अपने प्राण छोड़ दिए।

इस संदर्भ में भाई परमानंद की चर्चा किए बिना बात अधूरी रह जाएगी। ब्रिटिश सरकार के गुप्तचर विभाग की रिपोर्ट यह थी कि भगत सिंह और सुखदेव जैसे क्रांतिकारियों के प्रेरणा स्रोत भाई परमानंद हैं। अधिकांश बम विस्फोट के पीछे उनका

हाथ है। भाई वाल मुकंद को फांसी दिए जाने के पश्चात् सरकार मोहयाल ब्राह्मणों के वंश की ओर से बहुत सशक्त हो गई थी। वह भाई परमानंद को भी बहुत खतरनाक व्यक्ति मानने लगी थी और किसी बहाने उन्हें दंडित करने की सोचती रहती थी। उन्हें लाहौर षडयंत्र के प्रकरण में बंदी बना लिया गया और झूठे आरोप गढ़ कर उन्हें फांसी की सज़ा सुना दी गई।

भाई परमानंद की इस षडयंत्र में कोई संलग्नता नहीं थी। महात्मा गांधी और पं. मदन मोहन मालवीय जैसे नेता भी उन्हें पूरी तरह निर्दोष मानते थे। अपने समय के अत्यंत सम्मानित मानवतावादी सी.एफ. एण्ड्रयूज़ को जब यह जानकारी मिली तो वे भाई परमानंद के परिवार से मिलने के लिए लाहौर गए। उनके परिवार की दयनीय स्थिति देखकर और वास्तविक स्थिति से परिचित होकर उन्होंने लाहौर से प्रभावित होने वाले अंग्रेज़ी दैनिक ट्रिब्यून में एक लेख लिखा। उन्होंने लिखा कि लाहौर में ऐसी कितनी ही छोटी-छोटी गलियां हैं जिनके नीचे के कमरों में सूर्य का प्रकाश कभी नहीं पहुंचता है। इसी प्रकार की एक छोटी सी गली में और इसी प्रकार के प्रभावहीन एक छोटे से कमरे में मैंने भाई परमानंद की पत्नी तथा दो बच्चों को देखा था।

जब भाई परमानंद बंदी बनाए गए थे, उस समय जो कुछ उनकी स्त्री के पास था सरकार ने जब्त कर लिया था। घर के छोटे-छोटे बर्तन भी छिन गए थे।

श्री एण्ड्रयूज ने अपने लेख में लिखा था कि भाई परमानंद से मेरा परिचय नहीं था, लेकिन मैंने उनके विषय में जो कुछ सुना था उससे मेरे हृदय में उनसे मिलने की इच्छा उत्पन्न हो गई

भाई परमानंद पर भारत रक्षा कानून के अंतर्गत सन् 1915 में जो अभियोग चलाया गया था, वह बहुत कमजोर था। उनकी बेगुनाही के संबंध में चारों ओर आवाजें उठ रही थीं। सरकार ने अपनी फांसी की सज़ा काले पानी के आजन्म कारावास में परिवर्तित कर दी थी। कुछ समय पश्चात् वहां से भी उनकी रिहाई हो गई थी।

बाबा परागा से लेकर भाई परमानंद तक का इतिहास मोहयाल ब्राह्मणों का इतिहास वीरता. देशभक्ति और बलिदान से भरा हुआ है। इसका संपूर्ण मूल्यांकन होना चाहिए।

(दैनिक जागरण, 9-12-04)

संकट के दिनों में गुरु गोबिंद सिंह के मुसलमान मित्रों की सौजन्यता

ठीक तीन सौ वर्ष पहले दिसंबर सन् 1704 के अंतिम दिनों का स्मरण कर कौन है जो रोमांचित नहीं हो उठेगा। पहाड़ी राजाओं और जम्मू, लाहौर तथा सरहिंद सूबों की मुग़ल सेनाओं ने कई महीनों से आनंदपुर का घेरा डाला हुआ था। दुर्ग में अनाज और पीने के पानी की निरंतर कमी हो रही थी। शत्रु सेनाओं का घेरा इतना कड़ा था कि बाहर से कोई भी वस्तु दुर्ग के अंदर नहीं जा पा रही थी। शत्रु सेनाओं के सिपहसालार गुरु गोबिंद सिंह के पास यह संदेश, सौगंधों और वायदों के साथ, बार-बार भेज रहे थे कि यदि वे दुर्ग छोड़कर चल जाएं तो उन्हें किसी प्रकार का नुक़सान न पहुंचाया जाएगा और सुरक्षित जाने दिया जाएगा।

अंत में दुर्ग छोड़ देने का निश्चय हुआ। वह 20-21 दिसंबर की शीत भरी काली रात्रि थी जब गुरु गोबिंद सिंह न अपनी बची हुई सेना और परिवार सहित दुर्ग छोड़ दिया। अभी वे कुछ दूर सरसा नदी के पास पहुंचे ही थे कि पीछे से शत्रु सेना अपनी सभी कस्मों और वायदों को भुलाकर उनकी पीछे आ गई।

उधर पहाड़ों पर वर्षा प्रारंभ हो गई और सदा सूखी रहने वाली सरसा नदी में जल का प्रवाह बहुत तेज हो गया। आनंनपुर का दुर्ग छोड़ते समय गुरु गोबिंद सिंह ने अपनी सेना के दो भाग कर दिए थे। उनकी माता (गुजरी) दो पत्नियां (माता सुंदरी और माता साहब देवा) तथा दो छोटे पुत्र जोरावरसिंह और फतेह सिंह, उनका विशाल विद्या भंडार जिसमें उनकी तथा उनके आश्रित कवियों की बहुमूल्य कृतियों की पांडुलिपियां थीं और दो सौ सशस्त्र घुड़सवार भाई उदय सिंह के नेतृत्व में पहले निकले थे। तुरंत

बाद अपने दो बड़े पुत्रों—अजीत सिंह और जुझार सिंह तथा चार सौ घुड़सवारों सहित गुरु गोबिंद सिंह स्वयं निकले थे।

कंपकपाती शीत भरी-भरी, अंधेरी रात्रि, वर्षा और विशाल शत्रु सेना के आक्रमण के मध्य बहती हुई सरसा नदी को किसी प्रकार पार करके उदय सिंह ने गुरु परिवार की रक्षा की। किंतु नदी के तेज प्रवाह में अनेक महत्वपूर्ण पांडुलिपियां जल में बह गईं। नदी के उस पार पहुंचने पर यह दल भी दो भागों में विभाजित हो गया। माता गूजरी और दो छोटे पुत्रों को परिवार का रसोइया गंगू अपने गांव ले गया। माता सुंदरी और माता साहब देवा को कुछ सिख अंबाला ले गए, जो बाद में दिल्ली पहुंच गईं।

सरसा नदी के किनारे विशाल शत्रु सेना में युद्ध करते हुए गुरु गोबिंद सिंह के अधिसंख्य सैनिक वीरगति प्राप्त कर गए थे। वे अपने दो पुत्रों और बचे हुए चालीस सैनिकों सहित चमकौर की ओर से बढ़े और वहां की एक छोटी सी कच्ची गढ़ी में पहुंचकर अंतिम युद्ध की तैयारी में लग गए।

22 दिसंबर को विशाल शत्रु सेना ने गढ़ी को घेर लिया। एक-एक करके उनके साथी युद्ध करते हुए वीरगति प्राप्त करने लगे। गुरु गोबिंद सिंह की वाण वर्षा में मुग़ल सेनापति नाहर खान मारा गया और ख्वाज़ा मुहम्मद ने गढ़ी की दीवार की ओट में छिपकर अपनी जान बचाई।

अब समय आ गया गुरु-पुत्रों के बलिदान का। पहले ज्येष्ठ पुत्र अजीत सिंह (18 वर्ष) ने पिता से आज्ञा ली और शस्त्रबद्ध होकर शत्रु सेना से जूझने के लिए रणभूमि में आ गया। उसके बलिदान के पश्चात् उससे छोटे जुझार सिंह (14 वर्ष) ने पिता से रणभूमि में जाने की आज्ञा ली। अपने कुछ साथियों सहित शत्रु सेना से युद्ध करते हुए वह भी वीरगति को प्राप्त हुआ। गुरु गोबिंद सिंह ने अपनी आंखों के सामने अपने दो ज्येष्ठ पुत्रों की शहादत को देखा।

गढ़ी में गुरु गोबिंद सिंह के साथ अब केवल पांच सिख-दया सिंह, धर्म सिंह, मानसिंह, संगत सिंह और संत सिंह बचे थे। इन सबका भविष्य निश्चित था। इन पांच सिखों ने आपस में विचार-विमर्श किया। वे उनके सम्मुख आए और बोले—"गुरुदेव, बैसाखी के दिन आपने हमें अमृत पान कराया था और बाद में अपने पांच प्यारों से स्वयं अमृत लिया था। इस प्रकार आपने हमें गुरु का स्थान दे दिया था। इस नाते हम पांचों लोग आपसे आग्रह करते हैं कि आप इस गढ़ी को छोड़कर चले जाएं और जिस महान कार्य को आपने प्रारंभ किया है, उसे आगे बढ़ाएं। इसे आप हमारा आदेश माने।

चमकौर की गढ़ी छोड़ने का निश्चय हो गया। यह तय हुआ कि कि दया सिंह, धर्म सिंह और मान सिंह गुरु जी के साथ जाएंगे। संगत सिंह और संत सिंह गढ़ी में रहकर शत्रु पर बाण वर्षा करते रहेंगे। संत सिंह की शक्ल गुरु गोबिंद सिंह से बहुत मिलती थी। उसने उनके वस्त्र धारण कर लिए जिससे शत्रु को यह अहसास हो कि

वे गढ़ी में ही हैं। सर्दियों की घनी अंधेरी रात्रि में गुरु गोविंद सिंह अपने तीन साथियों सहित निकले और विभिन्न दिशाओं की ओर चल दिए। यह तय हुआ कि वे कुछ दूर माछी वाड़ा गांव में मिलेंगे।

यहां से यह सारी व्यथा-कथा एकदम नया मोड़ लेती है। हिंदी के मुसलमान कवियों—रहीम, रसखान, रसलीन, आलम आदि के साहित्यिक योगदान की प्रशंसा करते हुए भारतेंदु हरिशचंद्र ने लिखा था—'इन मुसलमान हरिजनन पै कोटिन हिंदू वारिऐ।' आगे की कहानी गुरु गोबिंद सिंह के मुसलमान मित्रों के अद्‌भुत सहयोग की कहानी है।

माछी वाड़ा गांव में गुरु गोबिंद सिंह के तीनों साथी भी आ मिले थे। उसी गांव के गनी खां और नबी खां पठान रहते थे। गुरु जी के उन पर बहुत से अहसान थे। उन्होंने उनकी सहायता करने का निश्चय कर लिया। मुग़ल सेनाओं के चंगुल से उन्हें बचाने के लिए उन्होंने उन्हें सूफी फकीरों जैसा रूप दिया। उन्हें एक चारपाई पर बैठाया गया। उसे चार लोगों-दो पठानों और वेश बदले हुए दो सिखों ने उठाया। सूफी वेश में ही एक साथी ने उन पर चंवर डुलाने का दायित्व लिया। घोषित किया गया कि वे 'उच्च के पीर' हैं। मुल्तान जिले 'उच्च' नामक स्थान मुसलमानों का एक बड़ा श्रद्धा केंद्र है। इसका एक अर्थ यह भी था कि ये ऊंचे पीर हैं।

मुग़ल शत्रु सेनाएं उन्हें लगातार ढूंढ़ रही थीं। मार्ग में अनेक स्थानों पर उनसे पूछताछ की गई। एक स्थान पर एक फौजदार को कुछ शक हो गया। गुरु गोबिंद सिंह फारसी के बहुत अच्छे ज्ञाता थे। उन्होंने फौजदार से फारसी में बातचीत की। अपना शक दूर करने के लिए फौजदार ने पास के गांव से काजी पीर मुहम्मद को बुलाया। काजी पीर मुहम्मद ने गुरु जी को फारसी पढ़ाई थी। उसने उन्हें पहचान लिया किंतु उसने फौजदार से कह दिया कि सचमुच ये एक सूफी फकीर हैं। इस प्रकार उस संकट की घड़ी में उनकी रक्षा हुई।

नबी खां और ग़नी खां उनकी रक्षा करते हुए उन्हें लुधियाना के पास रायकोट ले गए। यहां के मुसलमान जागीरदार राय कल्हा ने उनका स्वागत किया और उनकी सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए उन्हें गुप्त रूप से अपने पास रखा। इसी स्थान पर उन्हें यह दुःखद समाचार मिला कि उनके दोनों छोटे पुत्रों जोरावर सिंह (9 वर्ष) और फतेह सिंह (7 वर्ष) को सरहिंद के नवाब ने शहीद कर दिया है।

सरसा नदी के तट पर, संकट के क्षणों में माता गूजरी और दोनों छोटे पुत्रों को गंगू अपने गांव ले गया था। वहां उसने भयवश अथवा इनाम के लालच में यह सूचना वहां के फौजदार को दे दी। फौजदार ने उन्हें बंदी बनाकर सरहिंद के सूबेदार वज़ीर खान के पास भेज दिया। वहां उन्हें इस ठंडे बुर्ज में कैद किया गया, जो गर्मी की ऋतु में वज़ीर खान के ठहरने का स्थान था।

24 दिसंबर के दिन दोनों बच्चों को दरबार में लाया गया। उनसे कहा गया कि

उनके पिता और दोनों बड़े भाई युद्ध में मारे जा चुके हैं। यदि वे अपना धर्म बदल लें तो उनकी जान बच सकती है। उन्हें बहुत सी सुख-सुविधाओं का लालच भी दिया गया।

दोनों गुरु-पुत्रों ने इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया। सूबेदार वजीर खान ने उन्हें दीवार में जीवित चुन देने का आदेश दे दिया। इस अवसर पर मलेरकोटला की छोटी सी रियासत का नवाब शेर मुहम्मद खान भी उस दरबार में था। उसने उक्त आदेश पर आपत्ति उठाते हुए कहा कि हमारी दुश्मनी इनके पिता से है। इन मासूम बच्चों को ऐसी दर्दनाक सजा देना ठीक नहीं है। वजीर खान ने उसकी बात ठुकरा दी। पहले उन्हें कंधों तक दीवार में चुना गया। इससे भी वे भयभीत नहीं हुए तो उनका शिरच्छेद करके उनके शवों को बाहर फेंक दिया गया। उनकी दादी, माता गूजरी ने इस शोक में अपने प्राण त्याग दिए। सरहिंद के ही एक धनी व्यापारी टोडरयल ने सूबेदार को बहुत-सा धन देकर तीनों के अंतिम संस्कार की व्यवस्था की। यह घटना 27 दिसंबर की है।

कुछ दिन राय कल्हा का आथित्य ग्रहण करने के पश्चात् गुरु गोबिंद सिंह अपने कुछ साथियों सहित बठिंडा के पास दीना कांगड़ की ओर चल दिए।

गुरु गोबिंद सिंह जिस गंगा सागर से जल ग्रहण करते थे, रायकोट से विदा होते समय उसे अपनी स्मृति के रूप में राय कल्हा को देते गए। तीन सौ वर्ष से इस परिवार ने इस पवित्र धरोहर को अपने पास संभाला हुआ है। विभाजन के पूर्व तक श्रद्धालु संगत को कभी-कभी इस गंगा सागर के दर्शन कराए जाते थे। विभाजन के परिणाम स्वरूप रायकोट के जागीरदार खान बहादुर राय पाकिस्तान चले गए। इस समय यह गंगा सागर उनके उत्तराधिकारी राय अजीज उल्ला के संरक्षण में है जो राय कल्हा की नौंवी पीढ़ी में हैं।

राय अजीज उल्ला इस ऐतिहासिक धरोहर का महत्व और मूल्य समझते हैं। सुरक्षा की दृष्टि से उन्होंने इसे लंदन के एक बैंक में रखा हुआ है। आज जब गुरु गोविंद सिंह के चारों पुत्रों का शहीदी दिवस मनाया जा रहा है, राय अजीज उल्ला, लोगों के दर्शनार्थ इसे लेकर भारत आए हैं।

कभी-कभी मैं सोचता हूं कि संकट की उन घड़ियों में गुरु गोबिंद सिंह की रक्षा उनके मुसलमान श्रद्धालुओं, मित्रों और स्नेहियों ने न की होती तो इतिहास का क्या रूप होता? नबी खान और गनी खान उन्हें उच्च का पीर बनाकर रायकोट तक लाए थे। मार्ग में जब मुग़ल फौजदार को संदेह हुआ और उनकी पहचान के लिए काजी पीर मुहम्मद को बुलाया गया तो उन्होंने गुरु गोबिंद सिंह को पहचान कर भी यह कह दिया कि ये सचमुच एक मुसलमान सूफी फकीर हैं। रायकोट के मुसलमान जागीरदार राय कल्हा ने, बहुत जोखिम उठाकर कई दिन तक उन्हें गुप्त रूप से अपने पास रखा। इस बात को आज तीन सौ वर्ष हो गए हैं। उनकी धरोहर गंगा सागर आज भी राय

कल्हा के वंशजों के पास सुरक्षित है।

सरहिंद के सूबेदार वज़ीर खान के दरबार में मलेरकोटला के नवाब शेर मुहम्मद खान ने गुरु गोबिंद सिंह के छोटे पुत्रों को दीवार में जीवित चुनवा देने का विरोध किया था। सिख इस सौजन्यता का कभी नहीं भूले। अठारहवीं-उन्नीसवीं शती में जब सिख बहुत शक्तिशाली हो गए और सारे पंजाब पर उनका अधिकार हो गया, उन्होंने मलेर कोटला की ओर कभी आंख नहीं उठाई। सन् 1947 में भारत विभाजन के अवसर पर जब पूर्वी पंजाब में मुसलमानों का व्यापक नरसंहार हुआ था, मलेरकोटला के मुसलमान पूरी तरह सुरक्षित रहे। उन भयावह दिनों में आस-पास के क्षेत्रों से जो मुसलमान किसी प्रकार मलेर कोटला पहुंच जाते थे वे भी सुरक्षित हो जाते थे। आज भारतीय पंजाब में मलेरकोटला मुस्लिम बहुल क्षेत्र है। उनके प्रतिनिधि वहां से विधायक चुने जाते हैं और पंजाब सरकार में मंत्री भी बनते हैं।

इतिहास शत्रुता और युद्ध के उदाहरणों से भरा हुआ है। उसी के साथ मित्रता, सौजन्यता और सहायता की भी असंख्य मिसालें हैं, जिनकी उपेक्षा करना इतिहास को आधा-अधूरा समझना है।

(दैनिक जागरण, 23-12-04)

राष्ट्रगान में सिंध शब्द पर विवाद

राष्ट्रगान में आए सिंध शब्द को लेकर उत्पन्न किए गए विवाद से अपने प्रदेश से निर्वासित होकर भारत के अनेक भागों में बसे हुए सिंधी बंधु बहुत मर्माहत महसूस कर रहे हैं। राष्ट्रगान में आए शब्द—पंजाब, सिंध, गुजरात, मराठा, द्राविड़, उत्कल और बंग शब्द भौगोलिक महत्व तो रखते ही हैं, साथ ही इस देश में बसने वाली अनेक सांस्कृतिक एवं भाषायी इकाइयों का स्मरण करते हुए उन्हें एक लड़ी में पिरोने का काम करते हैं। महाराजा रणजीत सिंह के समय का पंजाब पेशावर तक फैला हुआ था। सन् 1849 में जब रणजीत सिंह के पंजाब का विलय अंग्रेजी भारत में हुआ तो यह सीमा दिल्ली तक पहुंच गई थी।

'जन-गण-मन' गान की रचना रवींद्र नाथ टैगोर ने सन् 1911 में की थी। उस समय सिंध बंबई-प्रेसीडेंसी का एक भाग था। सन् 1937 में अंग्रेज सरकार ने उसे अलग करके एक प्रांत बना दिया। गुजरात भी उस समय पृथक् प्रांत नहीं था। जिस द्रविड़ प्रदेश का उल्लेख इस गान में किया गया है, वह संपूर्ण दक्षिणी भारत का बोध कराता है। इसी प्रकार उस समय बंगाल नाम से जो भू-भाग जाना जाता था उसमें बंगाल के अतिरिक्त असम, उड़ीसा, बिहार, छोटा नागपुर जैसे प्रदेश भी आते थे। इसलिए यह तर्क कोई मायने नहीं रखता कि सिंध प्रांत आज पाकिस्तान में है इसलिए उसे राष्ट्रगान से निकाल दिया जाना चाहिए। टैगोर ने इन्हें भारत की विविध सांस्कृतिक इकाइयों के रूप में देखा था, न कि बाद में बनी भौगोलिक इकाइयों के रूप में हैं।

यह धारणा भी बहुप्रचलित है कि रवींद्र नाथ टैगोर ने यह गीत सम्राट जार्ज पंचम के दिल्ली आने पर उनकी प्रशस्ति में लिखा था। 26 जनवरी 2005 के जागरण में प्रकाशित

श्री राज नाथ सिंह सूर्य के लेख—"राष्ट्रगान पर फिर उठे सवाल"—में भी इस बात का उल्लेख है। टैगोर के जीवनकाल में ही उनसे यह प्रश्न पूछा गया था। उस समय उन्होंने इसका पूरी तरह प्रतिवाद किया था। उनके अपने शब्दों में—"जो लोग मुझे इतना बड़ा मूर्ख समझते हैं कि मैं जार्ज चतुर्थ या पंचम की युग-युग धावित यात्री के चिर सारथी के रूप में स्तुति करूंगा, यदि मैं उन लोगों को उत्तर देने की चिंता करूं तो यह मेरा अपमान होगा।

'तत्वबोधिनी' पत्रिका में, जिसके संपादक रवींद्रनाथ टैगोर थे, भारत भाग्य विधाता शीर्षक से यह गीत जनवरी सन् 1912 के अंक में पहली बार प्रकाशित हुआ था।

इसमें कोई संदेह नहीं कि बंकिमचंद्र चटर्जी के लिखे गीत—'वंदेमातरम्' ने इस देश में असंख्य जनों को राष्ट्रभक्ति की ओर प्रेरित किया था। अगणित क्रांतिकारी युवक वंदेमारतम् कहते हुए फांसी के तख्तों पर झूल गए थे। उन दिनों उत्तर से लेकर दक्षिण तक संपूर्ण भारत में वंदेमातरम् का जयघोष सुनाई देता था।

इंडियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना सन् 1885 में हुई। इसका दूसरा अधिवेशन 1886 में कलकत्ता में हुआ। यहां हेमचंद्र वंद्योपाध्याय ने वंदेमातरम् गीत के कुछ अंश सुने थे। इसके बाद दूसरी बार रवींद्र नाथ टैगोर ने सन् 1896 के कांग्रेस अधिवेशन में इसे गाया था। सन् 1901 के बाद कांग्रेस के प्रत्येक अधिवेशन में इस गीत का गायन हुआ।

वंदेमातरम् गीत को राष्ट्रीय प्रतिष्ठा बंग-भंग आंदोलन के समय प्राप्त हुई। तत्कालीन वाइसराय लार्ड कर्जन ने सन् 1903 में घोषणा की कि बंगाल प्रांत बहुत बड़ा है। इसलिए प्रशासनिक सुविधा के लिए इसका विभाजन आवश्यक है। घोषणा में कहा गया कि इस प्रांत को विभाजित करके जो प्रांत बनाया जाएगा उसका नाम पूर्वी बंगाल और असम होगा और ढाका उसकी राजधानी होगी।

अंग्रेज सरकार की इस नीति का व्यापक विरोध हुआ और इस निर्णय के विरुद्ध वहां प्रभावशाली अन्दोलन उठ खड़ा हुआ। वंदेमातरम् गीत उस आंदोलन का प्रेरणा-गीत बन गया।

प्रारंभ में बंकिम चंद्र ने जिस गीत की परिकल्पना की थी वह तत्कालीन बंगाल तक सीमित थी, जिसकी जनसंख्या लगभग सात करोड़ थी। उस समय संपूर्ण भारत की जनसंख्या तीस करोड़ थी। मूल गीत के शब्द हैं—

सप्त कोटि कंठ कल कल निनाद कराले।
द्विसप्त कोटि भुजैर्धृत खरकर वाले।

जैसे-जैसे इस गीत की लोकप्रियता बढ़ती गई। इसे अखिल भारतीय स्वरूप मिलता गया। पहले सप्त कोटि के स्थान पर त्रिशंकोटि हुआ और फिर बाद में कोटि-कोटि हो गया। श्री राजनाथ सिंह सूर्य ने अपने लेख में लिखा है कि मौलाना मुहम्मद अली

के अलावा कांग्रेस के किसी भी मुस्लिम सदस्य ने कभी भी वंदेमातरम् को मज़हब विरोधी नहीं करार दिया।

किंतु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। जैसे-जैसे इस गीत की लोकप्रियता बढ़ती गई और इसे राष्ट्रगान के रूप में स्वीकार किया जाने लगा, मुस्लिम समुदाय में इसका विरोध भी व्यापक रूप लेने लगा। काकीनाड़ा कांग्रेस के अध्यक्ष मौलाना मुहम्मद अली ने सन् 1923 में कहा कि अधिवेशन में वंदेमातरम् गीत नहीं गाया जाएगा। उन्होंने कहा कि यह गीत इस्लाम के विरुद्ध है। उनके इस कथन का मंच पर बैठे किसी नेता ने विरोध नहीं किया। प्रतिवर्ष इस गीत को कांग्रेस मंच पर गाने वाले संगीतज्ञ पंडित विष्णु दिगंबर पुलस्कर ने इस बात को अस्वीकार किया और बड़े गंभीर कंठ से यह पूरा गीत गाया।

सन् 1937 के मुस्लिम लीग के कलकत्ता अधिवेशन में एक प्रस्ताव रखा गया, जिसमें कहा गया कि वंदेमातरम् गीत को राष्ट्रीय गीत बनाने की कांग्रेस की साजिश स्पष्ट रूप से मुसलमानों के विरोध तथा देश के विकास में बाधा उत्पन्न करने वाली है। सन् 1938 में मुस्लिम लीग ने कांग्रेस के सामने जो मांगे रखी थी, उनमें पहली मांग यह थी कि वंदेमारतम् के गायन को बंद किया जाए। मद्रास (अब तमिलनाडु) की विधान सभा में वंदेमातरम् गाए जाने पर मुसलमान सदस्यों ने सभा का बहिष्कार किया था।

सन् 1937 को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी में इस गीत को लेकर तीव्र मतभेद दिखाई दिया। अभी तक कांग्रेस के प्रत्येक अधिवेशन में वंदेमातरम गीत गाया जाता था। कांग्रेस के अंदर के राष्ट्रीय मुसलमान भी इसे हृदय से स्वीकार नहीं करते थे। इसी वर्ष कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने मौलाना अबुल कलाम आजाद, जवाहरलाल नेहरू, सुभाष चंद्र बोस और आचार्य नरेंद्र देव की एक उपसमिति गठित की जिसे रवींद्रनाथ टैगोर से परमर्श करके राष्ट्रीय गीत के रूप में वंदेमातरम की उपयुक्तता पर निर्णय लेना था। इस विषय पर उपसमिति ने यह सिफारिश की कि जब भी राष्ट्रीय सार्वजनिक सभाओं में वंदेमातरम गाया जाए तो उसके पहले दो पद ही गाए जाएं। राष्ट्रीय गीत के रूप में केवल निम्नलिखित पंक्तियों को ही स्वीकार किया जाए—

वंदेमातरम्
सुजला सुफला मलयज शीतलाम्
शस्यश्यामलां मातरम्
शुभ्र ज्योत्स्ना पुल कितयात्रि नीम्
फुल्ल कुसमित हुमदल शोभनी
सुहासिनी सुमधर भाषिणीम्
सुखदां वारदां मातरम्
वंदेमातरम्।

पंक्तियों की गणना की दृष्टि से 26 में से केवल 9 पंक्तियों को स्वीकार किया गया। आगे की पंक्तियों में, जिनमें दुर्गा, लक्ष्मी और सरस्वती जैसी देवियों का स्तवन किया गया है उन्हें राष्ट्रीय गीत के रूप में स्वीकार किया गया।

कांग्रेस कार्य समिति के इस निर्णय का रवींद्रनाथ टेगोर ने पूरी तरह समर्थन किया। इस कारण बहुत से लोग उनसे नाराज हो गए थे।

सन् 1938 में इस गीत को लेकर जवाहरलाल नेहरू और मुहम्मद अली जिन्ना में पत्र व्यवहार भी हुआ। जिन्ना का मत था कि यह गीत इस्लाम विरोधी है। इसमें हिंदू देवियों की चर्चा है और यह बुतपरस्ती की प्रेरणा देता है।

जिन्ना की आपत्तियों का उत्तर देते हुए पंडित नेहरू ने लिखा था कि कांग्रेस कार्य समिति ने सिफारिश की है कि इस गीत के केवल दो पदों को ही राष्ट्रीय गीत के रूप में गाया जाए। इन पदों में ऐसी कोई बात नहीं है, जिन पर किसी को कोई आपत्ति हो।

24 जनवरी 1950 के लोकसभा अधिवेशन में वंदेमातरम गीत की प्रार्थना गीत के रूप में स्वीकार किया गया। राष्ट्रगान के रूप में किसे स्वीकार किया जाए इस संबंध में अनंतस्वामी आयंगर और उनके साथी 'जन गण मन' के पक्ष में थे। पूर्णिमा बनर्जी आदि अनेक लोग वंदेमातरम को राष्ट्रगान बनाना चाहते थे। बहुमत ने 'जन गण मन' के पक्ष में अपनी राय प्रकट की और उसे राष्ट्रगान के रूप में स्वीकार कर लिया गया।

बात शुरू हुई थी कि राष्ट्रगान में सिंध शब्द रहे कि न रहे। मेरा मत है कि जो लोग यह विवाद उठा रहे हैं वे इस गान की मूल भावना की नहीं समझ रहे हैं। सिंध का भौगोलिक प्रदेश अब भारत का भाग नहीं है किंतु सिंधी भाषा और संस्कृति आज भी इस देश का अविभाज्य अंग है। हमारे संविधान के आठवें अनुच्छेद में जिन भाषाओं को इस देश की राष्ट्रीय भाषाओं के रूप में मान्यता प्राप्त हुई है उनमें सिंधी भी हैं। क्या इसे भी इस तर्क पर संविधान से निकाल देना चाहिए कि इस भाषा को बोलने वाला प्रदेश अब भारत का अंग नहीं है?

(दैनिक जागरण, 3-2-05)

इतिहास पुरुष थे
ले.ज.जगजीत सिंह अरोड़ा

बहुत कम ऐसे व्यक्ति होते हैं, जिन्हें इतिहास पुरुष होने का गौरव प्राप्त होता है। ले. ज. जगजीत सिंह अरोड़ा उनमें से एक थे। सन् 1971 में पाकिस्तान से हुए युद्ध में भारत की जो विजय हुई उसने संसार के इने-गिने युद्ध नायकों की श्रेणी में ला खड़ा किया था। पाकिस्तानी सेना के 93000 सैनिकों को उन्होंने अपने सामने आत्मसमर्पण करने के लिए विवश कर दिया था। इसी के साथ अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर एक महत्वपूर्ण घटना घटित भी हुई। पाकिस्तान विभाजित हो गया और संसार के मानचित्र पर एक नए राष्ट्र बंगलादेश का उदय हुआ।

भारत की दृष्टि से इस महान विजय का विशेष महत्व है। महाभारत से लेकर कारगिल युद्ध तक इस देश में अनेक युद्ध लड़े गए। चचेरे भाइयों के मध्य लड़ा गया महाभारत का युद्ध इतना विनाशक था कि उसने इस देश की सामरिक-शक्ति को बुरी तरह नष्ट कर दिया था। उसके पश्चात् इतिहास के पृष्ठों पर जितने युद्ध अंकित हुए उसमें अधिसंख्य ऐसे थे जिनमें स्थानीय सेनाएं विदेशी आक्रांताओं से बड़ी वीरतापूर्वक युद्ध करने के बावजूद पराजित हुईं। वह चाहे जेहलम के तट पर यूनानी आक्रमणकारी सिकंदर से राजा पुरु (पोरस) से लड़ा गया युद्ध हो अथवा तराइन, पानीपत, तालीकोट, खानवा, हल्दीघाटी जैसे स्थानों पर लड़े हुए युद्ध हों।

स्वतंत्रता के पश्चात चीन से हमारी जो मुठभेड़ हुई थी उससे भारतीय सेना का मनोबल बहुत गिरा था। सन् 1965 में पाकिस्तान के साथ हुए युद्ध में उसकी कुछ क्षतिपूर्ति हुई थी, किंतु सन् 1971 के युद्ध में प्राप्त अभूतपूर्व विजय से इस देश की सैन्य शक्ति और उसके कुशल-संचालन का लोहा संसार की बड़ी-बड़ी शक्तियों ने

स्वीकार कर लिया। इसका बहुत कुछ श्रेय जनरल अरोड़ा को जाता है।

तत्कालीन पाकिस्तानी राष्ट्रपति याह्या खान ने भारत के हवाई अड्डों पर अचानक आक्रमण करके बम वर्षक विमानों को नष्ट करने की योजना बनाई थी। भारत ऐसी संभावना से पूरी तरह अवगत था। इसलिए पाकिस्तान की योजना को विशेष सफलता नहीं प्राप्त कर सकी थी। पूर्वी पाकिस्तान (अब बगंलादेश) में उत्पन्न हुआ राजनीतिक संकट चरम पर था। बंगबंधु शेख मुजीबुर्रहमान पाकिस्तान के सैनिक तानाशाहों द्वारा बंदी बनाए जा चुके थे। पश्चिमी पाकिस्तान के क्रूर सेनाधिकारी बंगालियों पर जिस ढंग के अत्याचार कर रहे थे, उससे पीड़ित लोग लाखों की संख्या में भारत आ रहे थे। अभी तक पाकिस्तान से जितनी भी लड़ाइयां हुई थीं, वह पश्चिमी सीमाओं तक ही सीमित थीं। पहली बार पूर्वी सीमा पर युद्ध छिड़ा और भारत की सेनाएं, पूर्वी पाकिस्तान में अपनी आज़ादी के लिए संघर्ष करने वाली मुक्ति वाहिनी की सहायता के लिए, उस क्षेत्र में घुसीं।

ले. ज. अरोड़ा ने जो उस समय सेना की पूर्वी कमान के सेनानायक थे, ऐसी रणनीति बनाई कि पाकिस्तानी सेनाधिकारी अचंभित रह गए। भारत की सेनाओं ने मुख्य मार्गों की अपेक्षा, उपमार्गों से आगे बढ़ना शुरू किया। भारतीय वायु सेना ने पूर्वी पाकिस्तान की सभी मुख्य हवाई अड्डों को नष्ट करना प्रारंभ किया जिससे पश्चिमी पाकिस्तान से वहां किसी प्रकार की सैनिक सहायता न पहुंच सके।

भारतीय सेनाओं ने सभी ओर से पाकिस्तानी सेनाओं को घेर लिया था। स्थानीय जनता भी इस सेना की सहायता कर रही थी। पश्चिमी मोर्चे पर भी युद्ध हो रहा था और यहां भी भारतीय सेनाएं लगातार आगे बढ़ रही थीं। भारतीय सेनाध्यक्ष जनरल मानेकशा पूर्वी मोर्चे के पाकिस्तानी सेना नायकों को यह संदेश भेज रहे थे कि या तो हथियार डालकर आत्मसमर्पण कर दें या पूरी तरह नष्ट होने को तैयार हो जाएं।

पूरी तरह से पस्त पाकिस्तान की पूर्वी कमान के सेनाध्यक्ष ले.ज. नियाजी ने बड़े भारी मन से ले.ज. अरोड़ा के सम्मुख आत्मसमर्पण के दस्तावेज पर अपने हस्ताक्षर कर दिए।

उस युद्ध के दो वर्ष पश्चात् 1973 में जनरल अरोड़ा ने सेना से अवकाश प्राप्त कर लिया।

यहां से उनके जीवन का वह पक्ष प्रारंभ होता है जो उनके सेना नायक होने से कम महत्वपूर्ण नहीं है। सामान्यतः ऐसा गौरव प्राप्त किए सेनाधिकारियों की सेवाएं सरकार किसी-न-किसी रूप प्राप्त करती रहती है। कुछ को किसी देश में राजदूत बनाकर भेज दिया जाता है, कुछ को राज्यपाल का पद दे दिया जाता है या अन्य किसी प्रकार उनकी क्षमता और योग्यता का उपयोग किया जाता है।

किन्तु जनरल अरोड़ा के साथ ऐसा नहीं हुआ। युद्ध के पश्चात् वे इतने लोकप्रिय हो गए थे कि तत्कालीन सरकार उनसे शंकित होने लग गई थी। संभवतः इसीलिए

सरकार की ओर से उनके सम्मुख किसी प्रकार का प्रस्ताव नहीं रखा गया। यह अवश्य हुआ कि कुछ निजी औद्योगिक घरानों ने उन्हें अपने बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स में शामिल कर लिया।

मेरा उनसे विशेष संपर्क उस समय हुआ जब पंजाब के एक अप्रत्याशित संकट गहराने लगा। सन् 1980 के आम चुनाव में श्रीमती इंदिरा गांधी पुनः सत्ता में आ गई थीं। पंजाब में चुनी हुई सरदार प्रकाश सिंह बादल की अकाली-जनता सरकार केंद्र द्वारा बरखास्त कर दी गई थी। इमरजेंसी के दौरान शिरोमणि अकाली दल ने इमरजेंसी का निरंतर विरोध किया था और केंद्र में आई नई सरकार से उसके संबंधों में बहुत खिंचाव आ गया था।

इन्हीं दिनों पंजाब में उग्रवाद पनपने लगा। अकाली दल ने अपनी कुछ मांग केंद्र सरकार के सम्मुख रखीं, किंतु स्थिति निरंतर उलझती हुई। पंजाब में सामाजिक समरसता बिगड़ने लगी और हत्याओं का दौर बढ़ने लगा। सारे देश में, विशेष रूप से देश के विभिन्न भागों में बसे हुए पंजाबियों में यह आशंका बढ़ने लगी कि पंजाब किसी बड़े संकट की ओर अग्रसित है।

इन्हीं दिनों श्री इंद्रकुमार गुजराल मास्को से राजदूत का कार्यकाल समाप्त करके वापस आ गए थे। उनकी प्रेरणा से दिल्ली के कुछ प्रमुख पंजाबियों का एक ग्रुप अनौपचारिक ढंग से उनके निवास स्थान पर मिलकर पंजाब के आसन्न संकट पर विचार करने लगा तथा सरकार और अकाली दल को सुझाव देने लगा कि समस्या का किस प्रकार हल निकाला जा सकता है।

इस बैठक में जनरल अरोड़ा भी आते थे और मैं भी जाता था। हमारे अतिरिक्त कुलदीप नैयर, एयर चीफ मार्शल अर्जुन सिंह, पत्रकार प्राण चोपड़ा, राजेंद्र सरीन, निर्मल मुखर्जी आदि कुछ लोग इस बैठक में आया करते थे।

हमारे सभी प्रयासों के बावजूद संकट बढ़ता गया। पंजाब में उग्रवादी तत्वों द्वारा की जा रही आतंकपूर्ण घटनाओं का दौर दौरा चरम पर पहुंच गया। जून 1984 में केंद्र सरकार ने सारे पंजाब में 'ब्लैंकेट कर्फ्यू' लगाकर वह सैनिक कार्रवाई की जिसे 'ऑपरेशन ब्लू स्टार' कहते हैं।

हमारे अनौपचारिक 'पंजाब ग्रुप' ने इस सैनिक कार्रवाई का पूरा विरोध किया। इस ऑप्रेशन से पंजाब के अनेक गुरुद्वारों को नुकसान पहुंचा, परंतु सबसे अधिक हानि सिखों के सबसे पवित्र स्थान अमृतसर के हरिमंदिर और अकाल तख्त को हुआ था। अकाल तख्त बुरी तरह ध्वस्त हो गया था और उग्रवादियों तथा इस कार्रवाई में भाग लेने वाले सैनिकों को कल्पनातीत जन-हानि हुई थी।

उसके बाद की घटनाएं दुःखद थीं। प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी की हत्या उनके दो अंगरक्षकों ने कर दी। नवंबर 1984 में देश के अनेक भागों में सिख विरोधी दंगे प्रारंभ हो गए। केवल दिल्ली में ही तीन हजार से अधिक सिखों की हत्या की गई।

उस स्थिति में सिखों का विश्वास पूरी तरह हिल गया था। अनेक भागों से सिखों की बड़ी संख्या पंजाब की ओर निष्क्रमण कर रही थी। उस समय जनरल अरोड़ा सामने आए। उनके नेतृत्व में सिख फोरम की स्थापना हुई।

सिख फोरम के सम्मुख कुछ प्रमुख कार्य थे। सबसे महत्वपूर्ण कार्य था नवंबर 1984 के नरसंहार से पीड़ित परिवारों की सहायता करना, उन्हें पुनर्वास की व्यवस्था करना, उनकी जीविका का प्रबंध करना, उनके बच्चों की पढ़ाई का प्रबंध करना और सरकार से उन्हें उचित मुआवज़ा दिलवाना।

दूसरा महत्वपूर्ण कार्य था उस समय दंगों में भाग लेने वाले अपराधियों की पहचान करना और उन्हें दंडित करने के प्रयासों को भरपूर सहयोग देना।

सबसे महत्वपूर्ण कार्य था—पंजाब से बाहर बसे हुए सिखों के हौसले बढ़ाना, उन्हें अपने ही स्थानों पर बसे रहने की प्रेरणा देना और देश भर में फैले हुए सिख समुदाय के संबंध में फैले हुए भ्रमों का निवारण करना।

इस कार्य के लिए जनरल अरोड़ा और मैंने देश के अनेक भागों का दौरा किया। प्रायः हमारे साथ होते थे, इंद्रकुमार गुजराल, कुलदीप नैयर, जस्टिस राजेंद्र सच्चर, डॉ. अमरीक सिंह, विंग कमांडर रणधीर सिंह छतवाल तथा एक और सज्जन। अनेक नगरों में जाकर हमने न केवल यह प्रयास किया कि सिखों का नैतिक बल स्थिर रहे यह प्रयास भी किया कि सिखों के संबंध में फैले हुए भ्रमों का निवारण भी हो। अपने पत्रकार सम्मेलनों तथा जनसभाओं में जनरल अरोड़ा यह बात बहुत आग्रहपूर्वक कहा करते थे कि हमारी इस देश की एकता और अखंडता में पूरी आस्था है। हमारा विरोध सरकार से है, देश से नहीं।

आयु के अंतिम दिनों तक जनरल अरोड़ा बड़ी सक्रियता से सभी गतिविधियों में भाग लेते रहे। सन् 1986 में, जब पंजाब में सुरजीत सिंह बरनाला की सरकार थी, वे राज्यसभा के सदस्य निर्वाचित हुए थे। अपने छह वर्षों के कार्यकाल में उन्होंने सदा ही मानवाधिकारों के प्रति गहरा सरोकार व्यक्त करते हुए सरकार का ध्यान आकर्षित किया था।

आज जनरल अरोड़ा हमारे बीच में नहीं है। इतिहास उन्हें केवल इसलिए नहीं स्मरण करेगा कि वे एक महान सेनानायक थे, उन्हें इस बात के लिए भी याद किया जाएगा कि वे मानवाधिकारों के लिए निरंतर संघर्ष करने वाले अप्रतिम योद्धा थे।

(दैनिक जागरण, 12-05-05)

मानवता का शत्रु हिटलर

द्वितीय विश्व युद्ध समाप्त हुए साठ वर्ष हो गए हैं। इस युद्ध के सर्जक अडोल्फ हिटलर ने 30 अप्रैल 1945 के दिन, पहले अपनी पत्नी-दूबा ब्रान को विष दिया, फिर स्वयं पोटेशियम सायनाइड खाकर अपने प्राण दे दिए।

हिटलर के उत्थान और पतन की कहानी बहुत रोचक भी है चिंतनीय भी। संसार का इतिहास विजेताओं, पराक्रमियों, महात्माओं, आत्मोसर्गियों और मानवता के सेवकों से भरा हुआ है। इसी के साथ ऐसे लोगों की भी सूची छोटी नहीं जिन्होंने अपने क्रूर कृत्यों से मानवता को पीड़ित किया, असंख्य लोगों के प्राण ले लिए और अपने पशुबल से इतिहास के पृष्ठों को रक्तरंजित कर दिया। अडोल्फ हिटलर भी उनमें से एक था।

हिटलर का अपना एक जीवन-दर्शन था। मूलतः वह घृणा आधारित था। उसे अपने विशुद्ध आर्य-रक्त पर गर्व था, किंतु इसी के साथ उसे यहूदियों से भयंकर घृणा थी। वह यह भी मानता था कि परमेश्वर ने उसे आर्य-जर्मन जाति का नेतृत्व करने, संसार पर उसका प्रभुत्व स्थापित करने और यहूदी जाति को नष्ट करने के लिए भेजा है। उसने आर्य गौरव के प्रतीक चिह्न स्वास्तिक को अपना राष्ट्रीय चिह्न बना लिया था।

हिटलर अपने पिता अलोईज हिटलर की तीसरी पत्नी-क्लारा की तीसरी संतान था। उसकी एक बहन पाला थी जो हिटलर की मृत्यु के कई वर्ष बाद तक जीवित रही।

हिटलर का जन्म अप्रैल सन् 1889 में हुआ। यह भी संयोग ही है कि 56 वर्ष की आयु में अप्रैल महीने में ही उसकी मृत्यु हुई।

प्रथम विश्वयुद्ध (1914-18) में उसने एक जर्मन सैनिक के रूप में भाग लिया था। उसके पश्चात् वह राजनीति में रुचि लेने लगा। प्रथम विश्व युद्ध में जर्मनी की हार के लिए वह यहूदियों और कम्युनिस्टों के षड्यंत्र को दोषी मानता था। उन्हीं दिनों

में गठित जर्मन पार्टी में उसका महत्व बढ़ने लगा। वह पार्टी का नाम बदलने में सफल हो गया। अब पार्टी का नाम नेशनल सोशलिस्ट जर्मन वर्कर्स पार्टी हो गया जिसे संक्षेप में नाजी पार्टी कहकर पुकारा जाने लगा।

जर्मनी की युवा पीढ़ी में पराजय बोध व्याप्त था। हिटलर ने उस स्थिति का लाभ उठाया। उसने पार्टी पर अपना पूरा वर्चस्व स्थापित कर लिया। भाषण-कला में वह प्रवीण हो ही गया था। एक बार उसने केवल 7 दिनों में 21 नगरों में भाषण देकर लोगों की भावनाओं को अपने पक्ष में किया। सन् 1930-1933 के बीच जर्मनी को आर्थिक संकट ने भी घेरा हुआ था और राजनीतिक अस्थिरता ने भी। इस समय हिटलर के अत्यंत भावनापूर्ण भाषणों और वायदों ने वहां की युवा पीढ़ी को बहुत आकर्षित किया। वह जर्मनी के लिए एक शक्तिशाली नेता के रूप में उभरने लगा।

हिटलर ने अपने जीवन के कुछ वर्ष (1907-1913) वियना में गुजारे थे। इन वर्षों में उसने चिंतन के उन सूत्रों को ग्रहण किया था जो आगे चलकर उसके जीवन के आदर्श बने। वह विशेष रूप से कट्टर नस्लवादी चिंतक-लांज वोन लीबेन फैल्स के इस सिद्धांत से बहुत प्रभावित था कि संसार में केवल दो वर्ग हैं कि आर्य लोग जो अतिविशिष्ट लोग हैं दूसरे पशुबल निकृष्ट लोग। लीबेनफैल्स इस बात पर जोर देता था कि भविष्य में आने वाला कोई अधिनायक ऐसा होगा जो पवित्र आत्माओं की सुरक्षा करेगा और आर्य जाति निकृष्ट लोगों को गुलाम बनाएगी और उनका संहार करेगी। हिटलर ने इस सिद्धांत को अपने जीवन का आदर्श बना लिया।

हिटलर को सत्ता पर अधिकार जर्मनी के एक भूतपूर्व चांसलर (राज्याध्यक्ष) फ्रांज वॉन पवेन से एक राजनीतिक समझौता द्वारा प्राप्त हुआ। ये दोनों व्यक्ति 4 जनवरी 1933 में बड़े गुप्त रूप से मिले और इस बात पर सहमत हुए कि हिटलर जर्मनी का चांसलर बनेगा और वॉन पवेन के समर्थकों को महत्वपूर्ण मंत्रालय दिए जाएंगे। वॉन पवेन के सहयोग के कारण जर्मनी के व्यापारी वर्ग द्वारा हिटलर को विशाल आर्थिक सहायता भी प्राप्त हुई। इस समझौते में इस बात पर भी सहमति हुई कि उदार जनतंत्रवादियों, कम्युनिस्टों और यहूदियों का महत्वपूर्ण पदों से पूरी तरह सफाया किया जाएगा।

कुछ ही समय बाद हिटलर ने फ्यूहरर (नेता) की उपाधि ग्रहण की और वह जर्मनी का चांसलर बन गया।

सत्ता संभालते ही हिटलर ने अपनी स्थिति को मजबूत करना प्रारंभ कर दिया। उसने देश के अन्य सभी राजनीतिक दलों को गैर-कानूनी घोषित कर दिया, सभी राज्यों में नाजियों को गवर्नर नियुक्त कर दिया, मजदूर संगठनों को भंग कर दिया गया और पुरुषों, स्त्रियों, बच्चों को नाजी पार्टी द्वारा नियंत्रित गुटों में संगठित किया जाने लगा। कुछ समय पश्चात् हिटलर ने अपने उन सहयोगियों की हत्या करवानी प्रारंभ कर दी, जिनकी वफादारी के संबंध में उसे शंका थी। जर्मनी की न्यायपालिका और सेना ने

भी उसका मूक समर्थन किया। परिणाम यह हुआ कि जर्मनी से कानून का शासन समाप्त हो गया। सेना अधिकारियों से यह शपथ ली गई कि वे देश के संविधान के प्रति नहीं, केवल हिटलर के प्रति पूरी तरह वफादार रहेंगे। देश के सर्वोच्च न्यायाधीश ने घोषित किया कि अब हमारे फ्यूहरर की इच्छा ही जर्मनी का कानून और संविधान है।

हिटलर पूरी तरह कानून, राजनीति समाज के नियंत्रण से ऊपर उठ गया। उसने घोषित किया कि हमारी क्रांति उस समय तक संपूर्ण नहीं होगी जब तक हम लोगों को पूरी तरह नियंत्रित नहीं कर लेंगे। इस कार्य के लिए उसने गुप्तचर पुलिस (गेस्टापो) की स्थापना की जो लोगों का मनोबल तोड़ सके। उसने 'प्रचार और जागरूकता' का एक मंत्रालय बनाया, जो आम लोगों की विचार सरणि को गढ़ने का कार्य करती थी।

हिटलर की सभी नीतियों को कार्यान्वित करने में उसका सबसे बड़ा वफादार अनुयायी हनरिच हिमलर था। वह हिटलर को जर्मनी का मसीहा कहता था और मानता था कि वह सर्व समय का सबसे महान व्यक्ति है।

अब यहूदियों की बारी आई। हिटलर की मान्यता थी कि यहूदी मानवता के कट्टर शत्रु हैं। सत्ता में आते ही उसने उन्हें सभी प्रकार के मानवीय अधिकारों से वंचित कर दिया। सरेआम उन्हें अपमानित करना उनकी हत्या करना आम बात हो गई। पूरी यहूदी कौम को नष्ट कर देने का उसका अभियान प्रारंभ हो गया।

1 सितंबर 1939 को हिटलर की सेनाओं ने पोलैंड पर आक्रमण कर के द्वितीय विश्व युद्ध को प्रारंभ कर दिया। देखते-देखते यूरोप के अनेक देश जर्मन सेनाओं के सम्मुख घुटने टेकने लगे। पोलैंड के बाद डेनमार्क, हालैंड, बेल्जियम और फ्रांस पर जर्मनी के स्वास्तिक चिह्न वाला झंडा फहराने लगा।

अक्टूबर 1938 में जर्मनी के रहने वाले 17000 पोलैंडी यहूदियों की पोलैंड सरकार ने नागरीकता छीन ली। जर्मन सरकार ने उनसे कहा कि यहां उनकी आवश्यकता नहीं है। यहूदियों को ट्रकों में भरकर पोलैंड की सीमा पर छोड़ दिया गया। जब पोलैंड पर जर्मनी का अधिकार हो गया तो स्थान-स्थान पर यहूदियों को उनके घरों से निकाल कर कंटीले तार लगे बाडों में उन्हें घेर दिया गया। ऐसे बाड़ों को घेट्टोज (GHETTOES) कहा जाता है। यहूदियों के घर-बार लूटने और उनकी हत्या करने की जर्मनी सेना को खुली छूट थी। बाड़ों में बंद यहूदियों को नाममात्र का थोड़ा सा भोजन दिया जाता था। भूख से तड़पते हुए उनके बच्चे कंटीली तारों के नीचे से किसी प्रकार निकल कर रोटी के एक-एक टुकड़े के लिए भीख मांगते थे। बाड़ों में बंद बहुत से लोग भूख से पीड़ित होकर मरते जाते थे। वहां किसी प्रकार की चिकित्सा सुविधा नहीं होती थी। बहुत से लोग बीमार होकर अपने प्राण त्याग देते थे।

किसी भी प्रकार की अवज्ञा या विरोध की आशंका होते ही जर्मन सिपाही उन पर गोलियां बरसाते थे और असंख्य मृत शरीरों को गड्ढे खोदकर इकट्ठा दफना दिया जाता था। केवल न्यूरेम बर्ग नगर में बने बाड़ों में केवल एक वर्ष में 90,000 से अधिक

यहूदी मर्दों, औरतें और बच्चों की हत्या की गई।

यहूदियों को समूल नष्ट करने के लिए हिटलर की सेनाएं अपनी गोलियों की अंधाधुंध वर्षा कर रही हैं। विश्वयुद्ध चल रहा था। धुरी राष्ट्रों (जर्मनी, इटली जापान) के विरुद्ध मित्र राष्ट्रों (ब्रिटेन, अमेरिका, सोवियत यूनियन) की सेनाएं अनेक मोर्चों पर लड़ रही थीं। हिटलर जैसे लोगों ने सोचा कि यहूदियों को मारने के लिए गोलियों का प्रयोग करने की क्या आवश्यकता है। युद्ध के मोर्चों पर उनकी ज्यादा जरूरत थी। इसलिए असंख्य यहूदियों को गैस चेम्बरों में बंद करके गैस द्वारा उनकी सामूहिक हत्याएं होने लगीं।

यह सोचना भी कितना भयावह है कि दुर्दान्त हिटलर की नीतियों के कारण कुछ ही वर्षों में साठ लाख से अधिक यहूदी मौत के घाट उतारे गए थे।

शक्ति मदांध होकर हिटलर ने अपनी सेनाओं को रूस पर आक्रमण करने की आज्ञा दे दी। इसके पूर्व उसने यूरोप के छोटे-छोटे देशों पर विजय प्राप्त की थी। रूस जैसे विशाल देश में प्रारंभ की कुछ सफलता के पश्चात् जर्मन सेनाओं के पैर उखड़ने लगे। पूर्वी मोर्चे पर हिरोशिमा और नागासाकी पर अमेरिका द्वारा अणु बम छोड़े जाने के पश्चात् जापान ने अपनी हार मान ली थी। अंत में वह दिन आ गया। मित्र सेनाएं बर्लिन में घुस गईं। जर्मन सेनाएं हर मोर्चे पर पराजित होती चली गईं। आखिकार खंदकों में शरण लिए हुए महानता के भ्रम और मोह में डूबे हिटलर को अपनी पत्नी सहित आत्महत्या का मार्ग अपनाना पड़ा।

हिटलर चंगेज खां और हलाकू खां की भांति केवल राज्य-विस्तार के लिए व्यापक नरसंहार करने वाला आक्रांता ही नहीं था। वह एक उद्देश्य प्रेरित व्यक्ति था। वह जर्मन जाति के गौरव और उसकी प्रभुता को विश्वभर में स्थापित करने वाला अंध राष्ट्रभक्त था। किंतु उसके आदर्श प्रेम और बंधुत्व पर आधारित न होकर घृणा और तीखे भेदभाव पर आधारित थे। अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए वह व्यापक नरसंहार को वह उचित मानता था।

हिटलर इस बात का ज्वलंत प्रमाण है कि बहुत ऊंची दिखने वाली मान्यताएं भी घोर मानव विरोधी हो सकती हैं।

(दैनिक जागरण, 26-5-2005)

अत्याचारी पश्चाताप की अग्नि में जलते हैं

जलियांवाला बाग में घटे हत्याकांड को 86 वर्ष से अधिक का समय व्यतीत हो गया है। उस भयावह घटना पर भारत में भी अनेक पुस्तकें लिखी गईं और यूरोप में भी। इस संबंध में पहली प्रामाणिक पुस्तक एक अंग्रेज लेखक अल्फ्रेड ड्रेपर ने कुछ वर्ष बाद लिखी थी नाम था—'अमृतसर : द मसाकर दैट एंडेड द राज' (अमृतसर जिस नरसंहार ने अंग्रेजी राज का खात्मा कर दिया) हाल में ही एक दूसरी पुस्तक प्रकाश में आई है। इस पुस्तक का लेखक है नीजेल कॉलेट और शीर्षक है—'द बूचर ऑफ अमृतसर' (अमृतसर का कसाई)। इन दोनों लेखकों ने उस घटना का बड़ा व्यापक चित्र अपनी पुस्तकों में खींचा है।

उस दिन 28000, वर्ग मीटर में फैला जलियांवाला बाग लोगों से भरा हुआ था। लोगों की संख्या बीस से पच्चीस हजार के बीच होगी। बैसाखी होने के कारण दरबार साहिब के सरोवर में स्नान करने के लिए ग्रामीण क्षेत्रों में बहुत से लोग अमृतसर आए हुए थे। दरबार साहब के बहुत निकट होने के कारण बहुत-से यात्री भी जलियांवाला बाग में होने वाली सार्वजनिक सभा में कौतूहलवश आ गए थे।

यह केवल नाम का ही बाग था क्योंकि जमीन पर न तो घास थी और न कहीं पेड़-पौधे ही थे। एक के बाद एक वक्ता भाषण देता गया। एकाएक वहां उपस्थित लोगों ने भारी-भारी बूटों की आवाज़ सुनी। बाग के सिरे पर एक संकरे रास्ते पर सैनिक दिखाई दिए जो तेज़ी से आगे बढ़ रहे थे। उनकी कमान ब्रिगेडियर जनरल रेजिनल्ड डायर के हाथ में थी। बाग में सैनिकों के घुसते ही उसका आदेश गूंजा—'फायर'—गोली

चलाओ।'

जैसे ही गोलियां चलनी शुरू हुईं, भीड़ में खलबली मच गई। बहुत से लोग जमीन पर लेट गए। कुछ ही क्षणों में चारों ओर आतंक छा गया। लोगों ने आस-पास की दीवारों या बाहर निकलने वाले तीन तंग रास्तों की ओर भागना प्रारंभ कर दिया। घुटनों के बल बैठे सैनिक बड़ी सावधानी से निशाना साधकर गोलियां चला रहे थे।

गोलियां दस मिनट तक चलती रहीं। जब सैनिकों के पास कारतूस खत्म हो गए तो डायर ने उन्हें गोलीबारी बंद करके वहां से चल देने का आदेश दिया। डायर के सैनिकों ने कुल मिलाकर 1650 राउंड गोलियां चलाई थीं। गोलियां लगने से या भगदड़ में कुचले जाने से कोई 2000 लोग वहां घायल पड़े थे या मर गए थे।

प्रथम विश्व युद्ध 1914-18 की समाप्ति के पश्चात् भारतीय नेता सोच रहे थे कि उस युद्ध में भारतवासियों द्वारा दी गई सहायता के बदले ब्रिटिश सरकार बहुत सहृदय होकर देशवासियों को शासन-संचालन में अधिक भागीदारी देगी। भारत ने उस युद्ध के लिए तेरह लाख सैनिक दिए थे जो प्रायः हर मोर्चे पर ब्रिटेन के पक्ष में लड़े थे। उन्हें पुरस्कृत करने की बजाए ब्रिटेन ने एक न्यायाधीश सर सिडनी रोलैट की अध्यक्षता में एक समिति कायम की जिसका काम इस देश में किसी भी प्रकार के विद्रोह को दबाने के लिए सरकार को विशेष अधिकार प्रदान करने वाले कानून की रूपरेखा तैयार करना था। इस समिति की सिफारिशों के परिणामस्वरूप जो विधेयक सामने आया उसे 'रौलेट एक्ट' कहा जाता है। इस कानून के अनुसार सरकार बिना वारंट के किसी को भी गिरफ्तार करने, बिना मुकदमा चलाए किसी को भी नजरबंद करना और ऐसी विशेष अदालतों में मुकदमा चलाने का अधिकार मिल गया जिसमें न जूरी के सदस्य थे, न ही उसके फैसले के विरुद्ध कोई अपील की जा सकती थी।

ऐसे कानून के विरुद्ध सारे देश में आंदोलन उठ खड़ा हुआ था। इसका प्रभाव पंजाब में विशेष रूप से दिखाई देने लगा। प्रथम विश्वयुद्ध में पंजाबियों ने बढ़-चढ़कर सहायता की थी। सेना के लिए सबसे अधिक रंगरूट पंजाब ने ही दिए थे।

उस समय अमृतसर में दो नेता बहुत लोकप्रिय थे—एक थे डॉ. सैफुद्दीन किचलू और दूसरे थे डॉ. सत्यापाल। उस समय तक महात्मा गांधी भी भारतीय राजनीति के क्षितिज पर पूरी तरह उभर आए थे। रौलेट एक्ट के विरोध में उन्होंने 30 मार्च 1919 को सारे देश में हड़ताल की घोषणा की थी। उस दिन अमृतसर में कारोबार पूरी तरह ठप रहा। शाम को जलियांवाला बाग में डॉ. किचलू की अध्यक्षता में एक सभा हुई जिसमें रौलेट कानून को पूरी तरह रद्द करने का प्रस्ताव पारित किया गया।

उस समय पंजाब का लेफ्टिनेंट गवर्नर ओडवायर हर प्रकार के आंदोलन को कुचल देने के लिए कटिबद्ध था। उसकी मान्यता थी कि भारत पर शासन करना अंग्रेजों

का ईश्वरीय अधिकार है। उसने संपूर्ण पंजाब में यह आज्ञा प्रसारित करा दी थी कि न ही किसी प्रकार की सार्वजनिक सभाएं की जाएं, न ही किसी प्रकार के सार्वजनिक भाषण दिए जाएं। उसने अमृतसर के डिप्टी कमिश्नर को आदेश दिया कि डॉ. किचलू और डॉ. सत्यापाल को बंदी बनाकर अमृतसर से 160 कि.मी. दूर धर्मशाला भेज दिए जाएं।

10 अप्रैल को डिप्टी कमिश्नर माइकल अरविंग ने बड़ी चालाकी से दोनों नेताओं को मिलाने के लिए अपने बंगले पर बुलाया। सैनिक गाड़ियां पहले से तैयार थीं। नेताओं के वहां पहुंचते ही उन्हें उन गाड़ियों में बैठाकर निश्चित स्थान पर भेज दिया गया।

जब लोगों को इस बात की सूचना मिली तो सभी ओर सरकार के विरुद्ध रोष छा गया। अनेक स्थानों पर लोगों की भीड़ ने सरकारी दफ्तरों पर पत्थर फेंकने प्रारंभ कर दिए। पुलिस को गोली चलाने की आज्ञा मिल गई। 20-25 व्यक्ति घायल होकर धरती पर गिर गए। इससे जनता का क्रोध और भड़क उठा। जहां कहीं उन्हें कोई गोरा दिखाई दिया, लोगों ने उसे पकड़कर पीटना प्रारंभ कर दिया। भड़के लोगों ने नगर के तारघर को नष्ट कर दिया। रेलवे स्टेशन पर भी आक्रमण हुआ और एक गाड़ी के गार्ड राबिंसन की लोगों ने हत्या कर दी। भीड़ ने नेशनल बैंक पर हमला करके उसके विदेशी मैनेजर और एक सहायक को भी पीट-पीटकर मार डाला और बैंक को आग लगा दी।

मारसेला शेरवुड नाम की एक ईसाई मिशनरी मिशनरी महिला 15 वर्ष से लोगों के बीच काम कर रही थी। भड़के लोगों ने उसे देखा और चीखे—इस मारो...यह अंग्रेज है। लोगों ने उसे मार-मारकर बुरी तरह घायल कर दिया।

ब्रिगेडियर जनरल डायर उस समय जालंधर में नियुक्त था। उसे लाहौर से आज्ञा मिली कि वह कुछ सैनिक लेकर अमृतसर पहुंचे। वह 11 अप्रैल की रात 9 बजे वहां पहुंचा। सारा शहर वीरान कब्रिस्तान की भांति लग रहा था। उसने अधिकारियों की एक बैठक बुलाई और सारे शहर को अपने नियंत्रण में ले लिया। उस समय उसके पास 475 अंग्रेज और 710 भारतीय सिपाही थे।

12 अप्रैल की सुबह 10 बजे वह अपने सैनिकों के दस्ते के साथ शहर में मार्च करते हुए निकला। दस्ते के पीछे-पीछे दो बख्तरबंद गाड़ियां चल रही थीं। 13 अप्रैल को भी उसने यही किया। इस दिन लोग मार्च करते हुए सैनिकों को देखकर अंग्रेजी राज मुर्दाबाद के नारे लगाते थे और खाली कनस्तर बजाते थे। यह देखकर डायर की आंखें गुस्से से लाल हो जाती थीं।

शाम को चार बजे वह फिर अपने सैनिकों और बख्तरबंद गाड़ियों सहित निकला। उसने लोगों को सबक सिखाने का फैसला कर लिया।

जलियांवाला बाग में सार्वजनिक सभा हो रही थी। निकट पहुंचकर बख्तरबंद गाड़ियां रुक गईं, क्योंकि रास्त संकरा होने के कारण वे बाग में नहीं जा सकती। डायर की आज्ञानुसार सैनिकों ने मोर्चे संभाल लिए और बाग में एकत्रित भीड़ पर गोलियां बरसाने लगे।

अमृतसर और लाहौर में मार्शल लॉ लगा दिया गया। समाचार-पत्रों पर रोक लगा दी गई। जो व्यक्ति किसी अंग्रेज के आगे निकलता, उसे रुककर उसे सलाम करना पड़ता। कूचा तवारियां, जिसमें से निकलते समय मिस शेरवुड पर आक्रमण किया गया था, में उस कूचे में से निकलते समय हर व्यक्ति को ज़मीन पर रेंग कर निकलना पड़ता। यह दंड 24 अप्रैल तक लागू रहा

ब्रिटिश संसद में अनेक सदस्यों ने यह मांग की कि पंजाब में जो कुछ हुआ है उसकी पूरी जांच कराई जाए। नवंबर 1919 में एक न्यायाधीश लार्ड हंटर की अध्यक्षता में सारी घटना की जांच के लिए एक आयोग बनाया गया। इस आयोग में दो भारतीय सदस्य भी थे। जांच के दौरान डायर से यह पूछा गया कि गोली चलाने की आज्ञा देने से पहले बाग में हो रही सभा को भंग करने का कोई प्रयास क्यों नहीं किया? डायर का उत्तर था कि मैंने कार से वहां जाते समय यह निश्चय कर लिया था कि यदि लोगों ने मेरी आज्ञा न मानी तो मैं गोली चलाने का हुक्म दे दूंगा।

हंटर आयोग ने पूरी रिपोर्ट मई 1920 में प्रकाशित हुई। उससे पहले भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस उस नरसंहार पर अपनी रिपोर्ट 20 फरवरी को जारी कर दी थी, जिसमें यह मांग की गई थी कि पंजाब में लेफ्टिनेंट गवर्नर ओडवायर और जनरल डायर सहित उस घटना के लिए उत्तरदायी अन्य अंग्रेज अफसरों पर मुकदमे चलाए जाएं और उन्हें उनके पदों से बरख़ास्त कर दिया जए।

हंटर कमेटी में यूरोपीय और भारतीय सदस्यों में कुछ मतभेद थे किंतु दोनों ने ही डायर की मनमानी कार्रवाई की भरपूर निंदा की थी।

डायर के अंतिम दिन पश्चाताप की आग में जलते हुए बड़े कष्ट में व्यतीत हुए। 55 वर्ष की आयु में ही वह कमज़ोर और बूढ़ा लगने लग गया था। अपने जीवन के अंतिम दिन बिताने के लिए वह इंग्लैंड के ब्रिस्टल नगर की बाहरी बस्ती लॉग ऐश्टन में चला गया था। वहां 11 जुलाई 1927 में उसे दिल का जबरदस्त दौरा पड़ा। उसकी बहू फिलिप उसके पास बैठी उसे ढाढस बंधा रही थी।

'धन्यवाद।' यह बड़बड़ाया—अब मैं ठीक नहीं होना चाहता। बहुत से लोग कहते हैं कि मैंने बड़ा गलत काम किया था। मैं अब मरना चाहता हूं। मैं अपने बनाने वाले परमात्मा से पूछना चाहता हूं कि मैंने सही किया था या गलत।

धीरे-धीरे उसका स्वास्थ्य बिगड़ता गया। 23 जुलाई की शाम 62 वर्ष की आयु

में वह गंभीर मानसिक अशांति झेलता हुआ इस संसार से विदा हो गया।

अत्याचारी व्यक्ति की मृत्यु प्रायः घोर मानसिक यातना सहते हुए होती है। औरंगजेब के साथ भी यही हुआ था, हिटलर के साथ भी और जनरल डायर के साथ भी। उसकी पीठ पर वरदहस्त रखने वाला आंडवायर कुछ वर्ष बाद इंग्लैंड में उधम सिंह की गोलियों का शिकार हुआ था।

(दैनिक जागरण, 2-6-05)

यह कैसा इतिहास लेखन है

राष्ट्रीय शैक्षणिक एवं अनुसंधान परिषद (एनसीईआरटी) द्वारा प्रकाशित कुछ इतिहास पुस्तकों को लेकर चार वर्ष पूर्व विवाद चला था। ये पुस्तकें विद्यार्थियों को अनेक वर्षों से पढ़ाई जा रही थीं, किंतु इनकी विकृतियों की ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया था। एकाएक जब कुछ लोगों का ध्यान इस ओर गया और उन्होंने सभी का ध्यान इस ओर आकर्षित किया तो सरकार सजग हुई। कुछ आपत्तिजनक अंश इन पुस्तकों में से हटाए गए तथा नई इतिहास पुस्तकें लिखी जाने के लिए विद्वानों की नई समितियां घटित हुईं।

उस समय केंद्र में राष्ट्रीय जनतांत्रिक मोर्चे की सरकार थी। डॉ. मुरली मनोहर जोशी मानव संसाधन विकास मंत्री थे। विपक्षी दलों, विशेष रूप से वामपंथी दलों द्वारा यह प्रचार किया गया कि डॉ. जोशी सारे पाठ्यक्रम का भगवाकरण कर रहे हैं। लंबे समय तक पाठ्यक्रमों में पढ़ाई जाने वाली पुस्तकों, विशेष रूप से इतिहास की पुस्तकों पर वामपंथी विचारों के इतिहासकारों का वर्चस्व रहा था। इतिहासकार किसी भी विचार का हो, ऐतिहासिक तथ्यों के साथ तोड़-मरोड़ करने, किसी तथ्य को अधिक उभारने तथा उसे दबाने से उसकी दृष्टि न केवल एकांगी हो जाती है, वह अपनी वस्तुपरकता खो देती है।

सिख इतिहास से एक उदाहरण लें। चार सौ वर्ष पहले मुग़ल सम्राट जहांगीर ने छठवें गुरु—गुरु अर्जुन देव को लाहौर में अत्यंत क्रूर यातनाएं देकर शहीद किया था। गत चार सौ वर्षों से सिख मई-जून मास में अपने गुरु का शहीदी दिवस मनाते हैं। उस तपती हुई ऋतु में वे ठंडे-मीठे पानी की छबीले लगाते हैं। वे इस दिन को शोक दिवस के रूप में नहीं मनाते, बल्कि गुरु की स्मृति में संतप्त आत्माओं को ठंडा शर्बत पिलाकर शांत करते हैं।

जहांगीर ने यह क्रूर कर्म क्यों किया था? सतीश चंद्र द्वारा लिखित पुस्तक 'मध्यकालीन भारत' को पिछली सरकार ने पाठ्यक्रम से इसलिए हटा दिया था, क्योंकि उसमें ऐतिहासिक विकृतियों से भरी अनेक बातें थीं। नई सरकार पुरानी आपत्तियों पर ध्यान दिए बिना फिर उसे पाठ्यक्रम में निर्धारित कर दिया गया है। सतीश चंद्र ने इस पुस्तक के 279 पर लिखा है कि यह सिद्ध करने के लिए गुरु के व्यक्तित्व में आध्यात्मिक और लौकिक नेतृत्व समाहित है, गुरु अर्जुन देव ने बड़े शाहाना ढंग से रहना प्रारंभ कर दिया। उन्होंने अमृतसर में शानदार भवन बनवाए। बड़े सुंदर कपड़े पहनने प्रारंभ कर दिए, मध्य एशिया से घोड़े मंगवाए और उनकी सेवा के लिए बहुत से नौकर-चाकर नियुक्त किए। उन्होंने अपने अनुयायियों से उनकी आय का दसवां भाग भेंट के रूप में लेना प्रारंभ कर दिया।

गुरु अर्जुन देव की शहादत के संबंध में सतीश चंद्र ने इतना ही लिखा है कि अकबर सिख गुरुओं से बहुत प्रभावित था और यह भी कहा जाता है कि वह अमृतसर भी गया था। किंतु बाद में जहांगीर के समय एक टकराव उत्पन्न हो गया। विद्रोही राजकुमार खुसरू को आर्थिक सहायता देने और उसके पक्ष में प्रार्थना करने के आरोप में गुरु अर्जुन देव को बंदी बनाने और वहीं उनकी मृत्यु के कारण यह स्थिति उत्पन्न हुई।

यह देखकर आश्चर्य होता है कि इतिहास की ऐसी महत्वपूर्ण घटना के प्रति सतीश चंद्र जैसे इतिहासकार ने इतने गैर जिम्मेदाराना ढंग से अपनी टिप्पणी लिख दी और उसे देश के लाखों विद्यार्थियों को पढ़ाया जा रहा है। सभी ऐतिहासिक सूत्र और समकालीन साक्ष्य इस बात की पुष्टि करते हैं कि गुरु अर्जुन देव का रहन-सहन और जीवन पूर्व गुरुओं के अनुसार ही बहुत सादा और सरल था। गुरुओं का प्रभाव क्षेत्र उस समय तक बहुत व्यापक हो गया था। मध्य एशियाई देशों से उनके अनुयायी घोड़े लाकर उन्हें भेंट करते थे। अपने शिष्यों को भी वे घोड़ों का व्यापार करने के लिए वे प्रोत्साहित करते थे।

अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि गुरु अर्जुन देव की शहादत क्यों हुई?

सतीश चंद्र ने केवल इतना लिख दिया है कि उन्होंने विद्रोही राजकुमार खुसरू की कुछ आर्थिक सहायता की तथा उसके पक्ष में प्रार्थना की। इसलिए उन्हें बंदी बनाया गया तथा जेल में ही उनकी मृत्यु हो गई।

जहांगीर ने ऐसा कृत्य क्यों किया था, इस संबंध में उसने अपनी आत्मकथा 'तुज़के जहांगीर' में जो कुछ लिखा है उससे बड़ा ऐतिहासिक प्रमाण और क्या हो सकता है। जहांगीर की आत्मकथा का मूल तुर्की से अनुवाद अनेक भाषाओं में हो चुका है। श्री ब्रजरत्न दास ने उसका अनुवाद 'जहांगीर नामा' नाम से हिंदी में भी किया है।

इस अनुवाद में कुछ बातें कही गई हैं—(1) व्यास नदी के तट पर गोइंदवाल में अर्जुन नाम का एक हिंदू रहता था। उसकी साधुता की ख्याति चारों ओर फैली हुई

थी। दूर-दूर से लोग अपनी श्रद्धा व्यक्त करने उसके पास आते थे, इनमें बहुत से मुसलमान भी होते थे (2) मैं इस झूठ की दुकान को बंद करने की बात बहुत दिन से सोच रहा था कि किस प्रकार उसे इस्लाम के अंतर्गत लाया जाए (3) तभी मूर्ख खुसरू ने उससे भेंट की। उन्होंने इसके साथ माथे पर तिलक लगाया जिसे हिंदू पवित्र मानते हैं। (4) मैंने मुर्तजाखान को आज्ञा दी कि वह उन्हें (गुरु अर्जुन) को पकड़े, उनकी धन-संपत्ति जब्त कर ले, उन्हें यातना देकर मार डाले।

जहांगीर के अपने कथनानुसार वह गुरु अर्जुन देव की ख्याति से चिंतित था इसे समाप्त करना चाहता था, वह गुरु अर्जुन देव तथा उनके अनुयायियों को इस्लाम में लाना चाहता था। तभी उसे एक बहाना मिल गया कि गुरु अर्जुन देव ने उसके विद्रोही पुत्र खुसरू की कुछ सहायता की है और उसके लिए आशीष वचन कहे हैं।

सतीश चंद्र बड़े साधारण ढंग से लिख देते हैं कि उन्हें बंदी बनाया गया, जहां उनकी मृत्यु हो गई। बंदी जीवन में किस प्रकार की उन्हें यातनाएं दी गई थीं वे रोंगटे खड़े कर देने वाली हैं।

इसी इतिहास से संबंधित दूसरी बात श्री विपिनचंद्र ने अपनी इतिहास पुस्तक 'माडर्न इंडिया' 12वीं कक्षा के विद्यार्थियों के पाठ्यक्रम में निर्धारित (पृष्ठ 2) में लिखी है। वे लिखते हैं कि बहादुरशाह ने विद्रोही सिखों से समझौता करने के लिए गुरु गोबिंद सिंह से शांति स्थापित की और उन्हें अपने दरबार में एक ऊंचा मंसब दिया।

मुग़ल सम्राट बहादुरशाह द्वारा गुरु गोबिन्द सिंह को एक ऊंचा मंसब दिए जाने की बात तो बहुत अनहोनी है और अनैतिहासिक भी। किसी भी इतिहासकार ने सफी खां से लेकर डॉ. गंडा सिंह तक—इस बात का किंचित भी संकेत अपने रचित इतिहासों में नहीं दिया है। विपिनचंद्र ने यह बात किस आधार पर लिख दी? संभव है उनकी सूचना किसी फारसी स्रोत पर आधारित हो अथवा किसी यूरोपीय लेखक ने इस बात का उल्लेख किया हो। किंतु एक सजग इतिहासकार अपनी जानकारी के लिए सभी प्रकार के अंतःबाह्य साक्ष्यों का सहारा लेता है। डॉ. विपिनचंद्र ने अपनी बात कहते समय इनका कोई उपयोग नहीं किया।

यह ठीक है कि बहादुरशाह और गुरु गोबिंद सिंह में, एक समय आपसी संबंध अच्छे हो गए थे। बहादुरशाह का मीर मुंशी (निजी सचिव), भाई नंदलाल गोया, फारसी भाषा का विद्वान था। वह गुरु गोबिंद सिंह का अनन्य श्रद्धालु भी था। गुरु गोबिंद सिंह की स्तुति में उसने बहुत सुंदर फारसी काव्य की रचना की थी।

औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् मुग़ल राजा सत्ता प्राप्त करने के लिए उसके पुत्रों में युद्ध छिड़ गया। बड़े शाहजादे मुअज़्ज़म (बहादुरशाह) और उसके भाई आज़म में आगरा के निकट जाजऊ नामक स्थान पर 18 जून 1707 में निर्णायक युद्ध हुआ। इस युद्ध में आजम पराजित हुआ। मुअज़्ज़म, बहादुरशाह नाम से गद्दी पर बैठा।

गुरु गोबिंद सिंह के आश्रित कवि सेनापति ने अपनी रचना 'गुरु शोभा' में इस

बात का उल्लेख किया है कि बहादुरशाह ने गुरु गोबिंद सिंह को एक पत्र लिखकर निवेदन किया कि उस युद्ध में वे उसकी सहायता करें।

सैनिक दृष्टि से इस सहायता का विशेष महत्व नहीं था। उस समय उनके पास दो-तीन सौ भालाधारी सवार थे। किंतु इस सहायता का एक अन्य दृष्टि से बहादुरशाह के लिए महत्व था। मुग़ल बादशाह अपनी कठिनाइयों के अवसर पर प्रायः पीरो-फकीरों का आशीर्वाद प्राप्त करने का प्रयास किया करते थे। भाई नंदलाल की प्रेरणा से बहादुरशाह ने इस सहायता की याचना की थी।

राज्य सिंहासन प्राप्त करने के कुछ समय पश्चात् बहादुरशाह ने उन्हें आगरा निमंत्रित किया। 2 अगस्त 1707 को उनकी भेंट बहादुरशाह से हुई। बादशाह ने उन्हें एक मूल्यवान खिलअत और एक कलगी भेंटस्वरूप अर्पित की।

यह खिलअत उन्हें उनके सम्मान में दी गई थी, न कि उन्हें मंसबदारी देने के लिए। इसका प्रमाण यह है कि आगरा से ही गुरु गोबिंद सिंह का 2 अक्टूबर 1707 का लिखा धउल (पंजाब) की संगत को लिखा गया एक पत्र है। यह पत्र अपने मूलरूप में आज भी सुरक्षित है। इस पत्र में उन्होंने लिखा है कि हम पातशाह (बादशाह) के पास आए हैं। उसने हमें सिरोपा और साठ हज़ार की जड़ाऊ धुखधुली (खिलअत) प्रदान की है। यहां कुछ और भी काम है—हम भी थोड़े दिनों में वापस आएंगे। कलहूर (आनंदपुर) आने पर संपूर्ण खालसा मुझे शस्त्रबद्ध मिले।

इस ऐतिहासिक पत्र से बातें स्पष्ट होती हैं—एक, बादशाह की ओर से गुरु गोबिंद सिंह को सिरोपा के रूप में एक जड़ाऊ धुखधुखी दी गई। दो, कुछ अन्य महत्वपूर्ण बातों के लिए वे आगरा में टिके हुए हैं। तीन, वे शीघ्र ही कलहूर (आनंदपुर) वापस आएंगे। उस समय सशस्त्र खालसा सेना उन्हें तैयार मिले।

इस पत्र में कहीं कोई ऐसा संकेत नहीं है कि गुरु गोबिंद सिंह को बहादुरशाह ने कोई मंसब दिया था। इन स्रोतों की अवहेलना करके इतिहास विपिनचंद्र ने यह कैसे लिख दिया कि गुरु गोबिंद सिंह मुग़ल सम्राट के मंसबदार बन गए थे? क्यों सोचकर हम ये सभी अनर्गल बातें अपने विद्यार्थियों को पढ़ा रहे हैं?

चार-पांच वर्ष पूर्व एनसीईआरटी द्वारा पाठ्यक्रमों में लगी पुस्तकों के विरुद्ध आंदोलन हुआ था और वे पुस्तकें पाठ्यक्रमों से हट गई थीं। कांग्रेस नेतृत्व वाली ने नई सरकार ने वह सभी कुछ पढ़ाना आरंभ कर दिया है।

(दैनिक जागरण, 22-12-2005)

भारतीयता के अद्भुत महानायक

स्वामी विवेकानंद का प्रादुर्भाव इस देश में उस समय हुआ जब पश्चिम के नवीन धर्म, नवीन संस्कृति और नवीन जीवन के संपर्क में आई हुई भारतीय जनता अपने नव जागरण की प्रारंभिक अंगड़ाइयां ले रही थी। उसके सम्मुख एक बड़ा प्रश्नचिह्न खड़ा था कि उस नवजागरण की दिशा कौन सी हो? क्या समाज बाह्य आक्रमणों से भयभीत होकर अपने कर्मकांडी दुर्ग की दीवारों को और भी ऊंचा बना ले या वह अपने टूटे-पिटे हथियारों को त्याग कर समय की आवश्यकता को दृष्टिगत रखते हुए नवीन शस्त्र ग्रहण करे। विवेकानंद का पूर्ववर्ती रुढ़िगत पुरातन पंथी समाज पहले प्रकार का उपाय अपना रहा था, परंतु विवेकानंद ने उस संकीर्ण रक्षणशील वृत्ति पर गहरी चोट की और समाज को धर्म के कर्मकांडी बंधनों से मुक्त कर, समयानुकूल प्रगतिशील मार्ग ग्रहण करने की प्रेरणा दी।

विवेकानंद सत्रह वर्ष की आयु में परमहंस श्री रामकृष्ण के मंत्र से अनुप्राणित हुए और पच्चीस वर्ष की आयु में परिव्रज्या ग्रहण कर वह समग्र भारत की यात्रा पर निकल पड़े। जिस समाज के कष्टों से व्याकुल होकर उन्होंने यह मार्ग ग्रहण किया था उस समाज को सर्वप्रथम निकट से देखना बहुत आवश्यक था। वह सदैव यही आग्रह किया करते थे कि यदि हमें इस देश की समस्या का सही निदान ढूंढ़ना है तो सर्वप्रथम इस देश को देखना होगा, समझना होगा। इस कल्याण व्रत की साधना के लिए केवल स्वार्थ त्याग ही नहीं, बल्कि सर्वस्व त्याग करना होगा, यहां तक कि अपनी मुक्ति की कामना भी भूल जानी होगी। अपनी इस भारत यात्रा में विवेकानंद ने भारत और उसकी जनता का वास्तविक स्वरूप देखा। भारत माता के इस स्वरूप को देखकर वह व्याकुल हो उठे और उससे प्रेरित होकर उन्होंने भारतीय युवकों को एक चिर नवीन संदेश दिया, ''आगामी पचास वर्षों तक तुम लोग अपनी जननी जन्म भूमि की अराधना करो। इन

वर्षों में दूसरे देवताओं को भूल जाने में कोई भी हानि नहीं है। इस समय तुम्हारा एक मात्र देवता है तुम्हारा राष्ट्र।" अपनी इस यात्रा में स्वामी जी ने धर्म के अवनति मूलक रूढ़िगत विश्वासों का स्थान-स्थान पर खंडन किया। स्वामी विवेकानंद की विश्वव्यापी ख्याति अमेरिका-यात्रा के पश्चात् मिली, किंतु कितनों को यह ज्ञान है कि उनकी उस अभूतपूर्व ख्याति के पीछे मद्रासी शिष्यों का कितना अथक प्रयास था। मद्रास में उन्हें लब्ध प्रतिष्ठित अध्यापकों एवं छात्रों का बहुत बड़ा वर्ग शिष्य के रूप में प्राप्त हुआ। उनके सांप्रदायिक विद्वेष रहित उदार धर्म मत ने मद्रास के शिक्षित समुदाय को विशेष प्रभावित किया। इस समय अमेरिका में शिकागो महासम्मेलन के साथ ही एक विराट धर्म सभा का आयोजन भी हो रहा था। घोषित किया गया था पृथ्वी के सभी धर्म संप्रदायों के प्रतिनिधि व्याख्याताओं के रूप में सभा में सम्मिलित हो सकेंगे।

स्वामी जी के कुछ उत्साही दक्षिण भारतीय शिष्यों ने उन्हें हिंदू धर्म के प्रतिनिधि के रूप में अमेरिका भेजने का संकल्प किया। एक दिन उन्होंने अपने अन्यतम शिष्य आलसिंगा पेरूमल को बुलाकर कहा कि यदि मां की ऐसी इच्छा है कि मैं अमेरिका जाऊं तो मुझे अवश्य ही जाना होगा। मैं जन साधारण के प्रतिनिधि के रूप में ही जाने की इच्छा करता हूं। चूंकि इस कार्य में जन साधारण की सम्मति है या नहीं, यह जानना विशेष आवश्यक है। अतः तुम लोग जन साधारण से भिक्षा लेकर धन संग्रह करो। नए भारत के लिए वह बड़े सौभाग्य का दिन था जिस दिन स्वामी विवेकानंद ने अमेरिका के लिए प्रस्थान किया। अंग्रेजों ने सारे संसार में यह प्रसिद्ध कर रखा था कि भारत अर्द्ध-सभ्य कुलियों का देश है। यहां के लोग दार्शनिक और वैचारिक ज्ञान से शून्य, अंध विश्वास के अंधकार में डूब हुए हैं। विवेकात्तंद की अमेरिका यात्रा ने संसार के सम्मुख भारत का वह चित्र उपस्थित किया जिसे देखकर सारा संसार चकित रह गया। वह दिन था 31 मार्च 1893 का। उनके सम्मुख आदर्श के रूप विद्यमान थी अपने आचार्य श्री रामकृष्ण देव की वह वाणी जिसमें उन्होंने कहा था कि सभी धर्म सत्य हैं और वे ईश्वर की उपलब्धि के विभिन्न उपाय मात्र हैं। इस यात्रा मार्ग में स्वामी जी ने जो कुछ देखा और मार्ग से ही अपने मद्रासी शिष्यों को जो पत्र लिखे वे भारतीय युवकों के लिए चिर प्रेरणा के अजस्त्र स्रोत बन गए।

याकोहमा से एक पत्र में उन्होंने लिखा, "हमारे देश के युवकों के प्रतिवर्ष दल के दल जापान जाने चाहिए। तुम लोग कर क्या रहे हो?..देश छोड़कर बाहर जाने में तुम लोगों की जाति बिगड़ जाती है। तुम लोग अपनी शक्ति बरबाद कर रहे हो। आओ, मनुष्य बनो। अपने संकीर्ण अंधकूप से बाहर आकर देखो, सभी राष्ट्र कैसे उन्नति के पथ पर चल रहे हैं।" स्वामी विवेकानंद ने धर्म को मिलन का साधन बताया, न कि विघटन का। इस दृष्टि से उन्हें विश्व संगठन का महान प्रचारक कहा जा सकता है। वह सत्य के प्रकाश में विभेद नहीं, ऐक्य खोजते थे। स्वामी विवेकानंद सच्चे संन्यासी थे, विश्व धर्म प्रचारक थे, परंतु अपने देश के प्रति उन्हें अटूट प्रेम था। अपने देश

की जनता के प्रति उनके मन में तीव्र लगाव था। एक बार उनके एक मित्र ने उनसे कहा कि यदि वे भारतीय शिक्षित युवकों को सिविल सर्विस पढ़ाई के लिए इंग्लैंड भेजने के उद्देश्य से चंदा इकट्ठा कर उनकी सहायता कर सकें तो वे सब युवक कृतार्थ होकर मातृभूमि के कल्याण व उत्थान के लिए बहुत कार्य कर सकेंगे। स्वामीजी ने गंभीर होकर उत्तर दिया, ''तुम बड़ी भूल कर रहे हो। वे सब युवक स्वदेश में लौटकर केवल यूरोपियनों के समाज में ही सम्मिलित होने की चेष्टा करेंगे। वे पग-पग पर साहबों के खान-पान, आचार व्यवहार की नकल करेंगे।'' विवेकानंद, संसार-त्यागी संन्यासी थे, फिर भी भारत वर्ष उनके संपूर्ण हृदय में व्याप्त था। मार्गरेट नोबल जो आगे चल कर भगिनी निवेदिता के नाम पर प्रख्यात हुई, ने जब भारत आने के लिए स्वामीजी की अनुमति मांगी तो उन्होंने बड़े स्पष्ट शब्दों में उत्तर दिया, ''निर्धनता, अधःपतन, कूड़ा करकट, फटे मैले वस्त्र पहने हुए नर-नारियों को देखने की इच्छा हो तो चले आओ। दूसरी किसी चीज की आशा करके न आना, हम तुम लोगों की हृदय-विहीन आलोचना को सहन नहीं कर सकते।''

स्वामी विवेकानंद की वृत्ति पूर्णतः समाजोन्मुख थी। उन्होंने व्यक्तिगत मोक्ष की आकांक्षा को स्वार्थ समझा। एक बार अपने बाल-मित्र गिरीश बाबू से उन्होंने कहा, ''देखो जगत के कष्टों को दूर करने के लिए, यहां तक कि एक व्यक्ति की वेदना को कम करने के लिए मैं सहस्त्र बार जन्म ग्रहण करने को तैयार हूं। अपनी मुक्ति मैं नहीं चाहता, मैं प्रत्येक के मुक्त होने में सहायता करना चाहता हूं।'' जिस समय उन्होंने रामकृष्ण मिशन की स्थापना की, कुछ लोग संदेह करने लगे। रामकृष्ण परमहंस का तो आदर्श था एकांत भक्ति के साथ अनन्य चित्त होकर साधन भजन की सहायता से ईश्वर की उपलब्धियों की चेष्टा करना, जबकि विवेकानंद ने उनसे प्रेरणा लेकर खुद को दीन दुखियों की सेवा, शिक्षा का विस्तार, धर्म का प्रचार आदि करने में संलग्न किया।

(दैनिक जागरण, 9-2-06)

प्राण देकर अमर हो गए
गणेश शंकर विद्यार्थी

25 मार्च 1931 को कानपुर में भयंकर रूप से फैले हिंदू-मुस्लिम सांप्रदायिक दंगों की आग बुझाते हुए गणेश शंकर विद्यार्थी शहीद हो गए। केवल दो दिन पहले 23 मार्च को स्वतंत्रता के लिए जूझने वाले तीन क्रांतिकारियों—भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव को अंग्रेजी सरकार ने फांसी पर चढ़ा दिया था। इससे सारे देश में उत्तेजना व्याप गई थी। युवा पीढ़ी में अंग्रेज सरकार के प्रति असंतोष उबल पड़ा था। अंग्रेजों ने लोगों का ध्यान इस ओर से हटाने के लिए बड़े नियोजित ढंग से देश के कुछ भागों में सांप्रदायिक दंगे भड़का दिए। कानपुर ऐसे दंगो की चपेट में बुरी तरह आ गया।

एक दिन पहले वहां दंगा शुरू हुआ। कांग्रेस के एक कार्यकर्ता रामरतन गुप्त अपने नेता गणेश शंकर विद्यार्थी के पास पहुंचे। विद्यार्थी जी कई दिन से बीमार पड़े थे। दंगों के समाचार से वे बहुत व्याकुल हो गए किंतु रामरतन गुप्त की बात सुनकर वे अपने परिवार के विरोध और अपने स्वास्थ्य की परवाह न करते हुए उनके साथ चल दिए। उस समय कानपुर के मुहल्ला मूलगंज में दोनों पक्षों के बीच जमकर पत्थरबाजी हो रही थी। मेस्टन रोड में सड़क के बीचोबीच बने मंदिर के दाएं-बाएं दोनों संप्रदायों के लोग एक-दूसरे पर फुफकार रहे थे। विद्यार्थी जी ने बड़ी कठिनाई से दोनों पक्षों को समझा-बुझाकर विदा किया।

दूसरे दिन सुबह साढ़े आठ बजे वे रामरतन के यहां पहुंच गए। नगर के अनेक भागों में दोनों पक्षों के बीच पत्थर और छुरेबाजी की घटनाएं हो रही थीं। दोनों ने वहां जाकर शांति स्थापित करने का भरपूर प्रयास किया।

दोपहर में उन्हें समाचार मिला कि चावन मंडी में एक संप्रदाय के लोग घिर गए

हैं और दंगा भयंकर रूप धारण करता जा रहा है। वे कुछ साथियों को लेकर उधर चल दिए। उन्हें देखते ही एक दंगाई जोर से चिल्लाया—यही गणेश शंकर है। इसे खत्म कर दो...बचने न पाए। दंगाइयों में से दो व्यक्ति आगे बढ़े। उन्होंने उनके एक साथी पर हमला किया और उसे मार डाला। विद्यार्थी जी के साथ आए एक बीस वर्षीय युवक को किसी ने छुरा मार दिया। कुछ दंगाई विद्यार्थी जी की ओर दौड़े। एक ने उनकी पीठ में छुरा भोंक दिया और दूसरे ने किसी भारी हथियार से उनके सिर पर वार किया। वे जमीन पर गिर गए। दंगाई उन पर वार करते रहे।

विद्यार्थी जी घर वापस नहीं आए, तो उनके मित्रों ने उनकी खोज शुरू की। तीसरे दिन पता लगा कि उनकी लाश अस्पताल में है।

उस समय कराची में कांग्रेस का अधिवेशन चल रहा था। यह दुःखद समाचार वहां पहुंचा। गांधी जी ने बड़ी वेदना से कहा—काश मेरी भी मृत्यु इसी प्रकार हो।

गणेश शंकर विद्यार्थी बहुत अच्छे और निर्भीक पत्रकार थे। वे कानपुर से प्रताप नाम का दैनिक समाचार पत्र निकालते थे। उन दिनों प्रताप राष्ट्रीय चेतना का एक बहुत महत्वपूर्ण संवाहक था, इसलिए विद्यार्थी जी पर सरकार की ओर से राजद्रोह के लिए लगातार मुकदमे चलते रहते थे। एक बार उन्होंने अपने सहकर्मी हरिभाऊ उपाध्याय से कहा था—"मैंने ऐसे बहुत से मुकदमे लड़े हैं। मैंने अपने अनुभव से यह नतीजा निकाला है कि एक संपादक के लिए राजद्रोह का मुकदमा अच्छा है। मानहानि का मुकदमा बेलज्जत होता है। राजद्रोह में वह शहीद हो जाता है। लोगों की सहानुभूति, स्नेह, आदर का पात्र बन जाता है।

विद्यार्थी जी ने चिंता बाबू जय नारायण लाल ग्वालियर रियासत में सरकारी नौकर थे। एक बार प्रताप ने कुछ ऐसा समाचार छपा कि उसे पढ़कर ग्वालियर के महाराज अप्रसन्न हो गए। उनके पिता को आदेश मिला कि अपने पुत्र को यहां बुलाओ। विद्यार्थी जी बुलाए गए। पिताजी ने कहा—"महारजा से मिल लो। महाराज ने बड़ी बेरुखी से उनका स्वागत किया और उनसे आश्वासन मांगा कि वे भविष्य में उनके राज्य की शासन व्यवस्था पर कोई आलोचना नहीं करेंगे।

विद्याथी जी ने उत्तर दिया—मेरे पिता इस राज्य में सरकारी कर्मचारी हैं। इस नाते मैं राज्य के प्रति निष्ठावान हूं। किंतु प्रताप के संपादक के नाते मेरे जो कर्तव्य हैं उनका पालन करने के लिए मैं विवश हूं।

सांप्रदायिक एकता के लिए गणेश शंकर विद्यार्थी ने सन् 1927 में हिंदुस्तानी बिरादरी नाम की संस्था की स्थापना की थी। उन्होंने प्रताप के कार्यालय में कुछ लोगों की एक बैठक बुलाई जिसमें नवल किशोर भारतीया, मुर्तजा हुसैन आबदी, मुहम्मद मुज़फ्फर, बाल कृष्ण शर्मा, नवीन आदि अनेक व्यक्ति उपस्थित थे।

इस संस्था का उद्देश्य था—हम प्रथमतः भारतीय हैं। धर्म बाद की वस्तु है।

सरदार भगतसिंह के जीवनीकारों ने लिखा है कि लाहौर में पुलिस अफसर सैंडर्स

की हत्या के बाद जब भगतसिंह अपना वेश और रूप-रंग बदलकर फरारी का जीवन जी रहे थे, उन्होंने दैनिक प्रताप में गणेश शंकर विद्यार्थी के निर्देशन में कुछ समय तक काम किया था।

सन् 1926 में कानपुर में कांग्रेस का राष्ट्रीय अधिवेशन हुआ था। अधिवेशन के स्वागत मंत्री गणेश शंकर विद्यार्थी थे। विद्यार्थी जी प्रतिनिधियों के शिविर में धूम-धूम कर उनके रहने-सहने और भोजन की व्यवस्था का पूरा ध्यान रखते थे। साधारण से साधारण कार्यकर्ता की ओर उनका ध्यान रहता था।

विद्यार्थी जी ने संपादकीय जीवन का वही आदर्श था जो आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने प्रताप के लिए लिखा था। ये पंक्तियां दैनिक प्रताप के मुख्य पृष्ठ पर छपती थी।

जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है।
वह नर नहीं नर पशु और मृतक समान है।

सांप्रदायिक शांति और एकता के लिए जिस प्रकार का बलिदान गणेश शंकर विद्यार्थी ने दिया था। उस संदर्भ में गांधी ने कहा था—"इस देश में दूसरा गणेश शंकर नहीं हुआ। इसकी परंपरा समाप्त हो गई। लेकिन वे इतिहास में अमर हो गए। उनकी अहिंसा सिद्ध अहिंसा थी ।

(दैनिक जागरण, 6-4-06)

आस्था के प्रतीकों की प्रतीक्षा

बाइस वर्ष पहले घटित 'आपरेशन ब्लू स्टार' असंख्य मनों को बुरी तरह आहत कर गया था। बुरी तरह धवस्त अकाल तख्त के भवन और हरिमंदिर के प्रवेश के द्वार दर्शनी ड्योढ़ी की दुर्दशा देखकर लाखों लोगों को रोते मैंने देखा था। दर्शनी ड्योढ़ी के ऊपरी भाग में ऐसा खजाना रखा था जिससे सिख इतिहास का सजीव चित्र हमारे सम्मुख उभर आता था। महत्वपूर्ण अवसरों पर श्रद्धालुओं को इस भंडार में रखी वस्तुओं के दर्शन कराए जाते थे। इन वस्तुओं में बहुमूल्य हीरों और मोतियों से जड़ी हुई एक चांदनी भी थी, जिसे 19वीं शती के आरंभिक वर्षों में हैदराबाद के निजाम ने महाराजा रणजीत सिंह को उपहारस्वरूप भेजा था। गहरे लाल रंग की वह चांदनी इतनी सुंदर थी कि श्रद्धालु महाराजा ने उसे अमृतसर के हरिमंदिर को भेंट कर दिया था। ऑपरेशन ब्लू स्टार के समय तोप के गोले अकाल तख्त पर तो गिरे ही थे, एक गोला दर्शनी ड्योढ़ी पर भी गिरा। फलस्वरूप ड्योढ़ी का एक भाग ध्वस्त हो गया था और अंदर रखी चांदनी जल कर राख हो गई थी।

मार्क टुली और सतीश जैकब ने अपनी पुस्तक 'अमृतसर : इंदिरा गांधी की आखिरी लड़ाई' में हरिमंदिर में उस भयानक रात्रि को उपस्थित ज्ञानी पूरन सिंह द्वारा दिया हुआ विवरण प्रस्तुत किया है। उन्होंने कहा था, "हरिमंदिर साहब की पहली मंजिल की खिड़की से मैंने देखा कि एक टैंक परिक्रमा में खड़ा हुआ है और उसके बल्ब जल रहे हैं। मैंने सोचा कि शायद यह दमकल गाड़ी है, जो सरोवर से पानी लेने आई हुई है, जिससे वह लगभग हर जगह लगी हुई आग को बुझा सके, लेकिन कुछ ही मिनट बाद मेरा वह विश्वास भर गया जब मैंने देखा कि वह गाड़ी आग की बजाए आग उगलने में लगी हुई है। साढ़े दस बजे तक परिक्रमा में ऐसे तेरह इकट्ठा हो चुके थे। वे पश्चिम की तरफ को तोड़कर अंदर घुसे थे। एक के बाद एक गोलों से आकाश

में आग जलती रही। जब पहला गोला दर्शनी ड्योढ़ी के निचले हिस्से को भेदता हुआ आया तो मैंने देखा कि महाराजा रणजीत सिंह द्वारा प्रदान की गई ऐतिहासिक चांदनी (चंदोवा) में आग लग गई। एक के बाद एक बड़े-बड़े गोले दर्शनी/ड्योढ़ी से टकराते रहे और कुछ समय पहले तक जो एक खूबसूरत इमारत थी, अब आग की लपटों से घिर चुकी थी। तोपखाना भी आग की लपटों में था।

यह नहीं भूलना चाहिए कि यह कार्रवाई केवल सत्ताधारी पार्टी के अपने राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए की गई थी। इस तथ्य की पुष्टि कुछ समय पूर्व भारतीय सेना के पूर्व अध्यक्ष जनरल शंकर राय चौधरी ने अपने एक साक्षात्कार में की, जिसमें उन्होंने यह कहा कि ब्लू स्टार तत्कालीन सरकार की सत्ताधारी पार्टी ने अपने राजनीतिक हितों को सामने रखकर करवाया था। यह निश्चित रूप से केंद्र सरकार की भयंकर भूल थी। इस दृष्टि से कुछ तथ्य उस समय की गई कार्रवाई पर अच्छी रोशनी डालते हैं। पंजाब में सेना के दस्ते 30 मई, 1984 को रेल, रोड और हवाई रास्तों से भेजे जाने शुरू हो गए थे और 2 जून तक सारी सेना जमा हो गई थी। मेजर जनरल जमवाल जिनकी 15 डिवीजन सबसे पहले वहां लगाई गई थी, ने तत्काल कार्रवाई करने में असमर्थता जताई।

तब मेजर जनरल बराड़ को यह जिम्मा सौंपा गया, किंतु उन्हें भी अपने दस्ते तैनात करने में दो दिन लग गए और सारी कार्रवाई उसके बाद शुरू हुई। उस समय तक काफी तीर्थयात्री अपने घरों को वापस जा चुके थे। आपरेशन ब्लू स्टार के कारण अकाल तख्त का भवन ध्वस्त हुआ, दर्शनी ड्योढ़ी टूट गई, स्वर्ण मंदिर पर तीन सौ से अधिक गोलियों के निशान स्पष्ट दिखाई दिए, किंतु आज यदि इस परिसर में जाया जाए तो बहुत कुछ पहले जैसा हो गया दिखता है। अकाल तख्त का नया भवन बन गया है, हरिमंदिर के शरीर पर लगे गोलियों के निशान ढक गए हैं, किंतु परिसर में बनी सिख रेफरेंस लाइब्रेरी को अभी भी पूरी तरह पुनर्निमित नहीं किया जा सका है।

हरिमंदिर की परिक्रमा में बने भवनों में से एक में सिख रेफरेंस लाइब्रेरी बनी हुई है। उस समय इसमें ऐसी दुर्लभ वस्तुओं का संग्रह था जो देश-विदेश के असंख्य व्यक्तियों को अपनी ओर आकर्षित करता था। सिख गुरुओं तथा अन्य अनेक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक व्यक्तियों के हुक्मनामे तथा पत्र, पंजाबी, ब्रज, संस्कृत, फारसी, उर्दू और अंग्रेजी भाषाओं की दुर्लभ पांडुलिपियां व ऐतिहासिक दस्तावेजों से भरपूर यह संदर्भ-पुस्तकालय संसार भर के विद्वानों, इतिहासकारों, शोध करने वालों के लिए सदा महत्वपूर्ण केंद्र रहा है। इस पुस्तकालय में गुरु साहबान की हस्तलिपि में लिखी गई गुरु ग्रंथ साहब की प्राचीन प्रतियां भी थीं। आपरेशन ब्लू स्टार के समय इस पुस्तकालय को भी बहुत नुकसान हुआ। उस आपरेशन में शामिल कुछ सेनाधिकारियों का कहना है कि कुछ छिपे हुए आतंकवादी पुस्तकालय की एक खिड़की की ओर भागते हुए सैनिकों को अपना निशाना बना रहे थे।

दोपहर चार बजे तक सेना उन्हें पकड़ने में कामयाब हो पाई। इसी कार्रवाई के दौरान पुस्तकालय में आग लगी, हालांकि शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी के सचिव भान सिंह का दावा था कि इस घटना की अगली सुबह उन्होंने पुस्तकालय को सही-सलामत देखा था। आतंकवादियों से प्राप्त हथियारों, धन तथा उनकी योजनाओं के बहुत से दस्तावेजों को सरकार ने बाद में सभी प्रचार माध्यमों द्वारा खूब प्रचारित किया था, किंतु इस बात की कोई सूचना नहीं दी गई थी कि सिखे रेफरेंस लाइब्रेरी का कितना अंश नष्ट हो गया है और कितने को सेना अपने साथ ले गई? गत वर्षों में मानवाधिकार संगठनों और सिख संस्थानों द्वारा लगातार यह मांग की गई कि जिन चीजों को सेना हरिमंदिर परिसर से उठा ले गई थी उन्हें वापस कर दिया जाए। शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी की ओर से अनेक बार केंद्र सरकार से इस बात की लिखित मांग भी की जा चुकी है, किंतु आश्चर्य की बात है कि आज तक किसी भी सरकार ने इस ओर ध्यान नहीं दिया। अभी कुछ दिन पहले पूर्व रक्षामंत्री जार्ज फर्नांडीज ने यह स्वीकार किया कि सिख रेफरेंस लाइब्रेरी का बहुत सा अंश सेना अपने साथ ले गई थी, किंतु वह सभी कुछ अब सेना के अधिकार में न होकर केंद्रीय जांच ब्यूरो के पास है।

किसी भी व्यक्ति के लिए इस बात को समझना बहुत टेढ़ी खीर है कि आखिर उस पुस्तकालय में रखी गई प्राचीन पांडुलिपियों, दस्तावेजों, हुक्मनामों और गुरु ग्रंथ साहब की प्राचीन प्रतियों को इतने लंबे समय से सेना ने अपने अधिकार में क्यों रखा हुआ है? ये चीजें ऐसी तो नहीं हैं जिनसे देश की सुरक्षा को कोई खतरा पैदा हो और न ही इन पांडुलिपियों में आतंकवादी बनने के उपाय सुझाए गए हैं। आपरेशन ब्लू स्टार की कार्रवाई से आहत लोगों पर सहानुभूति और प्रेम का मलहम लगाने की जरूरत थी। इस दृष्टि से राजग सरकार ने कोई सार्थक कदम उठाया, न संप्रग सरकार ने सन् 1984 में सारे देश में बड़े नृशंस ढंग से मारे गए सिखों के प्रति संसद में सहानुभूति दर्शाने वाला एक भी प्रस्ताव पास नहीं हुआ।

(दैनिक जागरण, 6-7-2006)

शौर्य की अद्‌भुत गाथा

हिंदी के बहुविख्यात कवि जयशंकर प्रसाद की एक कविता है–'शेर सिंह का आत्म समर्पण'। लहर नामक संग्रह में संगृहीत यह कविता हिन्दी उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों को देशभर में पढ़ाई जाती है। किन्तु बहुत कम लोगों को, प्राध्यापकों को भी इस कविता की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का ज्ञान हैं।

चेलिया वाला भारत का वह गौरवपूर्ण युद्ध-स्थल है जहां हमारे सैनिकों ने केवल अद्‌भुत वीरता का ही परिचय नहीं दिया वरन् अंग्रेजों की सुशिक्षित और दुर्जेय सेना को ऐसी करारी हार दी थी कि एक बार तो गौरवाकाश में चमकता हुआ ब्रिटिश सूर्य धुंधला उठा था। युद्ध का परिणाम देखकर तत्कालीन ब्रिटिश भारत के गर्वनर जनरल लार्ड डलहौज़ी ने कहा था–"ऐसी एक और लड़ाई हमारा सर्वनाश कर देगी।" सुप्रसिद्ध इतिहासकार सर एडविन अरन्लाडो ने अपनी पुस्तक–'मारेक्यूज़ आफ डलहौजी' में लिखा है कि यदि सिख इस प्रकार अंग्रेज़ों पर एक और विजय प्राप्त कर लेते तो पंजाव से ही नहीं ब्रिटिश भारत से ही अंग्रेजों को हाथ धोने पड़ते।

प्रथम सिख-अंग्रेज़ युद्ध (1845-46) के पश्चात् अंग्रेज़ों का शिकंजा पंजाव पर प्रतिदिन कड़ा होता जा रहा था। स्वर्गीय महाराजा रणजीत सिंह के अल्पव्यस्क पुत्र दिलीप सिंह पर लाहौर के अंग्रेज़ रेजीडेंट ने कड़ा नियंत्रण कर रखा था। 18 अगस्त, सन् 1847 को उस रेजीडेंट ने महाराजा दिलीप सिंह की माता-महारानी जिंदा को अंग्रेजों के विरुद्ध षड्यंत्र करने का तथा वालक महाराजा पर अंग्रेजों के विरुद्ध भड़काने का आरोप लगाकर पंजाब से निर्वासित कर काशी में नजरबंद कर दिया। कुछ ऐसी और घटनाएं घटी और परिणाम यह हुआ कि पंजाब की जनता में अंग्रेजों के विरुद्ध असंतोष भड़क उठा। उसे मूर्तरूप दिया सिख सेना के एक सेनापति सरदार शेरसिंह ने। अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करते हुए उसने कहा–

सम्पूर्ण पंजाबवासी तथा अन्य लोगों से यह बात छिपी नहीं है कि स्वर्गीय महाराजा रणजीत सिंह की विधवा (महारानी जिंदा) के साथ इन फिरंगियों ने किस प्रकार का व्यवहार किया है। उनका जो अपमान किया गया है तथा यहां के निवासियों के साथ उन्होंने जिस निष्ठुरता का परिचय दिया है वह किसी से छिपा नहीं है। अतः हम निम्न कारणों से इनके विरुद्ध युद्ध की घोषणा करते हैं—

1. अंग्रेजों ने हम लोगों की मातास्वरूप महारानी जिन्दा को पंजाब से निर्वासित कर संधि-भंग कर दी है।

2. अनेक स्थानों पर अंग्रेजों ने महाराजा रणजीत सिंह की संताप-समान प्रजा पर अत्याचार एवं अन्याय किया है।

3. संधि के विरुद्ध हमारे साम्राज्य पर अनाधिकार प्रभुत्व स्थापित कर हमारे साम्राज्य के गौरव को धूल में मिलाने का प्रयत्न किया है।

साथ ही शेर सिंह ने सभी पंजाब निवासियों को अपने स्वत्व की रक्षा के लिए एक हो जाने तथा इस स्वतंत्रता युद्ध में भाग लेने का आह्वान किया।

सरदार शेर सिंह की घोषण का पंजाब में अच्छा स्वागत हुआ। सिख सैनिकों के मत में इसके पूर्व ही अंग्रेजों के प्रति असंतोष भड़क रहा था। शेर सिंह की घोषणा की पहली प्रतिक्रिया पेशावर में हुई। पेशावर की सिख सेना वहां के अंग्रेज अधिकारी के विरुद्ध हो गई। सेना के अनियंत्रित हो जाने से पेशावर के सभी अंग्रेज खैबर की ओर भाग गए।

उसके पूर्व ही फिरोजपुर में अंग्रेजों की एक बहुत बड़ी सेना एकत्र हो चुकी थी। जिसमें 25 हजार सैथ्नक तथा एक सौ तोपें थीं। इस सेना का संचालन ब्रिटिश भारत के प्रधान सेनापति लार्ड हयूगफ स्वयं कर रहा था। शेरसिंह की सेना में इस समय केवल 10000 सैनिक थे। अंग्रेजी सेना के प्रधान सेनापति लार्ड गफ ने 22 नवम्बर सन् 1848 को ब्रिगेडियर कौलिन कैम्बल को रामनगर पर, जहां सिख सेना थी, पर आक्रमण करने की आज्ञा दी। किन्तु जिस समय अंग्रेजों की सेना राम नगर पहुंची, सिख सेना वहां से कुछ आगे बढ़ चुकी थी। अंग्रेजी सेना ने उसका पीछा किया और सिख सेना के खिते ही तोपों से गोले बरसाने प्रारम्भ कर दिए। किन्तु शेर सिंह की तोपों ने उसका प्रतिकार बड़े धैर्य से किया। थोड़े समय के युद्ध में ही अंग्रेज़ी सेना सिखों की तोपों की मार न सह सकी और दो तोपों तथा युद्धोपयोगी सामग्री से भरी हुई गाड़ियां छोड़कर भाग खड़ी हुई। सिखों के इस प्रबल प्रतिकार से लार्ड गफ स्वयं बहुत घबरा गया। अंग्रेजी सेना भागने लगी। सिख सेना ने भागती हुई अंग्रेजी सेना का पीछा किया और शत्रुओं को युद्ध के लिए ललकारा। इस ललकार को सुनकर यूरोप की पैनिनसुला तथा वाटरलू के युद्धों में ख्याति-प्राप्त विलियम हैवलाक नामक अंग्रेज सेनापति अश्वारोही सेना के दो दस्ते लेकर सिखों से भिड़ गया। किन्तु सिखों ने उसकी सेना का एक-एक सैनिक काट डाला। इस युद्ध में लगभग 230 अंग्रेज सैनिक मारे गए।

(दैनिक जागरण 8-2-07)

1857 की स्मृतियों से गहरे जुड़े थे मौलवी अहमदउल्ला शाह

इस वर्ष 1957 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के 150 वर्ष पूरे हो रहे हैं। इससे 100 वर्ष पूर्व 1957 में पालासी की लड़ाई में बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला को हराकर लार्ड क्लाइव ने इस देश में अंग्रेज़ी राज की नींव रख दी थी। इस एक सौ वर्ष की अवधि में अंग्रेजों ने इस देश की सभी राज-शक्तियों को पराजित करके अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया था। क्लाइव से लेकर डलहौजी तक का इतिहास अनेक संघातों से भरा हुआ है। दिल्ली के मुग़ल बादशाह की सल्तनत के विषय में कहा जाने लगा—शाह आलम-दिल्ली से पालम। मराठों की शक्ति नष्ट हो गई और नाना साहब पेशवा को कानपुर के पास बिठुर में स्थानबद्ध कर दिया गया। पंजाब में सिखों का राज्य समाप्त हो गया और रणजीत सिंह के नाबालिक पुत्र दिलीप सिंह को ईसाई बनाकर इंग्लैंड भेज दिया गया। भारत का विस्तृत भूभाग ब्रिटिश भारत बन गया। 500 से अधिक छोटी-बड़ी रियासतों के राजाओं-नवाबों ने अंग्रेजों की अधीनता स्वीकार कर ली।

एक अंग्रेज़ इतिहासकार ने लिखा है कि हमने भारत पर अधिकार नहीं किया, स्वयं भारतीयों ने एक-एक प्रदेश जीतकर हमारे हवाले कर दिया। ईस्ट इंडिया कम्पनी के सैनिकों में अंग्रेज़ सिपाही बहुत कम थे। अधिसंख्य सिपाही हिन्दुस्तानी थे, विशेष रूप से पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार के। इन्हीं की सहायता से अंग्रेजों ने इस देश में अपना साम्राज्य स्थापित किया था। 1857 में इन्हीं सिपाहियों के विद्रोह के कारण अंग्रेज़ी राज्य की जड़ें हिल गई थीं। मेरठ में मंगल पांडेय ने जिस विद्रोह का बिगुल बजाया था, वह उन्हीं सिपाहियों में से एक था।

किन्तु इन सिपाहियों में ऐसा कोई नहीं था जो उस पूरे विद्रोह को नेतृत्व दे

सकता। नेतृत्व अनायास उन बादशाहों, राजाओं, नवाबों, तालुकेदारों के हाथ में आ गया जिनके क्षेत्रों पर ब्रिटिश गर्वनर जनरल लार्ड डलहौजी ने साम, दाम, दंड, भेद की नीति अपनाते हुए अपना अधिकार कर लिया था। हैदराबाद, भोपाल, ग्वालियर, जयपुर, पटियाला, जम्मू-कश्मीर जैसे राज्यों के शासकों ने जिन्होंने ईस्ट इंडिया कम्पनी के संरक्षण में रहना स्वीकार कर लिया था, न केवल इस विद्रोह से दूर रहे, वरन् अंग्रेज़ों की पूरी तरह सहायता करते रहे।

मेरठ में विद्रोह का डंका बजाते हुए जब ये सिपाही दिल्ली पहुंचे और उन्होंने नगर पर अधिकार करके अनेक अंग्रेज़ सिपाहियों को मौत के घाट उतार दिया तो वृद्ध शक्तिहीन और विपन्न मुग़ल बादशाह बहादुर शाह जफर को ही अपना नेता बनाना पड़ा, यह सोचकर मुगल बादशाह के झंडे के नीचे विद्रोह में शामिल तभी तत्वों को एकत्र किया जा सकेगा।

किन्तु बादशाह के पास विद्रोह का केंद्रीय नेतृत्व संभालने की न तो योग्यता थी, न शक्ति। इसलिए कानपुर में नाना राव पेशवा और तात्या टोपे, झांसी में रानीलक्ष्मी बाई, पूर्वांचल में वीर कुंवर सिंह और अवध तथा रूहेलखंड में मौलवी अहमद उल्ला जैसे व्यक्ति इस विद्रोह को संगठित भी कर रहे थे और गति भी दे रहे थे।

1857 के सिपाही विद्रोह की जब भी चर्चा होती है, नाना राव पेशवा, तात्या टोपे, रानी लक्ष्मीबाई और कुंवर सिंह की बहुत चर्चा होती है, किन्तु मौलवी अहमद उल्ला के योगदान को उतना स्मरण नहीं किया जाता जितना किया जाना चाहिए। जिन अंग्रेज़ इतिहासकारों ने बाद में इस विद्रोह पर पुस्तकें लिखी, उन्होंने रणकुशलता, संगठन शक्ति और अद्भुत वीरता के लिए मौलवी अहमदउल्ला की बड़ी प्रशंसा की है। वीर सावरकर ने अपनी पुस्तक—'1857 का भारतीय स्वातंत्र्य समर' में उनकी प्रशंसा करते हुए लिखा है—अहमदशाह ने अपनी दृढ़ता और वीरता से अंग्रेजों की नाक में दम कर दिया था। ब्रिटिश इतिहासकार जी. बी. मालेसन ने उस समय लिखा था, "मौलवी अहमदउल्ला शाह प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के महानतम नायकों में से एक था।" उस समय मौलवी की रणकुशलता और नेतृत्व योग्यता का ऐसा आतंक अंग्रेज शासकों पर फैल गया था कि उन्होंने मौलवी को जीवित या मृत पकड़ने के लिए पचास हज़ार रुपए का इनाम घोषित कर दिया। 150 वर्ष पूर्व पचास हज़ार की राशि कितनी बड़ी होगी, आज इसका सहज अनुमान लगाया जा सकता है।

मौलवी अहमदउल्ला फैजाबाद के एएक प्रतिष्ठित ताल्लुकेदार थे। अंग्रेजों ने जब अपनी विस्तारवादी नीति के तहत वाजिद अली शाह की अवध की नवाबी समाप्त कर दी तो उसी के साथ मौलवी अहमदउल्ला के तालुके को भी अपने अधिकार में ले लिया। अंग्रेज़ कब किसी राज्य या जमींदारी को अपने सीधे अधिकार में ले लेंगे, इसका कोई कारण या तर्क नहीं होता था। मौलवी अहमदउल्ला की ताल्लुकेदारी को हथिया लेने का भी कोई स्पष्ट कारण नहीं था। अंग्रेजों के मृत्यु से मौलवी का बहुत विक्षुबध हो

जाना बहुत स्वाभाविक था।

ऐसा ही व्यवहार अंग्रेज शासकों ने देश के अनेक भागों के राजाओं-नवाबों के साथ किया था। सिपाही विद्रोह के कारण ऐसे लोगों को अपना असंतोष व्यक्त करने का अवसर मिल गया। मौलवी अहमदउल्ला ने उत्तर भारत के अनेक नगरों आगरा, दिल्ली, मेरठ, पटना, और कलकत्ता की यात्रा की और असंतुष्ट तत्वों को संगठित करने का भरपूर प्रयास किया। इतिहासकार मालेसन ने भी लिखा है कि भारत के अनेक भागों में विद्रोह की अग्नि प्रज्ज्वलित करने वालों का नेता निश्चित रूप से मौलवी ही था। उसके द्वारा संचालित संगठन की शाखाएं सम्पूर्ण भारत में फैल गई थीं।

मौलवी अहमदउल्ला शाह में योद्धा और लेखक होने का अद्भुत संयोग था। अपनी यात्राओं से जब वह वापस आए, उन्होंने बड़े क्रांतिकारी पत्रक लिखे जिसमें बड़ी प्रेरक भाषा में विदेशी राज्य को उखाड़ फेंकने की बात लिखी गई। उनके लिखे ऐसे पत्रक वड़ी संख्या में बांटे गए। इससे अंग्रेज सरकार बहुत चौकन्नी हो गई। राजद्रोह के आरोप में उन्हें बंदी बनाकर उन पर मुकदमा चलाया गया और फांसी की सज़ा सुना दी गई। इस बीच सिपाही विद्रोह की आग चारों ओर फैल गई थी। मौलवी फैजाबाद जेल से फरार हो गए और लखनऊ पहुंचकर नवाब वाजिदअली शाह की पत्नी जीनत महल से जा मिले। अवध पर कब्जा करने के पश्चात् अंग्रेजों ने वाजिद अली शाह का कलकत्ता में कैद कर दिया था।

बेगम जीनत महल और मौलवी अहमदउल्ला ने विद्रोही सिपाहियों के साथ मिलकर अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। चिलहट के युद्ध में विद्रोही सैनिकों को भारी सफलता मिली। इस बीच मौलवी अहमदउल्ला ने रूहेलखंड पहुंचकर विद्रोह को संगठित करने का प्रयास किया। आठ हज़ार की घुड़सवार सेना सहित वे शाहजहांपुर पहुंचे। वहां अनेक युद्धों में सफलता प्राप्त करने वाले विख्यात सेनापति सर कॉबिन कैम्पवेल के नेतृत्व में ईस्ट इंडिया कंपनी की विशाल सेना से हार का मुंह देखना पड़ा किन्तु अंग्रेज़ी सेना के अनथक प्रयत्नों के वावजूद मौलवी उसकी पकड़ में नहीं आए और बरेली पहुंच गए। दिल्ली और लखनऊ के पतन के पश्चात् विद्रोही सिपाहियों के झुंड के झुंड बरेली पहुंच रहे थे। दिल्ली से शाहजादा मिर्जा फीरोजशाह, नाना साहब पेशवा, बेगम हरज महल, नानाराव के भाई बाला साहब आदि नेता भी वहां आए हुए थे।

कॉलिन कैम्पवेल के पास आधुनिक तोपों तथा अन्य शस्त्रों से सुसज्जित बड़ी सेना थी। अनेक दसी रजवाड़ों के राजाओं और नवाबों की सेनाएं भी उनकी मदद कर रही थीं। इस युद्ध में अंग्रेजी सेना को भारी सफलता प्राप्त हुई किन्तु मौलवी अहमदउल्ला, नाना साहव, पेशवा तथा अन्य नेताओं को पकड़ पाने में उन्हे सफलता नहीं मिली।

मौलवी अहमद उल्ला की गतिविधियों से अंग्रेज अधिकारी इतने व्याकुल हो गए थे कि गवर्नर जनरल ने उन्हें पकड़ने के लिए पचास हज़ार रुपए का इनाम घोषित कर दिया था।

सभी प्रकार की असफलताओं के मध्य मौलवी अहमद उल्ला ने हिम्मत नहीं हारी। बिखरे हुए विद्रोही सिपाहियों को लेकर वे अंग्रेजों से एक निर्णायक युद्ध करना चाहते थे। इस दृष्टि से उन्होंने शाहजहांपुर के पास की एक छोटी सी रियासत पोवने के राजा जगन्नाथ सिंह के पास बेगम जीनत महल की मोहर लगा एक पत्र भेजा और मिलने की इच्छा व्यक्त की। मौलवी पावेन के राजा को अपने अभियान में साथ लेना चाहते थे। राजा ने पत्र के उत्तर में लिखा वह मौलवी साहब से स्वयं मिलना चाहता है। उसका आमंत्र पाकर मौलवी अहमद उल्ला एक हाथी पर चढ़कर उससे मिलने के लिए पावेन पहुंचे। वहां पहुंचकर उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ जब उन्होंने देखा कि किले के दरवाज़े पूरी तरह बंद है। पर कोटे पर सशस्त्र सैनिक पहरा दे रहे हैं। उन्होंने द्वार खुलवोन का प्रयास किया, इसी समय राजा जगन्नाथ सिंह के भाई ने उन पर गोली दाग दी। हाथी के हौदे में बैठे मौलवी को गोली लगी और वहीं उनका प्राणान्त हो गया। जिस रणकुशल और बहादुर मौलवी को सभी प्रकार के प्रयत्नों के बाद भी अंग्रेज अधिकारी न पकड़ सके थे, न मार सके थे, वह अपने ही देश के विश्वासघाती के हाथों मारे गए।

जगन्नाथ सिंह ने मौलवी अहमदउल्ला का सिर काट कर उसे एक लाल कपडके में लपेटकर 13 मील की दूरी पर लगे शाहजहांपुर के अंगेज़ी पड़ाव पर ले गया। उसे इस दुष्कृत्य के लिए पचास हज़ार रुपए का पारितोषिक प्राप्त हुआ।

1857 का विद्रोह असफल हो गया, किन्तु अपने पीछे वह स्वतंत्रता प्राप्ति और अंग्रेज़ी राज्य की समाप्ति की एक लंबी परंपरा छोड़ गया। इस परंपरा में कूका आंदोलन के हुतात्माओं, राम बिहारी बोस, राम प्रसाद बिस्मिल, अशफाक उल्ला खान, चंद्रशेखर आज़ाद, भगतसिंह जैसे असंख्य क्रांतिकारियों को जन्म दिया।

मैं समझता हूं कि 1857 के स्वतंत्रता संग्राम के 150वें वर्ष में मौलवी अहमदउल्ला शाह की स्मृति को सजीव करना बहुत उचित रहेगा।

(दैनिक जागरण, 1-03-07)

भगत सिंह का स्मरण करते हुए

23 मार्च को भगतसिंह का बलिदान दिवस है। इसी दिन सन् 1931 में उन्हें, उनके दो अन्य साथियों, राजगुरु और सुखदेव के साथ लाहौर सेंट्रल जेल में फांसी पर लटका दिया गया।

आधुनिक भारत में इतिहास के दो व्यक्ति ऐसे हैं जिन्हें निरन्तर याद किया जाता है। और जिन पर अनवरत रूप से लिखा जाता है। ये हैं मोहनदास कर्मचंद गांधी और सरदार भगत सिंह। इनके जीवन-दर्शन, विचारधारा और भारत के स्वतंत्रता संग्राम में इनके योगदान को विभिन्न कोणों से पड़ताल करने का कार्य अबाध गति से चलता रहता है। वैचारिक दृष्टि से दोनों में बहुत अंतर था। गांधीजी अहिंसा में विश्वास करते थे और किसी भी कार्य के लिए हिंसा के प्रयोग को अनुचित मानते थे। भगत सिंह का विश्वास था कि स्वाधीनता प्राप्ति जैसे महत् उद्‌देश्य की प्राप्ति के लिए यदि हिंसा का सहारा लेना पड़े तो अनुचित नहीं है। गांधी जी यह तो मानते थे, कि भगत सिंह जैसे क्रांतिकारी देशभक्त हैं, किंतु ऐसे लोगों को वे राह से भटके हुए देशभक्त मानते थे। पट्टाभि सीतारमैया ने अपनी पुस्तक 'कांग्रेस का इतिहास' में लिखा है उस समय देश में भगतसिंह की लोकप्रियता उतनी ही थी जितनी गांधी जी की थी। युवा पीढ़ी के असंख्य लोग उन्हें अपना आदर्श मानते थे।

भगतसिंह और उस समय के सभी क्रांतिकारी देश को स्वाधीन कराने के लिए जो संघर्ष कर रहे थे उसमें आवश्यक होने पर हिंसा का सहारा लेने को उचित अवश्य मानते थे, किन्तु किसी निरपराध व्यक्ति का खून बहाने को वे अनुचित मानते थे। पुलिस अधिकारी सांडर्स की हत्या के दूसरे दिन क्रांतिकारियों की ओर से जो पर्चा बांटा गया था, उससे भगतसिंह का इस संबंध में दृष्टिकोण पता लगता है। पर्चे में लिखा था, हमें एक आदमी की हत्या करने का खेद है। परन्तु यह आदमी उस निर्दयी, नीच और

अन्यायपूर्ण व्यवस्था का अंग था जिसे समाप्त कर देना आवश्यक है। इस आदमी की हत्या हिंदुस्तान में ब्रिटिश शासन के कारिन्दे के रूप में की गई है। यह सरकार संसार की सबसे अत्याचारी सरकार है।

इसी पर्चे में यह भी कहा गया था—मनुष्य का रक्त बहाने के लिए हमें खेद है। परन्तु क्रांति की वेदी पर कभी-कभी रक्त बहाना अनिवार्य हो जाता है। हमारा उद्देश्य एक ऐसी क्रान्ति से है, जो मनुष्य द्वारा मनुष्य का अन्त कर देगी।

भगतसिंह ने दिल्ली की केंद्रीय असेम्बली में उस समय दो बम फेंके थे जब वहां सार्वजनिक सुरक्षा विधेयक (पब्लिक सेफ्टी बिल) और औद्योगिक विवाद विधेयक (ट्रेड डिस्प्यूट बिल) जैसे दो अतयधिक दमनकारी कानून पेश होने वाले थे। ये बम किसी की हत्या के उद्देश्य से नहीं फेंके गए थे। इनका उद्देश्य केवल धमाका करके शासकों के कानों में अपना विरोध प्रकट करना था। विस्फोट के बाद भगत सिंह और उनके साथी बटुकेश्वर दत्त ने बिना किसी प्रतिरोध के आत्म समर्पण कर दिया था। सेशन जब मि. त्योनाई मिडिल्टन की अदालत में अपने ऐतिहासिक बयान में भगत सिंह ने कहा था—यह काम हमने किसी व्यक्तिगत स्वार्थ अथवा विद्वेष की भावना से नहीं किया है। हमारा उद्देश्य उस शासन व्यवस्था के विरुद्ध प्रतिवाद करना था जिसके हर काम में उसकी अयोग्यता प्रकट होती है। हम एक बार यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि हम मानव जीवन को अकथनीय पवित्रता प्रदान करते हैं और किसी अन्य व्यक्ति को चोट पहुंचाने के बजाए हम मानव जाति की सेवा में हंसते-हंसते अपने प्राणविसर्जित कर देंगे। हम साम्राज्यवादी सेना के भाड़े के सैनिकों जैसे नहीं है जिनका काम ही नरहत्या होता है। हम मानव जीवन का आदर करते हैं और उसकी रक्षा का प्रयत्न करते हैं।

अदालत में भगत सिंह से जब यह पूछा गया कि क्रांति से उनका अर्थ क्या है, तो उनका उत्तर था—क्रांति संसार का नियम है, यह मानवीय प्रगति का रहस्य है। क्रांति के लिए खूनी लड़इयां अनिवार्य नहीं है और न ही इसमें व्यक्तिगत प्रतिहिंसा के लिए कोई स्थान है। यह बम या पिस्तौलका सम्प्रदाय नहीं है। क्रांति से हमारा अभिप्राय है—अन्याय पर आधारित मौजूदा समाज-व्यवस्था में आमूल परिवर्तन।

क्रांति के प्रति भगतसिंह में अटूट विश्वास था। उन्होंने इनकलाब जिंदाबाद' जैसा उद्घोष इस देश को दिया, जो आगे चलकर आम जनता का सर्वाधिक लोकप्रिय उद्घोष बन गया। भगत सिंह तथ अन्य क्रांतिकारियों पर सम्राट के विरुद्ध षड्यंत्र करने के आरोप में लाहौर षड्यंत्र' का मुकदमा चलाया गया, जिसमें उन्हें, राजगुरु और सुखदेव को फांसी की सजा सुनाई गई। यह सज़ा सुनने के बाद भी उनके विश्वास की मजबूती में कोई कमी नहीं आई। उनके एक साथी ने अन्तिम विदाई के समय पूछा—भगत सिंह तुम मरने जा रहे हो। मैं जानना चाहता हूं कि तुम्हें इसका अफसोस तो नहीं है?

प्रश्न सुनकर पहले ज़ोर से हंसे, फिर गंभीर होकर बोले—क्रांति के मार्ग पर कदम रखते समय मैंने सोचा था कि यदि मैं अपना जीवन देकर देश के कोने-कोने तक

'इनकलाब जिंदाबाद' का नारा पहुंचा सका तो मैं समझूंगा कि मुझे अपने जीवन की कीमत मिल गई। आज फांसी को इस काल कोठरी में लोहे के सीखचों के पीछे बैठकर भी मैं करोड़ों देश वासियों के कंठों से उठती हुई इस नारे की हुंकार सुन सकता हूं। मुझे विश्वास है कि मेरा यह नारा स्वाधीनता संग्राम की चालक शक्ति के रूप में साम्राज्यवादियों पर अंत तक प्रहार करता रहेगा।

और फिर कुछ रुककर अपनी स्वाभाविक मुस्कराहट के साथ साढ़े तेईस साल के उस युवा क्रान्तिकारी ने कहा—"इतनी छोटी जिंदगी का इससे अधिक मूल्य हो भी क्या सकता है।"

यह भी ध्यान देने योग्य है कि इन क्रान्तिकारियों को सारे अन्तर्राष्ट्रीय नियमों को ताक पर रखकर सन्ध्या समय फांसी दी गई थी और जेल की पिछली दीवार तोड़कर उनकी लाशों को एक ट्रक में डालकर निकाला गया। पहले उनके अंतिम संस्कार की जगह रावी नदी का किनारा रखा गया था। लेकिन नदी का पानी काफी उथला था। तब सतलुज नदी पर जाने का निर्णय लिया गया। वहां नदी के किनारे शवों का ठीक ढंग से संस्कार भी नहीं हुआ। उन्हें एकत्र होता देखकर साथ आए सिपाही शवों को अधजला छोड़कर अपनी गाड़ियों की ओर भागे और लाहौर पहुंच गए। गांव वालों ने बड़े सत्कार से उनके अवशेषों को इकट्ठा किया।

फांसी की ख़बर लाहौर तथा पंजाब के दूसरे शहरों में जंगल की आग की तरह फैल गई। नौजवान ने सारी रात 'इनकलाब जिंदाबाद' और भगत सिंह जिंदाबाद के नारे लगाते हुए जुलूस निकाले। दूसरे दिन तीनों शहीदों के अवशेष लाहौर पहुंच गए। उनकी शोक यात्रा में लाखों लोग सम्मिलित हुए। तीन ताबूतों के आगे भगतसिंह के माता-पिता चल रहे थे।

इस बात को लेकर प्रायः चर्चा होती रहती है कि इन तीनों क्रान्तिकारियों के प्राण बचाने के लिए जब सारे देश में प्रयास किए जा रहे थे। हस्ताक्षर करवाए जा रहे थे, प्रार्थनाए की जा रही थी, उस समय गांधीजी की क्या भूमिका थी? बहुत से लोग मानते थे कि यदि गांधीजी प्रयास करें तो तत्कालीन ब्रिटिश राय लार्ड इर्विन मृत्यु दंड को आजीवन कारावास में बदल सकते हैं इसके पूर्व गांधी-इर्विन समझौता हो चुका था और देश का राजनीतिक वातावरण बहुत अनुकूल था। किन्तु गांधी जी इस दृष्टि से विशेष सक्रियता नहीं दिखाई। लार्ड इर्विन ने अपनी डायरी में भी लिखा था, दिल्ली में जो समझौता हुआ उससे अलग और अंत में मिस्टर गांधी ने भगतसिंह का उल्लेख किया, उन्होंने फांसी की सज़ा रद्द करने के लिए कोई पैरवी नहीं की।

गांधीजी वाइस राय के गृह सदस्य इमरसन से भी मिले। इमरसन ने अपनी डायरी में लिखा, "मिस्टर गांधी जी की इस मामले में अधिक दिलचस्पी नहीं मालूम हुई। मैंने उनसे यह कहा था कि यदि फांसी के फलस्वरूप अव्यवस्था नहीं हुई तो वह बड़ी बात होगी। मैंने उनसे कहा कि वे सबकुछ करें, इस पर उन्होंने अपनी स्वीकृति दे दी और

कहा, जो कुछ भी मुझसे हो सकेगा मैं करूंगा।''

इस संदर्भ में डॉ. पट्टाभि सीतारमैया ने अपनी पुस्तक 'कांग्रेस का इतिहास' में जो कुछ लिखा है वह बहुत महत्वपूर्ण है। वे लिखते हैं, ''समझौते की बातचीत के दौरान में सरदार भगतसिंह और उनके साथी राजगुरु व सुखदेव को फांसी की सज़ा को, किसी और सज़ा के रूप में तब्दील कर देने के बारे में गांधी जी व वाइसराय के बीच बार-बार लंबी बातें हुईं। क्योंकि उन्हें जो फांसी की सज़ा दी जाने वाली थी, उससे देश में बहुत हलचल मच रही थी। स्वयं कांग्रेस वाले इस बात के लिए बहुत उत्सुक थे कि इस समय जो सद्भाव चारों ओर दिखाई पड़ रहा है उसका लाभ उठाकर उनकी फांसी की सजा बदलवा ली जाए। इस संदर्भ में वाइसराय ने इतना ही आश्वासन दिया कि मार्च (1931) की अंतिम तिथियों में कराची में होने वाले कांग्रेस अधिवेशन तक इन्हें फांसी नहीं दी जाएगी। लेकिन स्वयं गांधीजी ने ही निश्चित रूप से वाइसराय से यह कहा, अगर इन नौजवानों को फांसी पर लटकाना ही है तो कांग्रेस अधिवेशन के बाद ऐसा करने की बजाय उससे पहले ही फांसी पर लटकाना ठीक होगा। इससे देश को यह साफ़ पता चल जाएगा कि वस्तुतः क्या स्थिति है और लोगों के दिलों में झूठी आशाएं नहीं बंधेगी।

यही हुआ। कराची-कांग्रेस अधिवेशन से कुछ दिन पूर्व भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव को 23 मार्च को फांसी पर लटका दिया गया। हिंसा-अहिंसा की कृत्रिम विभाजन रेखा को ढकते हुए तीन नवयुवकों ने देश की स्वतंत्रता के लिए हंसते-हंसते अपना जीवन अर्पित कर दिया।

(दैनिक जागरण, 22-3-07)

परिशिष्ट

प्रकाशित कृतियाँ

कहानी संग्रह

1. सुबह के फूल	1959
2. उजाले के उल्लू	1964
3. घिराव	1968
4. कुछ और कितना	1973
5. मेरी प्रिय कहानियां	1973
6. भीड़ से घिरे चेहरे	1977
7. कितने संबंध	1979
8. इक्यावन कहानियां	1980
9. महीप सिंह की चर्चित कहानियां	1984
10. धूप की उगंलियों के निशान	1993
11. सहमे हुए	1998
12. महीप सिंह की समग्र कहानियां (तीन खण्ड)	2000
13. दिल्ली कहां है	2002
14. ऐसा ही है	2002

उपन्यास

1. यह भी नहीं - राजपाल एंड संस दिल्ली, 1976 (प्रथम संस्करण)
   द्वितीय संस्करण हिन्दी पाकेट बुक्स, दिल्ली 1979
   तृतीय संस्करण अभिव्यंजना प्रकाशन, दिल्ली 1983
   चतुर्थ संस्करण नया साहित्य केन्द्र, दिल्ली, 2005
   (पंजाबी, गुजराती, मलयालम एवं अंग्रेजी में भी प्रकाशित)
2. अभी शेष है, 2004 (पंजाबी में भी प्रकाशित)

व्यंग्य संग्रह

एक नये भगवान का जन्म	2001
एक गुण्डे का समय बोध	2007

निबंध संग्रह

कुछ सोचा : कुछ समझा 2002

शोध कार्य

- गुरु गोबिन्द सिंह और उनकी हिन्दी कविता
- आदिग्रंथ में संगृहीत संत कवि
- सिख विचारधारा : गुरु नानक से गुरु ग्रंथ साहिब तक

जीवनी

- गुरु गोबिन्द सिंह : जीवन और आदर्श
- गुरु तेग बहादुर : जीवन और आदर्श
- गुरु गोबिन्द सिंह (साहित्य अकादमी के लिए)
- स्वामी विवेकानंद

बाल साहित्य

- न इस तरफ न उस तरफ
- गुरु नानक - जीवन प्रसंग
- एक थी संदूकची

सम्पादन

1. सचेतन कहानी : रचना और विचार
2. पंजाबी की प्रतिनिधि कहानियां
3. गुरु नानक और उनका काव्य
4. विचार कविता की भूमिका
5. लेखक और अभिव्यक्ति की स्वाधीनता
6. हिन्दी उपन्यास : समकालीन परिदृश्य
7. साहित्य और दलित चेतना
8. जापान : साहित्य की झलक
9. आधुनिक उर्दू साहित्य
10. विष्णु प्रभाकर : व्यक्तित्व और साहित्य

महीप सिंह के साहित्य पर प्रकाशित पुस्तकें

1. महीप सिंह का कथा-संसार, डॉ. कमलेश सचदेव, अभिव्यंजना, नई दिल्ली
2. कथाकार महीप सिंह, सं. डॉ. गुरचरण सिंह, अभिव्यंजना, नई दिल्ली
3. करक कलेजे माहि, सं. डॉ. कमलेश सचदेव, भारती पुस्तक भंडार, दिल्ली

पुरस्कार एवं सम्मान

1. भाषा विभाग (पंजाब) द्वारा वर्ष का श्रेष्ठ कथा साहित्य के रूप में 'उजाले के उल्लू' और 'घिराव' कहानी संग्रह पुरस्कृत (1965 एवं 1969)
2. 'उजाले के उल्लू' कहानी संग्रह केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय द्वारा पुरस्कृत (1966)
3. हिन्दी साहित्य संस्थान, उत्तर प्रदेश द्वारा पुरस्कृत (1971 एवं 1989)
4. भाषा विभाग (पंजाब) द्वारा शिरोमणि साहित्यकार के रूप में सम्मानित (1986)
5. हिन्दी और पंजाबी अकादमियों (दिल्ली) द्वारा श्रेष्ठ कहानी संग्रह ('51 कहानियां' हिन्दी तथा 'सहमे हुए' पंजाबी) के लिए पुरस्कृत (1985 एवं 1989)
6. संत निधान सिंह केसर मेमोरियल सम्मान, कथा साहित्य में योगदान के लिए (1990)
7. साहित्यिक उपलिब्धयों के लिए साखा पुरस्कार (1990)
8. हिन्दी साहित्य में विशेष योगदान के लिए अदीब इंटरनेशनल साहिर सम्मान (लुधियाना) (1990)
9. पंजाबी साहित्य में विशिष्ट योगदान के लिए डॉ. साधू सिंह हमदर्द सम्मान (1992)
10. समन्वय सारस्वत सम्मान (1993)
11. हिन्दी प्रचारिणी समिति, कानपुर द्वारा साहित्य भारती (अलंकरण) से सम्मानित (1994)
12. छठे विश्व हिन्दी सम्मेलन (लंदन) में हिन्दी भाषा और साहित्य में विशिष्ट योगदान के लिए सम्मान (1999)
13. इंडो कैनेडियन टाइम्स ट्रस्ट, सरी (कनाडा) द्वारा पंजाबी पत्रकारिता में विशिष्ट योगदान के लिए विशेष सम्मान (1999)
14. राष्ट्रीय हिन्दी परिषद, मेरठ द्वारा हिन्दी रत्न उपाधि से सम्मानित (1999)
15. इंस्टीट्यूट ऑफ पंजाबी लैंगवेज एण्ड कल्चर (लाहौर) द्वारा 'एवार्ड ऑफ डिस्टिंक्शन' सम्मान (2000)
16. लाहौर की इसी संस्था द्वारा कहानी सम्मान (2000)
17. केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा द्वारा हिन्दी के विकास तथा प्रसार में उल्लेखनीय सेवाओं के लिए सम्मानित (2000)
18. पत्रकारिता भूषण सम्मान उ. प्र. हिन्दी संस्थान, लखनऊ (2001)
19. कुँवर चंद्र प्रकाश सिंह साहित्य शिरोमणि सम्मान (2002)
20. इटावा हिन्दी सेवा निधि द्वारा प्रदत्त जनवाणी सम्मान (2002)
21. हिन्दी अकादमी (दिल्ली) द्वारा 'साहित्यकार सम्मान' (2003)
22. पंजाबी अकादमी (दिल्ली) द्वारा 'परम साहित्य सम्मान' (2004)
23. विशिष्ट हिन्दी सेवा सम्मान, राष्ट्रीय हिन्दी परिषद, मेरठ (2006)
24. राष्ट्रीय भाषा गौरव सम्मान, संसदीय हिन्दी परिषद, नई दिल्ली (2006)
25. साहित्यश्री सम्मान, दिल्ली हिन्दी साहित्य सम्मेलन (2006)
26. डॉ. अम्बेडकर राष्ट्रीय सम्मान (2007)
27. पं. जुगल किशोर शुक्ल, उत्कर्ष अकादमी, सम्मान कानपुर (2007)

महीप सिंह के साहित्य पर हुए/हो रहे शोध कार्य

1. महीप सिंह की कहानियों का कथ्य और शिल्प, प्रो. रतन सिंह राजपूत, हिन्दी विभाग, एस. पी. डी. एम. कालेज, शिरपुर जिला-धुलिया, महाराष्ट्र
2. महीप सिंह की कहानी कला, प्रो. हरजी भाई ना. वाघेला, हिन्दी विभाग, सौराष्ट्र यूनिवर्सिटी, राजकोट
3. महीप सिंह का कथा साहित्य : मानव मूल्यों का संदर्भ, सुश्री मनिन्द्र भाटिया, गुरु नानक देव विश्वविद्यालय, अमृतसर
4. सचेतन कहानी आन्दोलन के संदर्भ में महीप सिंह की कहानियों का मूल्यांकन, सुश्री सीमा खान, महर्षि दयानन्द सरस्वती कॉलेज, अजमेर विश्वविद्यालय, अजमेर
5. महीप सिंह का कथा संसार, एम. मनोज कुमार, श्री वेंकटेश्वर विश्वविद्यालय, तिरुपति
6. महीप सिंह और उनका कहानी साहित्य, प्रो. श्रीमती अनिता लक्ष्मण वेताल, हिन्दी विभाग, कला वाणिज्य व विज्ञान महाविद्यालय, राहुरी, जिला-अहमदनगर, पुणे विश्वविद्यालय
7. कहानीकार महीप सिंह के कृतित्व का अनुशीलन, सुश्री सुषमा मोरेश्वर डहाटे, नागपुर विश्वविद्यालय
8. महीप सिंह के कथा साहित्य में चित्रित मध्यम वर्ग, रविन्द्र कुमार, जनता वैदिक कालेज, बड़ौत, बाग़पत, चौधरी चरण सिंह विश्वविद्यालय, मेरठ
9. कहानीकार महीप सिंह : संवेदना और शिल्प, अजित चुनिलाल चव्हाण, पुणे विश्वविद्यालय, नंदूरबार -424512
10. साठोत्तरी हिन्दी कहानी और कथाकार महीप सिंह, श्रीमती शगुफ़्ता खान, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़
11. महीप सिंह की कहानियों में युग बोध, कु. सायरा बानो नवलगुंद, कर्नाटक विश्वविद्यालय, धारवाड़ (कर्नाटक)
12. कहानीकार महीप सिंह : मानवीय संबंधों की सचेतन दृष्टि, अशोक यादव, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक
13. महीप सिंह तथा इनकी कहानियों का विकास, सन्तोष कुमार मिश्र, कानपुर विश्वविद्यालय, कानपुर
14. महीप सिंह की कहानियों में मानवीय संबंध, बलभीम कॉलेज, बीड़-431122
15. महीप सिंह के कथा साहित्य का तथ्यगत और शैलीगत अध्ययन- मीनू शर्मा, आगरा विश्वविद्या

महीप सिंह

जन्म : 15 अगस्त, 1930 को उत्तर प्रदेश के जिला उन्नाव में

शिक्षा : एम. ए. (हिन्दी), डी. ए. वी. कालेज कानपुर (1954), पी-एच. डी.आगरा, विश्वविद्यालय, आगरा (1963)

अध्यापन : खालसा कालेज, मुम्बई (1955-1963), खालसा कालेज, दिल्ली (1963-1993), एक वर्ष तक कानसाई विश्वविद्यालय, हीराकाता-जापान में विजिटिंग प्रोफेसर (1974-1975)

सम्प्रति : स्वतन्त्र लेखन

कहानी संग्रह : सुबह के फूल, उजाले के उल्लू, घिराव, कुछ और कितना, मेरी प्रिय कहानियां, भीड़ से घिरे चेहरे, कितने संबंध, इक्यावन कहानियां, महीप सिंह की चर्चित कहानियां, धूप की उंगलियों के निशान, सहमे हुए, महीप सिंह की समग्र कहानियां, दिल्ली कहां है, ऐसा ही है।

उपन्यास : यह भी नहीं (पंजाबी, गुजराती, मलयालम, अंग्रेजी में भी प्रकाशित), अभी शेष है

व्यंग्य : एक नये भगवान का जन्म, एक गुण्डे का समय बोध

निबंध : कुछ सोचा : कुछ समझा

शोध : गुरु गोबिन्द सिंह और उनकी हिन्दी कविता, आदिग्रंथ में संगृहीत संत कवि, सिख विचारधारा : गुरु नानक से गुरु ग्रंथ साहिब तक

जीवनी : गुरु गोबिन्द सिंह : जीवन और आदर्श, गुरु तेगबहादुर : जीवन और आदर्श, स्वामी विवेकानन्द

बाल साहित्य : न इस तरफ न उस तरफ, गुरु नानक जीवन प्रसंग, एक थी संदूकची।

सम्पादन : सचेतन कहानी : रचना और विचार, पंजाबी की प्रतिनिधि कहानियां, गुरु नानक और उनका काव्य, विचार कविता की भूमिका, लेखक और अभिव्यक्ति की स्वाधीनता, हिन्दी उपन्यास : समकालीन परिदृश्य, साहित्य और दलित चेतना, जापानः साहित्य की झलक, आधुनिक उर्दू साहित्य, विष्णु प्रभाकर - व्यक्तित्व और साहित्य

चार दशकों से 'संचेतना' का सम्पादन।

नमन प्रकाशन

4231/1, अंसारी रोड, दरियागंज,
नई दिल्ली - 110002
फोन : 23254306, 23247003
e-mail-radhapubnitin@yahoo .com

ISBN 81-8129-132-8